॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
४०

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशम्

मल्लिनाथकृत-सञ्जीविनी-व्याख्या-समलङ्कृतम्

तथैव च

'चन्द्रकला'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—
डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
भू० पू० प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
पुराणेतिहास, संस्कृति, भूगोल विभाग
श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक—
चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० नं० १२९
वाराणसी २२१००१

तृतीय संस्करण १९८३
मूल्य ३५–००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्भा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक, (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० ६९
वाराणसी २२१००१

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

40



RAGHUVAMŚAM

OF

KĀLIDĀSA

With 'Sanjivini' Commentary of Mallinatha

and

'CHANDRAKALA' HINDI COMMENTARY

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt. of Puranetihas.

Sri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(*Oriental Booksellers & Publishers*)
K 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Third Edition
19[illegible]3

Also can be had of
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No 69
VARANASI 221001.

प्राक्कथन

स विश्ववन्द्यो महतां कवीनां गुरुर्मनीषी कविकालिदासः ।
यत्काव्यपीयूषरसप्रवाहः स्वादामितानन्दमयो हि लोकः ॥

कविकुलकलाधर कविवर कालिदास की कमनीयकलेवर कविता विश्व के किस सहृदय-हृदय को आनन्दमग्न नहीं कर देती ! महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि तथा भारतीय संस्कृति के प्रमुख परिपोषक थे। भारत की संस्कृति इनकी काव्यवाणी में बोलती है और इनके नाटकों में अपना मनोरम रूप दिखाकर मानवमात्र के हृदय का मनोरञ्जन करती है। कालिदास ने अपने काव्य-चमत्कार से समस्त संसार में ख्याति प्राप्त की है। इनके काव्यों में पदलालित्य, रचनाचातुर्य, कल्पनाशक्ति, प्रकृतिवर्णन एवं चरित्र-चित्रण पढ़कर विश्व का प्रत्येक पाठक प्रफुल्ल हो उठता है। इनमें विचारगाम्भीर्य है, संसार का अनुभव है, बहुमूल्य सिद्धान्त हैं, इनके पदों से उपदेश भी मिलता है और इनकी उक्तियाँ आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन करती हैं। इनकी कविता में प्रसादगुण की अगाधता, माधुर्य का मधुर सन्निवेश, कोमलकान्तपदावली का प्राचुर्य, उपमा की अपूर्वता, अलङ्कारों की रमणीयता, छन्दों की छटा और भावसौष्ठव पर्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं। इनके काव्यों को जिस दृष्टि से देखा जाय उसी से काव्यकला की कमनीयता प्रकट होती है। इनकी कविता में सरस, सरल, सुबोध तथा सुन्दर शब्द एवं भावों का साम्राज्य, सहृदयों की तो बात ही क्या है, साधारण मनुष्य के मन को भी मुग्ध कर देता है। व्यंग्यार्थप्रतिपादन की विलक्षण शैली, रसप्रकर्ष का प्रकाशन, विस्तृत विषय का थोड़े में वर्णन, वर्ण्य-विषय को सुन्दर क्रम से रखकर रोचक बनाना, स्वाभाविक भाव के द्वारा लोकोत्तरानन्दप्रदान का ढंग आदि कालिदास की कविता के विशेष गुण हैं।

कालिदास संस्कृत साहित्य के अद्वितीय महाकवि माने जाते हैं। इनकी कविता की मधुरिमा के सामने अन्य कवियों की कविता फीकी पड़ जाती है। आपने जैसा मानवहृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का निरीक्षण किया है वैसा अन्य कवियों ने नहीं। कालिदास अन्तर तथा बाह्य दोनों जगत् के सूक्ष्म निरीक्षक कवि हैं।

यों तो कालिदास ने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर सभी रसों का सन्निवेश किया है, पर ये प्रधान रूप से शृङ्गार रस के रसिक कवि हैं। इनकी रचनाएँ शृङ्गार रस से ओत-प्रोत हैं। इनके काव्यों में सम्भोग-शृङ्गार का प्रकाशमान रूप तथा विप्रलम्भ-शृङ्गार की करुणामूर्ति पाठक एवं श्रोताओं के हृदय को चमत्कृत कर देते हैं। मेघदूत में विप्रलम्भ-शृङ्गार और कुमारसम्भव में सम्भोग-शृङ्गार का प्राचुर्य है। सम्भोग-शृङ्गार की अपेक्षा इनका विप्रलम्भ-शृङ्गार उच्चकोटि का होता है। मेघदूत का उदाहरण देखिए—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

पर्वत के चट्टानों पर गैरिकादि धातुओं से प्रणयकुपिता अपनी प्रियतमा की मूर्ति बनाकर क्षमा के लिए उसके चरणों पर गिरने का प्रयत्न करते समय अश्रुप्रवाह उमड़ आने से कल्पित सम्भोग में भी बाधा पड़ने के कारण क्षुब्धहृदय यक्ष का क्रूर कृतान्त-विषयक उपालम्भ पढ़कर किस सहृदय का हृदय व्यथित नहीं हो उठता है ? निर्जीव मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास प्रेममय सन्देश भेजनेवाले यक्ष के प्रेमोन्माद को पढ़कर कालिदास की काव्यकला की प्रशंसा किए बिना कौन रह सकता है ?

कालिदास के करुणरस का वर्णन भी स्वाभाविक होता है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में शङ्कर की क्रोधाग्नि से कामदेव के भस्ममात्र हो जाने पर रति का विलाप तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में आकाश से गिरी हुई पुष्पमाला के आघात से इन्दुमती के मर जाने पर अज का विलाप करुण रस के मर्मस्पर्शी उदाहरण हैं। इन्दुमती के मर जाने पर अज विलाप करते हुए कहते हैं—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥

कुमारसम्भव में भगवान् शङ्कर के ललाटस्थ तृतीय नेत्र से निर्गत अग्नि से भस्मसात् हुए अपने पति के शरीर को देखकर रति विलाप करती हुई कहती है—

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला को अपने पति के घर जाते समय कवि ने ऐसा मर्मस्पर्शी करुण रस का चित्र अङ्कित किया है कि विषयसुख से विमुख कण्व जैसे धीर महर्षि भी रोये बिना नहीं रहे—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

कालिदास की कविता में हास्य रस भी उच्चकोटि का है। इनकी कविता पढ़कर पाठक मुस्करा देता है, ठहाके की हँसी नहीं हँसता। कुमारसम्भव महाकाव्य के पञ्चमसर्ग में पार्वती के आश्रम पर आकर भगवान् शङ्कर की निन्दा करता हुआ कपटवटु पार्वती का उप-हास करता हुआ कहता है—

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥

ाहित्यजगत के समालोचक शेक्सपियर को अन्तर्जगत का तथा कालिदास को बाह्यजगत लाकार कवि कहते हैं। प्रकृति के मनोरम चित्रण में कालिदास अद्वितीय हैं। इनके चित्रण रमणीयता, भव्यता, सजीवता तथा स्वाभाविकता से ओत-प्रोत हैं।

प्रकृति के साथ कालिदास की अपूर्व सहानुभूति है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन इन्होंने किया है वैसा संस्कृत जगत का कोई अन्य कवि नहीं कर पाया है। प्रकृति के अनुपम दृश्यों का सच्चा चित्र खींचा है। ये कोमल रूप के उपासक हैं, के समान उग्र रूप में इनका प्रेम नहीं है। ये प्रायः शान्त तपोवन, नदीतट, प्रसाद, भ्रमर, मृग तथा कोकिल आदि के वर्णन करने में अपना सौभाग्य समझते विन्ध्याचल पर्वत की अपेक्षा हिमालय से अधिक प्रेम है। इन्होंने अपने कुमार- में हिमालय का सजीव वर्णन किया है इन्हें ६ ऋतुओं में ग्रीष्म और वसन्तऋतु त प्रिय हैं।

जहाँ पाश्चात्य कवियों के प्रकृतिवर्णन नग्न होते हैं वहाँ भारतीय कवियों का प्रकृति- न अलंकृत होता है। पाश्चात्य कवि बिना किसी आवरण के प्रकृति को उसके असली में उपस्थित कर देते हैं, परन्तु भारतीय कवि प्रकृति को मनोरम मुग्धकारी विविध भूषणों से सुसज्जित कर पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। महाकवि कालिदास में अलंकृत वर्णनशैली की ही निपुणता है। इतना ही नहीं इनके प्रकृति-वर्णन में वैज्ञानिक का पर्याप्त परिचय मिलता है।

रघुवंश के नवम सर्ग में वायु से हिलाई गई लता को लक्ष्य कर वसन्त ऋतु का कैसा मक वर्णन है—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥

और पुरुषों के विविध मनोभावों का इन्हें पूर्ण ज्ञान है, उसे व्यक्त करने के लिए अभिधाशक्ति का प्रयोग न कर व्यंजनाशक्ति से ही काम लिया है। इससे इनकी और भी चमत्कार आ जाता है।

अङ्गिरा ऋषि हिमालय के पास आकर कहने लगे कि अपनी पुत्री पार्वती का विवाह सदाशिव के साथ कर दीजिए। उस समय पार्वती का वर्णन करते हुए अन्तर्जगत कालिदास कहते हैं कि—अङ्गिरा ऋषि के इस प्रकार कहते समय अपने पिता के पास खड़ी हुई पार्वती लज्जावश मुँह नीचे करके हाथ में लिए लीलाकमल के गिनने लगीं—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

लोक में कवि ने लज्जा शब्द का प्रयोग नहीं किया है; किन्तु लज्जा के उदय पार्वती ने जो कार्य किया है, उसी का वर्णन किया है, वही कार्य हृदयगत को व्यक्त कर देता है।

पर्वतों में हिमालय, नगरियों में उज्जयिनी, देवताओं में शिव, छन्दों में मन्दाक्रान्ता, अलङ्कारों में उपमा, रसों में शृङ्गार और ऋतुओं में वसन्त कालिदास को परम प्रिय थे।

संस्कृत साहित्य के लक्षणकार आचार्यों ने गौडी, पाञ्चाली, वैदर्भी और लाटी नामक चार रीतियाँ तथा माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ३ गुण माने हैं। गौडी रीति में बड़े-बड़े समास तथा पाञ्चाली में छोटे-छोटे समास होते हैं। वैदर्भी रीति में समास प्रायः नहीं बराबर होते हैं। गौडी में ओज गुण, पाञ्चाली में माधुर्य गुण और वैदर्भी में प्रसाद गुण की प्रधानता होती है।

कालिदास की कविता वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। प्रसाद गुण के प्राधान्य होने के कारण कालिदास की कविता शीघ्र ही समझ में आ जाती है।

कालिदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इनकी भाषा व्याकरण से परिष्कृत सरल सुगम एवं सुबोध होती है। वे—'च, तु, हि, वै, किल, खलु' आदि का प्रयोग केवल पाद की पूर्ति के लिए नहीं करते हैं; किन्तु उनका जहाँ प्रयोग करते हैं वहाँ वे सार्थक होते हैं। इनके शब्द नपे-तुले होते हैं और इनके वाक्यों में क्रियापद प्रायः स्पष्ट होते हैं। ये किसी बात को घुमा-फिरा कर कहने की अपेक्षा सीधे कह देना अधिक पसन्द करते हैं। थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से दीख पड़ती है।

जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों के उच्चारण के लिए भिन्न-भिन्न कण्ठ-ताल्वादि के आघातों के भेद हैं और भिन्न-भिन्न वर्ण, भिन्न भिन्न रस, भाव एवं अलङ्कारों के व्यञ्जक हैं, वैसे ही विभिन्न रसों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न छन्द भी हैं। शृङ्गार रस के व्यञ्जक वर्णों के द्वारा ही शृङ्गार रस की पुष्टि तथा वीर रस के व्यञ्जक वर्णों से वीर रस की पुष्टि हो सकती है, अन्य वर्णों से नहीं। अतः केवल शब्द-योजना ही काव्य में रस सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए छन्द की योजना भी अपेक्षित है। क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्ततिलक में कहा है कि काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार छन्दों का विनियोग करना चाहिए—

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीतसर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥

कालिदास का छन्द-विषयक ज्ञान भी गम्भीर और पूर्ण है। उन्होंने अपने [illegible] प्रायः सभी प्रमुख छन्दों का प्रयोग किया है। ये छन्दों का चुनाव रस और वर्ण्य-वस्तु के अनुकूल ही करते हैं। कालिदास मन्दाक्रान्ता छन्द के सिद्धहस्त कवि माने जाते हैं। इन्होंने अपने खण्डकाव्य मेघदूत को केवल मन्दाक्रान्ता छन्द में ही लिखा है—

सुयशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वस्य दमस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥

प्रत्येक कवियों में किसी न किसी विषय की खास विशेषता रहती है। कविवर कालिदास उपमा अलंकार के आचार्य माने जाते हैं। तत्तत् कवियों की विशेषता व्यक्त करते हुए एक आलोचक ने बहुत ही ठीक कहा है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं त्रयोऽप्येकैकतोऽधिकाः ।

कालिदास की उपमाएँ एक से एक बढ़कर हैं। उन्होंने नई नई उपमाओं की उद्भावना । इनकी उपमाओं के विशेष चमत्कार का कारण यह है कि प्रायः इनकी उपमाएँ अंगत और बाह्यजगत् दोनों से ली गई हैं। इन्होंने उपमाओं में उपमान तथा उपमेय के और लिंग तक का भी विचार किया है। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर में थत राजाओं की दशा का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिम्वरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

इस श्लोक में इन्दुमती की उपमा स्त्रीवाची दीपशिखा शब्द से दी गई है। और राजा की उपमा पुंलिङ्ग अट्ट शब्द से दी गई है। लिंग की समता के साथ-साथ वचन की समता भी दर्शनीय है।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में जब दिलीप वसिष्ठजी की लाल नन्दिनी को चराकर लौटते हैं तो सुदक्षिणा उनकी प्रतीक्षा करती हुई स्वागत करने के लिए खड़ी है, दोनों के बीच में नन्दिनी की शोभा का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥

यहाँ राजा की उपमा दिन से, सुदक्षिणा की उपमा रात्रि से और लाल नन्दिनी की उपमा लाल सन्ध्या से दी गई है। और भी देखिए—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥

शरीर की दुर्बलता के कारण कुछ ही आभूषण पहनी हुई उस सुदक्षिणा की लोध्रपुष्प सदृश पीले मुख से ऐसी शोभा हुई जैसे प्रातःकाल टिमटिमाते हुए ताराओं से युक्त रात की शोभा पीले वर्ण के चन्द्रमा से होती है। यह भाव व्यक्त करने के लिए कवि ने लोध्रपाण्डु मुख से चन्द्रमा की एवं एकाध तारा युक्त प्रभातकल्पशर्वरी से सुदक्षिणा की उपमा देते हुए कितने सुन्दर ढङ्ग से पूर्णोपमा व्यक्त की है। इस प्रकार कालिदास की कविता में स्थल-स्थल पर अनूठी उपमा का चमत्कार मिलता है। इनकी उपमाओं में स्वाभाविकता का उत्कर्ष है जिससे पाठक का हृदय सहसा चमत्कृत हो उठता है।

कालिदास का समय

संस्कृतसाहित्य जगत् के देदीप्यमान मणि कविवर कालिदास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों का महान मतभेद है, क्योंकि कालिदास ने तो अपने सम्बन्ध में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है। विभिन्न विद्वानों ने आन्तरिक एवं बाह्य प्रमाणों के आधार पर कालिदास का अस्तित्व

ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक माना है। कालिदास ने प्रथमशती के शुङ्गवंशी नरेश अग्निमित्र को अपने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक का नायक बनाया है तथा छठी शताब्दी के महाराज हर्षवर्द्धन के दरबारी महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में कालिदास की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के बीच में कहीं होना चाहिए। इस आधार पर इनके विषय में मुख्य रूप से तीन मत उपस्थित होते हैं—

(१) कालिदास की सत्ता छठी शताब्दी में मानना आवश्यक है।

(२) कालिदास जैसे उत्तम कवि गुप्तनरेशों के स्वर्णयुग में ही हो सकते हैं।

(३) कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी के महाकवि हैं।

प्रथम मत—डॉ० हार्नली मानते हैं कि यशोवर्धन ने बलादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से कारुर के युद्ध में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को हराकर विक्रमादित्य की उपाधि प्राप्त की और अपनी इस बड़ी विजय के उपलक्ष्य में उसने विक्रम नाम का एक नया संवत् चलाया, जिसे प्राचीन सिद्ध करने के लिए उसे छः सौ वर्ष पूर्व से ही प्रचारित कर दिया।

समीक्षा—यशोवर्धन द्वारा ६०० सौ वर्ष पहले से विक्रम संवत् का चलाना इतिहास विरुद्ध है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मालव संवत् के नाम से जो संवत् चला आता था, शकारि विक्रमादित्य ने शकों की विजय के उपलक्ष्य में उसी का नाम विक्रम संवत् रख दिया। हूणों के विजेता यशोवर्धन हूणारि कहे जा सकते हैं, शकारि नहीं, और उनके शिलालेखों में विक्रम संवत् की स्थापना की चर्चा कहीं भी नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि ४७३ ई० में कुमारगुप्त की प्रशस्ति के लेखक वत्सभट्टिकवि ने अपने ग्रन्थ में कालिदास के अनेक पद्यों का अनुकरण किया है। अतः कालिदास पञ्चम शताब्दी के बाद नहीं हो सकते हैं। यह मत अब अनेकों प्रमाणों से अमान्य एवं अग्राह्य हो चुका है।

दूसरा मत—बहुत से विद्वानों ने सर्वतः समृद्ध एवं शान्तिमय गुप्त नरेशों के स्वर्णयुग में कालिदास की सत्ता मानी है। इनमें पूना के प्रो० के० पी० पाठक का मत है कि कालिदास गुप्तनरेशों के समकालीन थे, क्योंकि रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु के दिग्विजय से समुद्रगुप्त के दिग्विजय में अधिक समानता है, किन्तु डा० स्मिथ, कीथ, मेक्डानल, रा० कृ० भण्डारकर, पं० रामावतार शर्मा आदि बहुसंख्यक विद्वान् मानते हैं कि कालिदास के आश्रयदाता गुप्तनरेशों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय थे, क्योंकि शकों को भारत से बाहर निकाल देने वाले विक्रमादित्य उपाधिधारी इन्हीं के राज्य-काल में हर तरह से शान्ति थी तथा भारतीय कलाकौशल की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। कालिदास के ग्रन्थों के समान गम्भीर विचार के ग्रन्थ ऐसे ही शान्तिमय समय में स्थिर चित्त से लिखे जा सकते हैं।

समीक्षा—कालिदास को गुप्तकाल के स्वर्णयुग का कवि मानना ठीक नहीं, क्योंकि केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य नहीं थे, किन्तु इनसे पूर्व मालवा में राज्य करनेवाले विक्रमादित्य का भी पता इतिहास को है। दूसरी बात यह है कि यदि कालिदास गुप्तकाल में

होते तो प्रयाग के समुद्रगुप्त के स्तम्भ पर कालिदास की रचना न होकर साधारण विद्वान् हरिसेन से क्यों लिखवाया जाता ? अतः कालिदास को गुप्तकाल में मानना सर्वथा असंगत है।

तीसरा मत—उपर्युक्त कल्पनाओं से असन्तुष्ट होकर कुछ विद्वानों ने ६८ई० की गाथा-सप्तशती के पद्यों में दानशील राजा विक्रमादित्य के स्पष्ट उल्लेख मिलने के आधार पर ईसा के पूर्व विक्रमादित्य की सत्ता प्रामाणिक रूप से स्थिर मान ली है। इनके शकारि होने में भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं, क्योंकि ईसा से १५० वर्ष पूर्व भारत में आने वाले शकों का पता इतिहास में पाया जाता है। अतः इन्हीं की सभा में कालिदास की सत्ता मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। इस मत के तर्क एवं प्रमाण विश्वसनीय हैं।

इसीलिए वल्लालसेन ने अपने भोज-प्रबन्ध में विक्रम संवत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा शकारि वीर विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में कविवर कालिदास की भी गणना की है, जिनके विना उनको एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता था और इनकी अद्भुत कविकल्पना पर वे सदा मुग्ध रहा करते थे—

धन्वतरि–क्षपणकामरसिंह–शङ्कु–वेतालभट्ट–घटखर्पर–कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरोनृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

कालिदास के ग्रन्थों से भी राजा विक्रमादित्य के दरबार में रहने का सङ्केत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की प्रस्तावना में रस एवं भाव का चमत्कार दिखाने वाले कलाकारों के आश्रयदाता विक्रमादित्य की अभिरूप भूयिष्ठ परिषद् में उस नाटक के अभिनय करने का संकेत है—'आर्ये ! **इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद्** ।' और विक्रमोर्वशीय नाटक में यद्यपि पुरूरवा नायक है तथापि विक्रम का स्पष्ट नामोल्लेख है—'**अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः**'। इत्यादि वचनों से इसकी पुष्टि होती है कि कालिदास का विक्रमादित्य से सम्बन्ध अवश्य था।

रामचन्द्र काव्य में तो स्पष्ट उल्लेख है कि शकाराति वीर विक्रमादित्य ने कालिदास की बड़ी ख्याति की थी—**ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना**। अतः कालिदास राजा विक्रमादित्य की सभा के नव रत्नों में एक महारत्न अवश्य थे। जनश्रुति भी इसी मत की पुष्टि करती है—**नह्यमूला जनश्रुतिः**।

इसी प्रकार किसी ने इन्हें बङ्गाली, कुछ ने काश्मीरी, कतिपय विद्वानों ने मालव निवासी सिद्ध करने की चेष्टा की है। कालिदास के यशस्वी जीवन तथा उनकी अनुपम भारती का गुणगान करने में जितनी उत्सुकता भारतीय विद्वानों में है, उससे किसी भी अंश में विदेशी विद्वान् पीछे नहीं हैं। इनका अनुपम काव्य-कौशल इनके व्यक्तित्व का वास्तविक परिचायक है। इनकी प्रतिभा से निःसृत अमृतकणों का पानकर सबको प्रसन्नता होती है। अतः ये सबके मान्य कवि हैं।

कालिदास की कृतियाँ

महाकवि कालिदास के जन्म एवं जीवनी के विषय में जिस प्रकार मतभेद रहा है वैसे ही उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी कम विवाद नहीं है। कुछ दिन पहले कालिदास

नामधारी दूसरे व्यक्तियों की कृतियों को इनके नाम से जोड़ देने के सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है, किन्तु इधर आधुनिक विद्वानों की खोजों के आधार पर प्रमुख रूप से कालिदास की निम्नाङ्कित कृतियाँ मानी जाती हैं—दो महाकाव्य—(१) रघुवंश, (२) कुमारसम्भव। तीन नाटक—(क) अभिज्ञानशाकुन्तल, (ख) विक्रमोर्वशीय, (ग) मालविकाग्निमित्र। एक खण्ड काव्य—मेघदूत तथा एक मुक्तककाव्य—ऋतुसंहार। शृङ्गारतिलक के इनके कृतित्व में समीक्षकों को सन्देह है।

रघुवंश की विशेषता

रघुवंश में महाकाव्य के सभी लक्षण घटते हैं। इसके १९ सर्गों में कवि कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशी महाप्रतापी राजा दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक २७ राजाओं का आदर्शमय वर्णन किया है। यद्यपि इस काव्य की कथा वाल्मीकिरामायण, महाभारत तथा पद्म आदि पुराणों में पायी जाती है, पर वाल्मीकि से अधिक समता है, फिर भी वाल्मीकिरामायण और रघुवंश के वंशक्रम में महान् अन्तर है। वा० रा० आदि काण्ड, सर्ग ७० के १९–४३ श्लोकों के अनुसार दिलीप से राम तक १८ राजाओं का नाम निर्दिष्ट है; किन्तु रघुवंश में दिलीप से राम तक ५ ही पीढ़ी पड़ती है (१) दिलीप, (२) रघु, (३) अज, (४) दशरथ और (५) राम।

रघुवंश महाकाव्य की संस्कृत व्याख्याओं में मल्लिनाथ की सञ्जीविनी व्याख्या सर्वोत्कृष्ट तथा प्रामाणिक मानी जाती है। अतः इस संस्करण में सञ्जीविनी व्याख्या भी दी गई है और परीक्षार्थी छात्रों की सुविधा के लिए अन्वय, संस्कृत में व्याख्या, समास, भावार्थ तथा हिन्दी में भावार्थ भी दे दिया गया है जिससे यह ग्रन्थ और भी सुबोध एवं उपादेय हो गया है। आशा है, छात्रवर्ग व्याख्याकार तथा प्रकाशक के प्रयास को अवश्य सफल बनायेगा। इति शम्।

विजयादशमी
सं० २०३२

विदुषांवद
श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

कथासार



प्रथम सर्ग

शब्द तथा अर्थ के समान सर्वदा सम्बद्ध संसार के माता-पिता भगवान् शंकर और पार्वतीजी को नमस्कार कर कविकुलकलाधर कविवर कालिदास सूर्य से उत्पन्न रघुवंश का वर्णन करने संकोच करते हुए कहते हैं—यद्यपि मैं रघुवंश का पार पाने में सर्वथा असमर्थ हूँ, फिर भी वाल्मीकि आदि महाकवियों ने सूर्यवंश पर सुन्दर काव्य लिखकर वाणी का द्वार खोल दिया है। इसलिए उसमें प्रवेश कर उस वंश का कुछ वर्णन कर देना मेरे लिए शक्य हो गया है। जिस प्रकार हीरे की कनी से विंधे मणियों में डोरा पिरोया जा सकता है उसी प्रकार मैं अपनी तुच्छ बुद्धि से उन प्रतापी रघुवंशियों का वर्णन कर सकूँगा, जिनका साम्राज्य समुद्र के ओर-छोर तक फैला हुआ था, जिनके अजेय रथ पृथ्वी से सीधे स्वर्ग तक जाया-आया करते थे। जो शास्त्रों के अनुसार यज्ञ करते थे, जो दान करने के लिए ही धन बटोरते थे, जो सत्य की रक्षा के लिए ही कम बोलते थे, जो अपना यश बढ़ाने के लिए ही दूसरे देशों को जीतते थे, जो भोग-विलास के लिए नहीं वरन् सन्तान उत्पन्न करने के लिए विवाह करते थे और जो बुढ़ापे में पुत्रों को राज्य सौंपकर मुनियों के समान जंगल में रहकर तपोमय जीवन बिताते थे और अन्त में परमात्मा का ध्यान करते हुए अपने पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग कर देते थे।

जैसे वेद के छन्दों में सर्वप्रथम ॐ है वैसे ही राजाओं में सबसे प्रथम सूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु हुए जिनका समादार बड़े-बड़े तपस्वी, विद्वान् एवं महात्मा लोग किया करते हैं। उन्हीं वैवस्वत मनु के वंश में चन्द्रमा के समान सबको सुख देनेवाले तथा शुद्ध चरित्रवाले राजा दिलीप ने जन्म लिया था, उनका रूप अत्यन्त सुन्दर था। जैसा सुन्दर उनका रूप था वैसी ही उनकी बुद्धि भी बड़ी तीव्र थी। अल्पकाल में ही उन्होंने सारी विद्याएँ पढ़ लीं। वे न्याय में बड़े कठोर, पक्षपातरहित और अत्यन्त दयालु थे। उनके राज्य में सभी लोग नियमों पर चलते थे और आश्रमों के नियमों के अनुसार ही अपने धर्म का पालन करते

थे। जैसे सूर्य अपनी किरणो से पृथ्वी का जल खीचते हैं वैसे ही राजा दिलीप भी प्रजाओं से जितना कर लेते थे वह सब प्रजा की भलाई में लगा देते थे। राजा दिलीप न तो अपने मन का भेद किसी को बताते थे, न किसी को जानने देते थे। जब कार्य सम्पन्न हो जाता था तभी कोई जान पाता था। वे निडर होकर अपनी रक्षा करते थे तथा धीरज के साथ अपनी प्रजा और धर्म की रक्षा किया करते थे। अपना जीवन वे धर्मकार्यों के अनुष्ठानों में विताते रहते थे।

राजा दिलीप जो प्रजा से कर लेते थे वह इन्द्र को प्रसन्न कर वर्षा बरसाने के निमित्त यज्ञो में लगा देते थे। इस प्रकार राजा दिलीप और देवराज इन्द्र दोनों एक-दूसरे की सहायता करके स्वर्ग और पृथ्वी का पालन करते थे। ब्रह्मा ने निश्चय ही राजा दिलीप को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन पाँच तत्त्वो से ही बनाया है, क्योंकि पाँचो तत्त्व हमेशा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणो से सारी सृष्टि की सेवा करते रहते हैं। दिलीप के गुणो से ही दूसरो का उपकार होता था। जैसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही मगधवश मे उत्पन्न सुदक्षिणा उनकी धर्मपत्नी थी। उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नी सुदक्षिणा से मेरे जैसा सत्पुत्र उत्पन्न हो। अतः उन्होंने अपने राज्य का भार सँभालने के लिए मन्त्रियों पर सौंपकर सुदक्षिणा के साथ रथ पर सवार होकर वे अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ के आश्रम की ओर चल पड़े। उन्होंने अपने साथ अधिक सेवकों को नहीं लिया, क्योंकि उनकी भीड़-भाड़ से आश्रम के कार्यों में बाधा पड़ेगी। मार्ग मे साल की गोंद की गन्ध को, फूलो के पराग को और वन के वृक्षों के पत्तों को धीरे-धीरे कँपाता हुआ पवन उनको सुख देता हुआ चल रहा था।

सन्ध्या के समय दिलीप अपनी पत्नी के साथ वसिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचकर देखते हैं कि अग्निहोत्र का धुआँ पवन के कारण चारो ओर फैलकर अतिथियो को पवित्र कर रहा है। तब राजा दिलीप ने आश्रम के पहले ही सारथी द्वारा रथ खड़ा कराकर सहारा देकर पहले सुदक्षिणा को रथ से उतारा बाद स्वयं उतर पड़े। यह समाचार सुनकर सभ्य-संयमी मुनियों ने अपने रक्षक राजा का सपत्नीक सम्मान के साथ स्वागत किया। जब सन्ध्याकालीन क्रियाएँ समाप्त हो चुकी तब उन्होंने वसिष्ठजी के पास उन्हें पहुँचाया। तब राजा दिलीप ने उन तपस्वी महामुनि अपने कुलगुरु वसिष्ठजी का दर्शन किया जिनके पीछे पतिव्रता अरुन्धतीजी उसी प्रकार बैठी थी जैसे अग्नि के पीछे स्वाहा

वैठी हो। राजा दिलीप तथा उनकी धर्मपत्नी मगधराजकुमारी सुदक्षिणा ने श्रद्धापूर्वक चरण स्पर्श कर उन्हें वन्दना की और गुरु तथा गुरुपत्नी ने बड़े प्रेम से आशीर्वाद देकर उनका सत्कार किया। बाद महर्षि ने उस राजर्षि से पूछा कि आपके राज्य में सब कुशल तो है न ? तब उत्तर में उन्होंने कहा—आपकी कृपा से राज्य में राजा, मन्त्री, मित्र, राजकोष, राज्य, दुर्ग और सेना ये सातों अंग भरपूर हैं। अग्नि जल, महामारी और अकाल मृत्यु इन दैवी आपत्तियों तथा चोर, डाकू, शत्रु आदि मानुषी आपत्तियों को दूर करने वाले तो आप बैठे ही हैं। आपके मन्त्रों के प्रभाव से मेरे राज्य में कोई कष्ट नहीं है। आपके ब्रह्मतेज के बल से मेरी प्रजा में कोई भी न तो अल्पायु है, न किसी को किसी प्रकार ईतियों या विपत्तियों का डर रहता है। जब आप स्वयं ब्रह्मा के पुत्र ही हमारे कुलगुरु होकर हमारे कल्याण की बातें सोचते हैं तो हमारा राज्य निर्विघ्न क्यों न रहे।

पर महाराज ! आपकी इस पुत्रवधू सुदक्षिणा को सन्ततिहीन देखकर सप्त-द्वीपा यह पृथ्वी मुझे अच्छी नहीं लगती। अब तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मेरे पीछे कोई मुझे पिण्ड देने वाला भी नहीं रह जायेगा। इसी दुःख से मेरे पितर मेरे दिये हुए श्राद्ध के अन्न को न खाकर रोने लगते हैं और सोचने लगते हैं कि मेरे पीछे इनको कौन तर्पण आदि करेगा। इसलिए प्रभो ! अब कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे मुझे पुत्ररत्न हो और मैं पितृऋण से मुक्त हो जाऊँ क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की सभी कठिनाइयाँ आपकी कृपा से सदा दूर हो जाती रही हैं। राजा की बात सुनकर वसिष्ठजी ने आँखें बन्द कर क्षणभर के लिए योगबल से ध्यान लगाकर सन्तति-निरोध का रहस्य जानकर राजा से कहा—राजन् ! एक बार जब तुम देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायता कर पृथ्वी को लौट रहे थे तब मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया में कामधेनु बैठी हुई थी। उस समय तुम्हारी धर्मपत्नी इस सुदक्षिणा ने रजस्वला होने पर स्नान किया था। उसके पास पहुँचने की त्वरा के कारण तुमने कामधेनु की ओर ध्यान नहीं दिया। उस समय तुमने उसकी प्रदक्षिणा न कर गलती कर दी। अतः उसने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि जब तक तुम मेरी सन्तति की सेवा न करोगे तब तक तुम्हें पुत्र नहीं होगा। उस समय बड़े-बड़े मतवाले दिग्गज आकाशगंगा में खेलते हुए चिग्घाड़ कर रहे थे, इसलिए उस शाप को न तो तुम ही सुन सके, न तुम्हारा सारथि ही।

अब इस समय तो कामधेनु पाताल में वरुणदेव के यज्ञ में आहुति की सामग्री देने के लिए गयी है। उस लोक के द्वारों पर बड़े-बड़े विषधर सर्प रखवाली कर रहे हैं। अतः इस समय उसका दर्शन दुर्लभ है। अतः तुम उसकी पुत्री नन्दिनी गौ को ही उसकी प्रतिनिधि समझकर रानी के साथ शुद्ध मन से सेवा करो। इधर वसिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि सुलक्षणा नन्दिनी वन से लौटकर आ पहुँची। अपना बछड़ा देखते ही उसके स्तनों से गरम-गरम दूध टपकने लगा। नन्दिनी के खुर से उड़ी धूल के लगने से राजा वैसे ही पवित्र हो गये जैसे किसी तीर्थ में स्नान करके लौटे हों। शकुन के जानने वाले वसिष्ठ जी दिलीप से बोले—राजन्, तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा क्योंकि यह नन्दिनी नाम लेते ही आ पहुँची है। तुम कन्द, मूल, फल खाते हुए इसकी सेवा करो—जब यह चले तब तुम भी इसके पीछे-पीछे चलना, जब खड़ी हो जाय तब तुम भी खड़े हो जाना, जब यह बैठे तब तुम भी बैठ जाना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना। तुम्हारी वधू सुदक्षिणा को चाहिए कि वह नित्य प्रातःकाल बड़ी भक्ति से इसकी पूजा किया करे और जब यह वन को जाने लगे तब यह तपोवन के बाहर तक उसके पीछे-पीछे जाय और सायंकाल लौटते समय वहीं से अगवानी करके उसे आश्रम में ले आये। जब तक यह गौ प्रसन्न न हो जाय तब तक तुम इसकी इसी प्रकार सेवा करते रहो। ईश्वर करे तुम्हें कोई बाधा न हो और जिस प्रकार तुम अपने पिता के सुयोग्य पुत्र हो वैसे ही तुम्हें भी सुयोग्य पुत्र प्राप्त हो। राजा ने बड़ी नम्रता से वसिष्ठजी से कहा कि हम ऐसा ही करेंगे। अनन्तर उन्होंने तथा उनकी पत्नी ने गुरुजी से इस व्रतपालन की आज्ञा ली। रात अधिक हो चली थी अतः वसिष्ठजी ने राजा के व्रत के योग्य कन्द-मूल के भोजन और कुश की चटाई का प्रबन्ध किया। वसिष्ठजी ने जो पर्णकुटी बनायी उसी में राजा दिलीप ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रानी सुदक्षिणा के साथ कुश की चटाई पर सोकर रात बितायी।

•

द्वितीय सर्ग

रात में पर्णशाला के अन्दर विश्राम कर लेने के बाद प्रातःकाल प्रजापालक राजा दिलीप ने वसिष्ठजी की नवप्रसूता उस नन्दिनी गौ को वन में चराने के लिए बन्धन से खोल दिया, जिसकी पूजा रानी सुदक्षिणा ने चन्दन एवं माला से

कर दी थीं और दूध पी चुकने के बाद जिसका बछड़ा बाँध दिया गया था। पतिव्रताओं में अग्रगण्य दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलिवाले मार्ग का उसी प्रकार अनुगमन किया जैसे मनुस्मृति श्रुति का अनुगमन करती है। दयालु राजा दिलीप सुकुमारी सुदक्षिणा एवं नौकरों को वापस लौटाकर दूधभरे स्तनों के भार से धीरे-धीरे चलनेवाली नन्दिनी की सेवा स्वयं करने लगे। राजा नन्दिनी के इच्छानुसार रुकने पर रुकते थे, चलने पर चलते थे, बैठने पर बैठते थे, पानी पीने पर पानी पीते थे—इस प्रकार उन्होंने छाया की भाँति उस नन्दिनी का अनुसरण किया। छत्र-चामर-मुकुट आदि राजचिह्नों से रहित होने पर भी वे अपने असाधारण तेज से राजा प्रतीत होते थे और प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को लिये वसिष्ठजी की होमधेनु नन्दिनी की रक्षा के बहाने दुष्ट जङ्गली जानवरों को मानों दण्ड देने के लिए वन में घूम रहे थे। बगल के वृक्षों ने मतवाले पक्षियों के शब्दों से उनका जयकार किया, लताओं ने उनके ऊपर फूल बिखेरा, हरिणों ने निडर होकर उन्हें देखते हुए अपने विशाल नेत्रका फल पा लिया, मन्द, सुगन्ध एवं शीतल वायु ने उनकी सेवा की और उनके वन में प्रवेश करते ही वनाग्नि शान्त हो गयी।

शाम हो जाने पर नन्दिनी अपने संचार से वनभूमि को पवित्र कर आश्रम पर जाने लगी। दिलीप भी वन का दृश्य देखते हुए उसके पीछे-पीछे चले। आश्रम के पास पीछे राजा, मध्य में नन्दिनी, आगे अगवानी करने आयी हुई सुदक्षिणा हो गयी। इस प्रकार दिलीप सुदक्षिणा के बीच नन्दिनी की शोभा रात-दिन के मध्य में वर्तमान सन्ध्या के समान हो गयी। सुदक्षिणा ने नन्दिनी की पुनः पूजा की। बछड़े के लिए उत्कण्ठित होने पर भी उसने उसे स्वीकार कर लिया। अतः वे दोनों बड़े प्रसन्न हुए। गुरु एवं गुरुपत्नी को प्रणाम कर सन्ध्याविधि के समाप्त होने पर दिलीप दूध दूह लेने के बाद बैठी हुई नन्दिनी की पुनः सेवा करने लगे। नन्दिनी के पास दीपक तथा उसके भोज्य पदार्थ रखे हुए थे, उसके सो जाने पर राजा और सुदक्षिणा भी सो जाते थे और जगने पर जग जाते थे। इस प्रकार स्त्री के साथ नन्दिनी की सेवा करते हुए दिलीप के इक्कीस दिन बीत गये।

बाईसवें दिन जब राजा पर्वतीय दृश्य देखने लगे कि नन्दिनी भी राजा के हृदय को जानने के लिए हिमालय की एक कन्दरा में घुस गयी और शेर ने उस पर आक्रमण कर दिया। उसका करुण क्रन्दन सुनकर अन्दर जाने पर

राजा ने देखा कि उसके ऊपर शेर बैठा है और नन्दिनी कातर होकर उसकी ओर देख रही है। यह देखते ही राजा ने शेर को मारने के लिए तरकस से बाण निकालकर उसपर प्रहार करना ही चाहा कि उनका हाथ रुक गया और वे चित्रलिखित से निःस्तब्ध हो गये। बाद अपने पुरुषार्थ को व्यर्थ समझकर आश्चर्य में पड़े हुए और मन्त्र एवं औषध के बल से शक्तिक्षीण साँप के समान भीतर ही भीतर छटपटाते हुए राजा को देखकर मनुष्य की वाणी में शेर ने हँसते हुए कहा—राजन्! मुझे मारने के लिए तेरा प्रयास व्यर्थ है, मैं भगवान् शङ्कर का सेवक हूँ, जो तुम्हारे भी मान्य हैं। एक बार जङ्गली हाथियों ने इन देवदारु वृक्षों के वल्कल को खुजली शान्त करने के अपने कपोलस्थल की रगड़ से छुड़ा दिया था, जिसे देखकर पार्वतीजी को बड़ा ही दुःख हुआ, क्योंकि उन्होंने इन्हें अपने पुत्र के समान पाला था। उसी समय से शिवजी ने मुझे इसकी रखवारी के लिए नियुक्त कर आदेश दिया कि जो जन्तु तुम्हारे समीप आ जाय, उसे खाकर तुम अपना निर्वाह करना। अतः मैं इसे खाऊँगा। तुम लाज छोड़कर लौट जाओ, तुमने गुरुभक्ति का प्रदर्शन कर दिया, जो कार्य अशक्य है, उसमें किसी का दोष नहीं। यह सुनकर राजा ने अपनी अपमान भावना को ढीला कर दिया और वे बोले—हे मृगेन्द्र! शिवजी तो मेरे मान्य हैं ही, पर गुरु की यह गाय भी उपेक्षणीय नहीं है, इसका छोटा बछड़ा दूध पीने के लिए उत्सुक होगा। अतः मुझे आप खाकर अपनी क्षुधानिवृत्ति कीजिए और इसे छोड़ दीजिए।

यह सुनकर वह शेर मुस्कराकर दिलीप से पुनः कहा—राजन्! तुम मेरे विचार से बड़े विवेकशून्य मालूम पड़ते हो, क्योंकि एक क्षुद्र गौ के लिए इतना बड़ा साम्राज्य, नयी अवस्था एवं सुन्दर शरीर का त्याग करना चाहते हो। तुम्हारी कृपा से एक नन्दिनी मात्र का कल्याण होगा, यदि तुम जीते रहोगे तो अनेक प्रजाओं का पिता के समान निरन्तर पालन करते रहोगे। यदि गुरु से डरते हो तो अधिक दूध देनेवाली अनेक गौओं को देकर उनका क्रोध शान्त कर सकते हो। अतः अपने शरीर का त्याग न करो, इस पार्थिव स्वर्ग का भोग भोगो। यह कहकर सिंह के मौन हो जाने पर दिलीप ने कहा—मृगराज! नाश से रक्षा करना क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य है, उसके विरुद्ध प्राण धारण से क्या लाभ है? गुरुजी के क्रोध की शान्ति, अन्य गायों के दान से सम्भव नहीं, इस नन्दिनी को कामधेनु के समान समझो, इस पर तो तुम्हारा आक्रमण

शिवजी से प्रताप से हुआ है। अतः मैं इस गौ के वदले में अपने शरीर को तुम्हें देकर इसकी रक्षा करना आवश्यक समझता हूँ। इस प्रकार तुम्हारी भूख भी मिट जायेगी और गुरुजी का होम आदि कार्य भी चलता रहेगा। आप स्वयं पराधीन हो, पराधीनों की वान जानते ही हो, रक्षणीय वस्तु को नष्ट कर सेवक स्वयं कुछ भी आघात न पाकर स्वामी के सामने संकोच के मारे जा नहीं सकता। मुझपर दया करो, मुझे प्राण का मोह नहीं है, क्योंकि मेरे जैसे यशस्वी व्यक्ति को इस अवश्य विनाशशील शरीर पर आस्था नहीं होती। अपना शरीर समर्पित कर गौ की रक्षा करना परम धर्म है। यही मैं चाहता हूँ। विद्वान् कहते हैं—वातचीत से भी मित्रता हो जाती है। इस प्रकार हम दोनों की मित्रता हो चुकी। अतः मित्र होकर तुम मेरी प्रार्थना भंग न करो। यह सुन शेर के स्वीकार कर लेने के वाद राजा का वाहुस्तम्भन शिथिल हो गया, उन्होंने अस्त्र त्यागकर अपने शरीर को मांसपिण्ड के समान शेर के सामने भेंट कर दिया। नीचे मुख किये सिंह के भयंकर आक्रमण की प्रतीक्षा करते हुए दिलीप के ऊपर आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी और नन्दिनी वोल उठी—पुत्र! उठो। नन्दिनी के इस अमृतमय वचन को सुनकर उठने पर राजा ने केवल दयालु माता के समान नन्दिनी को देखा, पर शेर को नहीं। इससे उनको वड़ा आश्चर्य हुआ। तव उस विस्मयापन्न राजा से नन्दिनी ने कहा—वत्स! ऋषि के प्रभाव से मेरा यमराज भी कुछ नहीं कर सकते हैं, तो दूसरे जन्तुओं की क्या वात है? मैंने तो माया से शेर वनाकर तुम्हारी परीक्षा की है। तेरी गुरुभक्ति और जीवदया से मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो, क्या चाहते हो? मुझे केवल दूध देने वाली गौ न समझो, अपितु प्रसन्न कामधेनु समझो। यह सुन राजा ने हाथ जोड़कर सुदक्षिणा में वंश को चलानेवाला पुत्र माँगा। नन्दिनी ने 'तथास्तु' कहकर वरदान दिया और पत्ते के दोने में दूहकर दूध पीने के लिए आदेश भी दे दिया, किन्तु राजा ने कहा—माँ, वछड़े के पीने और गुरुजी के होम के वाद मैं दूध पीऊँगा। वाद प्रसन्न हुई गौ के साथ कन्दरा से निकलकर राजा ने आश्रम पर पहुँचकर यह वृत्त वसिष्ठजी से निवेदन किया और वड़ी प्रसन्नता से अपनी पत्नी सुदक्षिणा से भी कह सुनाया। यद्यपि राजा की प्रसन्नता से उसका आभास उन्हें हो चुका था, वाद गुरुजी आज्ञा से वछड़े और हवन से वचे हुए दूध का पान किया। दूसरे दिन गोव्रत की पारणा के वाद गुरु से आशीर्वाद ले और गुरु, गुरुपत्नी तथा वत्स सहित नन्दिनी की प्रदक्षिणा करके उन्होंने

सुदक्षिणा के साथ रथ से अपनी राजधानी को प्रस्थान किया। अयोध्या पहुँचने पर प्रजाओं ने बड़ी उत्कण्ठा से उनका स्वागत किया। बाद मन्त्रियों से राज्य-भार लेकर वे धर्मपूर्वक प्रजापालन करने लगे। अनन्तर जिस प्रकार आकाश-स्थली अत्रि मुनि के नेत्र से निर्गत चन्द्रमा को धारण करती है और देवनदी गङ्गा ने अग्नि से प्रक्षिप्त स्कन्द को उत्पन्न करनेवाले शिवजी के तेज को धारण किया था उसी प्रकार सुदक्षिणा ने दिलीप के वंशवर्द्धक गर्भ को धारण किया, जिसमें लोकपालों का अंश भी सम्मिलित था।

तृतीय सर्ग

गर्भधारण के बाद राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने पति को, प्रिय सखियों को आनन्दप्रद और इक्ष्वाकुवंश की वृद्धि के लिए कारणभूत गर्भ के चिह्नों को धारण करना आरम्भ किया। उनका शरीर दुबला होने लगा, मुख पीला पड़ गया, उन्होंने अधिक आभूषणों को उतार दिया तथा मिट्टी खाना शुरू कर दिया। यह देखकर परम प्रसन्न राजा ने उनकी सखियों से गर्भिणीमनोरथ को पूछ-पूछकर तदनुकूल सारी व्यवस्थाएँ कर दीं। धीरे-धीरे उनके गर्भ का कष्ट कम होने लगा और उनका शरीर पुष्ट होने लगा, उनका कुचाग्र भाग काला हो गया। राजा दिलीप ने उन्हें गर्भवती समझकर पत्नीप्रेम और अपनी सम्पत्ति के अनुरूप पुंसवन आदि वैदिक संस्कारों को सम्पन्न किया और प्रवीण वैद्यों द्वारा गर्भ के भरण पोषण की व्यवस्था कर दी। दसवें महीने में सुदक्षिणा को पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। राजा ने उदारतापूर्वक दान दिया और कुलगुरु वसिष्ठजी को तपोवन से बुलाकर विधिवत् जातकर्म संस्कार कराया तथा उस बालक का नाम रघु रख दिया।

धाई के वचनों को तुतली बोली में दुहराता हुआ वह बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा, बाद उपयोगी विद्याओं का अध्ययन कर सुशिक्षित हो गया। राजा दिलीप ने उसका यज्ञोपवीत संस्कार तथा विवाह करके उसे युवराज बना दिया। रघु के युवराज होते ही राजा दिलीप शत्रुओं के लिए असह्य हो गये। बाद युवराज रघु को घोड़े की रक्षा के निमित्त नियुक्त कर ९९ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर लिये। सौवाँ अश्वमेध करने के हेतु राजा ने जब घोड़ा छोड़ा, तब देवराज इन्द्र को सहन नहीं हुआ। वे घोड़े को चुराकर अदृश्य हो गये। घोड़े को न

देख सेनासहित रघु किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। इतने में ही वशिष्ठजी की कामधेनु गौ नन्दिनी दिखाई पड़ी, जिसका प्रभाव उन्होंने पहले ही सुन रखा था। तत्काल उसके मूत्र को अपनी आंखों में लगाकर देखा कि इन्द्र घोड़े को चुराकर ले जा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही रघु ने इन्द्र को ललकारते हुए कहा—देवराज ! आप यज्ञों के रक्षक होकर स्वय ऐसा करेंगे, तो यज्ञ कैसे हो सकेगा ? तब इन्द्र ने कहा—राजकुमार ! तेरा कहना सत्य है, फिर भी तुम्हारे पिता दिलीप सौवां अश्वमेध यज्ञ पूरा कर मेरा यश मिटा देना चाहते हैं, क्योंकि मैं ही एकमात्र शतक्रतु (सौ यज्ञ पूरा करने वाला) हूँ दूसरा कोई नहीं, इसलिए मैंने इस घोड़े का अपहरण कर लिया है, तुम लौट जाओ, नहीं तो राजा सगर की सन्तानों की तरह तुम्हारी भी दशा होगी।

इस पर रघु ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है, तो अस्त्र उठाइए, मुझे बिना जीते आप घोड़े को नहीं ले जा सकते हैं। यह कहते हुए रघु ने इन्द्र की छाती पर एक बाण मारा। इन्द्र ने भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक बाण रघु की छाती में ऐसा मारा कि रुधिर की धारा बहने लगी। इस प्रकार दोनों में भयङ्कर युद्ध होने लगा। अन्त में रघु ने इन्द्र के रथ की ध्वजा को काट गिराया, जिससे अपना अत्यन्त अपमान समझकर इन्द्र ने अति क्रोध में आकर रघु को मार डालने के निमित्त अपने अमोघ अस्त्र वज्र का प्रहार किया, किन्तु जरा-सी मूर्च्छा का अनुभव कर रघु उठकर पुनः खड़े हो गये। इस प्रकार रघु को घोर महायुद्ध में अचल देखकर उनकी वीरता पर इन्द्र प्रसन्न हो गये और बोले—युवराज ! पर्वतों की पांख काटनेवाले मेरे इस अमोघ वज्र के प्रहार को तुम्हारे अतिरिक्त आज तक किसी ने नहीं सहा है। तुम्हारे इस साहस एवं वीरता को देखकर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। इस घोड़े को छोड़कर जो चाहो माँग लो।

यह सुनकर रघु ने कहा—देवराज ! यदि आप घोड़े को नहीं देना चाहते हैं, तो निरन्तर यज्ञ करनेवाले मेरे पूज्य पिताजी, इस आरब्ध सौवें अश्वमेध यज्ञ के पूर्ण फल को प्राप्त करें और शिवजी के अंश होने के कारण अत्यन्त दुरासद, सम्प्रति यज्ञशाला में विराजमान मेरे पिताजी इस हम लोगों के समाचार को आपके दूत के द्वारा ही जिस प्रकार सुन सकें आप कृपया वैसा ही प्रबन्ध कर दें। इन्द्र ने रघु की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और अपने सारथी मातलि के साथ जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से अपनी नगरी

इन्द्रपुरी की ओर प्रस्थान किया। इधर युवराज रघु भी विजयी होने पर भी घोड़े के न प्राप्त होने के कारण विशेष प्रसन्न न होते हुए राजा दिलीप के यज्ञ-मण्डप की ओर लौट पड़े।

रघु और इन्द्र के वृत्तान्त को राजा दिलीप इन्द्रदूत के मुख से पहले ही सुनकर परम प्रसन्न हो चुके थे। अतः रघु के आने पर इन्द्र के वज्र के आर्द्र घाव से चिह्नित शरीर पर हर्ष से शिथिल हाथ को धीरे-धीरे फेरते हुए उन्होंने उसका अभिनन्दन किया। इस प्रकार दिलीप ने ९९ अश्वमेध यज्ञ कर जीवन-लीला के बाद स्वर्ग जाने के लिए ९९ सीढ़ियों की पंक्ति बनाकर अपने युवक पुत्र रघु को राज्य देकर वानप्रस्थाश्रम में रहकर तपस्या करने के लिए तपोवन में प्रस्थान कर दिया, क्योंकि इक्ष्वाकु कुल के राजाओं का यही कुल-नियम था।



चतुर्थ सर्ग

महाराज रघु अपने पिता राजा दिलीप द्वारा दिये गये अयोध्या के राज्य सिंहासन को प्राप्त कर उस प्रकार अधिक सुशोभित हुए जिस प्रकार सन्ध्या के समय भगवान् भास्कर के द्वारा निहित तेज को पाकर पावक अधिक तेजस्वी हो जाता है। प्रजाओं ने रघु के अभ्युदय से प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया। उस समय नीतिविशारद मन्त्रियों ने रघु के समक्ष धर्मपक्ष एवं अधर्म-पक्ष दोनों ही रखे, किन्तु रघु ने सद्धर्म को ही स्वीकार किया। अतः रघु ने न्याय से प्रजापालन करते हुए पराक्रम से शत्रुओं को भी अपने वश में कर लिया।

रघु को सिंहासनासीन देखकर लक्ष्मी अदृश्य रूप से तथा सरस्वती समय-समय पर वन्दियों के स्तुतिगान से उनकी सेवा करने लगी। यद्यपि मनु आदि राजाओं ने पहले पृथ्वी का उपभोग कर लिया था, फिर भी रघु को पाकर पृथ्वी अनुपभुक्ता सुन्दरी के समान उनमें अनुरक्त हो गयी। जिस प्रकार मनुष्य आम का फल पाकर उसकी बौर की प्रतीक्षा नहीं रखता है उसी प्रकार प्रजाएँ रघु के गुणों से सन्तुष्ट होकर राजा दिलीप को भूलने लग गयी। समस्त राज्य अभिनव आनन्द का अनुभव करने लगा। प्रजावर्ग में अनुराग उत्पन्न करने के कारण रघु वास्तविक रूप से राजा कहे जाने लगे। रघु के नये राजा होने पर सारी वस्तुएँ नवीन सी दिखाई देने लगीं।

राज्यासन प्राप्त करने के बाद रघु ने अपने राज्य में शान्ति स्थापित की, शरदृतु का आगमन इस प्रकार हुआ मानो कमलधारिणी साक्षात् लक्ष्मी आ

गयी हों। मेघरहित सूर्य के तेज के समान रघु का प्रताप चारों दिशाओं में फैल गया। इन्द्र ने वर्षा सम्बन्धी धनुष उठाकर रख दिया और रघु ने दिग्विजयार्थ अपना धनुष उठा लिया।' क्योंकि ये दोनों बारी-बारी से प्रजा का कार्य सिद्ध करने के लिए धनुर्धारण में तत्पर रहते थे। वर्षाकाल की समाप्ति तथा शरद् के आगमन से सर्वत्र प्रसन्नता छा गयी। ईख की छाया में बैठकर क्षेत्ररक्षक कृषकों की कन्याएँ प्रजावर्ग की रक्षा करने वाले रघु का गुणगान करने लगीं। अगस्त्य के उदय होने से जल में निर्मलता आ गयी। हृष्ट-पुष्ट मतवाले वृषभ रघु का अनुकरण करते हुए नदी के तटों को तोड़ने लगे। शरद् ऋतु आ जाने पर कीचड़ सूख गये तथा मार्ग प्रशस्त हो गये। इस प्रकार वर्षाऋतु समाप्त हो जाने के बाद शरद्ऋतु ने रघु को विजययात्रा के लिए प्रोत्साहित किया, उन्होंने विधिपूर्वक नीराजनाविधि नामक शान्ति कर्म और राजधानी की रक्षा का प्रबन्ध करके षड्विध सेना के साथ शुभ मुहूर्त में दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर दिया।

इन्द्र के समान पराक्रमी राजा रघु पहले पूर्व दिशा की ओर बढ़े। रघु के सेना के रथ एवं घोड़ों की टापों से उडी धूलि से तथा मेघों के तुल्य हाथियों से पृथ्वी एवं आकाश एक सा होता जा रहा था। आगे-आगे रघु का प्रताप, बाद सेना का कोलाहल, उसके पीछे धूलि, अन्त में सेना चल रही थी। रघु अपने प्रभाव से निर्जल प्रदेश को जलमय बनाते हुए, नदियों पर पुल बँधाते हुए, घने जङ्गलों को काटकर प्रकाशमय मार्ग बनाते हुए आगे बढ़ते जाते थे। रघु दिग्विजय के निमित्त अपनी सेना को पूर्व सागर की ओर ले जाते हुए इस प्रकार लग रहे थे मानों राजा भगीरथ शिवजी के जटाजूट से निकली हुई गङ्गाजी को गङ्गासागर की ओर ले जाते हों।

रघु जिन-जिन राजाओं को जीत लेते थे, उन्हें पुनः वहीं का राजा बना देते थे। जिस प्रकार धान का बीज उखाड़कर पुनः रोप देने पर अधिक फल देते हैं वैसे उन राजाओं ने उन्हें अधिक उपायन दिया। इस प्रकार रघु का मार्ग भलीभाँति निष्कण्टक होता गया।

पूर्वी राजाओं को जीतते हुए जब रघु ताल के वनों से सुशोभित समुद्री तट पर पहुँचे तब सुह्म देश के राजा ने युद्ध के बिना ही वैतसी वृत्ति का आश्रय कर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। वहाँ से आगे बढ़कर रघु ने नौका-साधनवाले बंगाली राजाओं को जीतने के बाद गङ्गासागर के द्वीपों में अपना जयस्तम्भ गाड़ दिया। पुनः हाथियों का पुल बनाकर कपिशा नदी को पार कर

उत्कल प्रदेश में गये, जहाँ के लोगों ने आगे बढने के लिए कलिंग देश का मार्ग बता दिया। तदनुसार वहाँ पहुँचकर युद्ध करनेवाले कलिङ्ग राजा को पराजित कर महेन्द्र पर्वत के ऊपर अपना दुःसह प्रताप स्थापित कर दिया। वहाँ उनके सैनिकों ने नारियल के पत्तो मे शत्रुओ के यश के समान नारियल का रस पीकर अपना परिश्रम दूर करते हुए विश्राम किया।

बाद वहाँ से समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण की ओर बढे। कावेरी नदी को पार कर मलयागिरि की तराई से आगे बढते हुए ताम्रपर्णी नदी एव समुद्र के सङ्गम पर वर्तमान पाण्ड्य वश के राजा को युद्ध मे हराया। जिस दक्षिण दिशा मे सूर्य का तेज भी मन्द पड जाता है वही के राजे रघु का प्रताप नही सह पाये। पाण्ड्यनरेश ने नम्र होकर भेंट के रूप मे रघु को मोतियों का हार दिया। वहाँ से चलकर सह्यपर्वत को लाँघता हुआ केरल को जीतने के बाद केरल की मुरला नदी के वायु से उडाये हुए केतकी के पराग रघु के सैनिको पर पडे और रघु के घोडो पर कवचो की ध्वनि ने तालवृक्ष ध्वनि को फीका कर दिया। जिस समुद्र से प्रार्थना करने के बाद परशुरामजी को स्थान प्राप्त हुआ था उसी से प्रार्थना के बिना वहाँ के राजाओं के व्याज से पर्याप्त धन प्राप्त हुआ। रघु ने केरल में उस त्रिकूट पर्वत को ही अपना विजय-स्तम्भ बना दिया जिसपर उनके हाथियो के दाँतो के प्रहार का चिह्न पड़ा था।

बाद स्थलमार्ग से पारस मे जाकर रघु ने उन यवनो से युद्ध किया जिनकी स्त्रियो के मुख से मदिरा की गन्ध निकलती थी। धूलि से आच्छन्न रणाङ्गण मे केवल धनुष टङ्कार से ही योद्धाओं का ज्ञान हो पाता था। रघु ने भल्ला से पारसी राजाओं के दाढीवाले मस्तको को काट-काटकर पृथ्वी को इस प्रकार ढक दिया जैसे वह मधुमक्खियों के छाते से ढकी हो। मरने से बचे पारसी यवनों ने अपने-अपने टोपों को उतार रघु की शरण ले ली।

अनन्तर हूणों को जीतकर वहाँ से उत्तर दिशा की ओर कम्बोजों को जीतते हुए हिमालय पर पहुँचकर पहाडी राजाओं से घमासान युद्ध किया। हिमालय पर्वत पर राजा रघु का उत्सव-संकेत नामक गणो के साथ घोर युद्ध हुआ जिसमें प्रयोग किये गये बाणों, भिन्दिपालों एवं पत्थरों के पारस्परिक संघर्ष से आग उत्पन्न हो जाती थी। रघु ने उनको जीतकर हर्षोत्सव मे अपने पराक्रम का गुणगान गन्धर्वों से कराया। हारे हुए उत्सव-संकेतों ने रघु को इतना पर्याप्त ऐश्वर्य दिया, जिससे रघु ने हिमालय के ऐश्वर्य का पता लगा लिया और हिमालयवासियों ने राजा रघु के पराक्रम को जान लिया।

बाद रघु हिमालय पर अपना स्थिर यश स्थापित करके कैलास पर्वत पर इस संकोच से नहीं गये कि इसे तो रावण ने ही उठा लिया था। पश्चात् लौहित्य नदी को पार कर रघु ने कामरूपेश्वर के हृदय में कम्प पैदा कर दिया। क्योंकि वह तो सूर्य को भी ढक देनेवाली रघु की सेना की धूलि को ही नहीं सह सका तो सेना को कैसे सह सकता था। कामरूप के राजा ने इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी रघु को उन हाथियों को भी भेंट के रूप उपस्थित कर दिया, जिनसे वह शत्रुओं को जीता करता था। उस कामरूप के राजा ने रघु को पर्याप्त रत्नों का उपहार देकर उनका सम्मान किया।

इस प्रकार चारों दिशाओं को जीतकर रघु पराजित राजाओं के छत्र-रहित शिरों को अपनी चतुरङ्गिणी अजेय सेना की धूलि से धूसरित करते हुए दिग्विजययात्रा से अपनी राजधानी अयोध्या में सकुशल लौट आये।

दिग्विजय के अनन्तर राजा रघु ने उस विश्वजित् नामक यज्ञ का आरम्भ किया जिसमें सम्पूर्ण धन ही दक्षिणा के रूप में दे दिया जाता है। ठीक है, जिस प्रकार मेघ समुद्र से जलग्रहण कर वृष्टि के द्वारा जनता का हित करते हैं वैसे ही सज्जनों का द्रव्यसंचय भी परोपकार के लिए होता है। रघु ने यज्ञ सम्पन्न करने के बाद मन्त्रियों की अनुमति से सत्कार करके उन राजाओं को अपने-अपने स्थानों को लौटने के लिए विदा कर दिया, जिनकी रानियाँ अधिक दिन हो जाने से उत्कण्ठित थीं। अपने-अपने नगरों को जाने की अनुमति प्राप्त कर राजा लोग प्रस्थानकालिक नमस्कारों के द्वारा रघु के चरणकमलों को अपने मस्तकों से स्पर्श करने लगे, जिससे उनके मुकुटों की मालाओं से गिरने वाले पुष्परस तथा पराग से रघु के पैर की अंगुलियाँ लाल हो उठीं।



पञ्चम सर्ग

जब राजा ने विश्वजित् नामक यज्ञ में दक्षिणा के रूप में अपना सर्वस्व दे डाला तब वरतन्तु महर्षि के शिष्य कौत्समुनि सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़कर गुरुदक्षिणा देने के लिए धनप्राप्ति की इच्छा से रघु के पास आये। अतिथिसेवा में निपुण राजा रघु ने सोने के पात्रों के न रहने से मिट्टी के पात्र में पूजा-सामग्री लेकर उपस्थित हो शास्त्रोक्त विधि से कौत्स की पूजा की और हाथ जोड़कर पूछा—भगवन्, सूर्य के समान तेजस्वी आपके गुरुजी प्रसन्न तो हैं न?

उनकी तपस्या निर्विघ्न तो चल रही है न ? पुत्र के समान पालित तपोवन के छायादार वृक्षों को वायु एवं वनाग्नि से कोई बाधा तो नहीं है ? जिनके जल से आप लोगों के स्नान, तर्पण, देवपूजन आदि नित्यकृत्य होते हैं—उन नदी आदि के जल मे कोई उपद्रव तो नही है न ? गाँवों के गाय, भैंस आदि आप लोगों के नीवार आदि धान को तो नही खा जाते हैं न ? आपके केवल दर्शनमात्र से ही मेरी तृप्ति नहीं हो रही है, क्योंकि आपकी आज्ञा का पालन करने की मुझे उत्कट उत्कण्ठा हो रही है। क्या गुरुजी की आज्ञा से, या स्वय ही मेरे ऊपर कृपा करने के निमित्त आप आश्रम से पधारे हैं ?

मिट्टी के पात्र मे पूजा-सामग्री को देखकर ही अपने मनोरथ की पूर्ति में हताश होकर कौत्स राजा से बोले—राजन् ! हमारे आश्रम मे सब कुशल है, आपके रहते भला दु ख कैसा ? सूर्य के रहते क्या अन्धकार हो सकता है ? पूज्य वर्ग मे भक्ति तो आपके कुल की परम्परा ही है, पर मैं ही कुछ देर से आया हूँ, यही मुझे खेद है। राजन् ! जैसे नीवार की फली तोड लेने पर केवल डण्ठल रह जाता हैं वैसे ही याचकों को सर्वस्व देकर आप शोभित हो रहे हैं दान में खजाने को खर्च कर आप देव एवं पितरों के द्वारा अमृत पान कर लेने के बाद क्षीण चन्द्रमा के समान शोभित हैं। राजन् ! आप चिन्ता न करें, मैं और किसी दूसरे से गुरुदक्षिणार्थ धन लेने का प्रयास करूँगा। यह कहकर जाने के लिए उद्यत कौत्स से राजा ने पूछा—ब्रह्मन् ! आप गुरुदक्षिणा मे क्या और कितना देना चाहते हैं ? यह सुनकर मुनि ने सदाचारी एव विनयी राजा से कहा—मैंने जब विद्या समाप्त कर गुरुजी से गुरुदक्षिणा स्वीकार करने की प्रार्थना की तो उन्होंने मेरी दृढ गुरु-भक्ति को ही दक्षिणा से बड़ा समझकर कुछ माँगना अस्वीकार किया, बार-बार प्रार्थना करने से नाराज होकर वे बोले—१४ विद्याओं की दक्षिणा १४ करोड़ लाओ। पर, पूजा सामग्री से आपकी दशा जानकर मैं आपको कष्ट नही देना चाहता। ऐसा सुन राजा ने उनसे कहा—भगवन् ! मेरी यज्ञशाला मे दो-तीन दिन ठहरिए तब तक मैं आपकी इच्छा पूर्ण करने का प्रयास करता हूँ। आपके चले जाने से मेरा बहुत बड़ा अपयश होगा।

वसिष्ठजी के प्रभाव से रघु का रथ सर्वत्र जा सकता था, उन्होंने कुबेर को जीतकर धन लाने की इच्छा से रथ सजाकर प्रातःकाल यात्रा करने के निमित्त शयन किया। सवेरे खजाने के अधिकारियों ने खजाने में हुई स्वर्ण-वृष्टि की सूचना राजा को दी, राजा ने सब सोना कौत्स को देना चाहा, पर उन्होंने

गुरुदक्षिणा से अधिक लेना अस्वीकार कर दिया। राजा सब धन देना चाहते थे और वे अधिक लेना नहीं चाहते थे, यह दृश्य देखकर अयोध्यावासी दोनों को धन्य धन्य कहने लगे।

कौत्स ने प्रसन्न होकर राजा से कहा—धर्मरक्षक राजा को यदि पृथ्वी धन्य-धान्य दे तो क्या आश्चर्य है, आप तो स्वर्ग से भी अभीष्ट धन ले लेते हैं यही आश्चर्य है। आपके यहाँ पुत्र के अतिरिक्त किसी वस्तु की कमी नहीं है। अतः आप योग्य पुत्र को प्राप्त करें, यही मैं आशीर्वाद देता हूँ। यह आशीर्वाद देकर कौत्स चले गये और राजा ने ऊँट, घोड़ों से गुरुदक्षिणा आश्रम पर भेज दी।

बाद में राजा रघु को पुत्रलाभ हुआ उन्होंने उसका नाम अज रखा। रघु के समान ही अज का भी रङ्ग-रूप, शरीर आदि सुन्दर और आकर्षक था। गुरुओं से विद्या प्राप्त करते हुए अज युवराज के योग्य हो गये। विदर्भ देश के राजा भोज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर में अज को बुलाने के लिए रघु के पास निमन्त्रण भेजा। राजा रघु ने अज को विवाह के योग्य और भोज के सम्बन्ध का औचित्य समझकर सेना सहित अज को विदर्भ भेज दिया। रास्ते में नर्मदा नदी के किनारे अज की सेना का पड़ाव पड़ा। नर्मदा से एक मत्त हाथी पानी उछालता हुआ निकला। सेना के हाथी उस जंगली हाथी के मद की उत्कट गन्ध को सूँघकर भागने लगे, घोड़े दौड़ने लगे, रथ टूटकर गिर गये एवं स्त्रियों की रक्षा के लिए सैनिक दौड़ पड़े, इस तरह उस हाथी ने सबको व्याकुल कर दिया।

तब अज ने बाण से गज के मस्तक पर मारा, बाण लगते ही वह हाथी से एक दिव्य पुरुष बन गया और अज के ऊपर नन्दन वन के पुष्पों की वर्षा करते हुए बोला—कुमार! मैं गन्धर्वराज प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद हूँ, मतङ्ग मुनि के शाप से हाथी हो गया था। महात्माओं का स्वभाव जल की तरह शीतल होता है, प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा—अज के बाण की चोट लगते ही मेरे शाप का अन्त हो जायेगा। आपने शाप से मुझे मुक्त कर दिया। यदि मैं आपका कोई उपकार न करूँ तो मेरी दैवी सम्पत्ति व्यर्थ है। मित्र! मैं संमोहन नामक अस्त्र देता हूँ, इससे शत्रु मूर्छित हो जाते हैं और बिना हिंसा के विजय मिल जाती है। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। तदनुसार अज ने नर्मदा के जल से आचमन करके शुद्ध हो उस गन्धर्व से संमोहन अस्त्र सीख लिया। इस प्रकार मार्ग में दैवात् दिव्य अस्त्र पाकर अज विदर्भ को गये और

गन्धर्व अपने लोक को चला गया। विदर्भ नगरी के निकट पहुँचने पर विदर्भराज ने अज की अगवानी कर आदर के साथ नगर में लाकर बड़ा सत्कार किया।

भोज के कर्मचारियों द्वारा निश्चित नये राजभवन मे अज ठहराये गये। इन्दुमती के विषय मे अनेक प्रकार की चिन्ता करते हुए अज को रात में नींद देर से आयी। रात्रि के अन्त प्रभातकाल में बन्दीगण मधुर वाणी से अज की स्तुति करने लगे—विद्वन् ! रात बीत गयी, चन्द्रमा की कान्ति मन्द हो चली, आपके चञ्चल नेत्र तथा खिलते हुए कमल की ठीक समानता हो सकेगी यदि दोनों साथ खिलें। अतः उठिए, प्रभातवायु आपके मुख की सुगन्धि पाने की इच्छा से बार-बार बहता फिरता है। कोमल लाल पत्तों पर पड़ी ओस की बूँदें आपके अधरोष्ठ से मिले मृदुहास्य की तरह मालूम पड़ती हैं। आपके हाथी सोकर उठे हैं, सूर्य की किरणों मे उनके दाँत शृंग की तरह रङ्गीन मालूम पड़ते हैं। तम्बुओ में बँधे हुए आपके अरबी घोड़े जगकर सैन्धव लवण का स्वाद ले रहे हैं। देखिए, रात की पुष्पमालाएँ मुरझा गयी हैं। दीपक की कान्ति मलीन हो गयी और आपका सुग्गा भी हमारी तरह बोलता हुआ आपको जगा रहा है। अतः आप भी उठ जाइए।

इस प्रकार मधुभाषी वन्दियों के द्वारा स्तुतिपूर्वक जगाये गये कुमार अज पलंग से वैसे ही उठ बैठे जैसे मधुर शब्द करनेवाले हंसो के निनाद से जगा ईशानकोण का दिग्गज सुप्रतीक गंगा के रेतीले तट से उठ जाता है। शय्या छोड़ने के बाद अज ने प्रातःकालीन नित्य-कृत्य, सन्ध्यावन्दनादि समाप्त कर प्रसाधनकुशल परिचारक के द्वारा विरचित स्वयंवर के योग्य वेश भूषा से सज-धज कर स्वयम्वर में विराजमान राजाओ के समाज में सम्मिलित हुए।



षष्ठ सर्ग

षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर का आकर्षक वर्णन है। राजा रघु के पुत्र युवराज अज ने स्वयंवर स्थान में उपस्थित होकर मंचों पर सजाये हुए सिंहासनों पर आसीन सुन्दर वेशवाले उन राजाओं को देखा, जो विमानों पर बैठे हुए देवताओं के समान सुशोभित हो रहे थे। अज राजा भोज द्वारा बताये गये योग्य मंच पर सुन्दर बनी सीढ़ियों के मार्ग से उस प्रकार चढ़ गये जैसे शेर का बच्चा पर्वत की चट्टानों पर पैर रखता हुआ ऊँचे शिखर पर चढ़ जाता है। वे

राजा कामदेव के समान सुन्दर अज को देखकर इन्दुमती के प्रति निराश हो गये। सुन्दर रंग-बिरंगे वस्त्रों से आच्छन्न रत्नजटित सिंहासन पर बैठे हुए अज अनेक रंगवाली मोर की पीठ पर बैठे हुए कार्तिकेय जैसे लग रहे थे।

जिस प्रकार प्रफुल्लित वृक्षों को छोड़कर भवरें मद बहाने वाले जंगली हाथी के ऊपर झुक जाते हैं उसी प्रकार नागरिक दर्शकों की दृष्टि सब राजाओं को छोड़कर अज पर ही आ डटी। अनन्तर राजाओं के वंशों के जानकार वन्दीजन चन्द्रवंशी एवं सूर्यवंशी राजाओं का गुण-गान करने लगे, सुगन्धी धूपवत्ती का धुआँ आकाश में फैल गया तथा माङ्गलिक बाजे बजने लगे। इसी समय भोजराज की छोटी बहन इन्दुमती पालकी में बैठकर अपनी सखी सुनन्दा के साथ मञ्चों के बीच बने राजमार्ग से स्वयंवर स्थल पर आ पहुँची। विधाता की अद्वितीय सृष्टि सर्वाङ्गसुन्दरी उस इन्दुमती को देखकर सभी राजा अपने मन के भावों को विविध प्रकार की चेष्टाओं से व्यक्त करने लगे। सात पद्यों में कवि ने विभिन्न राजाओं को शृङ्गार चेष्टाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, जिनका अभिप्राय राजाओं ने अपने मन के अनुकूल समझा तथा इन्दुमती ने इसके विपरीत सबको कुलक्षणी समझा। स्वयम्वर में विराजमान राजाओं का नैसर्गिक वर्णन अतिरोचक ढंग से उपस्थित किया गया है। सबसे पहले मगध देश के राजा का वर्णन है।

राजाओं के चरित्र एवं वंशावली को जानने वाली पुरुषों के समान धृष्ट रनिवास की द्वारपालिका सुनन्दा, इन्दुमती को मगधनरेश परन्तप के समक्ष उपस्थित कर कहने लगी राजकुमारी! इस भूमण्डल में अनेक राजाओं के रहते हुए भी पृथ्वी इन्हीं से राजन्वती है। इन्होंने निरन्तर अपने यज्ञानुष्ठान में इन्द्र को बुलाकर इन्द्राणी को चिरवियोगिनी बना दिया है। यदि इन्हें वरण कर लोगी, तो अपने-अपने महलों में बैठी पुष्पपुर की महिलाओं को आनन्दित करोगी। परन्तप इन्दुमती को नहीं जचे। उसने सुनन्दा को आगे बढ़ने का इशारा किया। बाद सुनन्दा ने अङ्ग देश के राजा को दिखाकर कहा—ये भूलोक में भी स्वर्गीय सुख भोगते हैं। इनके पास एक साथ लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों रहती हैं। अतः कान्तिमती एवं मधुरभाषिणी तुम तीसरी हो जाओ, किन्तु इन्दुमती की रुचि न होने से सुनन्दा उसे उज्जयिनी के राजा के पास ले जाकर कहने लगी—ये महाप्रतापी राजा महाकाल के समीप रहते हैं। अतः कृष्ण पक्ष में भी ये चाँदनी रातों का उपभोग करते हैं। यदि तुम सिप्रा नदी की

वायु से कपाई गयी बाग-बगीचों की परम्पराओं मे विहार करना चाहती हो तो इनका वरण कर लो। फिर भी वे इन्दुमती को न जँचे।

बाद सुनन्दा अनूप देश के राजा के पास ले जाकर कहने लगी—ये सहस्रार्जुन के वंश मे उत्पन्न हुए हैं और बड़े गुणी हैं। इस राजा की माहिष्मती राजधानी की करधनी बनी नर्मदा नदी को महल में बैठकर देखने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो, इनकी अङ्क लक्ष्मी बन जाओ। अत्यन्त मनोरम होते हुए भी ये इन्दुमती को न जचे। तब सुनन्दा मथुरा के राजा सुषेण के पास ले जाकर इन्दुमती से इनका परिचय देने लगी—ये नीप वंश में उत्पन्न हुए हैं और इनकी कीर्ति दूसरे देशो मे भी पायी जाती है। इनकी रनिवास की स्त्रियों के स्तनो के चन्दन से स्नान करते समय यमुना गङ्गा की तरङ्गो से मिली हुई सी जान पड़ती हैं। अतः कुबेर के बगीचे के समान वृन्दावन म विहार करने की इच्छा हो तो, इनसे विवाह कर वर्षा ऋतु मे गोवर्द्धन की कन्दराओं में शिलाजीत से सुगन्धित चट्टानो पर बैठकर मोरों का नाच देखो। इनको छोड़कर इन्दुमती आगे बढती है और सुनन्दा कलिङ्ग देश के राजा हेमाङ्गद के वर्णन के बाद नागपुर के राजा के वर्णन में कहने लगी कि ये पाण्डु प्रान्त के राजा देवताओं के तुल्य हैं। महर्षि अगस्त्य भी इनके अश्वमेध यज्ञ के अन्त में अवभृथस्नान की निर्विघ्न सम्पन्नता पूछते हैं। इनके बल से डरकर रावण भी इनसे मित्रता रखता है। ये नील कमल के समान श्यामल हैं, तुम गोरोचना के समान गोरी हो। अतः मेघ एवं बिजली के समान तुम्हारा सम्बन्ध हो जाय। ये भी इन्दुमती को न जचे। जिस प्रकार रात में बत्ती जिन-जिन मकान को छोड़कर आगे बढ़ती जाती है वे वे मकान प्रकाश के अभाव में अन्धकार से विवर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार इन्दुमती जिन-जिन राजाओं को छोड़कर आगे बढ़ती गयी, वे-वे राजा भी उदास होते गये।

इसके बाद इन्दुमती जब अज के पास पहुँची, तो उनका दक्षिण बाहु फड़कने लगा, उससे उनको विश्वास हो गया कि यह मेरा ही वरण करेगी। इधर इन्दुमती सर्वाङ्गसुन्दर एवं दोषरहित अज को प्राप्त कर आगे जाने से उसी प्रकार रुक गयी जैसे वसन्त ऋतु मे बौर आये हुए आम के वृक्ष को छोड़कर भ्रमरपंक्ति दूसरे वृक्षों पर नहीं जाती। सुनन्दा अज का वर्णन करती हुई कहने लगी—ये इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न महाराज दिलीप के पुत्र उस राजा रघु के सुपुत्र हैं जिन्होंने चारों दिशाओं से सम्पत्ति बटोरकर विश्वजित नामक यज्ञ में सर्वस्व समर्पण कर

दिया था, केवल उनके पास मिट्टी का वर्तन मात्र शेष रह गया था। ये कुमार राजा रघु के वैसे ही पुत्र हैं जैसे इन्द्र का जयन्त। अतः कुल से, कान्ति से, नयी अवस्था से, विनय आदि गुणों से सम्पन्न तुम्हारे अनुरूप हैं। अतः तुम इनका वरण कर लो, जैसे रत्न की शोभा सुवर्ण के साथ अधिक होती है वैसे ही तुम्हारा और अज का मेल अत्यन्त अनुरूप होगा। तब राजकुमारी इन्दुमती ने बड़ी प्रसन्नता से अज को स्वीकार कर लिया। लज्जा के कारण वाणी से तो कुछ न कह सकी, किन्तु रोमाञ्च के बहाने सात्विक भाव के उदय हो जाने से उसका अनुराग प्रकट हो गया। इन्दुमती के अजविषयक अनुराग को देखकर सखी सुनन्दा ने परिहासपूर्वक कहा—आर्ये! दूसरे राजा के पास चलो, यह सुन इन्दुमती ने सुनन्दा को रोषपूर्वक तिरछी नजर से देखा, क्योंकि अब अन्यत्र जाना इन्दुमती को इष्ट नहीं था।

अनन्तर राजकुमारी इन्दुमती ने सुनन्दा के हाथों से कुंकुम के चूर्ण से लाल धागा वाली स्वयंवर माला को रघु पुत्र अज के गले में पहनवा दिया। एक समान शील, स्वभाव एवं सौन्दर्य गुणवाले अज और इन्दुमती के सम्बन्ध से प्रसन्न हुए नगर निवासी कहने लगे कि यह इन्दुमती आज अज से वैसे ही मिल गयी जैसे निर्मल चन्द्र से चाँदनी तथा सागर से गङ्गा मिलती हैं। उस स्वयंवर मण्डप में एक तरफ प्रसन्न हुए वर पक्ष वाले थे और दूसरी ओर इन्दुमती को न प्राप्त कर सकने वाले राजाओं का झुण्ड था। उस समय वह मण्डप उस सरोवर के समान लग रहा था, जिसमें प्रातःकाल एक तरफ खिले हुए कमल हो, तो दूसरी ओर विना खिले कुमुदों का समूह हो।



सप्तम सर्ग

स्वयंवर मण्डप में इन्दुमती द्वारा अज को माला पहनाकर वरण कर लेने के बाद भोजराज ने समान योग्य वर अज के साथ अपनी बहन इन्दुमती को लेकर अपने नगर की ओर चले और मुरझाये चेहरे वाले दूसरे राजा लोग इन्दुमती के प्रति निराश होकर अपने रूप एवं वेशभूषा की निन्दा करते हुए अपने-अपने शिविर की ओर चल दिये।

पुष्प, माला, ध्वजा, पताका आदि से अच्छी तरह सजाये गये राजमार्ग से जाते हुए वर-वधू को देखने वाली स्त्रियों की अनेकविध चेष्टाएँ हुई—कोई स्त्री अपने केशपाश में माला बाँधना भूलकर जूड़े को अपने हाथ में थामे ही

खिड़की पर आ पहुँची। दूसरी सुन्दरी जो दासी से अपने पैरों में महावर लगवा रही थी; शीघ्रता में उसे छुड़ाकर वह झरोखे तक गीली महावर से पैर का निशान बनाती गयी, तीसरी एक आँख में काजल लगाकर दूसरे में बिना लगाये ही हाथ में सलाई लिये दौड़ पड़ी, चौथी साड़ी की नीवी बिना बाँधे ही हाथ से पकड़कर खिड़की में दृष्टि लगाकर खड़ी रही, पाँचवी बैठकर मोतियों की कर धनी गूँथ रही थी। जिसका एक किनारा अपने पैर के अंगूठे में बाँध रखा था, अभी आधी ही गूँथ पायी थी कि अज को देखने की जल्दी में उसे छोड़कर ऐसी दौड़ी कि खिड़की तक एक-एक दाने बिखर गये, उसके अंगूठे में केवल धागा ही धागा लिपटा रह गया।

उन नागरिक स्त्रियों के मुखों से परिपूर्ण झरोखे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों चञ्चल नेत्र रूपी भौंरों से व्याप्त कमलों से भरे हैं। अज को भली भाँति देखकर वे प्रसन्नता व्यक्त करती हुई कहने लगीं कि स्वयंवर करना अच्छा हुआ, नहीं तो इन्दुमती समान योग्य पति को कैसे पाती! यदि ब्रह्मा इन दोनों की जोड़ी नहीं लगाता तो, इन दोनों का सौन्दर्य विधान ही व्यर्थ हो जाता। ये दोनों पूर्व जन्म में रति एवं कामदेव होंगे, नहीं तो इन्दुमती ने हजारों राजाओं में इन्हीं अज को क्यों वर लिया? इस प्रकार नगर की नारियों का वर्णन सुनते हुए अज भोज के घर पहुँच कर कामरूप के राजा का बाहु पकड़कर हथिनी से उतरकर अन्दर चौक में चले गये।

वहाँ राजा भोज ने वैदिक विधि-विधान से मधुपर्क-वस्त्र आदि देकर विवाह कृत्य आरम्भ किया, पुरोहित ने हवन के बाद अग्नि को साक्षी बनाकर वर-वधू को मिला दिया। यहाँ वैवाहिक कार्यों को अत्यन्त स्वाभाविक एवं सामाजिक नियमोपनियमों का मनोरम वर्णन है। इस प्रकार विवाह के बाद भोज ने दूसरे राजाओं को यथावत् सत्कार कर विदा किया।

ये ईर्ष्यालु राजा लोग इन्दुमती को अज से बलात् छीन लेने की इच्छा से आगे बढ़कर मार्ग में बैठ गये। इधर भोज ने अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुसार दहेज देकर बहन को विदा किया। तीन रात तक इनके साथ में रहकर भोज पुन. अपनी राजधानी को लौट गये। बाद मार्ग रोकनेवाले राजा लोग इन्दुमती को ले जाते हुए अज को रोककर युद्ध के लिए तैयार हो गये। अजने इन्दुमती की रक्षा के निमित्त विश्वासी मंत्री को नियत कर युद्ध करने के लिए रणाङ्गण में उतर गये। दोनों पक्षों के सैनिकों के साथ घमासान युद्ध होने लगा।

अन्त में अज ने प्रियम्वद नामक गन्धर्व से प्राप्त गन्धर्वदेवतात्मक निद्राकारक अस्त्र का प्रक्षेप किया, जिसके प्रभाव से सबके सब राजा एवं सैनिक ज्यों के त्यों चेष्ट-शून्य होकर सो गये। अज ने विजय-शंख बजाया, शंखध्वनि सुनकर अज के सैनिक उनके पास लौट आये। इस प्रकार विजय लक्ष्मी प्राप्त कर अज घबड़ाई हुई इन्दुमती के पास आकर बोले—प्रिये ! देखो, इन राजाओं को, वे इसी बल पर मुझसे युद्ध कर तुमको छीनना चाहते थे। इस समय ये ऐसे निश्चेष्ट हो गये हैं कि छोटे-छोटे बच्चे भी इनके अस्त्र छीन सकते हैं।

पति की वीरता एवं विजय से इन्दुमती को बड़ी प्रसन्नता हुई किन्तु लज्जावश स्वयं कुछ न कहकर अपनी दासी के द्वारा उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार उन पूर्व विरोधी राजाओं को परास्त कर मूर्तिमती विजय लक्ष्मी के समान इन्दुमती को लेकर अज अपनी राजधानी अयोध्या लौट आये। राजा रघु ने यह सारा वृत्तान्त पहले ही सुन लिया था। अतः विजयी और प्रशंसनीय भार्या के साथ लौटे हुए अपने पुत्र अज का स्वागत करने के बाद कुटुम्बपालन करने का कार्य एवं राज्य भार सौंप दिया और स्वयं शान्ति मार्ग का आश्रय लिया। ठीक ही है, सूर्यवंशी राजे, कुल का भार सँभालने योग्य पुत्र के हो जाने पर गृहस्थाश्रम में नहीं रहते, किन्तु चतुर्थाश्रमी हो जाते हैं।



अष्टम सर्ग

अभी अज ने विवाह का मंगल सूत्र उतारा भी नहीं था कि राजा रघु ने अपने हाथों सारी पृथ्वी उन्हें समर्पित कर दी और अज ने भी उस राज को अपने पिता की आज्ञा मानकर स्वीकार कर लिया। जिस समय अज का राज्याभिषेक हुआ उस समय गुरु वसिष्ठजी ने उनके ऊपर पवित्र जल छिड़का जिससे सभी को भी बड़ा सन्तोष हुआ। राज्याभिषेक के बाद अज इतने तेजस्वी हो उठे कि उनके सभी शत्रु काँप उठे क्योंकि ब्रह्मतेज के साथ क्षात्र तेज मिल जाता है तब राजा इतना बलशाली हो जाता है कि जैसे वायु का सहारा पाकर अग्नि भभक उठता है। प्रजा ने रघु को राजा पाकर यही समझा मानो रघु ही पुनः युवा हो गये क्योंकि उन्होंने केवल अपने पिता का राज्यमात्र नहीं पाया, किन्तु रघु के सभी गुण उसमें आ गये।

अज ने नई पायी पृथ्वी का पालन बड़ी दयालुता के साथ करना आरम्भ कर

दिया। वे अपनी प्रजा को बड़ा प्यार करते थे। वे न तो कठोर थे न अत्यन्त कोमल ही। उन्होंने अपने शत्रुओं को वायु के झोकों के समान प्रभाव दिखाकर दबा दिया। जब रघु ने देखा कि मेरे पुत्र अज का प्रजा में बड़ा आदर है तो उन्होंने स्वर्ग के सुख की चाह कर अपने गुणवान् पुत्र अज को राज्य का भार सौंप कर राज्य के बाहर कुटिया बनाकर सस्त्रीक रहने लगे। उस समय सूर्यवंश उस आकाश के समान लग रहा था जिसमें एक ओर चन्द्रमा छिप रहे हों और दूसरी ओर सूर्य का उदय हो रहा हो। इधर राजा अज प्रजाजनों की देखभाल करने के लिए राज्यासन पर विराजमान थे तो दूसरी ओर राजा रघु कुशासन पर बैठकर मनको साधने का अभ्यास कर रहे थे। अज ने तो अपने प्रभुत्व से राजाओं को वश में कर लिया और रघु ने ज्ञान की अग्नि से अपने शरीर को योगबल से परमात्मा में विलीन कर दिया। अपने पिता का देहत्याग सुनकर अज बहुत रोए; अन्त में योगियों के समान उनको समाधि देकर बड़ी भक्ति से पिता का बड़े धूमधाम से और्ध्वदैहिक संस्कार कर दिया। ज्ञानी विद्वानों के समझाने-बुझाने से अब धीरज बांध कर धर्मपूर्वक प्रजा पालन करने लगे।

कुछ दिनों के बाद इन्दुमती ने एक वीर पुत्र को जन्म दिया। ये अज के पुत्र सूर्य के समान तेजस्वी थे, जिनका यश दसों दिशाओं में फैल गया जिसे पण्डित लोग दशरथ कहते थे। वेदों का अध्ययन कर ऋषि ऋण से, यज्ञ करके देव ऋण से और पुत्र उत्पन्न कर पितृ ऋण से मुक्त होकर अज सूर्य के समान शोभा पा रहे थे। एक दिन अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ नन्दन वन में विहार कर रहे थे। उसी समय शंकर जी को वीणा के साथ गान सुनाने के लिए देवर्षि नारद आकाश मार्ग से चले जा रहे थे जिनकी वीणा के सिर पर स्वर्गीय फूलों से गुथी हुई माला लटकी हुई थी। वायु के वेग से वह माला खिसककर अचानक इन्दुमती के स्तनों के बीच आकर गिर पड़ी। इन्दुमती ने देखते ही व्याकुल होकर आँखे मूद लीं और प्राणविहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। प्राण निकलने पर इन्दुमती का शरीर पीला पड़ गया। उनका धीरज छूट गया गला भर गया और उसे वीणा के समान गोद में लेकर राजा विलाप करने लगे, राजा कहने लगे जब फूल भी शरीर छूकर प्राण ले सकता है तब तो दैव किसी वस्तु से भी किसी को मार सकता है। यदि माला में प्राण हरने की शक्ति है तो मैं भी इसे छाती पर रख लेता हूं।

ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष हो जाता है। प्रिये ! मैंने वहुत अपराध किये पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। मैंने मन से भी तुम्हारी बुराई नहीं की फिर तुम क्यों छोड़ जा रही हो। देखो चन्द्रमा को रात्रि पुनः मिल जाती है, चकवे को चकवी प्रातः मिल जाती है पर तुम तो सदा के लिए चल वसी ! अव मैं क्या करूँ ? तुम्हारे चरणों की कृपा का स्मरण कर यह अशोक वृक्ष फूलों की आंसू वरसाकर तुम्हारे लिए रो रहा है। तुम्हारे सुख-दुःख की साथी सखियाँ रो रही हैं, चन्द्रमा के समान प्रसन्न मुख वाला तुम्हारा पुत्र विलख रहा है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। आज मेरा धीरज छूट गया है। आनन्द जाता रहा, तुम्हीं बताओ मुझसे तुम्हें छीनकर निर्दयी विधाताने मेरा क्या नहीं छीन लिया।

जव कोशलनरेश अपनी प्रिया के लिए इस प्रकार शोक कर रहे थे उस समय उन्हें देखकर वृक्ष भी मानों अपना शाखाओं से रस वहाकर आंसू वहाने लगे। कुटुम्वियों ने अज के गोद से इन्दुमती को हटाया और पुष्प माला से सजाकर ज्योंही चन्दन की लकड़ियों से उसका दाह संस्कार किया त्योंही अज पत्नी के वियोग में व्याकुल हो उठे। शास्त्रविधिके अनुसार दश दिन कृत्य सम्पन्न कर जव वे नगर में घुसे तव उन्हें देखकर नगर भर के लोग फूट-फूट कर रोने लगे।

उन दिनों महर्षि वसिष्ठ अपने आश्रम पर ही एक यज्ञ में संलग्न थे, योग वल से राजाके शोक का कारण जानकर एक शिष्यसे सन्देश भेजा। एक वार तृणविन्दु नामक ऋषि तप कर रहे थे। उनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने उनका तप भंग करने के लिए हिरणी नामकी अप्सरा भेजी। जैसे गंगा की लहर तट को गिरा देती है वैसे ही ऋषि को तप से डिगाने के लिए वह अप्सरा वहाँ आ पहुँची। उसे देखते ही मुनि ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि जा तू संसार में मनुष्य की स्त्री हो जा। वह शाप सुनते ही घवड़ाकर मुनि से हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाती हुई वोली—भगवन् ! मैंने दूसरों के कहने से यह काम किया है। इसमें मेरा दोष नहीं हैं, मुझे क्षमा कीजिए। यह सुन ऋषि ने कहा जब तक तुम्हें स्वर्गीय पुष्प नहीं दिखाई पड़ेगा तव तक तुम्हें भूतल पर रहना पड़ेगा। वही अप्सरा विदर्भ वंश में जन्म लेकर तुम्हारी रानी वनी थी अव स्वर्गीय पुष्प देखकर वह शाप से मुक्त होकर स्वर्ग चली गई। अतः आप उसकी मृत्यु का शोक न करें। अव शोक छोड़कर पृथ्वी का पालन कीजिए।

राजाओं की सच्ची पत्नी तो पृथ्वी ही है। तुम्हारे मरने पर भी वह अब न मिलेगी, क्योंकि मरते पर प्राणी अपने अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग मार्ग से जाते हैं। शास्त्र कहते हैं कि जब कुटुम्बी अधिक रोते हैं तब प्रेतात्मा को बड़ा कष्ट होता है। जब शरीर और आत्मा का विछोह हो जाता है तब पुत्र स्त्री आदि की क्या बात है। आप जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ हैं अतः शोक मत कीजिए। इस प्रकार राजा ने आठ वर्ष किसी तरह बिताकर अपने सुशिक्षित कुमार दशरथ को शास्त्र के अनुसार प्रजापालन का उपदेश देकर भगवद्भजन करते हुए गंगा-सरयू संगम पर अपना शरीर त्यागकर स्वर्ग के नन्दन वन में चले गये। (रघुवंश के आठवें सर्ग का इन्दुमती के मरने पर राजा अज का विलाप तथा कुमार संभव के चतुर्थ सर्ग में शङ्कर जी के क्रोधाग्नि से भस्म हुए कामदेव को देखकर रति का विलाप संस्कृत काव्यों में करुण रस का हृदयविदारक दृश्य है।)



नवम सर्ग

संयम से अपनी इन्द्रियों को जीत लेनेवाले योगियों में तथा प्रजापालक राजाओं में सर्वश्रेष्ठ राजा दशरथ ने अपने पिता के पश्चात् उत्तर कोशल का राज्य बड़ी योग्यता से संभाला। वे कार्तिकेय के समान बलवान् और समुद्र के समान गम्भीर थे। विद्वानों का कहना है कि इस विश्व में दो ही व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने कर्तव्यपालन करने वाले लोगों को समुचित फल दिया—एक मनुवंशी राजा दशरथ और दूसरा देवराज इन्द्र। दशरथ देवताओं के समान तेजस्वी और सागर के समान शान्त एवं धैर्यवान् थे। वे सबको समान समझते थे और सबसे एक-सा व्यवहार करते थे। वे कुबेर के समान प्रजाओं में धन बरसाते थे। हँसी में भी उन्होंने झूठ नहीं बोला। वे धनुष लेकर और अकेले रथ पर बैठकर समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी का शासन करते थे। बादल के समान गरजता हुआ समुद्र उनका जय-जयकार करता था।

जैसे इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों के पंख काट दिये थे वैसे ही दशरथ ने अपने बाणों से शत्रुओं का सफाया कर दिया था। उनकी अयोध्या नगरी कुबेर की अलका से कम न थी। चक्रवर्ती राजा होने पर भी उनमें आलस्य नहीं था। जैसे पर्वतों से निकलनेवाली नदियाँ समुद्र को पा लेती हैं वैसे ही कोशल,

मगध तथा कैकय देश की राजाओं की कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी नामक कन्याओं ने राजा दशरथ को पति के रूप में प्राप्त किया। दशरथ अपनी तीनों रानियों के साथ ऐसा जान पडते थे मानों पृथ्वी पर राज्य करने के निमित्त स्वयं इन्द्र ही प्रभाव, उत्साह एवं मन्त्र नामकी अपनी तीन शक्तियों के साथ अवतार लेकर चले आये हैं।

दशरथ ने युद्ध में इन्द्र की सहायता करके अपने वाणों से उनके शत्रुओं का नाश करके देवताओं की स्त्रियों का डर दूर कर दिया था। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। अकेले रथ पर चढ़कर युद्ध करने वाले इन्द्र से भी आगे चलने वाले दशरथने सूर्य पर छाई हुई युद्धकी धूल राक्षसों के खून से सींच-सींचकर दवा दी थी। राजा दशरथ की चतुर नीति से उनके पास वहुत सा धन इकट्ठा हो गया था जिससे वे अपनी प्रजाओं का उपकार करते थे। विष्णु के समान पराक्रमी, वसन्त के समान प्रसन्न और कामदेव के समान सुन्दर राजा दशरथ ने भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ उस प्रफुल्लित वसन्त ऋतु का आनन्द लिया और फिर भी उनके मन में आखेट खेलने की इच्छा होने लगी। मन्त्रियों से सलाह कर वे आखेट के लिए निकल पड़े। जंगल में हरिण, सूकर, भैंसे, वारहसिंहे, सिंह, हाथियाँ, चामर मृग आदि का शिकार खेलते हुए एक दिन रुरु मृग का पीछा करते हुए अपने साथियों से दूर भटक गये घोड़े पर चढ़े हुए तमसा नदी के तट पर निकल गये जहाँ तपस्वियों के आश्रम वने हुए थे। वहाँ जल में कोई घड़ा भर रहा था। राजा ने समझा कि यह कोई हाथी है। उन्होंने उसका लक्ष्य कर झट शब्दवेधी वाण चला दिया। सहसा कोई चिल्ला उठा हाय पिता ? यह सुनकर राजा का माथा ठनका। पास जाकर देखा कि वाणों से विधा घड़े पर झुका हुआ कोई मुनिकुमार है। जव राजा ने उसके वंश का परिचय पूछा तो उसने वताया कि मेरे पिता वैश्य हैं और माता शूद्रा है। मुझे मेरे अन्धे माता-पिता के पास पहुँचा दो। तव राजा ने उसे उनके पास पहुँचा कर वताया कि भूल से मैंने आपके पुत्र पर वाण चला दिया है। यह सुनते ही वे रोने लगे और उन्होंने कहा पुत्र की छाती से वाण निकाल दो। वाण निकालते ही उसके प्राणपखेरू निकल गये। इस पर उसने शाप दिया कि जाओ तुम भी हमारे समान वुढ़ापे में पुत्रशोक से प्राण छोड़ोगे। राजा ने कहा कि मैं आपके शाप को वरदान समझता हूँ क्योंकि इसी वहाने मुझे पुत्र का मुख तो देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। यह कहकर राजा ने पुनः कहा—मैं तो आपके वध के

योग्य हूँ मेरे लिए क्या आज्ञा है ? यह सुनकर मुनि ने कहा—हम और हमारी स्त्री अब अपने पुत्र के साथ ही मर जायेंगे। अतः आप हमारे लिए ईंधन और आग जुटा दो। राजा ने तत्काल ईंधन और आग जुटा दी। वे चिता में साथ मर कर स्वर्ग सिधार गये और राजा अपने पाप से अधीर होकर मुनि का शाप लेकर अपने घर लौटे।

•

दशम सर्ग

इन्द्र के समान तेजस्वी राजा दशरथ को पृथ्वी पर राज्य करते-करते लगभग दश हजार वर्ष बीत गये। उन्हे कोई सन्तान नही हुई। तब ऋष्यशृंग की प्रधानता मे ऋषियों ने सन्तान के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ कराना प्रारम्भ किया। उसी समय रावण के अत्याचार से घबड़ाकर देवता लोग ज्यों ही क्षीरसागर में विष्णु की शरण मे गये त्यो ही भगवान् विष्णु योग निद्रा से उठ गये। शेषशायी विष्णु के चरण कमल को लक्ष्मी जी गोद में लेकर पलोट रही हैं, सुनहले वस्त्र पहने हुए विष्णु के वक्ष स्थल पर कौस्तुभ मणि चमक रहा था भृगुलता-श्रीवत्स का चिह्न सुशोभित था। गरुड़ जी बडी नम्रता से हाथ जोड़े खड़े थे। देवताओं ने भगवान् विष्णु को प्रणाम कर उनकी स्तुति करने लगे और कहे कि जैसे समुद्र के रत्न, सूर्य की किरणें नही गिनी जा सकती और पृथ्वी के कण नही गिने जा सकते वैसे ही स्तुति करके आपका चरित वर्णन नही किया जा सकता है। प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने उनसे कुशल प्रश्न पूछा, जिसके उत्तर में देवताओ ने कहा—आज कल ऐसे राक्षस उत्पन्न हो गये हैं जिन्होंने संसार की मर्यादा भंग कर सर्वत्र हाहाकार मचा दिया है। यह सुनकर वे बोले देवताओं ! जैसे ससार के जीवों को सत्व, रज तथा तम दबा देता है वैसे ही आपके तेज और बल को रावण दबा बैठा है इसलिए रावण को मिटा देना मेरा और इन्द्र का काम है, आग की सहायता के लिए वायु से कहना नही पड़ता है, वह तो स्वयं आग को उभाड देता है। शिवजी को प्रसन्न करने के लिए रावण ने अपने नव शिर काटकर चढा दिया है। मालूम पड़ता है कि दशवां शिर मेरे चक्र से कटने के लिए रख छोड़ा है। ब्रह्माजी ने जो वरदान दे दिया है उसी से मैं उसका चढाना उसी प्रकार सहता हूँ जैसे अपने ऊपर चढते हुए सांप को चन्दन वृक्ष सह लेता है। जब ब्रह्माजी उसकी तपस्या से प्रसन्न हुए तब उसने यही वर

माँगा कि मैं देवताओं के हाथ से न मारा जा सकूँ। अतः मैं राजा दशरथ के यहाँ जन्म लेकर अपने बाणों से उसके शिरों को काटकर पृथ्वी को भेंट कर दूँगा। अब आप लोग निडर होकर अपने-अपने विमानों पर चढ़कर आकाश घूमिए तथा रावण के पुष्पक विमान का डर छोड़ दीजिए। जैसे सूखे खेत पर पानी बरसाकर बादल निकल जाय वैसे ही मधुर वचन से देवताओं को तृप्त कर वे अन्तर्धान हो गये।

इधर ज्यों ही राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ त्यों ही यज्ञाग्नि से एक पुरुष प्रगट हुआ, जिसके हाथ मे खीर भरा हुआ सोने का कटोरा था। जैसे इन्द्र ने समुद्र से निकले हुए अमृत कलश को अपने हाथ में ले लिया वैसे ही राजा दशरथ ने भी उस दिव्य पुरुष के हाथ से वह खीर ले ली। खीर के रूप में विष्णु से पाये हुए क्षीर को राजा दशरथ ने कौशल्या और कैकेयी में बराबर बांट दिया। पुनः उन दोनों ने अपनी-अपनी खीर का आधा-आधा भाग अपनी प्रिय सपत्नी सुमित्रा को दे दिया। परिणामस्वरूप तीनों रानियों ने लोक कल्याण के लिए विष्णु के अंश से भरे गर्भ को धारण किया। यद्यपि विष्णु का एक ही रूप है पर जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा के अनेक प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे ही वे तीनों रानियों के गर्भो में अलग-अलग निवास कर रहे थे। कौशल्या जी के गर्भ से श्री राम, कैकेयी के गर्भ से भरत जी तथा सुमित्रा जी के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न दो जोड़वा पुत्र उत्पन्न हुए। अयोध्या में बड़ा हर्ष और उत्सव मनाया गया तथा लङ्का में रावण के मुकुटमणि पृथ्वी पर गिर पड़े, मानो राक्षसों की लक्ष्मी की आंसू ढुलक रही हो। जातकर्म आदि संस्कार हो जाने पर चारो राजकुमार बढ़ने लगे, चारो कुमार मानो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के रूप माने जाने लगे और गुरु वसिष्ठजी के घर ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास करने लगे।



एकादश सर्ग

एक दिन विश्वामित्रजी राजा दशरथ के पास आये और उन्होंने कहा कि मेरे यज्ञ की रक्षा के लिए राम को मेरे साथ भेज दीजिए। यद्यपि दशरथ ने राम-लक्ष्मण को बड़ी तपस्या से वृद्धावस्था में पाया था पर ऋषि के प्रभाव से प्रभावित हो तत्काल उन्होंने राम-लक्ष्मण को उनके साथ भेज दिया। पिता की आज्ञा से दोनों राजकुमार धनुष लेकर विश्वामित्रजी के पीछे चल दिये। राजा

ने इनकी सहायता के लिए सेना नहीं भेजी, ऋषि का आशीर्वाद ही पर्याप्त था। आज तक दोनों बालकों ने घर से बाहर पैर रखा ही न था इसलिए मार्ग में ही विश्वामित्रजी ने उन्हें बला और अतिबला विद्याएँ सिखा दीं जिनके प्रभाव से उनको न तो थकान लगी, न भूख-प्यास ही। कमलों से सुशोभित सरोवरों तथा वृक्षों की छाया में भी आश्रमवासी उतने प्रसन्न नहीं थे जितना इन दोनों राजकुमारों को देखकर प्रसन्न हुए।

मार्ग में उन्हें सुकेतु की कन्या ताडका राक्षसी मिली, जिसने समस्त आश्रम को उजाड़ बना दिया था। जिसकी कथा विश्वामित्रजी ने पहले ही बता दी थी। उसे देखते ही दोनों भाइयों ने धनुष को पृथ्वी पर टेककर डोरियाँ चढ़ा लीं। उसकी ध्वनि सुनते ही अमावस्या की रात्रि के समान काली-कलूटी ताड़का उनके आगे आकर खड़ी हो गयी और बड़े वेग से गरजती हुई राम पर टूट पड़ी। यह देखकर राम ने स्त्री-वध की घृणा और बाण दोनों एक साथ छोड़े। राम के बाण से ताडका की छाती फट गयी और वह जमीन पर गिर गयी। साथ ही रावण की राजलक्ष्मी भी काँप उठी। ताडका के मरने से प्रसन्न होकर विश्वामित्रजी ने राक्षसों का संहार करने वाला दिव्य अस्त्र भी मन्त्र सहित दे दिया। उसके बाद ऋषि के आश्रम पर पहुँचकर उन्होंने बड़े-बड़े राक्षसों को मारा। दिव्य अस्त्र चलाने में राम का हाथ इतना सधा हुआ था कि उन्होंने झट अपने धनुष पर वायव्य अस्त्र चढ़ाया और ताड़का के पुत्र मारीच को दूर फेंक दिया तथा सुबाहु को भी मार गिराया। यह अद्भुत पराक्रम देखकर ऋषियों ने राम की बड़ी प्रशंसा की और विश्वामित्रजी ने विधि के साथ यज्ञ समाप्त कर राम और लक्ष्मण को बड़ा ही शुभाशीर्वाद दिया और उसके सिर पर अपनी हथेली रखकर अपना बड़ा स्नेह दिखाया।

उन्हीं दिनों मिथिलानरेश राजा जनक ने धनुषयज्ञ ठान रखा था जिसमें उन्होंने मुनियों को भी निमन्त्रित किया था। धनुषयज्ञ की बात सुनकर राम-लक्ष्मण दोनों को बड़ा कुतूहल हुआ, अतः विश्वामित्र उन दोनों राजकुमारों को साथ लेकर मिथिलापुरी की ओर चल दिये। कुछ दूर जाने के बाद शाम हो गयी और वे उस आश्रम के वृक्षों के नीचे टिक गये जहाँ गौतम मुनि की पत्नी अहल्या पति के शाप से पत्थर बन गयी थी। राम की चरण-धूलि के स्पर्श से वह सुन्दर स्त्री बन गयी। राजा जनक ने ऋषि का आगमन सुनकर राज-कुमारों के साथ उनका बड़ा सत्कार किया। जनकपुर निवासी राज-

कुमारों को देखकर अत्यन्त मगन हो गये। विश्वामित्रजी ने कहा—राजन् ! ये राजकुमार धनुष देखना चाहते हैं। इसपर उन्हें बड़ा विषाद हुआ और अपनी प्रतिज्ञा पर पश्चात्ताप होने लगा। उन्होंने सोचा कि ऐसे राजकुमारों के रहते धनुषयज्ञ का अड़ङ्गा क्यों लगाया। जब इस धनुष को उठाने में बड़े-बड़े राजा मुँहकी खाकर चले गये तो ये बालक उसे कैसे उठा सकते हैं ? यह सुनकर मुनि बोले—राजन् ! इनकी शक्ति मैं जानता हूँ, कहने से क्या होता है ? जैसे वज्र की परीक्षा पहाड़ पर होती है वैसे ही इनकी शक्ति की परीक्षा उस धनुष पर होगी। छोटे मन्त्र या आग की चिनगारी में बड़ी शक्ति छिपी रहती है। बाद जाकर राम ने सबके देखते-देखते शङ्करजी के धनुष को उठाकर उसकी डोरी इतनी तान दी कि उससे भयङ्कर शब्द हुआ। बाद सीताजी ने राम के गले में जयमाल डाल दी। अनन्तर जनकजी ने राजा दशरथजी के पास सन्देश भेजकर बरात लाकर विवाह करने की प्रार्थना की। तदनुसार दशरथ बड़े उत्साह से बरात लेकर जनकपुर पधारे। दोनों प्रतापी राजाओं ने मिलकर शास्त्रविधि से चारों भाइयों का विवाह कर दिया। बरात लौटते समय परशुराम से मार्ग में भेंट हुई और वे राम को अपना परशु देकर तपस्या करने चले गये और राजा दशरथ पुत्र तथा पुत्रवधुओं के साथ अयोध्या पहुँचे। वधुओं को देखने के लिए स्त्रियाँ उत्सुक थीं।



द्वादश सर्ग

राजा दशरथ ने संसार के सब सुख भोग लिये और वृद्ध हो चले। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्याभिषेक करने का विचार किया जिसे सुनकर अयोध्यावासी फूले नहीं समाये। पर निष्ठुर कैकेयी ने ऐसा चक्र चलाया कि राम को वनवास जाना पड़ा। देवासुर संग्राम के समय उनके प्राण की रक्षा के बदले दो वर धरोहर के रूप में रख छोड़ा था। कैकेयी ने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्ष के लिए राम वन चले जायँ और दूसरा यह कि मेरे पुत्र को राज्य मिले। यह सुनकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। राम का मुखभाव जैसा राज्याभिषेक के समय था ठीक वैसे ही वन जाने के समय भी था। अपने पिता के वचन को सत्य करने के लिए वे सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक वन में चले गये। इधर राम के वियोग में राजा दशरथ ने अपने

प्राण छोड़ दिये। कुल मन्त्रियों ने दूत भेजकर ननिहाल से भरत को बुलाया। जब भरतजी को अपने पिता की मृत्यु तथा रामके वनवास का समाचार मालूम हुआ तब वे केवल अपनी माँ से ही नहीं बल्कि अयोध्या की राजलक्ष्मी से भी चिढ़ गये और साथ में सेना लेकर राम को ढूंढने निकल पड़े।

जब आश्रमवासियों ने उन्हें वे वृक्ष दिखाये जिनके नीचे निवास कर राम आगे बढ़े थे तो उनकी आँखों में आँसू छलक आये। उन दिनों राम चित्रकूट के वन में निवास करते थे। वहाँ जाकर भरतजी ने उन्हे पिता की मृत्यु का समाचार सुनाया और कहा कि आप चलकर अयोध्या का राज्य सभालें, किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिता की आज्ञा से तनिक भी न डिगे। अन्त में भरत की प्रार्थना पर उन्हें अपनी खड़ाऊँ दे दी। उसे लेकर भरतजी ने लौटकर नन्दीग्राम में ही डेरा डाल दिया और वहीं से अयोध्या के राज्य की रक्षा करते रहे। इस प्रकार अपने बड़े भाई राम में भक्ति करके राजपद को ठुकराकर मानो भरतजी ने अपनी माँ के पाप का प्रायश्चित्त कर डाला। इधर राम भी सीता और लक्ष्मण के साथ कन्द-मूल-फल खाते हुए व्रतपालन करने लगे। एक बार इन्द्रपुत्र जयन्त ने सीता के पैर में चोंच मारा, जिसके परिणामस्वरूप उसकी एक आँख गायब हो गयी। बाद अत्रि मुनि के आश्रम पर पहुँचने के बाद सीताजी को अनसूयाजी ने पातिव्रत्य धर्म का सुन्दर उपदेश दिया। बाद वे जब पञ्चवटी में गये तब रावण की बहिन शूर्पणखा सुन्दर रूप बनाकर राम के पास या पहुँची और सीताजी के सामने ही राम को अपना पति बनाने का प्रस्ताव रखा तो राम ने कहा—मेरा विवाह तो हो चुका है, तुम मेरे छोटे भाई के पास जाओ। वह झट लक्ष्मण के पास पहुँची और सीता को डरवाने लगी। तब झट लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काटकर उसे कुरूप बना दिया। वहाँ से चलकर वह नकटी जनस्थान जाकर खर, दूषण, त्रिशिरा आदि को उभाड़ी। राम ने अपने बाणों से सबको मार गिराया। तब शूर्पणखा रावण के पास जाकर रोने लगी। बहिन के अपमान से उसने मारीच को मायामृग बनाकर लक्ष्मण को धोखा देकर सीता को चुराकर लङ्का ले गया। मार्ग में गृद्धराज जटायु उससे लड़कर मारा गया। उसने बताया कि रावण सीता को चुरा ले गया है। उसका दाह-संस्कार कर आगे बढ़े तो हनुमान् के माध्यम से सुग्रीव से भेंट हो गयी। उसके भाई बालि को मारकर उससे मित्रता कर उनके सहयोग से वानरी सेना इकट्ठा कर लङ्का पर चढ़ाई कर दी। रावण को रथ पर और

राम को पैदल देखकर इन्द्र ने अपना रथ भेजा। इन्द्र के सारथि मातलि का हाथ पकड़कर रामजी उस रथ पर चढ़ गये। राम और रावण का परस्पर भयङ्कर युद्ध हुआ। अन्त में राम ने रावण को मारने के लिए धनुष पर वह ब्रह्मास्त्र चढ़ाया जो कभी व्यर्थ नहीं होता। उस ब्रह्मास्त्र से राम ने रावण के दशों शिरों को काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया। राम ने धनुष की डोरी उतार दी और मातलि रथ लेकर स्वर्ग में चला गया। राम ने रावण की राज्यश्री विभीषण को सौंप दी और सीता को अग्नि में शुद्ध कर हनुमान्, सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मण आदि को पुष्पक विमान पर चढ़ाकर अयोध्या की ओर लौट पड़े।



त्रयोदश सर्ग

राक्षसराज रावण के वध के बाद मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने अग्नि-परीक्षा में विशुद्ध सीताजी को स्वीकार कर तथा लङ्का के राज्य पर रावण के भाई विभीषण को अभिषिक्त कर प्रिय पत्नी सीता, भ्राता लक्ष्मण, कपीश्वर सुग्रीव, भक्त हनुमान् जी, विचक्षण विभीषण तथा वानर एवं भालुओं के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ होकर अयोध्या के लिए प्रस्थान करते समय मार्ग में सीता जी को तत्तत् स्थानों को दिखाते हुए उनका मनोरम वर्णन किया था। श्रीराम ने पहले अपने पूर्वजों से संवर्धित फेनिल समुद्र, उसकी तटभूमि, वायु एवं मेघमार्ग का आकर्षक वर्णन करने के बाद उस दण्डकारण्य को दिखाया, जहाँ राक्षसों के भय से वल्कलधारी तपस्वियों ने पहले निवास करना छोड़ दिया था, फिर उस स्थान को बताया जहाँ रावण द्वारा हरण के समय उनके पैर से गिरा हुआ एक नूपुर प्राप्त हुआ था और लताओं ने अपने पल्लवों को हिलाकर, मृगियों ने दक्षिण की तरफ मुँह कर सीताजी के जाने का संकेत किया था। बाद माल्यवान् पर्वत तथा उस पम्पासर का सुन्दर वर्णन किया है, जिसके जल की मनोहरता के कारण उनकी दृष्टि उसे छोडना नहीं चाहती थी। अनन्तर सारस पक्षियों से पूर्ण गोदावरी नदी, पञ्चवटी, स्वर्ग से राजा नहुष को च्युत करने वाले अगस्त्य जी का आश्रम, शातकर्णि मुनि का पञ्चाप्सर नामक सरोवर, सुतीक्ष्ण मुनि, शरभङ्ग मुनि के आश्रम, गगनचुम्बी विचित्र चित्रकूट, निर्मल मन्दाकिनी नदी, अत्रि मुनि के शान्त तपःस्थान एवं अनसूया जी द्वारा लाई गयी गङ्गाजी का वर्णन है। तीर्थराज प्रयाग में गङ्गा-यमुना के सङ्गम का मनोहर एवं साहि-

यिक वर्णन के पश्चात् निषादराज की निवासभूमि शृंगवेरपुर के परिचय के अनन्तर घाई के रूप में मानसरोवर से निर्गत सरयू नदी का सुन्दर वर्णन किया है।

इसके बाद श्रीराम ने कहा—सीते ! पृथ्वी से उठती हुई जो सामने धूलि दिखाई दे रही है, इससे मालूम पड़ता है कि हनुमान् जी से मेरे आगमन का समाचार सुनकर भरत सेना के साथ मेरी आगवानी करने के लिए आ रहे हैं। जैसे युद्ध में खरदूषण, त्रिशिरा आदि को मारकर लौटे हुए मुझको लक्ष्मण ने संरक्षित तथा निर्दोष तुम्हें सौंप दिया था, उसी प्रकार भरत भी पिता की प्रतिज्ञा का पालन करने वाले मुझको संरक्षित तथा निर्दोष राज्यलक्ष्मी को सौंप देंगे।

वैदेही ! यह देखो, वल्कलवस्त्रधारी भरत पैदल ही गुरु वशिष्ठ जी को आगे एवं सेना को पीछे रखकर वृद्ध मन्त्रियों के साथ स्वयं हाथ में अर्घ्यपात्र लेकर स्वागत करने के लिए मेरे पास आ रहे हैं। ये पिताजी से प्राप्त राज्यलक्ष्मी को तरुण होते हुए भी मेरी भक्ति से भोग के बिना चौदह वर्षों से दुष्कर आचरण कर रहे हैं। रामचन्द्र जी के ऐसा कहने के बाद ही उनकी इच्छा से चलने वाला वह पुष्पक विमान भरत के अनुगामियों द्वारा देखते-देखते आकाश मण्डल से सहसा भूमि पर उतर पड़ा। बाद श्रीराम ने सेवा में निपुण वानरराज सुग्रीव के हाथ का सहारा लेकर आगे-आगे चलते हुए विभीषण द्वारा प्रदर्शित सोपान मार्ग से उस पुष्पक विमान से जमीन पर उतरकर कुलाचार्य वसिष्ठजी को प्रणाम करने के बाद भरत के अर्घ्य को स्वीकार करते हुए आनन्दाश्रुओं के साथ उनका आलिङ्गन किया और कुशल प्रश्न आदि से उन मन्त्रियों को अनुगृहीत किया, जो उनके वियोग में दाढ़ी-मूंछ बढ़ाकर जटावान् बरगद वृक्ष के समान विकृत मुख हो गये थे।

अनन्तर श्रीराम ने भरत को सुग्रीव एवं विभीषण का परिचय देते हुए कहा—ये मेरे आपत्ति के बान्धव वानर और भालुओं के राजा सुग्रीव हैं तथा ये मेरे शत्रुओं पर प्रथम प्रहार करने वाले विभीषण हैं। यह सुन भरत जी ने सुग्रीव एवं विभीषण का अभिवादन आदि से सत्कार करने के बाद नतमस्तक हुए लक्ष्मण जी का सस्नेह गाढ़ आलिङ्गन किया। बाद रामचन्द्र जी की आज्ञा से सुग्रीव आदि वानरों ने कामरूपी होने के कारण मनुष्यशरीर धारण कर बड़े-बड़े हाथियों पर सवार होकर पहाड़ों पर चढ़ने के सुख का अनुभव किया। अनुचरों के सहित विभीषण आदि श्रीराम के आदेश से उत्तम रथों पर आरूढ

हुए। अनन्तर रामचन्द्र जी, भरत एवं लक्ष्मण के साथ शोभित पताकायुक्त इच्छानुगामी पुष्पक विमान पर वैसे ही आरूढ़ हुए जैसे बुध एवं वृहस्पति के संगति से दर्शनीय तारापति चन्द्रमा रात में चञ्चल बिजली वाले मेघ पर आरूढ़ होते हैं। विमान पर ही भरत जी ने प्रलयकाल में आदि वराह द्वारा उद्धृत पृथ्वी के समान श्रीराम द्वारा रावण के सङ्कट से उद्धृत सीता जी की पादवन्दना की। रावण की प्रणय प्रार्थना को ठुकराने से परम पवित्र एवं वन्दनीय पतिव्रता सीता जी का चरणयुगल तथा भ्राता राम के अनुसरण से जटायुक्त भरत जी का मस्तक ये दोनों मिलकर एक दूसरे को परम पवित्र करनेवाले हुए। वाद श्रीराम की शोभायात्रा आरम्भ हुई।

श्रीराम ने जिसके आगे-आगे अयोध्या के प्रजाजन चल रहे थे, ऐसे मन्दगति वाले पुष्पक विमान से आधा कोस जाकर शत्रुघ्न द्वारा सजाये गये तम्बू आदि से युक्त अयोध्या के सुन्दर उपवनों में सपरिवार निवास किया।

●

चतुर्दश सर्ग

अयोध्या के उपवन में विश्राम करने के वाद राम और लक्ष्मण ने आश्रय वृक्ष के भग्न हो जाने पर मुरझायी हुई दो लताओं के समान अपने पति राजा दशरथ के स्वर्गवास से शोचनीय अवस्था को प्राप्त दोनों माताओं–कौशल्या तथा सुमित्रा को एक ही साथ देखा। क्रम के अनुसार प्रणाम करनेवाले उन दोनों पुत्रों को दोनों माताओं ने आँसूओं से भरी आँखों से साफ-साफ नहीं देख पाया, किन्तु केवल पुत्रस्पर्श के सुख के अनुभव से जान लिया। दोनों माताओं ने आनन्दजन्य शीतल आँसू एवं शोकजन्य गर्म आँसू को पोंछकर दूर कर दिया। वाद उन्होंने राम एवं लक्ष्मण की देह को राक्षसों के प्रहार से हुए पुराने घावों को नये के समान दया से स्पर्श करती हुई क्षत्रियाणियों को अभीष्ट वीरमाता कहलाना अच्छा नहीं समझा। वाद में सीताजी ने पतिदेव को कष्ट देनेवाली, शुभ लक्षणों से रहित 'मैं सीता हूँ' इस प्रकार कहकर उन दोनों के चरणों पर गिरकर समान रूप से अभिवादन किया। इसपर उन्होंने कहा—कल्याणी! उठो, लक्ष्मण के साथ तुम्हारे पति राम ने तुम्हारे पवित्र चरित्र से ही इस कठोर कष्ट को पार किया।

इसके वाद वड़े समारोह के साथ वृद्ध मन्त्रियों ने गङ्गा आदि पवित्र तीर्थों से लाये गये जलों से श्रीराम का राज्याभिषेक किया जिससे उनकी और शोभा

बढ़ गयी। अनन्तर श्रीराम ने बाजा-गाजा के साथ नागरिकों को आनन्दित करते हुए राजधानी अयोध्या में प्रवेश किया और सुग्रीव आदि मित्रों को विविध सामग्रियों से सम्पन्न भवनों को देकर चित्रमात्र से अवशिष्ट पिता-राजा दशरथ के पूजागृह में आँखों से अश्रु बहाते हुए प्रवेश करके कैकेयी को प्रणाम करके मीठे वचनों से उनकी लज्जा को दूर किया। अनन्तर अभिनन्दन करने के लिए आये हुए अगस्त्य आदि मुनियों का सत्कार कर राम ने उनसे रावण के जन्म का वृत्तान्त श्रवण किया। एक पक्ष के बाद श्रीराम ने सीताजी के द्वारा सत्कार कराकर सुग्रीव, विभीषण आदि को विदा कर पुष्पक विमान को कुबेर के पास भेज दिया और भाइयों के साथ धर्मपूर्वक न्यायपूर्ण शासन करते हुए प्रजाओं को सुख पहुँचाया। कुछ दिनों के बाद सीताजी को गर्भ रह गया। श्रीराम ने गर्भिणी-मनोरथ के लिए उनसे जब पूछा, तब उन्होंने गङ्गातटवर्ती तपोवनों को देखने की इच्छा प्रगट की। उसी समय गुप्तचरों के द्वारा सीता के विषय में लोकापवाद सुनकर श्रीराम ने उस लोकापवाद को दूर करने के विचार से लक्ष्मण के द्वारा वाल्मीकि मुनि के आश्रम के पास सीताजी को छोड़ आने की आज्ञा दे दी। तदनुसार लक्ष्मण ने सीताजी को रथ पर बैठाकर तपोवन देखने के बहाने गङ्गा के तट पर ले जाकर उतार दिया और बड़े दुःख से श्रीराम का आदेश सुना दिया, जिसे सुनते ही सीताजी मूर्छित हो गयी। लक्ष्मण के प्रयास से होश में आने पर सीताजी ने बिना अपराध के परित्याग करने-वाले श्रीराम को दोष नहीं दिया, किन्तु वे अपने भाग्य को ही कोसने लगी। बाद लक्ष्मण ने दुःख से उनके चरणों पर गिरकर कहा—आर्ये! मुझे क्षमा कीजिए, मैं पराधीन हूँ। सीताजी ने उनको उठाकर आशीर्वाद देते हुए कहा—लक्ष्मण! उठो, तुम्हारा कल्याण हो, मेरी सासुओं से मेरा प्रणाम कहना और उनके पुत्र के द्वारा निहित मेरे गर्भ का शुभ चिन्तन करने को कह देना। और बड़े भाई से मेरा यह वचन भी कहना—राजन्, साधारण प्रजा के समान मेरा भी पालन करना आपका धर्म है। लङ्का में सबके सामने प्रत्यक्ष अग्नि में विशुद्ध होने पर भी आपने मुझे मिथ्या लोकापवाद के भय से जो छोड़ दिया है, क्या यह आपके पावन कुल के योग्य है? मालूम पड़ता है कि राजलक्ष्मी का परि-त्याग कर आप मेरे साथ वन को चले गये थे, उसी से नाराज होकर उसने राजभवन में मेरा रहना सहन नहीं किया है। अब मैं सूर्य में दृष्टि लगाकर तप करूँगी कि अगले जन्म में भी आप ही मेरे पतिदेव हो। सीताजी के वचन को

स्वीकार कर लक्ष्मण के चले जाने पर दुःख के कारण सीताजी कुररी पक्षी के समान विलाप करने लगीं, जिससे समस्त वन करुणामय हो गया—मोरों ने नाचना, पेड़ों ने पुष्प तथा हरिणों ने चवाते हुए कुशों को छोड़ दिया। कुश और समिधा को लेने के लिए आश्रम से वाहर निकले हुए वाल्मीकि मुनि रोने के शब्द का अनुसरण करते हुए सीता के सम्मुख आकर वोले–वत्से! मैं समाधिदृष्टि से जानता हूँ कि राम ने मिथ्यावाद से क्षुब्ध होकर तुम्हारा त्याग किया है। तुम दूसरे देश में स्थित पिता के ही घर में आ गयी हो, तुम्हारे श्वसुर दशरथ मेरे मित्र थे तथा तुम्हारे पिता जनक सवको ज्ञान देने वाले हैं और तुम पतिव्रताओं में अग्रगण्य हो। तपस्वियों से शान्त इस तपोवन में रहो, तुम्हारी सन्तति का संस्कार कर्म विधिवत् हो जायेगा। शोक को दूर करने वाली तमसा में स्नान कर देवपूजन करती हुई मुनि-कुमारियों के साथ रहो। इस प्रकार आश्वासन देकर अपने आश्रम पर सीता को ले जाकर तपस्विनियों के साथ एक पर्णकुटी में रख दिया। वहाँ वे मुनि-कुमारियों के साथ रहकर नियम से समय विताने लगीं।

इधर लक्ष्मण ने श्रीराम के पास आकर सारा समाचार कह सुनाया, जिसे सुनकर श्रीराम के नेत्रों से आँसू गिरने लगे, क्योंकि उन्होंने तो सीता को घर से निकाला था, हृदय से नहीं।

अनन्तर वे शोक को हटाकर प्रजाओं का पालन करने लगे। उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया, वल्कि अश्वमेध यज्ञ में स्वर्णमयी सीता की मूर्ति वनाकर उसे सम्पन्न किया। यह सुनकर सीताजी ने परित्याग-दुःख को किसी प्रकार सहन किया।



पञ्चदश सर्ग

सीताजी का परित्याग कर देने के वाद रामचन्द्रजी ने किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया। एक दिन यमुना तटवर्ती कुछ तपस्वियों ने श्रीराम के पास आकर प्रार्थना की कि लवणासुर के उपद्रव के कारण हमारी यज्ञक्रियाएँ वन्द हो गयी हैं। राम ने उनके विघ्न दूर करने की प्रतिज्ञा की, क्यों कि धर्म की रक्षा करने के लिए ही तो उन्होंने पृथ्वी पर अवतार लिया था। राम ने उन मुनियों की रक्षा का भार शत्रुघ्न को सौंपा। जव शत्रुघ्न रथ पर सवार होकर चले तव राम ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे वनों की छटा देखते हुए चल पड़े।

शत्रुघ्न के साथ कुछ सेना भी गयी जो वैसे ही व्यर्थ थी जैसे 'अध्ययन' शब्द में इङ् धातु से लगा हुआ अधि उपसर्ग व्यर्थ है। मार्ग में जाते हुए शत्रुघ्न ने पहली रात महर्षि वाल्मीकि के आश्रम पर निवास कर बितायी। वाल्मीकिजी ने अपने तप के प्रभाव से शत्रुघ्न का बड़ा सत्कार किया। उसी रात को वन-वास के समय से निवास करती हुई उनकी भाभीजी को दो पुत्र उत्पन्न हुए। यह सुनकर शत्रुघ्नजी का मन खिल उठा। दूसरे दिन हाथ जोड़कर मुनि से आज्ञा लेकर शत्रुघ्न आगे बढ़े। जिस समय वे मधुवन नगर में पहुँचे उसी समय रावण की बहिन कुम्भीनसी का बेटा लवणासुर पशुओं को मारकर अपने नगर में लौट रहा था। शत्रुघ्न ने देखा कि यह अवसर ठीक है, क्योंकि उसके हाथ में भाला नहीं है। बस, शत्रुघ्न ने उसे घेरकर प्रहार करना शुरु कर दिया। उधर लवणासुर ने भी गरजकर एक पेड़ उखाड़कर शत्रुघ्न पर प्रहार किया, पर बीच में ही उन्होंने अपने बाणों से उसे चूर-चूर कर दिया। बाद शत्रु ने एक शिला उठाकर शत्रुघ्न पर फेंकी, पर शत्रुघ्न ने ऐन्द्रअस्त्र चलाकर उसे भी चूर-चूर कर दिया। तब वह राक्षस बवण्डर के समान शत्रुघ्न पर टूट पड़ा पर उन्होंने वैष्णव अस्त्र से प्रहार कर उसे यमपुर भेज दिया। उसे मारने के बाद शत्रुघ्न को अनुभव हुआ कि मेघनाद को मारनेवाले लक्ष्मण का मैं सच्चा भाई हूँ।

लवणासुर के वध से प्रसन्न होकर मुनियों ने शत्रुघ्न को खूब आशीर्वाद दिया और शत्रुघ्न ने यमुना के किनारे मथुरा नाम की नगरी बसायी जहाँ संयमी और सुखी लोग रहने लगे।

इधर मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकिजी ने दशरथ तथा जनक दोनों के मित्र होने के नाते सीताजी के पुत्रों का जातकर्म आदि संस्कार बड़ी विधि से किया। ज्येष्ठ पुत्र के उत्पन्न होते समय सीताजी की प्रसव-पीड़ा गाय की पूँछ के बालों से दूर की थी और छोटे पुत्र के समय कुश से दूर की थी इसलिए उनका नाम लव और कुश रखा। जब वे बच्चे बड़े हुए तब ऋषि ने उन्हें वेद-वेदाङ्ग पढ़ाया और फिर अपनी रचना आदिकाव्य रामायण का गान कराया। उन दोनों ने अपनी माँ के आगे राम का यश गा-गाकर उनका मन बहलाया। लौटते समय शत्रुघ्न वाल्मीकि के आश्रम पर इसलिए नहीं गये कि मेरे सत्कार में ऋषि का अमूल्य समय नष्ट होगा। शत्रुघ्न ने सीधे अयोध्या आकर राजसभा में जाकर श्रीराम को प्रणाम किया और सारा समाचार कह सुनाया। श्रीराम सब सुनकर बड़े प्रभावित हुए और शत्रुघ्न को गले लगाकर उनका बड़ा सत्कार किया :

श्रीराम के पूछने पर शत्रुघ्न ने सारी वातें तो वतायीं पर सीताजी के पुत्र होने की चर्चा नहीं की, क्योंकि वाल्मीकिजी ने उनसे कह रखा था कि समय आने पर मैं स्वयं दोनों पुत्रों को राम को सौंप दूँगा।

कुछ दिनों के वाद एक व्राह्मण अपने मृत पुत्र को ड्योढ़ी पर अपनी गोद से उतारकर फूट-फूटकर रोने लगा। जब राम ने उसके शोक का कारण पूछा तो उन्हें वड़ी लज्जा हुई क्योंकि इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के राज्य में किसी की अकाल-मृत्यु नहीं होती थी। यह कहकर यमराज को जीतने की इच्छा से पुष्पक विमान का स्मरण कर उसपर चढ़कर चलने लगे तो आकाश-वाणी हुई कि श्रीराम! आपके राज्य में वर्ण सम्वन्धी दोष आ गया है, उसे खोजकर दूर करो। यह सुनकर श्रीराम पृथ्वी पर चक्कर लगाने लगे। घूमते-घूमते एक स्थान पर उन्होंने देखा कि एक पेड़ की शाखा पर उलटा लटका एक मनुष्य नीचे जलती हुई आग का धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है। तव उन्होंने उससे पूछा—तुम कौन हो और क्या कर रहे हो? तव वह वोला—मैं इन्द्रपद पाने के लिए तप कर रहा हूँ। मेरा नाम शम्वूक है और मैं शूद्र हूँ। तव राम ने सोचा कि इसके अनधिकार कर्म से पाप फैल रहा है, फलस्वरूप व्राह्मण का पुत्र मर गया है। अतः इससे विरत करने के लिए वाण उठाकर उसका शिर काट गिराया। राजा का दण्ड पाने से शूद्र को सद्‌गति मिल गयी और व्राह्मण का पुत्र जी उठा। कुछ दिन के वाद राम ने अश्वमेध के लिए घोड़ा छोड़ा। देश के ऋषि, महर्षि एवं राजर्षि इकट्ठे होने लगे। विना पत्नी के यज्ञ होना सम्भव नहीं था, राम ने दूसरा विवाह भी नहीं किया था, अतः सोने की सीता वनाकर राम ने अपनी पत्नी के रूप में वैठाकर यज्ञ आरम्भ किया। वाल्मीकिजी के शिष्य सीता के पुत्र लव-कुश उनकी आज्ञा से उनका वनाया हुआ रामायण गाते हुए इधर-उधर घूमने लगे। किन्नरों के समान मधुर कंठवाले वालकों के गीत सुनकर यह वात राम के कानों तक भी पहुँची। उन्होंने वालकों को वुलाकर भाइयों के साथ उनके गीत एवं रूप की मधुरता को आश्चर्य के साथ देखा और सुना। सारी सभा स्तव्ध हो गयी। एकटक होकर श्रीराम और उन दोनों वालकों का एकदम मिलता-जुलता रूप रङ्ग देखा। उनमें अन्तर केवल इतना ही था कि वे दोनों अभी कुमार थे तथा वन-वासियों के वस्त्र पहने हुए थे तथा श्रीराम प्रौढ़ थे एवं राजसी वस्त्र पहने हुए थे। जनता को उस समय और आश्चर्य हुआ जव उन्होंने प्रेम से श्रीराम का दिया

हुआ पुरस्कार भी लौटा दिया। जब श्रीराम ने उनसे पूछा कि तुम्हें यह किसने सिखाया है और किस कवि की रचना है ? तब उन्होंने वाल्मीकिजी का नाम बता दिया। तब अपने भाइयों के साथ वाल्मीकिजी के पास जाकर प्रणामपूर्वक उन्होंने अपने को छोड़कर सारा राज्य उनके चरणों में भेंट कर दिया। दयालु ऋषि ने श्रीराम से कहा—ये दोनों गायक कुमार सीताजी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र हैं। अब तुम्हें चाहिए कि सीता को स्वीकार कर लो। तब श्रीराम ने कहा—मुनिवर ! आपकी पतोहू सीता लङ्का में मेरे सामने ही अग्नि में शुद्ध हो चुकी है, पर रावण की दुष्टता से मेरी प्रजा को विश्वास नहीं होता। अतः यदि सीता अपनी शुद्धता का प्रमाण देकर प्रजा को विश्वास दिलाये तब मैं आपकी आज्ञा से पुत्रों के साथ इन्हें स्वीकार कर सकता हूँ। श्रीराम की प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकिजी ने शिष्यों को भेजकर सीताजी को बुलाया और दूसरे दिन इकट्ठी हुई प्रजा के सामने वाल्मीकिजी लव, कुश और सीताजी को साथ लेकर श्रीराम के आगे उपस्थित हुए। उन्हें देखते ही सब लोगों ने अपना शिर नीचे कर लिया, क्योंकि उन्हें लज्जा लगी कि हम लोगों ने व्यर्थ ही इस साध्वी पर कलङ्क लगाया। वाल्मीकिजी ने सीताजी से कहा—बेटी ! अपने पति के आगे जनता का सन्देह दूर कर दो। तदनुसार शिष्यों द्वारा लाया गया गंगाजल हाथ में लेकर सीताजी ने आचमन करके कहा—यदि मन, वचन, कर्म किसी प्रकार से भी अपना पातिव्रत्य भंग न किया हो तो हे पृथ्वी माता ! तुम मुझे अपनी गोद में ले लो। सीताजी के ऐसा कहते ही पृथ्वी फटी, उसमें से बिजली के समान चमकीला तेजोमण्डल निकला। उसके बीच सिंहासन पर बैठी हुई पृथ्वी प्रगट होकर सीताजी को अपनी गोद में लेकर पाताल में समा गयी। किसी प्रकार यज्ञ समाप्त कर श्रीराम ने सबको छुट्टी दे दी। श्रीराम ने भरत को सिन्धु देश का राज्य दिया, भरत ने गन्धर्वों को जीतकर अपने योग्य पुत्र तक्ष और पुष्कल को तक्ष और पुष्कल दिया। राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने अपने दोनों पुत्र अङ्गद और चित्रकेतु को कारापथ का राजा बनाया। यह सब हो जाने पर एक दिन काल ने आकर श्रीराम से एकान्त में मिलकर वैकुण्ठ चलने की प्रार्थना की। बाद श्रीराम ने कुश को कुशावती का राजा बनाया और लव को शरावती का। पुनः अग्निहोत्र की आग लेकर उत्तर की तरफ चल दिये और गोप्रतर में सरयू स्नान कर विमान पर चढ़कर स्वर्ग चले गये।

❧

षोडश सर्ग

लव आदि सात रघुवंशी वीरों ने अपने सबसे बड़े भाई कुश को अपना मुखिया बनाया, क्योंकि भ्रातृप्रेम उनके कुल का धर्म ही था। एक दिन आधी रात के समय कुश को एक स्त्री दिखाई दी। उसका वेश देखने से मालूम पड़ता था कि उसका पति परदेश चला गया है। कुश के आगे वह स्त्री हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। उसे देखकर कुश ने पूछा कि शुभे ! तुम कौन हो ? उसने उत्तर दिया—राजन् ! मैं अयोध्यापुरी की नगरदेवी हूँ। आजकल तुम्हारे जैसे प्रतापी राजा के रहते हुए भी मेरी बुरी दशा हो गयी है। स्वामी के न रहने से कोठे-अटारियों के टूट जाने से अलका-सी रमणीय मेरी निवासभूमि उदास लगती है। सरयू के तट पर बनी झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं। अतः तुम राम के समान अपनी इस राजधानी को छोड़कर अपनी कुल-परम्परा की राजधानी अयोध्या में चलकर रहो। जब कुश ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली तब वह अन्तर्धान हो गयी। कुश ने रात की आश्चर्यभरी घटना प्रातःकाल सभा में ब्राह्मणों से कहकर कुशावती को वेदपाठी ब्राह्मणों को सौंप दी और सेना के साथ शुभ मुहूर्त में अयोध्या के लिए चल दिये। कुशावती से चलती हुई कुश की सेना विन्ध्याचल को पार कर गंगाजी पर हाथियों का पुल बनाकर पार उतर गयी। कुश ने गंगाजी को प्रणाम किया क्योंकि कपिल मुनि के कोप से जले हुए उनके पूर्वज सगरपुत्र उसी गंगाजी के जल की कृपा से स्वर्ग पहुँचे थे।

इस प्रकार कुश कुछ दिन मार्ग में बिताकर सरयूजी के किनारे पहुँचे जहाँ उनके पूर्वजों ने बड़े-बड़े यज्ञ करके यज्ञ-स्तम्भों को गाड़ दिया था। अयोध्या के उपवनों में फूले हुए वृक्षों, सरयू के शीतल जल तथा उपवनों के पुष्पवायुओं ने सेना के साथ कुश का स्वागत किया। जैसे इन्द्र की आज्ञा से बादल पृथ्वी को हरी-भरी कर देता है वैसे ही कुश ने कारीगरों की सहायता से अयोध्या का कायापलट कर दिया। अयोध्या के हाटों में सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ सजी हुई थीं। वह नगरी ऐसी सुन्दर लगने लगी मानो कोई स्त्री दिव्य आभूषण धारण किये हुए हो। अयोध्या पुनः पहले-सी सुन्दरी लगने लगी। उसमें निवास कर जानकी-पुत्र कुश को ऐसा सुख मिला जैसा कि न तो उन्हें अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गयी, न कुबेर की अलकापुरी ही लेने की। सरोवरों में कमल, वनों में चमेली की सुगन्ध मनोहर लगने लगी।

एक दिन कुश की इच्छा हुई कि सरयू के जल में स्त्रियों के साथ विहार करें। अन्त मे वे उनके साथ जलक्रीडा में लीन हो गये। स्त्रियों के साथ सरयू में जलक्रीडा करते हुए वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो देवराज इन्द्र आकाशगंगा में अप्सराओं के साथ जलक्रीडा करते हों। अगस्त्य ऋषि ने श्रीराम को जो जैत्र आभूषण दिया था उसे राम ने कुश को राज्य के समय ही दे दिया था। क्रीडा करते समय वह रत्न जल में गिरगया, किसी को पता तक नहीं चला। बाद कुश ने उसे ढूंढने के लिए धीवरों को आज्ञा दी, पर वह मिल न सका। तब धीवरों ने कहा—महाराज, मालूम पडता है कि इस जल मे रहनेवाले कुमुद नामक नाग ने लोभ से उसे चुरा लिया है। तब कुश ने क्रोध कर तट पर खड़े होकर धनुष को ठीक किया और उसपर नागों को नाश करनेवाला अस्त्र चढ़ा लिया। उस धनुष के चढाते ही उस जल से अचानक ही एक कन्या को आगे किये हुए नागराज कुमुद इस प्रकार निकले मानो लक्ष्मी को लेकर कल्पवृक्ष निकल रहा हो। वह प्रणाम करके बोला—राजन् ! यह मेरी कन्या गेंद खेल रही थी, उसकी थपकी से गेंद ऊपर उछल गया। उसे देखने के लिए जब आँखें ऊपर उठायीं तो देखा कि यह आपका आभूषण तारे के समान नीचे गिर रहा है। इसने झट उसे पकड लिया। आप इसे लीजिए और यह मेरी छोटी बहन कुमुद्वती जीवनभर आपकी सेवा करेगी, आप अपनी पत्नी के रूप में इसे स्वीकार करें। कुश ने आभूषण लेकर कहा कि आज से आप मेरे सम्बन्धी बन गये। बाद कुमुद ने अपने कुटुम्बियों को बुलाकर बडे धूमधामसे कुमुद्वती का कुश से विवाह कर दिया। अनन्तर उसके साथ आनन्दपूर्वक कुश राज्य करने लगे।



सप्तदश सर्ग

जैसे रात के ब्राह्म मुहूर्त में बुद्धि को नयापन मिल जाता है वैसे ही कुश को कुमुद्वती से अतिथि नामक पुत्र प्राप्त हुआ। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं को पवित्र कर देता है वैसे ही सुशिक्षित अतिथि ने माता और पिता के दोनों कुलों को पवित्र कर दिया। कुश ने चतुर्विध विद्याओं के अध्ययन के बाद राजकन्याओं से अतिथि का विवाह कर दिया। अतिथि भी कुश के समान ही कुलीन, शूर और जितेन्द्रिय थे। इसलिए कुश अपने पुत्र को अपना ही दूसरा रूप समझते थे। अपने कुल के अनुसार कुश भी एक बार युद्ध में इन्द्र की सहायता करने के लिए गये थे। वे शक्तिशाली दुर्जय राक्षस

को मारकर स्वयं वीरगति को प्राप्त हुए। जैसे कुमुदों को खिलानेवाले चन्द्रमा के अस्त होने पर चाँदनी भी स्वयं अस्त हो जाती है वैसे ही कुमुद्वती भी कुश के साथ सती हो गयी। युद्ध में जाते समय कुश ने जो आज्ञा दी थी उसी के अनुसार मन्त्रियों ने उनके पुत्र अतिथि को राजा बनाया। उनके शिर पर गिरती हुई अभिषेक की धारा ऐसी सुन्दर लगती थी कि मानो शिवजी के शिर पर गंगाजी की धारा गिर रही हो। मन्त्रों से पवित्र जल से स्नान करते समय उनके शरीर का तेज अधिक बढ़ता जा रहा था। अभिषेक के बाद ब्राह्मणों को उन्होंने काफी धन दिया। अयोध्या के बड़े-बड़े मन्दिरों में देवताओं की पूजा की गयी और उन्होंने राजा अतिथि पर कृपा की। अभिषेक के समय बड़ा उत्सव मनाया गया। जैसे वृक्ष को फला-फूला देखकर जान लिया जाता है कि विशेष फल लगेंगे वैसे ही अतिथि के प्रसन्न मुख को देखकर सेवक जान जाते थे कि इनसे विशेष धन मिलेगा आलस्य छोड़कर अतिथि ने प्रजा का काम किया। राजा अतिथि ने जो मुँह से कहा उसे पूरा किया। जिसको कुछ दे दिया उससे लिया नहीं। यौवन, सौन्दर्य, ऐश्वर्य जिनके पास रहता है वे मतवाले हो जाते हैं, पर राजा अतिथि के पास सब थे फिर भी उनमें अभिमान नहीं था। वे बड़े राजनीतिज्ञ थे। उनकी बातें गुप्त रहती थी, कार्य होने पर ही मालूम पड़ता था। जैसे खुले आकाश में सूर्य की किरणों के फैल जाने से कुछ भी छिपा नहीं रहता वैसे ही अतिथि ने चारों ओर दूतों का ऐसा जाल बिछा दिया कि प्रजा की कोई बात उनसे छिपी नहीं थी। राजाओं के लिए शास्त्रों ने दिन और रात के जो कर्तव्य निर्धारित किये हैं उन सबको राजा अतिथि विश्वास के साथ करते थे। उनकी गुप्तचर व्यवस्था बड़ी सुन्दर थी, किसी को पता नहीं चलता था। जो भी कार्य वे करते थे वे सभी कल्याणकारी होते थे। उन्होंने काम और अर्थ के लिए धर्म को कभी नहीं छोड़ा। वे तीनों के साथ एक-सा व्यवहार करते थे। उन्होंने धन इकट्ठा इसलिए किया कि समय पर दीनों को दिया जाय और लोककल्याण का काम हो। कुश के प्रयत्न से बढ़ी हुई शस्त्रास्त्र चलाना जाननेवाली जो सेना थी उसे अतिथि अपने शरीर के समान प्यार करते थे। जैसे सर्प के शिर से मणि नहीं निकाली जा सकती वैसे ही शत्रु इनकी शक्तियों को अपनी ओर नहीं खींच सकते थे। उन्होंने विघ्नों से तपस्वियों की रक्षा की, चोरों से प्रजाओं की सम्पत्तियों को बचाया। जिस प्रकार वे रक्षा कर रहे थे पृथ्वी भी उसी प्रकार उन्हें ऐश्वर्य देती थी। खानों

ने रत्न दिये, खेतों ने अन्न दिया और वनो ने उन्हें हाथी दिये। इस प्रकार सभी उपायों से राजनीति चलाते हुए मन्त्रियो की सहायता से उपायों का निर्विघ्न फल प्राप्त किया। युद्धक्षेत्र मे अतिथि को देखकर शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग जाते थे। जो अतिथि के पास जाते थे उन्हें वे पर्याप्त धन दे देते थे। जैसे देवता लोग इन्द्र की आज्ञा मानते हैं वैसे ही राजा लोग अतिथि की आज्ञा मानते थे। अश्वमेध के समय जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ कराया उनका सत्कार अतिथि ने कुबेर के समान किया। इन्द्र ने उनके राज्य मे वर्षा की, धर्मराज ने धर्मवृद्धि की, यमराज ने रोग बढ़ना रोक दिया और कुबेर ने इनका राजकोष भर दिया। इस प्रकार सभी लोकपालों ने इनके प्रताप से प्रसन्न होकर इनकी सहायता की।

●

अष्टादश सर्ग

शत्रुओं का नाश करनेवाले राजा अतिथि की रानी निषधराज की कुमारी थी। उससे अतिथि ने निषध पर्वत के समान बलवान् एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम निषध रखा। जैसे समय की वर्षा से खेतों को देखकर संसार के प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषध को देखकर राजा अतिथि भी प्रसन्न हुए। कुमुद्वती के पुत्र अतिथि ने अधिक दिनो तक सुख भोगा, पुनः निषध को राजपाट सौंपकर अपने पुण्यों के बल से पाये हुए स्वर्ग लोक में सुख भोगने चले गये। कमल जैसे नेत्रवाले, समुद्र के समान गम्भीर चित्तवाले और नगर की अर्गला के समान बाहुवाले अद्वितीय वीर निषध ने भी सागर तक फैली हुई पृथ्वी का भोग किया। उनके पीछे अग्नि के समान तेजस्वी उनके पुत्र नल राजा हुए। उन्हें आकाश के समान सांवला नभ नामक पुत्र हुआ जो लोगों को वैसा ही प्यारा हुआ जैसे सावन का महीना। धर्मात्मा नल ने उस पुत्र को उत्तर कोशल का राज्य सौंपकर स्वयं जंगलों में जाकर मृगों के साथ रहने लगे। नभ को पुण्डरीक नामक पुत्र हुआ। पिता के स्वर्ग चले जाने के बाद कमल धारण करनेवाली लक्ष्मी ने उन्हें ही विष्णु मानकर वर लिया। उस पुण्डरीक ने प्रजा का कल्याण करने में समर्थ और शान्त स्वभाववाले अपने पुत्र क्षेमधन्वा को राज सौंप दिया और स्वयं शान्त होकर जंगल में तपस्या करने चले गये। उनको देवानीक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बड़े-बड़े यज्ञ करने-वाले क्षेमधन्वा अपने ही समान पुत्र को राज्य सौंपकर स्वर्ग चले गये। देवानीक

का सम्मान शत्रु और मित्र दोनों समान रूप से करते थे। देवानीक के पुत्र का नाम अहीनग था। उसने कभी नीचों का साथ नहीं किया इसलिए व्यसनों से दूर रहकर सारी पृथ्वी का शासन किया। उस शत्रुविजयी राजा के स्वर्गवास के अनन्तर उनके प्रतापी पुत्र अयोध्या के राजा बने। उनको शील नामक बलवान् पुत्र हुआ। शील के उन्नाभ नामक पुत्र हुआ जो सब राजाओं में श्रेष्ठ थे उनका पुत्र वज्रनाभ हुआ। वे अपने पुण्य से स्वर्ग के राजा बने। उनके पीछे शंखण नामक उनका पुत्र सारी पृथ्वी का राजा हुआ। उसके बाद अश्विनीकुमारों जैसा सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र राजा हुए। उनका दूसरा नाम व्युषिताश्व भी था। उन्होंने काशी विश्वनाथ की आराधना कर विश्वसह नामक पुत्र प्राप्त किया। उनको हिरण्यनाभ उत्पन्न हुआ उनका पुत्र कौशल्य हुआ। उनके पुत्र का नाम वसिष्ठ था वसिष्ठ के पुत्र शिरोमणि हुए। उनको पुन्न नामक पुत्र हुआ। पुन्न की पत्नी से पुष्य नामक पुत्र हुआ उनके पुत्र ध्रुवसन्धि हुए उनके पुत्र सुदर्शन हुए जो बड़े प्रतापी और शक्तिशाली राजा हुए। मन्त्रियों ने चित्र मँगाकर सुन्दर राजकुमारियों से उनका शुभ विवाह कराया।

०

ऊनविंश सर्ग

विद्वान् राजा सुदर्शन ने अग्नि के समान तेजस्वी अपने पुत्र अग्निवर्ण को राजा बना दिया और नैमिषारण्य में रहने लगे। वहाँ वे तीर्थजल पीते, भूमि पर बिछे कुश पर आसीन होते, फल कन्दमूल के आहार की इच्छा छोड़कर तप करने लगे। पिता से प्राप्त पृथ्वी के पालन में अग्निवर्ण को कुछ कठिनाई नहीं हुई। कुछदिनों तक तो उन्होंने स्वयं राजकार्य देखा पर पुनः मन्त्रियों पर भार डालकर कामुक के समान जीवन का रस लेने लगे। नित्य नये उत्सवों में संलग्न होकर क्षणभर भी भोगविलास के बिना नहीं रह सकते थे। हमेशा रनिवास में रहते थे। उनके दर्शन के लिए जनता अधीर रहती थी। वह पराक्रमी राजा सुन्दरी स्त्रियों के साथ हस्तिनी के साथ गजराज के समान क्रीड़ासक्त हो गया। उसकी गोद में बैठने योग्य दो ही वस्तुएँ थीं एक वीणा, दूसरी सुन्दरी स्त्रियाँ। वह सदा नयी-नयी वस्तुओं को चाहता हुआ नित्य नाच, गान, वाद्य आदि में लीन हो गया। वह राजा राज-काज छोड़कर इन्द्रिय सुखों का रस लेता हुआ ऋतुएँ बिताता था। इतना व्यसन में लीन होने पर भी दूसरे राजा उसके राज्य पर

आक्रमण नही करते थे। जैसे दक्ष के शाप से चन्द्रमा को क्षय हो गया था वैसे ही अधिक विलास मे आसक्त रहने के कारण उसे भी क्षय हो गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पड़ गया, दुर्बलता के कारण उसने आभूषण पहनना भी छोड़ दिया। नौकरों के कन्धे का सहारा लेकर चलने लगा। बोली धीमी पड़ गयी यक्ष्मा रोग से सूखकर विरहियो के समान दिखाई देने लगा। राजा के क्षय रोग से पीड़ित होने पर सूर्यकुल ऐसा रह गया जैसे एक कलाभर बचा हुआ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा हो। जब प्रजा पूछती थी कि राजा को कोई भयानक रोग तो नही है। उस समय मन्त्री लोग यह कहकर समझाते कि राजा इस समय पुत्रोत्पत्ति के लिए व्रत आदि कर रहे हैं, इसीलिए दुर्बल होते जा रहे हैं। अनेक रानियां के रहते हुए भी वह राजा पुत्र का मुँह नहीं देख पाया। जैसे वायु के आगे दीपक का कुछ भी वश नही चलता वैसे ही राजा भी रोग से नही बचाया जा सका। पुरोहितो से मिलकर मन्त्रियों ने रोग-शान्ति के बहाने राजा के शव को राजभवन के उपवन में ही चुपचाप जलती आग मे रख दिया और मन्त्रियों ने श्रेष्ठ नेताओं को इकट्ठा कर सर्वसम्मति से उस पटरानी को राजसिंहासन पर बैठा दिया जिसमे गर्भ के शुभ चिह्न दिखाई देते थे। राजा की दुःखदमृत्यु से रानी की आँखों में गरम-गरम आंसुओं से तपे हुए गर्भ पर अभिषेक के शीतल जल पड़े तब वह गर्भ शीतल हो गया। इस प्रकार गर्भ ग्रहण किए वह महारानी प्रजा की भलाई के लिए मन्त्रियों की सलाह से भली भांति राजकार्य चलाती रही जिसकी आज्ञा को कोई टाल नही सकता था। रघुवंश के अनुसार इसी महारानी के गर्भ से उत्पन्न बालक रघुवंश का अन्तिम राजा माना गया है।

॥ श्रीः ॥

रघुवंशम्

'सञ्जीविनी'-'चन्द्रकला'-टीकाद्वयोपेतम्

—: ० :—

प्रथमः सर्गः

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसंकुचद्वामदृष्टये ॥ १ ॥
अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥
शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥
वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥
मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥ ५ ॥
कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ ६ ॥
तथाऽपि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥ ७ ॥
भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ८ ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ९ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, 'काव्यालापांश्च वर्जयेद्' इत्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् रघुवंशाख्यमहाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टाचारपरिप्राप्तत्वाद् 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात्, काव्यनिर्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वेन विशिष्टशब्दार्थयोश्च 'शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा। अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः' इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्वतीपरमेश्वरायत्तदर्शनात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ १ ॥

अन्वयः—(अहं) वागर्थौ इव संपृक्तौ जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वागर्थप्रतिपत्तये वन्दे।

सञ्जीवनी—वागिति। वागर्थाविवेत्येकं पदम्। इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च। पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति वक्तव्यम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। वागर्थाविव शब्दार्थाविव सम्पृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः। नित्यसम्बद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात्। 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इति मीमांसकाः। जगतो लोकस्य पितरौ। माता च पिता च पितरौ। 'पिता मात्रा' इति द्वन्द्वैकशेषः। 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ प्रसूजनयितारौ' इत्यमरः। एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यमिष्टार्थप्रदानशक्तिः परमकारुणिकत्वं च सूच्यते। पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती 'तस्यापत्यम्' इत्यण्। 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०' इत्यादिना ङीप्। पार्वती च परमेश्वरश्च पार्वतीपरमेश्वरौ। परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः। मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पार्वतीशब्दस्य पूर्वनिपातः। वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं वन्देऽभिवादये। अत्रोपमाऽलङ्कारः स्फुट एव। तदुक्तं—"स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्पन्नेन च धर्मतः। साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा" इति प्रायिकश्चोपमाऽलङ्कारः। कालिदासोक्तकाव्यादौ। भूदेवताकस्य सर्वगुरोर्मगणस्य प्रयोगाच्छुभलाभः सूच्यते। तदुक्तं—"शुभदो मो भूमिमयः" इति वकारस्यामृतबीजत्वप्रचयगमनादिसिद्धिः।

जिस परात्पर ब्रह्म का संसार लेता नाम है।
जिसने रचा यह विश्व अद्भुत ललित लीलाधाम है॥

रघुवंश का आदर्श जो मानवशिरोमणि राम है।
उस ईश को श्रीकृष्णमणि का वार वार प्रणाम है ।।

भावार्थ—शब्द और अर्थ के समान सदा सम्मिलित, संसार के माता-पिता भगवान् शिव और पार्वती को वाणी और अर्थ की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ ।। १ ।।

क्व ? सूर्यप्रभवो वंशः क्वः ? चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।। २ ।।

अन्वयः—सूर्यप्रभवः वंशः क्व, अल्पविषया मतिः च क्व, दुस्तरं सागरं मोहात् उडुपेन तितीर्षुः अस्मि ।

क्वेति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । 'ऋदोरप्' । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति साधुः । सूर्यः प्रभवो यस्य सः सूर्यप्रभवो वंशः क्व ? अल्पो विषयो ज्ञेयोऽर्थो यस्या सा मे मतिः प्रज्ञा च क्व ? द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः । सूर्यवंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः । तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं तु दूरापास्तमिति भावः । तथा हि दुस्तरं तरितुमशक्यम् । 'ईषद्दुःसुषु०' इत्यादिना खल्प्रत्ययः । सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन । 'उडुपं तु प्लवः कोलः' इत्यमरः । अथवा चर्मावनद्धेन यानपात्रेण । 'चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति सज्जनः । तितीर्षुस्तरीतुमिच्छुरस्मि भवामि । तरतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः । इदं च वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव । तदुक्तम्—'प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तरः' इति ।

भावार्थ—कहाँ सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ अल्प विषय जानने वाली मेरी बुद्धि ! (मैं) दुस्तर समुद्र को अज्ञानता के कारण छोटी नाव से पार करना चाहता हूँ ।। २ ।।

मन्दः सन् महाकाव्यं चिकीर्षुः कविः स्वासामर्थ्यं कथयति—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ।। ३ ।।

अन्वयः—मन्दः कवियशःप्रार्थी प्रांशुलभ्ये फले लोभात् उद्बाहुः वामन इव उपहास्यतां गमिष्यामि ।

मन्द इति । किं च मन्दो मूढः । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः स्युः' इत्यमरः । तथाऽपि कवियशःप्रार्थी कवीनां यशः काव्यनिर्माणेनजातं तत्प्रार्थनाशीलोऽहंप्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभादुद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तो

वामनः खर्व इव । 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः । उपहास्यतामुपहासविषय-ताम् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्यय गमिष्यामि प्राप्स्यामि ।

भावार्थ—कवियों की कीर्ति की अभिलाषी (मैं) लम्बे मनुष्यो के द्वारा पाने योग्य फल की ओर लोभ से ऊपर हाथ उठाये हुए बौने पुरुष के समान उपहासास्पद होऊँगा ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

अन्वय —अथवा पूर्वसूरिभि. कृतवाग्द्वारे अस्मिन् वंशे वज्रसमुत्कीर्णे मणौ सूत्रस्य इव मे गतिः अस्ति ।

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे पूर्वे सूरिभि कविभिर्वाल्मीक्यादिभिः कृतवा-ग्द्वारे कृतं रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वारं प्रवेशो यस्य तस्मिन् । अस्मिन्सूर्यभवे वंशे कुले । जन्मनैकलक्षण सन्तानो वंशः । वज्रेण मणिवेधक-सूचीविशेषेण । 'वज्र त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयो । मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशवः । समुत्कीर्णे विद्धे मणौ रत्ने सूत्रस्येव मे मम गति. सञ्चारोऽस्ति । वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थ ।

भावार्थ—पूर्व में वर्तमान विद्वानों द्वारा वर्णन किये गये इस वंश में सूई से छेदे हुए मणि मे सूत्र के समान मेरी गति है ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे लब्धप्रवेशस्तद्वर्णनां प्रतिजानान 'सोऽहम्' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

अन्वय —आजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम् आसमुद्रक्षितीशानाम् आना-करथवर्त्मनाम् यथाविधिहुताग्नीनाम् यथाकामार्चितार्थिनाम् यथापराधदण्डानाम्

यथाकालप्रबोधिनाम् त्यागाय संभृतार्थानाम् सत्याय मितभाषिणाम् यशसे विजगीषूणाम् प्रजायै गृहमेधिनाम् शैशवे अभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणां वार्द्धके मुनिवृत्तीनां अन्ते योगेन तनुत्यजाम् रघूणाम् अन्वयम् तनुवाग्विभवः अपि तद्गुणैः कर्णम् आगत्य चापलाय प्रचोदितः सन् अहं वक्ष्ये ।

स इति । सोऽहं 'रघूणामान्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । किंविधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योज्यानि । आजन्मनः । जन्मारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । शुद्धानाम् । सुप्सुपेति समासः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । आजन्मशुद्धानाम् । निषेकादिसर्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः । आफलोदयमाफलसिद्धेः कर्म येषां ते तथोक्तास्तेषाम् । प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः । आसमुद्रं क्षितेरीशानाम् सार्वभौमाणामित्यर्थः । आनाकं रथवर्त्म येषां तेषाम् । इन्द्रसहचारिणामित्यर्थः । अत्र सर्वत्राङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा मर्यादाऽर्थत्वे जन्मादिषु शुद्ध्यभावप्रसङ्गात् । यथेति । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । 'यथाऽसादृश्ये' इत्यव्ययीभावः । तथा हुतशब्देन सुप्सुपेति समासः । एवं 'यथाकामार्चित'—इत्यादीनामपि द्रष्टव्यम् । यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम् । यथाकाममभिलाषमनतिक्रम्यार्चितार्थिनाम् । यथाऽपराधमपराधमनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषाम् । यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबोधिनां प्रबोधनशीलानाम् । चतुर्भिर्विशेषणैर्देवतायजनातिथिसत्कारदण्डधरत्वप्रजापालनसमयजागरूकत्वादीनि विवक्षितानि । त्यागायेति । त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै । 'त्यागो विहापितं दानम्' इत्यमरः । संभृतार्थानां सञ्चितधनानाम् । न तु दुर्व्यापाराय । सत्याय मितभाषिणां मितभाषणशीलनाम् । न तु पराभवाय । यशसे कीर्तये । 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः । विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनाम् । न त्वर्थसंग्रहाय । प्रजायै संतानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम् । न तु कामोपभोगाय । अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु 'चतुर्थी तदर्थार्थ—' इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी । गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनः । 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः । 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति हलायुधः । 'मेधृ संगमे'इति धातोर्णिनिः । एभिर्विशेषणैः परोपकारित्वं सत्यवचनत्वं यशःपरत्वं पितृणां शुद्धत्वं च विवक्षितानि ॥ शैशव इति । शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम् । 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्र—'इत्यञ्प्रत्ययः । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । तस्मिन् वयस्यभ्यस्तविद्यानाम् । एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षितः । यूनो भावो यौवनं तारुण्यम् । युवादित्वादण्प्रत्ययः । 'तारुण्यं यौवनं समे' इत्यमरः । तस्मिन् वयसि

विषयैषिणा भोगाभिलाषिणाम्। एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः। वृद्धस्य भावो वार्धकं वृद्धत्वम्। 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्प्रत्ययः। 'वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्व। सङ्घातार्थे च 'वृद्धाच्च' इति वक्तव्यात्सामूहिको वुञ्। तस्मिन् वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम्। एतेन वान-प्रस्थाश्रमो विवक्षित अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन। 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः। तनुं देहं त्यजन्तीति तनुत्यजां देह-त्यागिनाम्। 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः। 'अन्ये-भ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्। एतेन भिक्षवाश्रमो विवक्षित॥ रघूणामिति। सोऽहं लब्धप्रवेशः। तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि सन्। तेषां रघूणां गुणैस्त-द्गुणैः। आजन्मशुद्धचादिभिः कर्तृभिः कर्णं मम श्रोत्रमागत्य चापलाय चापलं चपलकर्माविमृश्यकरणरूपं कर्तुम्। युवादित्वात्कर्मण्यण्। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी। प्रचोदितः प्रेरितः सन्। रघूणामन्वयं सद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये। कुलकम्।

भावार्थ—जन्म से ही शुद्ध, फल की प्राप्ति तक कर्म करने वाले, समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के मालिक, स्वर्गतक रथ को ले जानेवाले, विधिपूर्वक यज्ञों से अग्नि को तृप्त करनेवाले, याचकों को मनोनुकूल दान देनेवाले, अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाले, उचित समय पर जागरूक, दान के लिए धन का संग्रह करने वाले, सत्य के लिए कम बोलने वाले, यश की इच्छा से विजय चाहने वाले, सन्तान के लिए विवाह करनेवाले, बाल्यावस्था में विद्या पढने वाले, युवावस्था में भोग की इच्छा रखने वाले, वृद्धवस्था में मुनियों की तरह जंगलो मे रह कर तपस्या करने वाले और अन्त मे योगाभ्यास के द्वारा शरीर त्यागने वाले, रघुवंशियों के गुणों से आकृष्ट होकर मैं (अल्पमति होकर भी) उनके वंश का वर्णन करूँगा॥ ५–९॥

सम्प्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा॥ १०॥

अन्वयः—सदसद्व्यक्तिहेतवः सन्तः तं श्रोतुम् अर्हन्ति, हि हेम्नः विशुद्धिः श्यामिका अपि वा अग्नौ संलक्ष्यते॥ १०॥

तमिति। तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोर्व्यक्तेर्हेतवः कर्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति। तथा हि। हेम्नो विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकाऽपि लोहान्तर

संसर्गात्मको दोषोऽपि वाऽग्नौ संलक्ष्यते, नान्यत्र; तद्वदत्रापि सन्त एवं गुणदोष-विवेकाधिकारिणः। नान्य इति भावः।

भावार्थ—सत्यासत्य का विवेचन करनेवाले सज्जन लोग उसके सुनने के योग्य हैं, क्योंकि सोने की अच्छाई और बुराई की परीक्षा आग में ही होती है ॥१०॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति श्लोकद्वयेन—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥

अन्वयः—मनीषिणां माननीयः वैवस्वतः नाम मनुः छन्दसां प्रणवः इव महीक्षिताम् आद्यः आसीत्।

वैवस्वत इति। मनस ईषिणो मनीषिणो धीराः। विद्वांस इति यावत्। पृषोदरादित्वात्साधुः। तेषां माननीयः पूज्यः। छन्दसां वेदानाम्। 'छन्दः पद्ये च वेदे च' इति विश्वः। प्रणवः ओंकार इव। महीं क्षियन्तीशत इति महीक्षितः क्षितीश्वराः। क्षिधातोरैश्वर्यार्थात्क्विप् तुगागमश्च। तेषामाद्य आदिभूतः। विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान्वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत्।

भावार्थ—विद्वानों के सम्मान्य वैवस्वत मनु वेदों में ॐकार के समान राजाओं में प्रथम हुए ॥ ११ ॥

वर्ण्ये रघुवंशे प्रधानपुरुषस्य रघोः पितृनामकथनम्—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ १२ ॥

अन्वयः—शुद्धिमति तदन्वये शुद्धिमत्तरः दिलीप इति राजेन्दु क्षीरनिधौ इन्दुः इव प्रसूतः।

तदिति। शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान्। तस्मिञ्छुद्धिमति तदन्वये तस्य मनोरन्वये वंशे। 'अन्ववायोऽन्वयो वंशो गोत्रं चाभिजनं कुलम्' इति हलायुधः। अतिशयेन शुद्धिमाञ्छुद्धिमत्तरः। 'द्विवचनविभज्योप' इत्यादिना तरप्। दिलीप इति प्रसिद्धो राजा इन्दुरिव राजेन्दू राजश्रेष्ठः। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यादिना समासः क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतो जातः।

भावार्थ—वैवश्वत मनु के उस पवित्र वंश में अतिपवित्र दिलीपनामक श्रेष्ठ राजा क्षीरसागर में चन्द्रमा के समान उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

'व्यूढ' इत्यादित्रिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ १३ ॥

अन्वयः—व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुः महाभुजः (सः) आत्मकर्मक्षमं देहम् आश्रितः क्षात्रः धर्मः इव (स्थितः)।

व्यूढेति । व्यूढं विपुलमुरो यस्य स व्यूढोरस्कः । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप्प्रत्ययः । 'व्यूढं विपुलं भद्रं स्फारं समं वरिष्ठं च' इति यादवः । वृषस्य स्कन्धः इव स्कन्धो यस्य स तथा । 'सप्तम्युपमान–' इत्यादिनोत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । शालो वृक्ष इव प्रांशुरुन्नतः शालप्रांशुः । 'प्राकारवृक्षयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति यादवः । 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः । महाभुजो महाबाहुः । आत्मकर्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रितः प्राप्तः क्षात्रः क्षत्रसंबन्धी धर्म इव स्थितः । मूर्तिमान् पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ।

भावार्थ—विशाल वक्षस्थल वाले वृष के समान उन्नत स्कन्ध वाले सखुआ के वृक्ष के समान लम्बी २ भुजावाले (वे दिलीप) अपने कर्म के अनुसार देह धारण किये हुए थे । मालूम होता था कि वे क्षत्रियों के मूर्तिमान् धर्म हैं ॥१३॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

अन्वयः—सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना सर्वोन्नतेन आत्मना मेरुः इव उर्वीं क्रान्त्वा स्थितः ।

सर्वेति । सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः । सर्वाणि भूतानि तत्तेजसाऽभिभवतीति सर्वतेजोऽभिभावी तेन । सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः । मेरुरिव । उर्वीं क्रान्त्वाऽऽक्रम्य स्थितः । मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि । "अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा" इति मनुवचनाद्राज्ञः सर्वतेजोऽभिभावित्वं ज्ञेयम् ।

भावार्थ—सभी प्राणियों से अधिक बलशाली सभी जीवों को अपने तेज से पराभूत करनेवाले सबसे उन्नतशील शरीर के द्वारा सुमेरु के समान पृथ्वी को आक्रान्त करके स्थित थे ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

अन्वयः—आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः आगमैः सदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः ।

आकारेति । आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः । प्रज्ञया सदृशागम. प्रज्ञाऽनुरूपशास्त्रपरिश्रमः । आगमैः सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्तः । आरम्भते इत्यारम्भः कर्म । तत्सदृशः उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः ।

भावार्थ—वे आकार के अनुरूप बुद्धिवाले, बुद्धि के समान शास्त्र का अभ्यास करनेवाले, शास्त्राभ्यास के अनुसार उद्योग करनेवाले और उद्योग के अनुसार फलको प्राप्त करनेवाले (थे) ॥ १५ ॥

तस्य भयङ्करत्वं मनोरमत्वञ्च दर्शयति—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥

अन्वयः—भीमकान्तैः नृपगुणैः च स उपजीविनां यादोरत्नैः अर्णव इव अधृष्यः अभिगम्यः च बभूव ।

भीमेति । भीमैश्च कान्तैश्च नृपगुणैः राजगुणैस्तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलादाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानाम् । यादोभिर्जलजीवैः'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । रत्नैश्चार्णव इव । अधृष्योऽनभिभवनीयः अभिगम्य आश्रयणीयश्च बभूव ।

भावार्थ—भयंकर और मनोहर राजगुणों से वे आश्रितजनों को जलजन्तु और रत्नों से समुद्र के समान दूर रखनेवाले आश्रयदाता हुए ॥ १६ ॥

तस्य प्रजा राजनिदेशवर्त्तिन्य इत्याह—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

अन्वयः—नियन्तुः तस्य नेमिवृत्तयः प्रजाः आतमनोः क्षुण्णात् वर्त्मनः रेखामात्रमपि न व्यतीयुः ।

रेखेति । नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्य संबन्धिनो नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिव्यापारो यासां ताः, 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । प्रजाः । आ मनोः, मनुमारभ्येत्यभिविधिः । पदद्वयं चैतत् । समासस्य विभाषितत्वात् । क्षुण्णादभ्यस्तात्प्रहताच्च वर्त्मन आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकम् । इतस्तत इत्यर्थः । रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणम् । ईषदपीत्यर्थः । 'प्रमाणेद्वय-

मजदधन्माश्च ' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । परशब्दविशेषणं चैतत् । न व्यतीयुर्नातिक्रान्तवन्त्य । कुशलसारथिप्रेरिता रथनेमय इव तस्या प्रजा पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भाव. ।

भावार्थ—नियामक उस दिलीप की प्रजा गाडी के पहिए के समान मनुकाल से अभ्यस्त मार्ग से रेखामात्र भी बाहर न चली ॥ १७ ॥

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥

अन्वय —स प्रजानाम् एव भूत्यर्थं ताभ्य बलिम् अग्रहीत्, हि रविः सहस्रगुण उत्स्रष्टु रसम् आदत्ते ।

प्रजानामिति । स राजा प्रजाना भूत्याय अर्थात् भूत्यर्थं वृद्धयर्थमेव । 'अर्थेन सह नित्यसमास, सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' ग्रहणक्रियाविशेषणं चैतत् । ताभ्यः प्रजाभ्यो बलिं षष्ठांशरूप करमग्रहीत् । 'भागधेय करो बलि.' इत्यमर. । तथाहि । रवि सहस्रं गुणा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुण सहस्रधोत्स्रष्टु दातुम् । उत्सर्जनक्रियाविशेषणं चैतत् । रसममादत्ते गृह्णाति । 'रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरोगयो' । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे' इति विश्वः ।

भावार्थ—प्रजा के कल्याण के लिए ही वे उनसे कर लेते थे जैसे सूर्य हजार गुना जल बरसाने के लिए (पृथ्वी से) रस खींचते हैं ॥ १८ ॥

सम्प्रति बुद्धिशौर्यसम्पन्नस्य तस्यार्थसाधनेषु परानपेक्षतत्वमाह—

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

अन्वयः—तस्य सेना परिच्छद (बभूव) । अर्थसाधनं द्वयम् एव (आसीत्) । शास्त्रेषु अकुण्ठिता बुद्धिः, धनुषि आतता मौर्वी च ।

सेनेति । तस्य राज्ञ. सेना चातुरङ्गबलम् परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद उपकरणं । बभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थ. । 'पुंसि संज्ञाया घ' प्रायेण' इति घ-प्रत्यय' । छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्व. । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धि' । 'व्यापृता' इत्यपि पाठ । धनुष्यातताऽऽरोपिता मौर्वी ज्या च । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण.' इत्यमर. । नीतिपुरःसरमेव तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—दिलीप की सेना शोभामात्र थी । उनके साधन दो ही थे—एक शास्त्रों में अप्रतिहत बुद्धि और दूसरी धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा ॥ १९ ॥

राज्यमूलं मन्त्रसंरक्षणं तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

अन्वयः—संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च तस्य प्रारम्भा प्राक्तनाः संस्कारा इव फलानुमेयाः (आसन्)।

तस्येति। संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य। 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः। शोकहर्षादिसूचको भृकुटीमुखरागादिराकार इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो वा। 'इङ्गिते हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जनः। गूढे आकारेङ्गिते तस्य स्वभावचापलाद् भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिंगैर्वाऽतृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः। प्रागित्यव्ययेन पूर्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः 'सायंचिरं' इत्यनेन ट्युल्प्रत्ययः संस्काराः पूर्वकर्मवासना इव। फलेन कार्येणानुमेया अनुमातुं योग्या आसन्। अत्र याज्ञवल्क्यः—' मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम्। कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात्' इति।

भावार्थ—अपना विचार गुप्त रखने वाले और आकार एवं चेष्टा को छिपाये रखने वाले उनके कार्य पूर्व जन्म के संस्कारों के समान फल द्वारा ही अनुमित किये जाते थे ॥ १० ॥

सम्प्रति सामाद्युपायान्विनैवात्मरक्षाऽऽदिकं कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

अन्वयः—स अत्रस्तः (सन्) आत्मानं जुगोप, अनातुरः (सन्) धर्मं अगृध्नुः (सन्) अर्थम् आददे, असक्तः (सन्) सुखम् अन्वभूत्।

जुगोपेति। अत्रस्तोऽभीतः सन्। 'त्रस्तो, भीरुभीरुकभीलुकाः' इत्यमरः। त्रासोपाधिमन्तरेणैव त्रिवर्गसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान्। अनातुरोऽरुग्ण एव धर्मं सुकृतं भेजे। अर्जितवानित्यर्थः। अगृध्नुरगर्धनशील एवार्थमाददे स्वीकृतवान्। 'गृध्नुस्तु गर्धनः। लुब्धोऽभिलापुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः। असक्त आसक्तिरहित एव सुखमन्वभूत्।

भावार्थ—वे निर्भीक होकर अपनी रक्षा करते थे, अरोग रहकर धर्म करते थे, लोभरहित होकर धनोपार्जन करते थे, आसक्तिरहित होकर सुख का अनुभव करते थे ॥ २१ ॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्य्यमासीदित्याह—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ २२ ॥

अन्वयः—ज्ञाने मौनम्, शक्तौ क्षमा, त्यागे श्लाघाविपर्ययः तस्य गुणाः गुणानुबन्धित्वात् सप्रसवा इव (अभूवन्) ।

ज्ञान इति । ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनम् । यथाऽऽह कामन्दकः—'नान्योपतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुना' इति । शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्येऽपि क्षमा अपकारसहनम् । अत्र चाणक्यः—'शक्तानां भूषणं क्षमा' इति। त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघाया विकत्थनस्य विपर्ययोऽभावः । अत्राह मनुः—'न दत्त्वा परिकीर्तयेत्' इति । इत्थं तस्य गुणा ज्ञानादयो गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धित्वात्सहचारित्वात् सह प्रसवो जन्म येषां ते सप्रसवाः सोदरा इवाभूवन् । विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः ।

भावार्थ—ज्ञान में मौन, सामर्थ्य में क्षमा, दान में प्रशंसाराहित्य, ये गुण उस दिलीप में अनुरक्त होने के कारण सहोदर जैसे थे ॥ २२ ॥

द्विविधं वृद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च । तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना ॥ २३ ॥

अन्वयः—विषयैः अनाकृष्टस्य विद्यानां पारदृश्वनः धर्मरतेः तस्य जरसा विना वृद्धत्वम् आसीत् ।

अनाकृष्टेति । विषयैः शब्दादिभिः । 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः । अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः दृशेः क्वनिप् । धर्मे रतिर्यस्य तस्य राज्ञो जरसा जरया विना । 'विस्रसा जरा' इत्यमरः । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । वृद्धत्वं वार्धकमासीत् । तस्य यूनो विषयवैराग्यादिज्ञानगुणसम्पत्त्या ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदित्यर्थः । नाथस्तु चतुर्विधं वृद्धत्वमिति मत्वा 'अनाकृष्टस्य' इत्यादिना विशेषणत्रयेण वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत् ।

भावार्थ—विषयों के वश में न आने वाले समस्त विद्याओं में पारंगत धर्मपरायण उस राजा दिलीप में वृद्धावस्था के बिना बुढ़ापा ज्ञात होता था ॥२३॥

द्विविधं पितृत्वं रक्षणेनोत्पादनेन च । तत्र तस्य रक्षणेन पितृत्वमाह—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥

अन्वयः—विनयाधानात् रक्षणात् भरणात् अपि सः प्रजानां पिता (अभूत्) तासां पितरः केवलं जन्महेतवः।

प्रजानामिति। प्रजायन्त इति प्रजा जनाः 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' इति डप्रत्ययः। 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः। तासां विनयस्य शिक्षया आधानात्करणात् सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत्। रक्षणात् भयहेतुभ्यस्त्राणाद् आपन्निवारणादिति यावत्। भरणादन्नापानादिभिः पोषणादपि। अपिः समुच्चये। स राजा पिताऽभूत्। तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तारः केवलमुत्पादका एवाभूवन्। जननमात्रम् एवं पितॄणां व्यापारः। सदा शिक्षारक्षणादिकं तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यापदेशः। आहुश्च—'स पिता यस्तु पोषकः' इति।

भावार्थ—शिक्षा देने से, रक्षा करने से, पालन पोषण करने से वे प्रजा के पिता थे। उनके पिता तो केवल जन्मदाता थे॥ २४॥

तस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तामित्याह—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः॥ २५॥

अन्वयः—स्थित्यै दण्ड्यान् दण्डयतः प्रसूतये परिणेतुः मनीषिणः तस्य अर्थकामौ अपि धर्म एव अस्ताम्।

स्थिता इति। दण्डमर्हन्तीति दण्ड्याः 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः। 'अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति' इति शास्त्रवचनात्। तान् दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठायै दण्डयतः शिक्षयतः। प्रसूतये सन्तानायैव परिणेतुर्दारान् परिगृह्णतः मनीषिणो विदुषः दोषज्ञस्येति यावत्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी' इत्यमरः। तस्य दिलीपस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तां जातौ। अस्तेर्लङ्। अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पादनरूपधर्मार्थत्वेनानुष्ठानादर्थकामावपि धर्मशेषतामापादयन्स राजा धर्मोत्तरोऽभूदित्यर्थः। आह च गौतम—'न पूर्वाह्णमध्यदिनापराह्णानफलान्कुर्याद् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्' इति।

भावार्थ—मर्यादा पालन के लिए अपराधियों को दण्ड देने वाले, सन्तान के लिए विवाह करनेवाले, उस विद्वान् राजा दिलीप के अर्थ और काम धर्मही थे।

तस्य दिलीपस्येन्द्रेण सह परस्परविनिमयेन सख्यमाह—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥ २६॥

अन्वयः—स यज्ञाय गां दुदोह, मघवा सस्याय दिवं (दुदोह) सम्पद्विनिमयेन उभौ भुवनद्वयं दधतु ।

दुदोहेति । स राजा यज्ञाय यज्ञं कर्तुं गां भुवं दुदोह । करग्रहणेन रिक्तां चकारेत्यर्थः । मघवा देवेन्द्रः सस्याय सस्यं वर्धयितुं दिवं स्वर्गं दुदोह । द्युलोकान्महीलोके वृष्टिमुत्पादयामासेत्यर्थः । 'क्रियार्थोपपद–' इत्यादिना यज्ञसस्याभ्यां चतुर्थी । एवमुभौ सम्पदो विनिमयेन परस्परमादानप्रतिदानाभ्यां भुवनद्वयं दधतु पुपुषतु । राजा यज्ञैरिन्द्रलोकमिन्द्रश्चोदकेन भूलोकं पुपोषेत्यर्थः । उक्तं च दण्डनीतौ–'राजात्वर्थान्समाहृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम् । प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहत्' इति ॥

भावार्थ—दिलीप यज्ञ के लिए पृथ्वी को दुहते थे और इन्द्र धान्य के लिए आकाश को दुहते थे। इस प्रकार परस्पर सहयोग से दोनों लोक का पालन करते थे ॥ २६ ॥

तस्य राज्ये तस्करभयं नासीदित्याह—

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥

अन्वयः—राजानः रक्षितुः तस्य यशः न अनुययुः किल यत् परस्वेभ्यः व्यावृत्ता तस्करता श्रुतौ स्थिता ।

नेति । राजानोऽन्ये नृपा रक्षितुर्भयेभ्यस्त्रातुस्तस्य राज्ञो यशो नानुययुः किल नानुचक्रुः खलु । कुतः । यद्यस्मात्कारणात्तस्करता चौर्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभूतेभ्यो व्यावृत्ता सती श्रुतौ वाचकशब्दे स्थिता प्रवृत्ता । अपहार्यान्तराभावात्तस्करशब्द एवापहृत इत्यर्थः । अथवा । 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति न्यायेन शब्दे स्थिता स्फुरिता न तु स्वरूपतोऽस्तीत्यर्थः ।

भावार्थ—अन्य राजा रक्षक उस दिलीप के यश का अनुकरण नहीं कर सके क्योंकि दूसरों के धन से व्यावृत्त चोरी केवल शब्द में सुनी जाती थी ॥२७॥

तस्य शिष्ट एव प्रियो दुष्ट एवाप्रिय आसीदित्याह—

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ २८ ॥

अन्वयः—शिष्टः द्वेष्यः अपि आर्तस्य औषधं यथा तस्य सम्मतः । दुष्टः प्रियः अपि उरगक्षता अंगुलि इव त्याज्य आसीत् ।

द्वेष्य इति । शिष्टो जनो द्वेष्यः शत्रुरपि । आर्तस्य रोगिण औषधं यथौषधमिव तस्य संमतोऽनुमत आसीत् । दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि । उरग-

क्षता सर्पदष्टाऽङ्गुलीव । 'छिन्द्याद्बाहुमपि दुष्टात्मनः' इति न्यायात् त्याज्यः आसीत् । तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्ट एव शत्रुरित्यर्थः ।

भावार्थ—सज्जन शत्रु भी रोगी को औषध के समान उनको प्रिय था और दुष्ट प्रिय होने पर भी सांप से डसी हुई अंगुलि की तरह त्याज्य था ॥ २८ ॥

तस्य परोपकारित्वमाह—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९ ॥

अन्वयः—वेधाः तं महाभूतसमाधिना नूनं विदधे; तथा हि तस्य सर्वे गुणा. परार्थैकफला आसन् ।

तमिति । वेधाः स्रष्टा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः । तं दिलीपम् । समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारणसामग्री । महाभूतानां यः समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्ज । नूनं ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथाहि तस्य राज्ञः सर्वे गुणा रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव पदार्थः परप्रयोजनमेवैकं मुख्यं फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन 'कारणगुणाः कार्यं संक्रामन्ती'ति न्यायः सूचितः ।

भावार्थ—ब्रह्माजी ने उनको मानो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश की कारणसामग्री से बनाया था; क्योंकि उनके सभी गुण परोपकार के लिए थे ॥२९।

तस्य चक्रवर्तित्वमाह—

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

अन्वयः—स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागरमनन्यशासनमुर्वी एक पुरीम् इव शशास ।

स इति । स दिलीपः वेलाः समुद्रकूलानि । 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः । ता एव वप्रवलयाः प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम् । 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् । प्राकारो वरणः शालः प्राचीनं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः । परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनम् । 'खातं खेयं तु परिखा' इत्यमरः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दात्खनेर्डप्रत्ययः । अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागराः यस्यास्ताम् । अभूततद्भावे च्विः । अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्यास्तामनन्यशासनामुर्वीमेकपुरीमिव शशास । अनायासेन शासितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—वे राजा दिलीप समुद्रपर्यन्त परकोटावाली सागरों की खाईवाली, अन्य के शासन से रहित पृथ्वी को एक नगरी के समान शासन करते थे ॥३०॥

तस्य पत्न्या नामाह—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तस्य मगधवंशजा दाक्षिण्यारूढेन नाम्ना सुदक्षिणा इति अध्वरस्य दक्षिणा इव पत्नी आसीत्।

तस्येति। तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा। 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्ययः। एतेनाभिजात्यमुक्तम्। दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्। दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति शाश्वतः। तेन रूढं प्रसिद्धम्। तेन नाम्ना अध्वरस्य यज्ञस्य दक्षिणा दक्षिणाख्या पत्नीव सुदक्षिणेति प्रसिद्धा पत्न्यासीत्। अत्र श्रुतिः—"यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः" इति। 'दक्षिणायां दाक्षिण्यं नामर्त्विजो दक्षिणत्वप्रापकत्वम्। ते दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्य' इति च।

भावार्थ—मगध वंश में उत्पन्न, अधिक निपुण होने के कारण सुदक्षिणा नामवाली दक्षिणा नाम की यज्ञ की स्त्री के समान दिलीप की स्त्री थी ॥३१॥

तस्यानेकासु पत्नीषु सतीष्वपि प्रिया सुदक्षिणैवेत्याह—

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाऽधिपः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—वसुधाधिप अवरोधे महति (सति) अपि मनस्विन्या तया लक्ष्म्या च आत्मानं कलत्रवन्तं मेने।

कलत्रवन्तमिति। वसुधाऽधिपः। अवरोधेऽन्तःपुरवर्गे महति सत्यपि मनस्विन्या दृढचित्तया पतिचित्तानुवृत्त्यादिनिर्बन्धक्षमयेत्यर्थः। यथा सुदक्षिणया लक्ष्म्या चात्मानं कलत्रवन्तं भार्यावन्तं मेने। 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः। वसुधाऽधिपः इत्यनेन वसुधया चेति गम्यते।

भावार्थ—पृथ्वीपति राजा दिलीप अधिक स्त्रियों के रहने पर भी उस मनस्विनी सुदक्षिणा और राजलक्ष्मी से अपने को स्त्रीवाला समझते थे ॥३२॥

दिलीपः स्व पत्न्या बहुदिनावधि पुत्रोत्पत्तिप्रतीक्षणं कृतवानित्याह—

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—आत्मानुरूपायां तस्याम् आत्मजन्मसमुत्सुकः स विलम्बितफलैः मनोरथैः कालं निनाय।

तस्यामिति—स राजा । आत्मानुरूपायां तस्याम् । आत्मनो जन्म यस्यासावात्मजन्मा पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । यद्वा । आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । विलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं तेषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं निनाय यापयामास ।

भावार्थ—अपने मन के अनुरूप उस सुदक्षिणा रानी में पुत्र जन्म की इच्छा वाले राजा ने विलम्बित फल वाले मनोरथों से समय विताया ॥ ३३ ॥

सन्तानार्थमुद्योक्तु प्रवृत्तस्य राज्ञो मन्त्रिवर्गे राज्यभारसमर्पणमित्याह—

संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—तेन सन्तानार्थाय विधये स्वभुजात् अवतारिता जगतः गुर्वी धूः सचिवेषु निचिक्षिपे ।

संतानेति । तेन दिलीपेन । संतानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै संतानार्थाय विधयेऽनुष्ठानाय । स्वभुजादवतारिताऽवरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूर्भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ।

भावार्थ—उस राजा दिलीप ने पुत्रप्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने की इच्छा से अपनी भुजाओं से उतारा हुआ पृथ्वी का भार मंत्रियों पर रख दिया ॥३४

पुत्रप्राप्तिकाम्यया दिलीपस्य स्वगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमे गमनमित्याह—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अथ पुत्रकाम्यया विधातारम् अभ्यर्च्य प्रयतौ तौ दम्पती गुरोः वसिष्ठस्य आश्रमं जग्मतुः ।

अथेति । अथ धुरोऽवतारान्तरं पुत्रकाम्ययाऽत्मनः पुत्रेच्छया 'काम्यच्च' इति पुत्रशब्दात्काम्यच्प्रत्ययः । 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाम्यतेरप्रत्ययः । ततष्टाप् । तया । तौ दम्पती जायापती । राजदन्तादिपु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधुः । प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति मान्त्रिकाः । गुरोः कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः ।

भावार्थ—उसके बाद पुत्र की इच्छा से ब्रह्माजी की पूजा करके वे दोनों पवित्र पति-पत्नी कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम की ओर चले ॥ ३५ ॥

तयोरेकरथेन वसिष्ठाश्रमगमनमित्याह—

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

अन्वयः—स्निग्धगम्भीरनिर्घोषम् एकं स्यन्दनं प्रावृषेण्यं विद्युदैरावतौ इव आस्थितौ (गुरोराश्रमं जग्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः)।

स्निग्धेति। स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम्। प्रावृषि भवं प्रावृषेण्यं। 'प्रावृष एण्य' इत्येण्यप्रत्ययः। तं प्रावृषेण्यं पयोवाहं मेघं विद्युदैरावताविव। आस्थितावारूढौ। जग्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः। इरा आपः। 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः। इरावान्समुद्रः। तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः। 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः। 'अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्यरूपत्वात्' इति क्षीरस्वामी। अत एव मेघारोहणं विद्युत्साहचर्यञ्च घटते। किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्यादैरावतीसंज्ञा। ऐरावतस्य स्त्यैरावतीति क्षीरस्वामी। तस्मात्सुष्टूक्तं विद्युदैरावताविवेति। एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिबीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति।

भावार्थ—मधुर एवं गम्भीर आवाज करने वाले एक रथ पर वर्षा-ऋतु के बादल पर बिजली और ऐरावत के समान वे (वसिष्ठ के आश्रम की ओर चले।)

सेनाविरहितयोस्तयोर्गमने कारणमाह—

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव॥ ३७॥

अन्वयः—'आश्रमपीडा मा भूत्' इति परिमेयपुरःसरौ अनुभावविशेषात् तु सेनापरिवृतौ इव (स्थितौ)।

मा भूदिति। पुनः किंभूतौ दम्पती। आश्रमपीडा मा भून्मास्त्विति हेतोः। 'माङि लुङ्'। 'न माङ्योगे' इत्यडागमनिषेधः। परिमेयपुरःसरौ मितपरिचरौ अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताभ्यामिव स्थितौ।

भावार्थ—'गुरु के आश्रम को किसी प्रकार का कष्ट न हो' इस विचार से कुछ ही सेवकों को लेकर वहाँ गये, पर स्वाभाविक तेज से वे दोनों सेना से घिरे हुए लगते थे।

मार्गे तयोः सुखदवायुभिः सेव्यमानयोर्गमनमित्याह—

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः॥ ३८॥

अन्वयः—सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः पुष्परेणूत्किरैः आधूतवनराजिभिः वातैः सेव्यमानौ (गुरोराश्रमं जग्मतुरिति पूर्वेणान्वयः)।

सेव्यमानाविति। पुनः कथंभूतौ। सुखशीतलत्वात्प्रियः स्पर्शो येषां तैः। शालनिर्यासगन्धिभिः सर्जतरुनिस्यन्दगन्धवद्भिः। 'शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति

शाश्वतः। उत्किरन्ति विक्षिपन्तीत्युत्किराः। 'इगुपध—' इत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः। पुष्परेणूनामुत्किरास्तैराधूता मान्याद्दीषत्कम्पिता वनराज्यो यैस्तैर्वातैः सेव्यमानौ।

भावार्थ—स्पर्श सुखद शाल के गोंद की गंधवालीपुष्पपराग को उड़ाने वाली जंगली वृक्षों को हिलाने वाली हवा का अनुभव करते हुए वे गुरु-आश्रम गये ॥३८॥

मार्गे मयूरवाणीः शृण्वतोस्तयोर्गमनमित्याह—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—रथनेमिस्वनोन्मुखैः शिखण्डिभिः द्विधा भिन्नाः मनोऽभिरामाः षड्जसंवादिनी केका शृण्वन्तौ (तौ गुरोराश्रमं जग्मतुः)।

मनोऽभिरामा इति। रथनेमिस्वनोन्मुखैः। मेघध्वनिशङ्कयोन्नमितमुखैरित्यर्थः। शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्नाः शुद्धविकृतभेदेनाविष्कृतावस्थायां च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः। तत्सादृश्यात्केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते। अत एवाह षड्ज-संवादिनीरिति। षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः। तदुक्तम्—'नासाकण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्तांश्च संस्पृशन्। षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः'। स च तन्त्रीकण्ठस्वरविशेषः। 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवतान्। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः॥' इत्यमरः। षड्जेन संवादिनीः सदृशीः। तदुक्तं मातङ्गेन—'षड्जं मयूरो वदति' इति। मनोऽभिरामाः मनसः प्रिया। के मूर्ध्नि कायन्ति ध्वनन्तीति केका मयूरवाण्यः 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। ताः केकाः शृण्वन्तौ, इति श्लोकार्थः।

भावार्थ—रथ के पहिये से उत्पन्न शब्द से ऊपर मुख उठाये हुए मयूरों की, मन को प्रसन्न कर देने वाली, षड्ज स्वर का अनुकरण करने वाली वाणी को सुनते हुए (वे दोनों चले) ॥ ३९ ॥

मृगद्वन्द्वं पश्यतोस्तयोर्गमनम्।

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥ ४० ॥

अन्वयः—अदूरोज्झितवर्त्मसु स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु मृगद्वन्द्वेषु परस्पराक्षिसादृश्यं पश्यन्तौ (तौ जग्मतुः)।

परस्परेति। विश्रम्भाददूरं समीपं यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु। स्यन्द-नाबद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथ आबद्धाऽऽसञ्जिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु। 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः। कौतुकवशाद्रथासक्त-

दृष्टिष्वित्यर्थः । मृग्यश्च मृगाश्च मृगा । 'पुमान् स्त्रिया.' इत्येकशेष । तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु । 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमर । परस्पराक्ष्णां सादृश्यं पश्यन्तौ । द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सुदक्षिणाऽक्षिसादृश्यं दिलीपो दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम् ।

भावार्थ—विश्वास के कारण मार्ग के पास मे स्थित रथ की तरफ देखने वाले मृगो के जोडो मे परस्पर आँख का सादृश्य देखते हुए (वे दोनों चले) ॥ ४० ॥

मार्गे क्वचित् सारसान् पश्यन्तौ जग्मतुरित्याह—

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥

अन्वय:—श्रेणीबन्धात् अस्तम्भां तोरणस्रजां वितन्वद्भि कलनिर्ह्रादैः सारसै. क्वचित् उन्नमिताननौ (तौ जग्मतु) ।

श्रेणीबन्धादिति । श्रेणीबन्धात्पङ्क्तिबन्धाद्धेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहिताम् । तोरण बहिर्द्वारम् । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमर. । तत्र या स्रग्विरच्यते ता तोरणस्रजं वितन्वद्भि । कुर्वद्भिरिवेत्यर्थ । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेव-प्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम् । कलनिर्ह्रादैरव्यक्तमधुरध्वनिभि. सारसैः पक्षि-विशेषै. करणं । क्वचिदुन्नमिताननौ । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वय.' इति यादवः ।

भावार्थ—पंक्तिबद्ध होने के कारण स्तम्भके बिना वन्दनवार की माला के समान बने हुए मधुर शब्द करनेवाले सारसों द्वारा कभी-कभी ऊपर मुँह उठाए हुए चले ।

गच्छतोस्तयो' पथ्यनुकूलवहनमित्याह—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

अन्वय:—प्रार्थनासिद्धिशंसिन. पवनस्य अनुकूलत्वात् तुरगोत्कीर्णैः रजोभि अस्पृष्टालकवेष्टनौ (तौ जग्मतु) ।

पवनस्येति । प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवनस्यानुकूलत्वाद् गन्तव्यदिगभिमुखत्वात् । तुरगोत्कीर्णै रजोभिरस्पृष्टा अलका देव्याः, वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ । 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुत.' इति वक्ष्यति ।

भावार्थ—मनोरथ की सिद्धि के सूचक पवन के अनुकूल बहने के, कारण घोड़ों से उड़ाई गई धूल से उनके अलक और पगडी का स्पर्श न हो सका ॥४२॥

मार्गे कमलानां गन्धं जिघ्रतोस्तयोर्गमनमित्याह—

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सरसीषु वीचिक्षोभशीतलं स्वनिःश्वासानुकारिणम् अरविन्दानां आमोदम् उपजिघ्रन्तौ (तौ जग्मतुः) ।

सरसीष्विति। सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलभूमिसंघट्टनेन शीतलं स्वनिःश्वासमनुकर्तुं शीलमस्येति स्वनिःश्वासानुकारिणम् । एतेन तयोरुत्कृष्टस्त्रीपुंसजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ घ्राणेन गृह्णन्तौ ।

भावार्थ—तालावों की लहर के झकोरों से ठण्डी, अपनी श्वास की बराबरी करने वाली कमलों की सुगन्धिको सूँघते हुए (वे दोनों चले) ॥ ४३ ॥

यज्ञे ब्रह्माणेभ्यः प्रदत्ते ग्रामे ग्रामे तेषामाशीर्वादग्रहणमित्याह—

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—आत्मविसृष्टेषु यूपचिन्हेषु ग्रामेषु यज्वनां अमोघा आशीषः अर्घ्यानुपदं प्रतिगृह्णन्तौ (तौ जग्मतुः) ।

ग्रामेष्विति। आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु । यूपो नाम संस्कृतः पशुवन्धाय दारुविशेषः । यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेष्वमोघाः सफला यज्वनां विधिनेष्टवताम् । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । आशिषः आशीर्वादान् । अर्घः पूजाविधिः । तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः । अर्घ्यस्यानुपदमन्वक् । अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकुर्वन्तौ । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीवमव्ययम्' इत्यमरः ।

भावार्थ—स्वयं दिये हुए, यज्ञस्तम्भों के चिह्नवाले ग्रामों में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के अमोघ आशीर्वादों को अर्घ्य के बाद स्वीकार करते हुए वे दोनों चले ।

मार्गे वन्यवृक्षाणां नामानि पृच्छतोस्तयोर्गमनमित्याह—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हैयंगवीनं आदाय उपस्थितान् घोषवृद्धान् वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ (तौ जग्मतुः) ।

हैयङ्गवीनमिति। ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयङ्गवीनम् । 'तत्तु हैयङ्गवीनं

यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' इति निपातः । तत्सद्यो घृतमादायोपस्थितान्घोषवृद्धान् । 'घोष आभीरपल्ली स्याद्' इत्यमरः । वन्याना मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ । 'दुह्याच्—' इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम् । कुलकम् ।

भावार्थ—गाय का ताजा मक्खन लेकर उपस्थित हुए वृद्ध गोपों से जंगली वृक्षों के नाम आदि पूछते हुए (वे चले) ॥ ४५ ॥

तयोर्गच्छतोश्चित्राचन्द्रमसोरिव शोभाऽभूदित्याह—

काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हिमनिर्मुक्तयोः चित्राचन्द्रमसोः योगे इव व्रजतोः शुद्धवेषयोः तयोः कापि अभिख्या आसीत् ।

काऽपीति । व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिलीपयोश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति काऽप्यनिर्वाच्याऽभिख्या शोभाऽऽसीत् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यण्प्रत्ययः । चित्रा नक्षत्रविशेषः । शिशिरापगमे चैत्र्यां चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ।

भावार्थ—चलते हुए निर्मलवेषधारी उन दोनों की हिमनिर्मुक्त चित्रा और चन्द्रमा के संयोग के समान क्या ही अलौकिक शोभा हुई ॥ ४६ ॥

पत्न्यै मार्गेऽद्भुतवस्तुजातं दर्शयतो दिलीपस्य गमनमित्याह—

तत्तद् भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—प्रियदर्शनः बुधोपमः भूमिपतिः पत्न्यै तत् तत् दर्शयन् लङ्घितं अध्वानम् अपि न बुबुधे ।

तत्तदीति । प्रियं दर्शनं स्वकर्मकं यस्यासौ प्रियदर्शनः । योगदर्शनीय इत्यर्थः । भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुतं वस्तु दर्शयल्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं न बुबुधे न ज्ञातवान् । बुधः सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रहः । इदं विशेषणं तत्तद्दर्शयन्नित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ।

भावार्थ—दर्शनीय, विद्वान् पृथ्वीपति दिलीप ने अपनी पत्नी सुदक्षिणा को विभिन्न दृश्य दिखाते हुए पार किये गए मार्ग की थकान अनुभव नहीं की ॥४७॥

सुदक्षिणादिलीपयोर्वसिष्ठाश्रमप्रापणमित्याह—

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—दुष्प्रापयशाः श्रान्तवाहनः महिषीसखः स सायं संयमिनः तस्य महर्षेः आश्रमं प्रापत् ।

स इति । दुष्प्रापयशा दुष्प्रापमन्यदुर्लभं यशो यस्य स तथोक्तः । श्रान्तवाहनो दूरोपगमनात्क्लान्तयुग्यः । महिष्याः सखा महिषीसखः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्ययः । सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः । स राजा सायंकाले संयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वसिष्ठस्याश्रमं प्रापत्प्राप । पुषादित्वादङ् ।

भावार्थ—दुर्लभ यशवाले श्रान्तवाहन सुदक्षिणा सहित राजा दिलीप सायंकाल संयमी महर्षि वसिष्ठ के आश्रम पर पहुँचे ।। ४८ ।।

तमाश्रमं विशिनष्टि—

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—वनान्तरात् उपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः सादृश्याग्निप्रत्युद्यातैः तपस्विभिः आकीर्णम् (आश्रमं प्रापदिति पूर्वेणान्वयः) ।

वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तैः प्रत्यावृतैः । समिधश्च कुशांश्च फलानि चाहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहरास्तैः 'आङि ताच्छील्ये' इति हरतेराङ् पूर्वादच्प्रत्ययः । अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः । प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गतास्तैः । तपस्विभिः पूर्यमाणम् । 'प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्ति' इति श्रुतेः । यथाऽऽह—'कामं पितरं पुत्राः प्रोषितवन्तः प्रत्याधावन्ति । एव ह वा एवमेतमग्नयः प्रत्याधावन्ति सकलान्दारूनिवाहरन्' इति ।

भावार्थ—दूसरे वनों से लौटे हुए लकड़ी कुश और फूल लाने वाले अदृश्य अग्नि से अगवानी किए गये और तपस्वियों से व्याप्त आश्रम पर पहुँचे ।।४९।।

आश्रमस्थमृगवर्णनमित्याह—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

अन्वयः—उटजद्वाररोधिभिः नीवारभागधेयोचितैः मृगैः ऋषिपत्नीनां अपत्यैः इव आकीर्णम् (आश्रमं प्रापत्) ।

आकीर्णमिति । नीवाराणां भाग एव भागधेयोऽशः । रूपनामभागेभ्यो धेयप्रत्ययो वक्तव्यः (वा०) इति वक्तव्यसूत्रात्स्वाभिधेये धेयप्रत्ययः, तस्योचितैः । अत एवोटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिर्द्वाररोधकैर्मृगैर्ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव । आकीर्णं व्याप्तम् ।

भावार्थ—पर्णशालाओं के द्वारों को रोकने वाले, नीवारधान्य के भाग को

पाने वाले, ऋषिपत्नियों के बालकों के समान मृगों से परिपूर्ण आश्रम पर गये ॥ ५० ॥

आश्रमस्थपक्षिणा सद्य सेचिततरुमूलजलपानमाह—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—मुनिकन्याभिः सेकान्ते आलवालाम्बुपायिनां विहङ्गमानां विश्वासाय तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् (आश्रमं प्रापत) ।

सेकान्त इति। सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने मुनिकन्याभिः आलवालेषु जलावापप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम् । 'स्यादालवालमावालमावाप' इत्यमरः । विहङ्गानां पक्षिणां विश्वासाय विश्रम्भाय । 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । तत्क्षणे उज्झिता वृक्षका ह्रस्ववृक्षा यस्मिस्तम् । ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः ।

भावार्थ—मुनिकन्याओं द्वारा सींचने के बाद गमलों का पानी पीनेवाले पक्षियों के विश्वास के लिए तत्काल छोड़े हुए वृक्षों पौधों वाले आश्रम पर गये ॥ ५१ ॥

तत्रत्यानां मृगाणां रोमन्थवर्त्तनमित्याह—

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥

अन्वयः—आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु उटजाङ्गनभूमिषु निषादिभिः मृगैः वर्तितरोमन्थं (आश्रमं प्रापत्) ।

आतपेति। आतपस्यात्ययेऽपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृता नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु । 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः । उटजानां पर्णशालानामङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति । अङ्गनं चत्वराजिरे' इति चामरः । निषादिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिन्नाश्रमे तम् ।

भावार्थ—धूप के अन्त में एकट्ठा किए हुए नीवार वाली पर्णकुटी के आँगन की जमीन में बैठे हुए मृगों द्वारा पागुरी किये जाने वाले (आश्रम में गये) ॥५२॥

तत्रत्यो हुतहवनीयद्रव्यगन्धयुक्तो धूम इत्याह—

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

अन्वय —अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः पवनोद्धूतैः आहुतिगन्धिभिः धूमैः आश्रमोन्मुखान् अतिथीन् (पुनानं आश्रमं प्रापत्) ।

अभ्युत्थितेति। अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः । होमयोग्या इत्यर्थः । 'समिद्धेऽग्ना-

वाहुतीर्जुहोति' इति वचनात्। तेपामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः। आहुतिगन्धो येपामस्तीत्याहुतिगन्धिनस्तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानं पवित्रीकुर्वाणम्। कुलकम्।

भावार्थ—प्रज्वलित अग्नि को बताने वाले, हवा से उड़ाये गये आहुति की गन्धवाली धूए से आश्रम की ओर आते हुए अतिथियों को पवित्र करने वाले आश्रम पर पहुँचे ॥ ५३ ॥

आश्रमप्राप्त्यनन्तरं रथादवतरणमाह—

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ सः 'धुर्यान् विश्रामय' इति यन्तारम् आदिश्य तां पत्नीं रथात् अवारोहयत् (स्वयं) अवततार च।

अथेति। अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिम्। धुरं वहन्तीति धुर्या युग्याः। 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः। 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' इत्यमरः। धुर्यान् रथाश्वान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य तां पत्नीं रथादवारोहयदवतारितवान्स्वयं चावततार। 'विश्रमय' इति ह्रस्वपाठे 'जनीजृष्-' इति मित्त्वे 'मितां ह्रस्वः।' इति ह्रस्वः। दीर्घपाठे 'मितां ह्रस्वः' इति सूत्रे 'वा चित्तविरागे' इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयकाद्ध्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः।

भावार्थ—'घोड़ों की थकावट दूर करो' सारथी को ऐसी आज्ञा देकर उस सुदक्षिणा को रथ से उतारा और स्वयं उतरे ॥ ५४ ॥

मुनयो दिलीपार्हणां चक्रुरित्याह—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

अन्वयः—गुप्ततमेन्द्रियाः सभ्याः मुनयः गोप्त्रे अर्हते नयचक्षुषे सभार्याय तस्मै अर्हणां चक्रुः।

तस्मा इति। सभायां साधवः सभ्याः। 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः। गुप्ततमेन्द्रिया अत्यन्तनियमितेन्द्रिया मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय। नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे। अत एवार्हणां पूजां चक्रुः। 'पूज्यायेत्यर्थः। 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः। तस्मै राज्ञेऽर्हणां पूजां चक्रुः। 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्यार्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः।

भावार्थ—जितेन्द्रिय सभ्य मुनियों ने रक्षक, योग्य, नीतिविशारद, सपत्नीक उस राजा दिलीप का सत्कार किया ॥ ५५ ॥

सायङ्कालीनक्रियान्तेऽरुन्धतीसहितस्य गुरोर्दर्शनमित्याह—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सायन्तनस्य विधेः अन्ते सः अरुन्धत्या अन्वासितं तपोनिधिं स्वधया (अन्वासितं) हविर्भुजं इव ददर्श ।

विधेरिति । स राजा सायन्तनस्य सायम्भवस्य । 'सायंचिरम्–' इत्यादिना ट्यु प्रत्ययः । विधेर्जपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽवसानेऽरुन्धत्यान्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्मणि क्तः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् 'अन्वास्यैनाम्' इत्यादिवदुपपद्यते । तपोनिधिं वसिष्ठम् । स्वाहया स्वाहादेव्या । 'अथाग्नायी, स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' इत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव ददर्श । 'समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकः । जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेत्' । इत्यनुष्ठानस्य मध्येऽभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनं चात्र पतिव्रताधर्मत्वेनोक्तं न तु कर्माङ्गत्वेन । विधेरन्त इति कर्मणः समाप्त्यभिधानात् ।

भावार्थ—सायंकालीन अनुष्ठान के अनन्तर उन सुदक्षिणा सहित राजा ने अरुन्धती से उपसेवित तपस्वी वसिष्ठ को स्वाहा देवी से उपसेवित अग्नि के समान देखा ॥५६॥

सुदक्षिणादिलीपयोः सपत्नीकस्य गुरोः पादाभिवन्दनमित्याह—

तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—सा मागधी राज्ञी राजा च तयोः पादान् जगृहतुः । गुरुपत्नी च तौ प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ।

तयोरिति । मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धतीवसिष्ठयोः । पादाञ्जगृहतुः । 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुपत्नी गुरुश्च कर्तारौ, सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्मभूतौ । प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः । आशीर्वादादिभिः संभावयाञ्चक्रतुरित्यर्थः ।

भावार्थ—राजा दिलीप और मगध वंश में उत्पन्न रानी सुदक्षिणा ने उन दोनों वशिष्ठ और अरुन्धती के पैरों को पकड़ा और उन्होंने उनको प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया ॥ ५७ ॥

वसिष्ठो दिलीपं राज्यविषयककुशलं पृष्टवानित्याह—

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—मुनिः आतिथ्यक्रियाशान्तरथशोभपरिश्रमं राज्याश्रममुनिं तं राज्ये कुशलं पप्रच्छ ।

तमिति । मुनिः । अतिथ्यर्थमातिथ्यम् । 'अतिथेर्न्यः' इति न्यप्रत्ययः । आतिथ्यस्य क्रिया तथा सान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तम् । राज्यमेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः । तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ । पृच्छतेस्तु द्विकर्मकत्वमित्युक्तम् । यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिष्वन्तर्गत्वाद्रा-जकर्मवचनः । तथाऽप्यत्र सप्ताङ्गवचनः । 'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु' इत्युत्तरविरोधात् । तथाऽऽह मनुः—"स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत् । सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यते" इति । तत्र "ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च" इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद् ब्राह्मणोचित कुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुसंधेयम् । अत एवोक्तं—'राज्याश्रममुनिम्' इति ।

भावार्थ—मुनि वसिष्ठ ने अतिथिसत्कार से रथ की झोकों की थकावट दूर हो जाने पर मुनितुल्य राजा दिलीप से कुशल पूछा ॥ ५८ ॥

वसिष्ठस्य कुशलप्रश्नान्तरं दिलीपस्योत्तरदानोपक्रमः—

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अथ विजितारिपुरः वदतां वरः अर्थपतिः अथर्वनिधेः तस्य पुरः अर्थ्या वाचं उवाच ।

अथेति । अथ प्रश्नान्तरं विजितारिपुरो विजितशत्रुनगरी वदतां वक्तृणां वरः श्रेष्ठः 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अर्थपतिः राजाऽथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम् । धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः वाचमाददे । वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः । अथर्वनिधेरित्यनेन पुरोहितकृत्याभिज्ञ-त्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते । यथाऽऽह कामन्दकः त्रय्यां च दण्ड-नीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः । अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्तिकपौष्टिकम् ।' इति ।

भावार्थ—तब शत्रु के नगरों को जीतने वाले वक्ताओं में श्रेष्ठ राजा दिलीप अथर्ववेद के विद्वान् महर्षि वसिष्ठ के सामने मतलब की बात कहने लगे ॥ ५९ ॥

यस्य त्वं गुरुरसि तस्य राज्ये सर्वत्र कुशलमस्त्येवेत्याह—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

अन्वय —(हे गुरो !) सप्तसु अङ्गेषु शिवम् उपपन्नं ननु। यस्य मे दैवीनां मानुषीणां च आपदां त्वं प्रतिहर्ता (असि)।

उपपन्नमिति। हे गुरो ! सप्तस्वङ्गेषुस्वाम्यमात्यादिषु। 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्ताङ्गानि' इत्यमरः। शिवं कुशलमुपपन्नं ननु युक्तमेव। नन्ववधारणे प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। कथमित्यत्राह— यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चोरभयादीनाम्। उभयत्रापि 'तत आगत' इत्यण्। 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्। आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्ता वारयिताऽसि। अत्राह कामन्दकः 'हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा। इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः। आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम्'। इति।

भावार्थ— भगवन् ! मेरे राज्य के सातों अङ्गों में कुशल क्यों न हो जिसकी दैवी और मानुषी आपत्तियों को नाश करने वाले आप हैं ॥ ६१ ॥

तत्र मानुषापत्प्रतीकारमाह—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥

अन्वय—मन्त्रकृतः तव दूरात् प्रशमितारिभिः मन्त्रैः मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः प्रत्यादिश्यन्त इव।

तवेति। दूरात् परोक्ष एव प्रशमितारिभिः। मन्त्रान्कृतवान्मन्त्रकृत्। 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विप्। तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा तव मन्त्रैः कर्तृभिः। दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं तन्मात्रंभिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव। वयमेव समर्थाः। किमेभिः पिष्टपेषकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा। 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः। त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव न पौरुषं फलतीति भावः।

भावार्थ—आप जैसे मन्त्रकारों के डर से ही शत्रुसंहारक मन्त्रों से दृष्टलक्ष्यभेद के मेरे बाण व्यर्थ से हैं ॥ ६१ ॥

सम्प्रति दैविकापत्प्रतीकारमाह—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे होतः ! त्वया अग्निषु विधिवत् आवर्जितं हविः अवग्रहविशोषिणां सस्यानां वृष्टिः भवति ।

हविरिति । हे होतः ! त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादिकं कर्तृ । अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः । 'अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' इत्यप्प्रत्ययः । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । तेन विशोषिणां विशुष्यतां सस्यानां वृष्टिर्भवति । वृष्टिरूपेण सस्यान्युपजीवयतीति भावः । अत्र मनुः "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" । इति ।

भाषार्थ—हे याज्ञिक ! आपके द्वारा अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति असमय में सूखते हुए धानों के लिए वृष्टि रूप होती है ॥ ६२ ॥

स्वप्रजानां सर्वतोभावेन सुखित्वे त्वद्ब्रह्मवर्चसं हेतुरित्याह—

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषजीविन्यः निरातंका निरीतयः (इति) यत् तस्य हेतुः त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ।

पुरुषायुषेति । आयुर्जीवितकालः । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । वर्षशतमित्यर्थः । (शतायुर्वै पुरुषः) इति श्रुतेः । 'अचतुरविचतुरसुचतुर–' इत्यादिसूत्रेणाच्प्रत्ययान्तो निपातः । मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः । निरातङ्का निर्भयाः । 'आतङ्को भयमाशङ्का' इति हलायुधः । निरीतयोऽतिवृष्ट्यादिरहिताः इति यत्तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसं तव व्रताध्ययनसंपत्तिरेव हेतुः । 'व्रताध्ययनसंपत्तिरित्येतद्ब्रह्मवर्चसम्' इति हलायुधः । ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम् । 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इत्यच्प्रत्ययः । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ।। इति कामन्दकः ।

भाषार्थ—मेरी प्रजा मनुष्यों की परमायु (सौ वर्ष) तक जीने वाली निडर और ईतियों से जो बची हुई है इसका कारण आपका ब्रह्मतेज है ॥ ६३ ॥

भवादृशेन मद्गुरुणा सर्वं मे सुखं भवतीत्याह—

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ब्रह्मयोनिना गुरुणा त्वया एवं चिन्त्यमानस्य निरापदः मे सम्पदः सानुबन्धा कथं न स्युः ।

त्वयैवमिति। ब्रह्मा योनि कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्त-प्रकारेण चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य। अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे संपद. सानुबन्धा सानुस्यूतयोऽविच्छिन्ना इति यावत्। कथं न स्यु'। स्युरित्यर्थः।

भावार्थ—आप जैसे ब्रह्मा के मानसपुत्र गुरु द्वारा इस प्रकार चिन्त्यमान मेरी आपत्तिरहित सम्पत्ति निर्विघ्न क्यों न रहे ? ॥ ६४ ॥

संप्रत्यागमनप्रयोजनमाह—

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥

अन्वय —किन्तु तव एतस्यां वध्वां अदृष्टसदृशप्रजं मां सप्तद्वीपाः रत्नसूः अपि मेदिनी न अवति।

किन्त्विति। किन्तु तवैतस्यां वध्वां स्नुषायाम्। 'वधुर्जाया स्नुषा चैव' इत्यमर। अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन तं मां सद्वीपाऽपि। रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि। 'सत्सूद्विष्—' इत्यादिना क्विप्। मेदिनी नावति न प्रीणाति। 'अव' धातु रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेषूपदेशादत्र प्रीणने। रत्नसूरपीत्यनेन सर्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्लाघ्यमिति सूचितम्।

भावार्थ—किन्तु आपकी इस पतोहू में अपने समान सन्तति को न देख कर मुझे रत्नगर्भा सातों द्वीपों सहित यह पृथ्वी भी अच्छी नहीं लगती ॥ ६५ ॥

पुत्राभावेन पितृणा दु.खेन पिण्डग्रहणं भविष्यतीत्याह—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुज. श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—मत्तः परं पिण्डविच्छेददर्शिनः वंश्या. स्वधासंग्रहतत्पराः श्राद्धे प्रकामभुजः न (भवन्ति) नूनम् ॥ ६६ ॥

नूनमिति। मत्तः परं मदनन्तरम् 'पञ्चम्यास्तसिल्'। पिण्डविच्छेददर्शिनः पिण्डदानविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणा.। वंशोद्भवा वंश्याः पितरः। स्वधेत्यव्ययं पितृ-भोज्ये वर्तते। तस्याः संग्रहे तत्परा आसक्ता' सन्त. श्राद्धे पितृकर्मणि 'पितृदानं निवाप. स्याच्छ्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः' इत्यमरः। प्रकामभुज पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति। नूनं सत्यम्। 'कामं प्रकामं पर्याप्तम्' इत्यमरः। निर्धना ह्यापद्धनं कियदपि संगृह्णन्तीति भावः।

भावार्थ—मेरे बाद पिण्ड पाने का अभाव देखने, वाले स्वधा संग्रह में लगे हुए मेरे पूर्वज श्राद्ध में स्वेच्छापूर्वक भोजन न कर सकेंगे, यह निश्चित है ॥ ६६ ॥

पुत्राभावेन पितृणां दुःखेन जलग्रहणं भविष्यतीत्याह—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६६ ॥

अन्वयः—मत्परं दुर्लभं इति मत्वा मया आवर्जितं पयः पूर्वैः निःश्वासैः कवोष्णम् उपभुज्यते नूनम्।

मत्परमिति। मत्परं मदनन्तरम्। 'अन्यारादितरर्तेदिक्' इत्यनेन पञ्चमी। दुर्लभं दुर्लभ्यं मत्वा मयाऽऽवर्जितं मद्दत्तं पयः पूर्वैः पितृभिः स्वनिःश्वासैर्दुःखजैः कवोष्णमीषदुष्णं यथा तथोपभुज्यते। नूनमिति वितर्के। कवोष्णमिति कुशब्दस्य कवादेशः। 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिपु तद्वति' इत्यमरः।

भावार्थ—मेरे बाद मिलना दुर्लभ समझ कर मेरे दिये हुए जल को यह निश्चित है कि मेरे पूर्वज अपनी आहों से थोड़ा गरम करके पीते हैं।

पितृणानुद्धृतस्य दिलीपस्य दुःखप्रकाशनमित्याह—

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—इज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः स अहं लोकालोकः अचल इव प्रकाशः च अप्रकाशः च (अस्मि)।

स इति। इज्या यागः 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति क्यप्प्रत्ययः। तथा विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः प्रजालोपेन सन्तत्यभावेन निमीलितः। कृतनिमीलनः सोऽहम्। लोक्यत इति लोकः। न लोक्यत इत्यलोकः, लोकश्चालोकश्चात्र स्त इति। लोकश्चासावलोकश्चेति वा, लोकालोकश्चक्रवालोऽचल इव। 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः। प्रकाशत इति प्रकाशश्च देवर्णविमोचनात्। न प्रकाशत इत्यप्रकाशश्च पितृणविमोचनात् पचाद्यच्। अस्मीति शेषः। लोकालोकोऽप्यन्तःसूर्यसंपर्काद्वहिस्तमोव्याप्त्या च प्रकाशश्चाप्रकाशश्चेति मन्तव्यम्।

भावार्थ—यज्ञ करने से पवित्र अन्तःकरण वाला सन्तान न होने से अन्धा मैं लोकालोक पर्वत के समान कभी प्रकाशवान् कभी अप्रकाशवान् हूँ।

ननु तपोदानादिसम्पन्नस्य किमपत्यैरित्यत्राह—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥

अन्वयः—तपोदानसमुद्भवं पुण्यं लोकान्तरसुखम्। हि शुद्धवंश्या सन्ततिः परत्र इह च शर्मणे (भवतीति शेषः)।

लोकान्तरेति। समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भव कारणम्। तपोदाने समुद्भवो यस्य तत्तपोदानसमुद्भवं यत्पुण्यं तल्लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरम्। शुद्धवंशे भवा शुद्धवंश्या सन्ततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय। 'शर्मशात-सुखानि च' इत्यमरः। भवतीति शेषः।

भावार्थ—तपस्या एवं दान से उत्पन्न पुण्य परलोक मे सुखदायक होता है। शुद्ध वंश की सन्तति इस लोक और परलोक में सुख देनेवाली होती है ॥६९॥

सामर्थ्योऽपि कथमनपत्यं मां ज्ञात्वा भवान्न दूयत इत्याह—

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

अन्वय—हे विधातः! तया हीनं मां स्नेहात् स्वयं सिक्तं वन्ध्यम् आश्रम-वृक्षकम् इव पश्यन् कथं न दूयसे?

तयेति। हे विधातः स्रष्टः! तया सन्तत्या हीनमनपत्यं माम् स्नेहात्प्रेम्णा स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्धितं वन्ध्यमफलम्। 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्य-मरः। आश्रमस्य वृक्षकं वृक्षपोतमिव। पश्यन्कथं न दूयसे न परितप्यसे? विधातरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस इति गम्यते।

भावार्थ—हे गुरो! सन्तानहीन मुझको प्यार से स्वयं सींचे हुए आश्रम के वृक्षों के समान विफल देखकर दुःखी क्यों नहीं होते हो? ॥ ७० ॥

दिलीपस्य स्वकीयापुत्रत्वस्यासह्यपीडत्वकथनमित्याह—

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे भगवन्! मे (अरुन्तुदम्) अन्त्यं ऋणं अनिर्वाणस्य दन्तिनः अरुन्तुदं आलानं इव असह्यपीडं अवेहि।

असह्यपीडमिति। हे भगवन्! मे ममान्त्यमृणं पैतृकमृणम्। अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः। दन्तिनो गजस्य। अरुर्मर्म तुदतीत्यरुन्तुदं मर्मस्पृक्। 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इति, 'अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृक्' इति चामरः। 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषद्–' इत्यादिना मुमागमः। आलानं बन्धनस्तम्भमिव। 'आलानं बन्धन-स्तम्भे' इत्यमरः। असह्या सोढुमशक्या पीडा दुःखं यस्मिंस्तदवेहि। दुःसहः-दुःखजनकं विद्धीत्यर्थः। 'निर्वाणोत्थानशयनानि त्रीणि गजकर्माणि' इति पालकाप्ये। "ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा। सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्"।

भावार्थ—हे भगवन् ! मेरे पैतृक ऋण को मज्जनरहित, बद्ध हाथी के मर्मच्छेदी स्तम्भ की तरह समझो ॥ ७१ ॥

दिलीपस्य पुत्रप्राप्तौ प्रयत्नं कर्तुं वशिष्ठं प्रति कथनमित्याह—

तस्मान्मुच्ये यथा तात ! संविधातुं तथाऽर्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—तात ! तस्मात् यथा मुच्ये तथा संविधातुं अर्हसि । हि इक्ष्वाकूणां दुरापे अर्थे सिद्धयः त्वदधीनाः (सन्ति) ।

तस्मादिति । हे तात ! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि । कर्मणि लट् । तथा संविधातुं कर्तुमर्हसि । हि यस्मात्कारणादिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्यानाम् तद्राजत्वाद्वहुष्वणो लुक् । दुरापे दुष्प्राप्येऽर्थे । सिद्धयस्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः । इक्ष्वाकूणामिति शेषे षष्ठी । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन कृद्योगे षष्ठीनिषेधात्

भावार्थ—हे गुरो ! उस पैतृक ऋण से मैं जिस प्रकार मुक्त हो सकूँ वैसा आप उपाय करने को योग्य हैं, क्योंकि इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजाओं के कठिन कार्यों की सिद्धि आपके ही आधीन है ॥ ७२ ॥

दिलिपप्रश्नं श्रुत्वा वशिष्टस्य तदुपरि विचार इत्याह—

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—इति राज्ञा विज्ञापितः ऋषिः ध्यानस्तिमितलोचनः (सन्)सुप्तमीनः ह्रद इव क्षणमात्रं तस्थौ ।

इतीति । इति राज्ञा विज्ञापित ऋषिर्ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य स ध्यानस्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन् क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ।

भावार्थ—इस प्रकार राजा दिलीप से प्रार्थना किए जाने पर महर्षि वसिष्ठ ध्यान से आंख बन्द कर सोई हुई मछलियों से युक्त सरोवर के समान क्षणमात्र समाधिस्थ हो गये ॥ ७३ ॥

वसिष्टस्य ध्यानचक्षुषा पुत्रप्रतिबन्धकारणं विज्ञाय दिलीपं प्रति कथनमित्याह—

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

अन्वय—भावितात्मा सः प्रणिधानेन भुवः भर्तुः सन्ततेः स्तम्भकारणं अपश्यत् अथ एवं प्रत्यबोधयत् च ।

स इति । स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा शुद्धान्तःकरणः भुवो

३ र० सम्पू०

भर्तुर्नृपस्य सन्ततेः स्तम्भकारणं सन्तानप्रतिबन्धकारणमपश्यत् । अथानन्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् । स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ-' इत्यादिनाणि कर्तुः कर्मत्वम् ।

भावार्थ—इस पवित्रात्मा वसिष्ठ जी ने ध्यान से राजा दिलीप की सन्तान के प्रतिबन्ध का कारण देखा और उनसे बतलाया ॥ ७४ ॥

वसिष्ठस्य राज्ञः सन्तानप्रतिबन्धकारणकथनमित्यत्राह—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

अन्वयः—पुरा शक्रं उपस्थाय उर्वीं प्रति यास्यतः तव पथि कल्पतरुच्छायां आश्रिता सुरभिः आसीत् ।

पुरेति । पुरा पूर्वं शक्रमिन्द्रमुपस्थाय सत्येत्योर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो गमिष्यतस्तव पथि वर्त्मनि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत् । तत्र स्थितेत्यर्थः ।

भावार्थ—पहले इन्द्र के पास जकार पृथ्वी की ओर लौटते हुए तुम्हारे मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया मे सुरभि गौ बैठी हुई थी ॥ ७५ ॥

कामधेनोः प्रदक्षिणाऽकरणे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु नाचर ॥ ७६ ॥

अन्वयः-ऋतुस्नातां इमां राज्ञीं धर्मलोपभयात् स्मरन् त्वं प्रदक्षिणाक्रियार्हायां तस्यां साधु न अचरः ।

धर्मेति । ऋतुः पुष्पं रज इति यावत् । 'ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि च' इत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणाम् । धर्मस्यर्त्वभिगमलक्षणस्य लोपाद् भ्रंशाद्भयं तस्मात्स्मरन्ध्यायन् । "मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन्" इति शास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां प्रदक्षिणकरणयोग्यायां तस्यां धेन्वां त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कारं नाचरो नाचरितवानसि । व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भावः । ऋतुकालाभिगमने मनुः—'ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा' इति । अकरणे दोषमाह पराशरः—"ऋतुस्नातां तु यो भार्यां स्वस्थः सन्नोपगच्छति । बालगोघ्नापराधेन विध्यते नात्र संशयः" इति । तथा च—"ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः" इति ।

भावार्थ—ऋतु-स्नान की हुई इस रानी सुदक्षिणा को धर्म के लोप के भय से स्मरण करते हुए तुमने प्रदक्षिणायोग्य उस सुरभि के प्रति सम्मान नहीं किया ॥ ७६ ॥

अनादृतायाः सुरभेर्दिलीपाय शापप्रदानमित्याह—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

अन्वयः—सा 'यस्मातत् मां अवजानासि अतः मत्प्रसूतिं अनाराध्य ते प्रजा न भविष्यति' इति त्वां शशाप ।

अवजानासीति । यस्मात्कारणान्मामवजानासि तिरस्करोषि । अतः कारणान्मत्प्रसूतिं मम संततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति सा सुरभिस्त्वां शशाप । 'शप आक्रोशे' ।

भावार्थ—उस सुरभि ने 'जिस कारण मेरा अनादर कर रहे हो इसलिए मेरी सन्तान की अराधना किये बिना तुम्हें सन्तान न होगी' ऐसा तुमको शाप दिया ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

अन्वयः—हे राजन् आकाशगंगायाः उद्दामदिग्गजे स्रोतसि नदति (सति) सः शापः त्वया सारथिना च न श्रुतः ॥ ७८ ॥

स इति । हे राजन् ! स शापस्त्वया न श्रुतः सारथिना च न श्रुतः । अश्रवणे हेतुमाह—क्रीडार्थमागता उद्दामानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिंस्तथोक्ते । आकाशगङ्गया मन्दाकिन्याः स्रोतसि प्रवाहे नदति सति । ।

भावार्थ—हे राजन् ! आकाशगंगाप्रवाह मे बन्धन रहित, मतवाले दिग्गजों के शब्द होने के कारण शाप को न तो आपने ही सुना न सारथि ही सुन सका ॥७८॥

अस्तु, प्रस्तुते किमायातमित्यत्राह—

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तदवज्ञानात् आत्मनः ईप्सितं सार्गलं विद्धि । हि पूज्यपूजाव्यतिक्रमः श्रेयः प्रतिबध्नाति ।

ईप्सितमिति । तदवज्ञानात्तस्या धेनोरवज्ञानादपमानादात्मनः स्वस्याप्तुमिष्टमीप्सितं मनोरथम् । आप्नोतेः सन्नन्तात् क्तः ईकारश्च । सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि जानीहि । तथा हि—पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति ।

भावार्थ—उस सुरभि का अनादर होने के कारण अपने मनोरथ को रुका हुआ समझो क्योंकि पूज्यों की पूजा का उल्लंघन कल्याण को रोक देता है ॥७९॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि, सा वा कथंचिदागमिष्यतीत्याशा न कर्तव्येत्याह—

> हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
> भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥

अन्वयः—सा च इदानीं दीर्घसत्रस्य प्रचेतसः हविषे भुजंगपिहितद्वारं पातालं अधितिष्ठति ।

हविष इति । सा च सुरभिरिदानीं दीर्घसत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गावरुद्धद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति । पाताले तिष्ठतीत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ।

भावार्थ—वह सुरभि इस समय अधिक दिनों तक होनेवाले यज्ञ के अनुष्ठाता वरुण को हविष्य देने के लिए सर्पों से वेष्ठित द्वार वाले पाताल लोक में रहती है।

तर्हि का गतिरित्याह—

> सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
> आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥

अन्वयः—सपत्नीकः (त्वं) शुचिः (सन्) तदीयां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा आराधय । हि सा प्रीता (सती) कामदुघा (भवति) ।

सुतामिति । तस्याः सुरभेरियं तदीया । तां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः । सह पत्न्या वर्तत इति सपत्नीकः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । आराधय । हि यस्मात्कारणात्सा प्रीता तुष्टा सती । कामान्दोग्धीति कामदुघा भवति । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च ।

भावार्थ—स्त्रीसहित तुम पवित्र होकर उस सुरभि की पुत्री को सुरभि के स्थान पर आराधना करो । निश्चय ही वह प्रसन्न होकर तुम्हारी कामना को सफल कर देगी ॥ ८१ ॥

कामधेनुसुताया नन्दिन्या वनादागमनमित्यनाह—

> इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
> अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—इति वादिनः एव होतुः अस्य आहुतिसाधनं नन्दिनी नाम अनिन्द्या धेनुः वनात् आववृते ।

इतीति । इति वादिनो वदत एव होतुर्हवनशीलस्य । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम् । नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनीनामानिन्द्याऽगर्ह्या प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता । "अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्' इति भावः ।

भावार्थ—उस होता वसिष्ठ जी के इतना कहते ही इनकी आहुति का साधन नन्दिनी नाम की अनन्दित गौ वन से चर कर आ गई ॥ ८२ ॥

सम्प्रति धेनुं विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—पल्लवस्निग्धपाटला ललाटोदयं आभुग्नं श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्या नवं शशिनं इव बिभ्रती (नन्दिनी वनात् आववृते) ।

ललाटेति। पल्लववत्स्निग्धा चासौ पाटला च। संध्यायामप्येतद्विशेषणं योज्यम्। ललाट उदयो यस्य स ललाटोदयः । तमाभुग्नमीषद्वक्रम् । 'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः । 'ओदितश्च' इति निष्ठातस्य नत्वम् । श्वेतरोमाण्येवाङ्कस्तं बिभ्रती संध्येव स्थिता ।

भावार्थ—नये पल्लव के समान कोमल और लाल रंगवाली शिर पर सफेद रोवों की कुटिल टीका वाली नये चन्द्रमा से युक्त सन्ध्या के समान सुशोभित थी ॥ ८३॥

पुनरपि धेनुवर्णनप्रसङ्गेनाह—

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

अन्वयः—कुण्डोध्नी (सा) अवभृथाद् अपि मेध्येन वत्सालोकप्रवर्तिना कोष्णेन प्रस्नवेन भुवं अभिवर्षन्ती (वनात् आववृते) ।

भुवमिति । कोष्णेन किंचिदुष्णेन । 'कवं चोष्णे' इति चकारात्कादेशः । अवभृथादप्यवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण । 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः । वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता प्रस्नवेन क्षीराभिष्यन्दनेन भुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती । कुण्डमिवोध आपीनं यस्याः सा कुण्डोध्नी । ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' ।

भावार्थ—कुण्ड के समान स्तनों वाली अवभृथ स्नान से भी पवित्र और बछड़े

को देखने से अपने आप बहने वाली गरम दूध की धार से पृथ्वी को सींचती हुई वन से आ गई ॥ ८४ ॥

नन्दिन्याः खुरोद्धूतरजसां पुनस्त्ववर्णनपूर्वकं तां विशिनष्टि—

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—खुरोद्धूतैः अन्तिकात् गात्रं स्पृशद्भिः रजःकणैः महीक्षितः तीर्थाभिषेकजां शुद्धिं आदधाना (नन्दिनी वनात् आववृते) ।

रज इति। खुरोद्धूतैरन्तिकात्समीपे गात्रं स्पृशद्भिः । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति चकारात्पञ्चमी। रजसां कणैः । मही क्षियत ईष्टे इति महीक्षित् तस्य । तीर्थाभिषेकेण जातां तीर्थाभिषेकजाम् । शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्यं स्नानमुक्तम् । उक्तं च मनुना—"आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम् । आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्" इति ।

भावार्थ—खुरों से उठे हुए समीप होने के कारण शरीर को स्पर्श करने वाले धूलिकणों से राजा दिलीप को तीर्थस्नान की शुद्धि देती हुई नन्दिनी वन से आ गई।

तां दृष्ट्वा वशिष्ठः पुनर्दिलीपं प्रत्याह—

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—निमित्तज्ञः तपोनिधिः पुण्यदर्शनां तां दृष्ट्वा आशंसितावन्ध्यप्रार्थनं याज्यं पुनः अब्रवीत् ।

तामिति । निमित्तज्ञः शकुनज्ञस्तपोनिधिर्वसिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां धेनुं दृष्ट्वा । आशंसितं मनोरथः । नपुंसके भावे क्तः । तत्रावन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य सः तम् । अवन्ध्यमनोरथमित्यर्थः । याजयितुं योग्यं याज्यं पार्थिवं पुनरब्रवीत् ।

भावार्थ—शकुन को जानने वाले तपस्वी वसिष्ठ जी उस पवित्रदर्शना नन्दिनी को देख, सफल मनोरथ के प्रार्थी यजमान राजा दिलीप से पुनः बोले ॥ ८६ ॥

किमब्रवीदित्याकाङ्क्षायां सफलमनोरथत्वे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे राजन् आत्मनः सिद्धिं अदूरवर्तिनीं विगणय यत् कल्याणी इयं नाम्नि कीर्तिते एव उपस्थिता ।

अदूरवर्तिनीमिति। हे राजन् । आत्मनः कार्यस्य सिद्धिमदूरवर्तिनीं शीघ्रभाविनीं

विगणय विद्धि । यद्यस्मात्कारणात्कल्याणी मङ्गलमूर्तिः । 'वह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । इयं धेनुर्नाम्नि कीर्तिते कथिते सत्येवोपस्थिता ।

भाषार्थ—हे राजन् अपनी सिद्धि को पास आई हुई समझो, क्योंकि यह कल्याणी नन्दिनी नाम लेते ही आ गई ॥ ८७ ॥

पुत्रप्राप्त्यर्थं नन्दिनीपरिचर्य्यामुपदिशन्नाह—

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥

अन्वयः—वन्यवृत्तिः (सन् त्वं) शश्वत् आत्मानुगमनेन इमां गां अभ्यसनेन विद्या इव प्रसादयितुम् अर्हसि ।

वन्यवृत्तिरिति । वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं वृत्तिराहारो यस्य तथाभूतः सन् । इमां गां शश्वत्सदा । आप्रसादादविच्छेदेनेत्यर्थः । आत्मनस्तव कर्तुः । अनुगमनेनानुसरणेन । अभ्यसनेनानुष्ठातुरभ्यासेन विद्यामिव प्रसादयितुं प्रसन्नां कर्तुमर्हसि ।

भाषार्थ—जङ्गली कन्द फल मूल खाते हुए तुम सदा इस नन्दिनी के पीछे चल कर इसको अभ्यास से विद्या की तरह प्रसन्न करने का उद्योग करो ।८८।

गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अस्यां प्रस्थितायां (सत्यां त्वं) प्रतिष्ठेथाः, (अस्यां) स्थितायां स्थितिं आचरेः, (अस्यां) निषण्णायां (सत्यां) निषीद, (अस्यां) पीताम्भसि (सत्यां) पयः पिब ॥ ८९ ॥

प्रस्थितायामिति । अस्यां नन्दिन्यां प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । स्थितायां निवृत्तगतिकायां स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु । तिष्ठेत्यर्थः । निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश । विध्यर्थे लोट् । पीतमम्भो यया तस्यां पीताम्भसि सत्यामपः पिबेः पिब ।

भाषार्थ—इस नन्दिनी के चलने पर चलो, ठहरने पर ठहरो, बैठने पर बैठो और पानी पीने पर पानी पिओ ॥ ८९ ॥

साम्प्रत नन्दिनीपरिचर्यायां सुदक्षिणयाऽनुष्ठास्यमानं कर्म ब्रुवन्नाह—

वधूर्भक्तिमती चैनमर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥

अन्वयः—वधूः भक्तिमती प्रयता (सती) अर्चिताम् एनां आतपोवनात् प्रातः अन्वेतु, सायम् अपि प्रत्युद्व्रजेत् ।

वधूरिति । वधूर्जाया च भक्तिमती गन्धादिभिरर्चितामेनां प्रातरातपोवनात् आङ् मर्यादायाम् । पदद्वयं चैतत् । अन्वेत्वनुगच्छतु । सायमपि प्रत्युद्व्रजेत्युद्गच्छेत् । विध्यर्थे लिङ् ॥ ९० ॥

भावार्थ—और भक्तिमती वह सुदक्षिणा भी संयमपूर्वक पूजित इस नन्दिनी के पीछे तपोवन के अन्त तक सुबह के समय जाया करे और शाम को अगवानी किया करे ॥ ९० ॥

नन्दिनीपरिचर्याऽवधिं निदिशन्नाह—

इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—इति आप्रसादात् त्वं अस्याः परिचर्यापरः भव । ते अविघ्नम् अस्तु । पिता इव पुत्रिणां धुरि स्थेयाः ।

इतीति । इत्यनेन प्रकारेण त्वमाप्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम् । अस्या धेनोः परिचर्यापरः शुश्रूषापरो भव । ते तवाविघ्नं विघ्नस्याभावोऽस्तु । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । पितेव पुत्रिणा सत्पुत्रवताम् । प्रशंसायामिनि प्रत्ययः । धुर्ये स्थेयास्तिष्ठेः । आशीरर्थे लिङ् । 'एर्लिङि' इत्याकारस्यैकारादेशः । त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः ।

भावार्थ—इस प्रकार प्रसन्नतापर्यन्त इस नन्दिनी की सेवा करो । तुम्हारा कल्याण हो ! पिता के समान पुत्रवालों में तुम मुख्य हो ॥ ९१ ॥

राज्ञो दिलीपस्य सप्रेम गुरोराज्ञाग्रहणमाह—

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—देशकालज्ञः शिष्यः (राजा दिलीपः) प्रीतिमान् सपरिग्रहः आनतः (सन्) शासितुः आदेशं 'तथा' इति प्रतिजग्राह ।

तथेति । देशकालज्ञः । देशोऽग्निसन्निधिः, कालोऽग्निहोत्रावसानसमयः । विशिष्टदेशकालोत्पन्नमार्षज्ञानमव्याहृतमिति जानन् अत एव प्रीतिमाञ्छिष्योऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः । 'पत्नीपरीजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः आनतो विनयनम्रः सन् शासितुर्गुरोरादेशमाज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार ।

भावार्थ—देशकाल को समझने वाले, प्रसन्न, धर्मपत्नीसहित विनयशाली शिष्य,

राजा दिलीप ने गुरु वसिष्ठ की आज्ञा को 'ऐसा ही होगा' कह स्वीकार कर लिया।

अथ रात्रिकालं विज्ञाय दिलीपशयनार्थं वसिष्ठानुशासनमाह—

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम्।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—अथ प्रदोषे दोषज्ञः सूनृतवाक्, स्रष्टुः सूनुः ऊर्जितश्रियम् विशांपतिम् संवेशाय विससर्ज।

अथेति। अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः। सूनृतवाक् सत्यप्रियवाक्। 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इति हलायुधः। स्रष्टुः सूनुर्ब्रह्मपुत्रो मुनिः। अनेक प्रकृतकार्यनिर्वाहकत्वं सूचयति। ऊर्जितश्रियं विशांपतिं मनुजेश्वरम्। 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः। संवेशाय निद्रायै। 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः। विससर्जाज्ञापयामास।

भावार्थ—इसके बाद रात्रि में विद्वान्, सत्य एवं मधुर भाषी, ब्रह्मा जी के मानस पुत्र वसिष्ठजी ने प्रसन्नचित राजा दिलीप को सोने के लिए आज्ञा दी ॥९३॥

महर्षेर्वसिष्ठस्य दिलीपाय मुनिजनार्हसामग्रीसम्पादनमाह—

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—कल्पवित् मुनिः तपःसिद्धौ सत्याम् अपि नियमापेक्षया अस्य वन्याम् एव संविधां कल्पयामास।

सत्यामिति। कल्पविद् व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः। तपःसिद्धौ सत्यामपि। तपसैव राजयोग्याहारसंपादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः। नियमापेक्षया तदाप्रभृत्येव व्रतचर्यापेक्षया। अस्य राज्ञो वन्यामेव। संविधीयतेऽनयेति संविधाम्। कुशादिशयनसामग्रीम्। 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति कर्माद्यर्थत्वम्। कल्पयामास संपादयामास।

भावार्थ—व्रतव्यवहार जानने वाले महर्षि वसिष्ठ ने तप की सिद्धि में भी नियम की अपेक्षा से इन्हें जंगल मे उपलब्ध कुशासन शयनादि सामग्री को बतलाया ॥९४॥

वसिष्ठाज्ञया पर्णशालायां पत्न्या सह प्रसुप्तस्य दिलीपस्य ब्राह्ममुहूर्ते निद्रात्यागमाह—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

अन्वयः—प्रयतपरिग्रहद्वितीयः स कुलपतिना निर्दिष्टां पर्णशालां अध्यास्य कुशशयने संविष्टः (सन्) सच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम् निशां निनाय।

निर्दिष्टामिति। स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वसिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशालामध्यास्याधिष्ठाय। तस्यामधिष्ठानं कृत्वेत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यनेनाधारस्य कर्मणि द्वितीया। प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः। कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन्। तस्य वसिष्ठस्य शिष्याणामध्ययनेनापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास। अपररात्रेऽध्ययने मनुः 'निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्'। 'न चापररात्रमधीत्य पुनः स्वपेद्' इति गौतमश्च। प्रहर्षिणीवृत्तमेतत्। तदुक्तम्—"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्"।

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां वसिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः।

भावार्थ—अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ उस राजा दिलीप ने कुलपति महर्षि वसिष्ठ से बताई गई पर्णशाला में जाकर कुश आसन पर सोते हुए वसिष्ठ के शिष्यों के अध्ययन से सूचित अन्त वाली रात्रि को बिताया॥ ९५॥

त्रिपाठ्युपाह्व प० श्रीकृष्णमणिशास्त्रिरचित चन्द्रकला टीका में प्रथम सर्ग समाप्त।



द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥ १॥

अन्वयः—अथ यशोधनः प्रजानाम् अधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्यां पीतप्रतिबद्धवत्सां ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच।

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम्।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि! त्वाम्॥

अथेति। अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां तथोक्ताम्। पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः। 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः। 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात्। पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम्। क्रियार्थोपपदस्य इत्यनेन

चतुर्थी। मुमोच मुक्तवान्। जायापदसामर्थ्यात्सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम्। तथा हि श्रुतिः—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः'॥ इति। यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते। अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः—"अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति।

भावार्थ—रात्रि के बीत जाने पर यश के धनी, प्रजापालक, राजा दिलीप ने प्रातःकाल सुदक्षिणा द्वारा दी हुई गन्धमाला को ग्रहण करने वाली, दूध पीकर बँधे हुए बछड़े वाली, महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी गौ को वन में चराने के लिए खोल दिया ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

अन्वयः—अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुं मार्गं स्मृतिः श्रुतेः अर्थम् इव अन्वगच्छत्।

तस्या इति। पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः। 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः। अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्तनीया परिगणनीया। मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यासैः पांसवो पवित्राः यस्य तम्। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। तस्या धेनोर्मार्गम्। स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छदनुसृतवती च। यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा सोऽपि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः। धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात्। पांसुलपथवृत्तावप्यपांसुलामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते।

भावार्थ—पतिव्रताओं में अग्रगण्य, राजा दिलीपकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा उस नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलिवाले मार्ग में वेद के अर्थ के पीछे स्मृति के सामान चली ॥ २ ॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—दयालुः यशोभिः सुरभिः राजा तां दयितां निवर्त्य पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां सौरभेयीं गोरूपधरां उर्वीम् इव जुगोप।

निवर्त्येति। दयालुः कारुणिकः। 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। 'स्पृहिगृहि–'इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः। यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः। सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि"

इति विश्वः। राजा तां दयिता निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीम्। धरन्तीति धराः। पचाद्यच्। पयसा धराः पयोधराः स्तनाः। 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः। अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः। अभूततद्भावे च्विः। 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम्। 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः। गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष। भू रक्षणप्रयत्नेनैव ररक्षेति भावः। धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेनाधारीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम्। दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः

भावार्थ—दयालु एवं कीर्तियों से सुशोभित राजा दिलीप प्रियपत्नी सुदक्षिणा को लौटाकर अपने दूध से चारों समुद्रोंको तिरस्कृत करने वाली सुरभि की पुत्री नन्दिनी को चारों समुद्रों को चार स्तनों के रूप में धारण करनेवाली गोरूपी पृथ्वी के समान रक्षा की। ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा, स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—व्रताय धेनोः अनुचरेण तेन शेषः अपि अनुयायिवर्गः न्यषेधि तस्य शरीररक्षा च अन्यतः न। हि मनोः प्रसूतिः स्ववीर्यगुप्ता (भवति)।

व्रतायेति। व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः। तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्तितः शेषत्वं सुदक्षिणापेक्षया। कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति। तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तरान्न। कुतः? हि यस्मात्कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता। न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः।

भावार्थ—व्रत के लिए नन्दिनी के पीछे चलने वाले राजा दिलीप ने शेष नौकरों को भी लौटा दिया। उनके शरीर की रक्षा के लिए दूसरों की आवश्यकता न थी, क्योंकि मनु की संतान अपने पराक्रम से रक्षित होती है। ४।

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—सम्राट् स आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः कण्डूयनैः दंशनिवारणैः अव्याहतैः स्वैरगतैः च तस्याः समाराधनतत्परः अभूत्।

आस्वादवद्भिरिति। सम्राट् मण्डलेश्वरः 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः। स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः। तृणानां कवलैर्ग्रासैः। 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः। कण्डू

यनैः खर्जनैः। दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः। अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च। तस्या धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत्। तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः। 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः।

भावार्थ—वे चक्रवर्ती राजा दिलीप स्वादिष्ट कोमल घास के कौर से, शरीर खुजलाने से, मक्खी-मच्छरों के उड़ाने से और विना रुकावट स्वच्छन्द चलने वाली उस नन्दिनी की सेवा में संलग्न थे ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां, निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—भूपतिः तां स्थितां स्थितः प्रयातां उच्चलितः निषेदुषीं आसनबन्धधीरः जलं आददानां जलाभिलाषी (सन्) छाया इव (तां) अन्वगच्छत्।

स्थित इति। भूपतिस्तां गां स्थिता सती स्थितः सन् स्थितिरूर्ध्वावस्थानम्। प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः निषेदुषीं निषण्णाम् उपविष्टामित्यर्थः। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः 'उगितश्च' इति ङीप्। आसनबन्ध उपवेशने धीरः स्थित उपविष्टः सन्नित्यर्थः। जलमाददानां जलं पिबन्तीं। जलाभिलाषी जलं पिबन्नित्यर्थः। इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान्।

भावार्थ—राजा दिलीप उस नन्दिनी के ठहरने पर ठहरते हुए, चलने पर चलते हुए, बैठने पर बैठते हुए, पानी पीने पर पानी पीते हुए, छाया के समान उसके पीछे-पीछे चले ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

अन्वयः—न्यस्तचिह्नाम् अपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानः स अनाविष्कृतदानराजीः अन्तर्मदावस्थः द्विपेन्द्र इव आसीत्।

स इति। न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामारादीनि यस्यास्तां, तथाभूतामपि, तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्, सर्वथा राजैवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा, अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः। अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र इव आसीत्।

भावार्थ—छत्र चामरादि-चिन्हों से रहित होते हुए भी विशेष तेज से अनुमान की जानेवाली राजलक्ष्मी को धारण करते हुए वे प्रगट रूप से न दिखाई पड़नेवाली मद रेखा से संयुक्त हाथी के समान मालूम पड़ते थे ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

अन्वयः—लताप्रतानोद्ग्रथितैः केशैः अधिज्यधन्वा स मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्त्वान् विनेष्यन् इव दावं विचचार ॥ ८ ॥

लतेति । लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता । उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः । 'इत्थम्भूतलक्षणे' इति तृतीया । स राजा अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् । 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः । मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशाद्रक्षणव्याजाद् । वन्यान् वने भवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव दावं वनम् 'वने च वनवह्नौ च दावो दव इहेष्यते' इति यादवः । विचचार । वने चचारेत्यर्थः । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम् ।

भावार्थ—लतातन्तुओं से गूँथे हुए केश वाले, प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को धारण किए वे राजा दिलीप वसिष्ठ ऋषि के धेनु की रक्षा के बहाने जंगली दुष्ट जीवों को मानों शिक्षा देते हुए वन में विचरने लगे ॥ ८ ॥

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

अन्वयः—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य पाशभृता समस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः उन्मदानां वयसां विरावैः आलोकशब्दं उदीरयामासुः इव ।

विसृष्टेति । विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । अनुभावो येन सूचितः । तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः । उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । विरावैः शब्दैः । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः । 'आलोको जयशब्दः स्याद्' इति विश्वः । उदीरयामासुरिवावदन्निव, इत्युत्प्रेक्षा ।

भावार्थ—पार्श्ववर्ती सेवकों को लौटा देने वाले, वरुण के समान उस राजा के अगल-बगल के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के कलरव से मानों जयकार किया ॥९॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ १० ॥

अन्वयः—मरुत्प्रयुक्ताः बाललताः च आरात् अभिवर्तमानं मरुत्सखाभं अर्च्यं तं प्रसूनैः पौरकन्याः आचारलाजैः इव अवाकिरन् ।

मरुत्प्रयुक्ताश्चेति। मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिताः,बाललताः आरात्समीपेऽभिवर्त्तमानम्। 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः। मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः। स इवाभातीति मरुत्सखाभम्। 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। अर्घ्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः। पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैः लाजैराचारलाजैरिव। अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः। सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः।

भावार्थ—और वायुसंचालित नई लताओं ने पास मेंवर्तमान अग्नि के समान राजा दिलीप के ऊपर बालिकाओं द्वारा धान के समान पुष्पों की वर्षा की।१०।

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ ११॥

अन्वयः—धनुर्भृतः अपि तस्य विशङ्कैः अन्तःकरणैः दयार्द्रभावं आख्यातं वपुः विलोकयन्त्यः हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं आपुः।

धनुर्भृत इति। धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः। एतेन भयसम्भावना दर्शिता। तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तःकरणैः कर्तृभिः। दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयाऽऽर्द्रभावं तदाख्यातम्। दयाऽर्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः। भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः। तथाविध वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्य अक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः। "विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च" इति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थः।

भावार्थ—धनुषधारी होने पर भी निर्भीक अन्तःकरण से दया के भाव वाले शरीर को देखने वाली हरिणियों ने अपनी आखों के विशाल होने का फल पा लिया॥ ११॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२॥

अन्वयः—स मारुतपूर्णरन्ध्रैःकूजद्भिः कीचकैः आपादितवंशकृत्यं कुञ्जेषु,वनदेवताभिः उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव।

स इति। स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः। अत एव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणुविशेषैः। 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः। वंशः सुषिरवाद्यविशेषः। 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः। आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा। कुञ्जेषु लतागृहेषु। 'निकुञ्जो वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान्।

भावार्थ—उस राजा दिलीप ने छिद्रों मे भरी हुई हवा से गूँजने वाले बासों से वनदेवियों द्वारा कुञ्जों मे ऊँचे स्वर से गाये जाते हुए अपने यश को सुना ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

अन्वयः—गिरिनिर्झराणां तुषारैः पृक्तः अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी पवनः अनातपत्रं आतपक्लान्तं आचारपूतं तं सिषेवे ।

पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः । 'तुषारौ हिमसीकरौ ।' इति शाश्वतः-पृक्तः सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषु यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी। ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात्स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ।

भावार्थ—पर्वतीय झरनो के जल कणो से मिश्रित कुछ हिलते हुए वृक्षों के फूलो की सुगन्धित हवा ने छत्ररहित धूप से मुरझाते हुए उस शुद्ध आचरण वाले राजा दिलीप की सेवा की ॥ १३ ॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥

अन्वयः—गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने (सति) वृष्ट्या विनापि दवाग्निः शशाम । फलपुष्पवृद्धिः विशेषा आसीत् । सत्त्वेषु अधिकः ऊनं न बबाधे ।

शशामेति । गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनाऽपि दवाग्निर्वनाग्निः 'दवदावौ वनानले' इति हैमः । शशाम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः। विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽऽसीत् । कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः । सत्त्वेषु जन्तुषु मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिकः प्रबलो व्याघ्रादिरूनं दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ।

भावार्थ—उस रक्षक राजा के वन में प्रवेश करने पर वनाग्नि वर्षा के बिना ही शान्त हो गया, फल-फूलों की वृद्धि विशेषरूप से होने लगी, पशुओं में सबल निर्बल को सता नहीं पाये ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥

अन्वयः—पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य प्रभा मुनेः धेनुश्च दिगन्तराणि सञ्चारैः पूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे ।

सञ्चारेति । पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वतः । स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा, पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः । मुनेर्धेनुश्च । दिगन्तराणि दिशामवकाशान् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय । धेनुपक्षे आलयाय च गन्तुं प्रचक्रमे ।

भावार्थ—नवीन पल्लव की लालिमा के समान सूर्य की प्रभा और वसिष्ठ की धेनु नन्दिनी दिशाओं को अपने परिभ्रमण से पवित्र करके सायंकाल निलय (आश्रम या अस्ताचल) के लिए लौटी ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥

अन्वयः—मध्यमलोकपालः देवतापित्रतिथिक्रियार्थां तां अन्वक् ययौ सताम् मतेन, तेन उपपन्ना स विधिना साक्षात् श्रद्धा इव बभौ ।

तामिति । मध्यमलोकपालो भूपालः । देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तां धेनुमन्वगनुपदं ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः । सतां मतेन सद्भिर्मान्येन । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनुः । सतां मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिरिव बभौ च ।

भावार्थ—भूलोकपालक राजा दिलीप देव पितर एवं अतिथियों के कार्य को सम्पन्न करने वाली उस नन्दिनी के पीछे चले, और सज्जनों के माननीय दिलीप से युक्त वह नन्दिनी अनुष्ठान से युक्त मूर्तिमान् श्रद्धा के समान सुशोभित हुई ।

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

अन्वयः—स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ययौ ।

स इति । स राजा । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि । बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणो मयूरा । 'मयूरो

बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः। 'फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो वक्तव्यः'। आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणो येषु तानि। श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनिम्ना, अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्प्रत्ययः। 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदे शानच्। मृगैरध्यासिता अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि। शादा शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः। 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः। 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः। 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः। वनानि पश्यन्ययौ।

भावार्थ—वे राजा दिलीप तालाबों से निकलते हुए सूअरों के झुण्डवाले, अपने निवास वृक्षों की तरफ आते हुए भौरों वाले और हरी २ दूब पर बैठे हुए हरिण वाले हरे वनों को देखते हुए चले ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—गृष्टिः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् नरेन्द्रः वपुषः गुरुत्वात् उभौ अञ्चिताभ्यां गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं अलञ्चक्रतुः।

आपीनेति। गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः। 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः। नरेन्द्रश्च। उभौ यथाक्रमम्। आपीनमूधः। 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात्प्रयासात् वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च। अञ्चिताभ्यां चारुभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पथास्तं तपोवनावृत्तिपथम् 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽप्रत्ययः। अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ।

भावार्थ—प्रथमवार व्याई हुई नन्दिनी ने स्तन के भार को संभालने से और राजा दिलीप ने अपने शरीर की स्थूलता से उन दोनों ने तपोवनगामी मार्ग को अपनी-अपनी सुन्दर चाल से सुशोभित किया ॥ १८ ॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—वसिष्ठधेनोः अनुयायिनं वनान्तात् आवर्तमानं तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपंक्तिः (सती) उपोषिताभ्यां इव लोचनाभ्यां पपौ ॥ १९ ॥

वसिष्ठेति। वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्त्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः। लोचनाभ्यां करणाभ्याम्। उपोषिताभ्यामिव। उपवासो भोजननिवृत्तिस्त-

इद्धयामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिवति तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

भावार्थ —महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी के पीछे २ चलने वाले वन से लौटे हुए उस दिलीप को रानी सुदक्षिणा ने निर्मिमेष तृपित नेत्रों से देखा ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

अन्वयः—वर्त्मनि पार्थिवेन पुरस्कृता पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुः तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता सन्ध्या इव विरराज ।

पुरस्कृतेति । वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वरः' इत्यञ्प्रत्ययः । पुरस्कृताऽग्रतः कृता । धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वभासादिवत्ता-दर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्यो-र्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज ।

भावार्थ—मार्ग में राजा दिलीप से आगे की गई और सुदक्षिणा द्वारा अग-वानी की गई वह नन्दिनी उन दोनों के बीच में दिन एवं रात के मध्य में वर्तमान सन्ध्या के समान सुशोभित हुई ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

अन्वयः—साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा पयस्विनीं तां प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च विशालं शृङ्गान्तरं अर्थसिद्धेः द्वारम् इव आनर्च ।

प्रदक्षिणीकृत्येति । अक्षतानां पात्रेण सह वर्तत इति साक्षतपात्री हस्तौ यस्या सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च । अस्या धेन्वा विशाल शृङ्गमध्यम् । अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वार प्रवेशमार्गमिव, आनर्चया-मास । अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् ।

भावार्थ—अक्षत युक्त पात्र को हाथ में लिए हुए सुदक्षिणा ने दूध देने वाली उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा और प्रणाम करके उसके विशाल दानों सींगों के मध्य भाग को मनोरथसिद्धि के द्वार के समान जानकर पूजा की ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

अन्वयः—सा वत्सोत्सुका अपि स्तिमिता (सती) सपर्यां प्रत्यग्रहीत् इति तौ ननन्दतुः । हि तद्विधानां भक्त्या उपपन्नेषु प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि (भवन्ति)।

वत्सोत्सुकाऽपीति। सा धेनुर्वत्सोत्सुकाऽपि वत्साय उत्कण्ठिताऽपि स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः। पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुमाह—भक्त्येति। पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेषु तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् महतामित्यर्थः। प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरः फलानि पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि येषां तानि हि। अवलम्बित-फलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः।

भावार्थ—उस नन्दिनी ने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठित होनेपर भी निश्चल होकर पूजा स्वीकार कर ली; इससे वे प्रसन्न हुए क्योंकि उनके सम्बन्ध में नन्दिनी जैसे प्रेमी व्यक्तियों की प्रसन्नता के चिह्न निःसन्देह फल के कारण होते हैं॥ २२।

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्॥ २३॥

अन्वयः—भुजोच्छिन्नरिपुः दिलीपः सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य सान्ध्यं विधिं समाप्य च दोहावसाने निषण्णां दोग्ध्रीं एव पुनः भेजे।

गुरोरिति। भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सह वर्तमानस्य गुरोः। उभयोरपीत्यर्थः। 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः' इत्यमरः। पादौ निपीड्याभिवन्द्य। सान्ध्यं सन्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य। दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम्। 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः। धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान्। दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते।

भावार्थ—भुजबल से शत्रुओं के संहारक दिलीप अरुन्धती सहित वसिष्ठ को प्रणाम कर सायंकाल के कृत्यों को समाप्त कर दुहने के बाद बैठी हुई नन्दिनी की सेवा करने लगे॥ २३॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्॥ २४॥

अन्वयः—गोप्ता गृहिणीसहायः अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां तां अन्वास्य क्रमेण सुप्तां अनुसंविवेश। प्रातः सुप्तोत्थितां अनु उदतिष्ठत्।

तामिति। गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः पत्नी द्वितीयः सन्। उभावपीत्यर्थः। अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वनन्तरं संविवेश सुष्वाप। प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान्। अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते, क्रमशब्देन धेनुर्व्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम्। 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया।

भावार्थ—पालक राजा दिलीप पत्नीसहित पास में रखे हुए पूजोपहार और दीपक वाली नन्दिनी के निकट बैठ, उसके सोने के बाद सोते थे और सुबह उसके उठने के बाद उठते थे ॥ २४ ॥

इत्थम् व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥

अन्वयः—इत्थं प्रजार्थं महिष्या समं व्रतं धारयतः महनीयकीर्तेः दीनोद्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणानि सप्त दिनानि व्यतीयुः ।

इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं सन्तानाय महिष्या समभिषिक्तपत्न्या सह । 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूज्या कीर्तिर्यस्य तस्य, दीनानाममुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य, त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ।

भावार्थ—इस प्रकार पुत्रप्राप्ति के लिए अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ व्रत को धारण करते हुए यशस्वी एवं दीनों के संरक्षक राजा दिलीप के त्रिगुण सात (७ × ३ = २१) दिन बीत गये ॥ २५ ॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥

अन्वयः—अन्येद्युः मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना (सती) गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरम् आविवेश ॥ २६ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । 'सद्यः परुत्परा०' इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम् । 'अद्यात्राह्नाय पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशयः' इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे शानच् । प्रपतन्त्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत् । 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ।

भावार्थ—बाईसवें दिन महर्षि वसिष्ठ की होमसाधनभूत नन्दिनी अपने

अनुचर राजा दिलीप के भाव को जानने की इच्छा से गंगा के झरनों के पास घास से ढकी हुई हिमालय की गुफा मे घुस गई ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

अन्वयः—'सा हिंस्रैः मनसा अपि दुष्प्रधर्षा' इति अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन नृपेण अलक्षिताभ्युत्पतनः सिंहः तां प्रसह्य चकर्ष किल ।

सेति । सा धेनुर्हिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात् । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्ष । किलेत्यलीके ।

भावार्थ—'उस नन्दिनी के ऊपर हिंसक जन्तु मानसिक कल्पना द्वारा भी आक्रमण नही कर सकते' इस अभिप्राय से पर्वतीय शोभा देखने के लिए दृष्टि लगाये हुये राजा दिलीप के अनदेखे शेर ने उस नन्दिनी पर आक्रमण कर दिया।

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

अन्वय—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं तदीयम् आक्रन्दितं आर्तसाधोः नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं रश्मिषु आदाय इव निवर्तयामास ।

तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्तघर्षणम् । आर्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम् । रश्मिषु 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेव निवर्तयामास ।

भावार्थ—गुफा में टकराई हुई प्रतिध्वनि से अधिक आवाज वाले उस नन्दिनी के डकारने की आवाज ने दीन-रक्षक राजा दिलीप की हिमालय मे लगी हुई दृष्टि को लगाम मे पकड़ कर अश्व के समान खींच लिया ॥ २८ ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

अन्वयः—धनुर्धरः स नृपः पाटलायां गवि तस्थिवांसं केशरिणं सानुमतः धातुमय्याम् अधित्यकायां प्रफुल्लं लोध्रद्रुमम् इव ददर्श ।

स इति । धनुर्धरः स. नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं स्थितम्, 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । केसरिणं सिंहम् । सानुमतोऽद्रेः । धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां०' इति त्यकन्प्रत्ययः । प्रफुल्लो विकसितस्तं 'फुल्ल

विकसने इति धातोः पचाद्यच् । प्रफुल्लमिति तकार-पाठे 'ञिफला विसरणे' इति धातोः कर्त्तरि क्तः उत्परस्यातः' इत्युकारादेशः । लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श ।

भावार्थ—धनुर्धारी राजा दिलीप ने लालरङ्ग की नन्दिनी पर बैठे हुए शेर को पर्वतीय गेरुधातु वाली ऊपर की भूमि पर विकसित लोध्र के वृक्ष समान देखा ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—ततः मृगेन्द्रगामी, शरण्यः, प्रसभोद्धृतारिः नृपतिः जाताभिषङ्गः (सन्) वध्यस्य मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् शरम् उद्धर्तुम् ऐच्छत् ।

तत इति । ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । शरणे साधु शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपतिः राजा जाताभिङ्गो जातपराभवः सन् । 'अभिषङ्गः पराभवः' इत्यमरः । वध्यस्य वधार्हस्य । 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्तूणीरात् । तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः शरमुद्धर्तुमैच्छत् ।

भावार्थ—बाद सिंह के समान निर्भीक चलने वाले शरणागतरक्षक शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाले राजा दिलीप ने अपमान का अनुभव करके मारने योग्य उस शेर के वध के लिए तरकस से वाण निकालने की इच्छा की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥

अन्वयः—प्रहर्तुः तस्य वामेतरः करः नखप्रभाभूषितकंकपत्रे सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिः (सन्) चित्रार्पितारम्भ इव अवतस्थे ।

वामेतर इति । प्रहर्त्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषस्य स्याद् गुप्ताकारो युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कटः' इति यादवः । सायकस्य पुङ्ख एककर्त्तर्याख्ये मूलप्रदेशे । 'कर्त्तरि पुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव अवतस्थे ।

भावार्थ—प्रहारक उस राजा का दाहिना हाथ नखों की कान्ति से विभूषित कङ्क पक्षी के पंखों वाले वाण की पूछ में चिपकी अंगुली वाला चित्र में लिखित के समान हो गया ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः राजा मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः इव अभ्यर्णम् आगस्कृतम् अस्पृशद्भिः स्वतेजोभिः अन्तः अदह्यत।

बाहुप्रतिष्टम्भेति। बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन। 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः। विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा। मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः। अभ्यर्णमन्तिकम्। 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः। आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः। स्वतेजोभिरन्तरदह्यत। 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः।

भावार्थ—हाथ के चिपक जाने से बढ़े हुए क्रोधवाले राजा, मन्त्र और औषध से रुद्ध तेजवाले साँप के समान सामने खड़े हुए अपराधी सिंहको छूने की सामर्थ्य न रखते हुए अपने तेज से भीतर ही भीतर जलने लगे ॥ ३२ ॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—निगृहीतधेनुः सिंहः आर्यगृह्यं मनुवंशकेतुं सिंहोरुसत्त्वम् आत्मवृत्तौ विस्मितं तं मनुष्यवाचा विस्माययन्, निजगाद।

तमिति। निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः आर्याणां सतां गृह्यं पक्ष्यम् 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप्। मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम्। सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम्। आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम्। कर्तरि क्तः। तं दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन्विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद। 'स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम्। 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम्। तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमानः' इति स्यात्। तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति रूपं सिद्धम्। करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः।

भावार्थ—नन्दिनी पर आक्रमण करने वाले सिंह ने उस सत्पक्षपाती, मनु वंश के भूषण, शेर के समान पराक्रमी अपने हाथ के व्यापार में चकित हुए राजा दिलीप को मनुष्य की बोली से और भी चकित करते हुए कहा ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे महीपाल !, तव श्रमेण अलम् । इतः प्रयुक्तम् अपि अस्त्रम् वृथा स्यात् पादपोन्मूलनशक्तिः मारुतस्य रंहः शिलोच्चये न मूर्च्छति ।

अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् ! साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्यः इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते "न केवलं श्रूयमाणैव क्रियानिमित्तं करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि" इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात्—पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रंहो वेगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ।

भावार्थ—हे राजन् । परिश्रम करना बेकार है, मेरे ऊपर चलाया हुआ आपका बाण विफल हो जायेगा, क्योंकि वृक्ष को उखाड़ने की शक्ति रखने वाला वायु का वेग पहाड़ के सामने निष्फल हो जाता है ॥ ३४ ॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—कैलासगौरं वृषम्, आरुरुक्षोः अष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं माम् अवेहि ।

कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः । वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्त्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्त्तेः शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्त्तयः' । इति यादवः ।

भावार्थ—कैलास पर्वत के समान सफेद बैल पर चढ़ने वाले शंकर जी के चरण रखने से पवित्र पीठ वाला निकुम्भ का मित्र कुम्भोदर नाम से प्रसिद्ध मुझे शंकर जी का अनुचर समझो ॥ ३५ ॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पुरः अमुं देवदारुं पश्यसि (कम् ?) असौ वृषभध्वजेन पुत्रीकृतः यः स्कन्दस्य मातुः, हेमकुम्भस्तननिःसृतानां, पयसां रसज्ञः (अस्ति) ।

अमुमिति। पुरोऽग्रतोऽमुं देवदारु पश्यसि इति काकुः। असौ देवदारुः। वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः। अभूततद्भावे च्विः। यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनस्तस्मात्स्रुतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः स्वादज्ञ स्कन्दपक्षे-हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः। क्षीराणाम्। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः।

भावार्थ—सामने उस देवदारु वृक्ष को देख रहे हो न ? उसे शंकर जी ने पुत्र के समान माना है जो कार्तिकेय की माता पार्वती के सोने के घटरूपी स्तनों से निकले हुए दूधरूपी जल के स्वाद को जानने वाला है ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

अन्वय.—कदाचित् कटं कण्डूयमानेन वन्यद्विपेन अस्य त्वक् उन्मथिता। अथ अद्रे तनया असुरास्त्रैः आलीढं सेनान्यम् इव एनं शुशोच।

कण्डूयेति। कदाचित्कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता। 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक् ततः शानच्। वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता। अथाद्रेस्तनया गौरी असुरास्त्रैरालीढं क्षतम्। सेनां नयतीति सेनानी स्कन्दः। 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः। 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप्। तमिव, एनं देवदारुं शुशोच।

भावार्थ—किसी समय कनपटी खुजलाते २ एक जंगली हाथी ने इस देवदारु वृक्ष की छाल को छुड़ा दिया था। तब हिमालय की पुत्री पार्वती ने दैत्यों के अस्त्रों से घायल कार्तिकेय के समान इस देवदारु के प्रति शोक किया था।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्तिः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तदाप्रभृति एव, वनद्विपानां, त्रासार्थं, शूलभृता, अङ्कागतसत्ववृत्तिः, सिंहत्वं, विधाय, अस्मिन् अद्रिकुक्षौ अहं व्यापारितः।

तदेति। तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन, अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः सत्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत् 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयः' इति केशवः। सिंहत्वं विधाय। अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितः नियुक्तः।

भावार्थ—उसी समय से ही जंगली हाथियों को डराने के लिए शिवजी ने समीप में आए हुए प्राणियों से जीवन निर्वाह करने वाली सिंहवृत्ति देकर मुझे इस पर्वत की गुफा में नियुक्त कर दिया है ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

अन्वयः—परमेश्वरेण प्रदिष्टकाला उपस्थिता एषा शोणितपारणा सुरद्विषः चान्द्रमसी सुधा इव क्षुधितस्य तस्य मे तृप्त्यै, अलम् ।

तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं, सुरद्विषो राहोः, चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव, क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अलं पर्याप्ता । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ।

भावार्थ—उस मुझ भूखे के भरपेट भोजन के लिए, शंकर जी के बताये हुए भोजन के समय पर उपस्थित, यह रुधिर की पारणा (गोरक्त) राहु के लिए चान्द्र सम्बन्धी अमृत के समान काफी है ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥

अन्वयः—सः त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व भवान् गुरोः दर्शितशिष्यभक्तिः (अस्ति) । यत् रक्ष्यं शस्त्रेण अशक्यरक्षं तत् (नष्टम् अपि) शस्त्रभृतां यशः न क्षिणोति ।

स त्वमिति । स एवमुपायशून्यत्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विना कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह—शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वपिविधानं च दोषायेति भावः ।

भावार्थ—इस प्रकार उपायरहित तुम लज्जा को छोड़कर जाओ । तुमने गुरुभक्ति दिखला दी । जो रक्षा करने के योग्य वस्तु शस्त्र से नहीं बचायी जा सकती वह नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारियों की कीर्ति को दूषित नहीं कर सकती ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मृगाधिराजस्य इति प्रगल्भं वचः निशम्य गिरिशप्रभावात् प्रत्याहतास्त्रः पुरुषाधिराजः आत्मनि अवज्ञां शिथिलीचकार ।

इतीति। पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहृतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषयेऽवज्ञामपमानं शिथिलीचकार। तत्याजेत्यर्थः। अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः। समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः।

भावार्थ—इस प्रकार सिंह के धृष्टतायुक्त वचन को सुनकर शंकर के प्रभाव से रुके हुए अस्त्रवाले राजा ने अपने से अपमान का भाव शिथिल कर दिया ॥४१॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

अन्वय.—तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः वज्रं मुमुक्षन् त्र्यम्बकवीक्षणेन जडीकृत वज्रपाणिः इव एनं प्रत्यब्रवीत्।

प्रतीति। स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः अत एव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन्मोक्तुमिच्छन्। अम्बकं लोचनम्। 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः यस्य वीक्षणेन जडीकृतो निष्पन्दीकृतः। वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः। स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च 'बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः' इति महाभारते।

भावार्थ—पहले रुकावट पड़ने पर बाण चलाने में असफल प्रयत्न वाले राजा दिलीप ने वज्र प्रहार करने की इच्छा करने वाले शिव जी के देखने से निश्चेष्ट हुए इन्द्र के समान सिंह से कहा ॥ ४२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

अन्वय.—हे मृगेन्द्र!, संरुद्धचेष्टस्य (मम) तत् वचः कामं हास्यम्। यत्, अहं विवक्षु हि भवान् प्राणभृताम् अन्तर्गतं सर्वं भावं वेद। अतः अभिधास्ये।

संरुद्धचेष्टस्येति। मृगेन्द्र! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयम्। यद्वचः 'स त्वं मदीयेन' (१।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि। तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्येश्वरकिङ्करत्वात्सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति। हि यतो भवान्प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति। 'विदो लटो वा' इतिणलादेशः। अतोऽहमभि

धास्ये वक्ष्यामि। वच इति प्रकृतं कर्म सम्बद्धयते। अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्या-सम्भावितार्थमेनदित्युपहसन्ति, अतस्तु मौनमेव भूषणम्। त्वं तु वाङ्मनसयो-रेकविध एवायमिति जानासि। अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः।

भावार्थ—मृगेन्द्रराज! असफलप्रयास होने से मेरी यह बात अत्यन्त हास्या-स्पद है, जिसे मैं कहने जा रहा हूँ, तथापि आप प्राणियों के मनोगत सभी भावों को जानते हैं इसलिए मैं कहूँगा॥ ४३॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥ ४४॥

अन्वयः—स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः, सः मे मान्यः पुरस्तात् नश्यत् इदम् आहिताग्नेः गुरोः धनम् अपि अनुपेक्षणीयम्।

मान्य इति। प्रत्यवहारः प्रलयः। स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः। अल-ङ्घ्यशासन इत्यर्थः। शासनं च 'सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्तिः (२।३८) इत्युक्त-रूपम्। तर्हि विसृज्य गम्यताम्। नेत्याह—गुरोरपीति। पुरस्तादग्रे नश्यदिद-माहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम्! आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षा-कारणं हविः साधनत्वं सूचयति।

भावार्थ—वृक्ष पर्वत आदि स्थावर और मनुष्यादि जङ्गम के उत्पत्ति पालन और नाश करने वाले वे शिवजी मेरे पूजनीय हैं (किन्तु) अग्निहोत्री गुरु का सम्मुख नष्ट होता हुआ यह गौरूपी धन भी तो उपेक्षा न करने के लायक है॥ ४४॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥ ४५॥

अन्वयः—सः त्वं मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं जीवनं निर्वर्तयितुं प्रसीद। दिनावसानोत्सुकबालवत्सा महर्षेः इयं धेनुः विसृज्यताम्।

स इति। सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्तयितुं सम्पादयितुं प्रसीद। दिनावसाने उत्सुको माता समागमिष्यतीत्यु-त्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम्।

भावार्थ—वह तू मेरे शरीर से अपने शरीर के जीवन को सम्पादन करने लिए प्रसन्न हो। सन्ध्याके समय उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि की इस नन्दिनी गौ को छोड़ दो॥ ४५॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे॥ ४६॥

अन्वयः—अथ गिरिगह्वराणाम् अन्धकारं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्(सन्) भूतेश्वरपार्श्ववर्ती सः किञ्चित् विहस्य, अर्थपतिं भूयः बभाषे।

अथेति। अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम्। 'देवखातबिले गुहा गह्वरम्' इत्यमरः। अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि खण्डानि कुर्वन्। निरस्यन्नित्यर्थः। किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं नृपं भूयो बभाषे। हास्यकारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम्।

भावार्थ—इसके बाद दाँतो की कान्ति से पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को छिन्न करते हुए शिवजी के समीप रहनेवाले सिंह ने कुछ हँसकर राजा से फिर कहा॥ ४६॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥ ४७॥

अन्वयः—एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः इदं कान्तं वपुः च इति एवं अल्पस्य हेतोः बहु हातुम् इच्छन् त्वं विचारमूढः मे प्रतिभासि।

एकातपत्रमिति। एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम्। नवं वयो यौवनम्। इदं कान्तं रम्यं वपुश्च। इत्येवं बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि।

भावार्थ—संसार का एक-छत्र आधिपत्य, नया यौवन और इस सुन्दर शरीर को थोड़े के लिए अधिक छोड़ने की इच्छा करनेवाले आप मुझे कर्तव्याकर्तव्य विचार में मूर्ख मालूम पड़ते हैं॥ ४७॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि॥ ४८॥

अन्वय—तव भूतानुकम्पा चेत् त्वदन्ते इयम् एका गौः स्वस्तिमती भवेत्। हे प्रजानाथ? जीवन् पुनः पिता इव प्रजा उपप्लवेभ्यः शश्वत् पासि।

भूतानुकम्पेति। तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत्। 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः। कृपैव वर्तते चेदित्यर्थः। तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः। स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत्। जीवेदित्यर्थः। 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः। हे प्रजानाथ! जीवन्पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यः शश्वत्सदा। 'पुनः सदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः। पासि रक्षसि। स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वारं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः।

भावार्थ—यदि तुम्हारी प्राणियों पर दया है तो विचार करो कि तुम्हारे मरने

पर यह एक ही नन्दिनी गौ कुशलपूर्वक रहेगी। हे राजन्! यदि तुम जीते रहोगे तो पिता के समान प्रजा की विघ्नों से सदा रक्षा करोगे ॥ ४८ ॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥४९॥

अन्वयः—अथ एकधेनोः अपराधचण्डात् कृशानुप्रतिमात् गुरोः बिभेषि (किम्)? अस्य मन्युः घटोघ्नीः कोटिशः गाः स्पर्शयता विनेतुं शक्यः।

अथेति। अथेति पक्षान्तरे। अथवा। एकैव धेनुर्यस्य तस्मात्। अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम्। अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात्। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पाद् गुरोर्बिभेषि। इति काकुः। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी। अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः। अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। घटा इवोधांसि यासां त घटोघ्नीः। 'उधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः। 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीप्। कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता। 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः। भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः।

भावार्थ—एक नन्दिनी गौ रखनेवाले, अपराध के कारण कुपित अग्निके समान तेजस्वी गुरु से डरते हो तो करोड़ों कलशस्तनी गायों को देकर आप उनके क्रोध को शान्त कर सकते हैं ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥

अन्वयः—तत् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् ऊर्जस्वलम् आत्मदेह रक्ष। हि ऋद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् ऐन्द्रं पदम् आहुः।

तद्रक्षेति। तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम्। कर्मणि षष्ठी। ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम्। 'ज्योत्स्नातमिस्रा' इत्यादिना वलच्प्रत्ययान्तो निपातः। आत्मदेहं रक्ष। ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात्। नेत्याह—महीतलेति। ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपदं स्थानमाहुः स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः।

भावार्थ—इसलिए उत्तरोत्तर सुखों के उपभोग करने वाले, बलिष्ठ अपने शरीर की रक्षा कीजिए; क्योंकि समृद्धिशाली राज्य को भूतल से सम्बन्ध होने के कारण ही दूसरा स्वर्ग कहते हैं ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

अन्वयः—मृगेन्द्रे एतावत् उक्त्वा विरते (सति) गुहागतेन अस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः अपि प्रीत्या तम् एव अर्थं क्षितिपालम् उच्चैः अभाषत इव ।

एतावदिति । मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शैलोऽपि प्रीत्या तदेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव इत्युत्प्रेक्षा । भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मकः । ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः । तदुक्तम्—"दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना" इति ।

भावार्थः—इतना कह कर सिंह के चुप हो जानेपर कन्दरा में उठी हुई प्रतिध्वनि से पर्वत ने भी प्यार से मानो उसी बात का जोर से समर्थन किया ।

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

अन्वयः—देवानुचरस्य वाचं निशम्य तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः मनुष्यदेवः पुनः अपि उवाच ।

निशम्येति । देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच । किम्भूतः सन् । तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम् । नपुंसके भावे क्तः । तेन कातरे अक्षिणी तस्यास्तया । 'बहुव्रीहौ सक्थ्य०' इति षच् । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । किंवा वक्ष्यतीति भीत्येवं स्थितयेत्यर्थः । धेन्वा निरीक्ष्यमाणः । अत एव सुतरां दयालुः सन् । सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्योपपदे' इत्यादिना सुशब्दात्तरप् । 'किमेत्तिङव्यय०' इत्यनेनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्व०' इत्यव्ययसंज्ञा ।

भावार्थ—शिवजी के सेवक सिंह की बात सुनकर उसके द्वारा आक्रान्त होने से भयभीत आँखों वाली नन्दिनी गौ से देखे जाते हुए अतएव दयावान् राजा दिलीप ने फिर कहा ॥ ५२ ॥

किमुवाचेत्याह—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

अन्वयः—उदग्रः क्षत्रस्य शब्दः 'क्षतात् त्रायते' इति भुवनेषु रूढः किल । तद्विपरीतवृत्तेः राज्येन किम् ? उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः वा किम् ? ।

क्षतादिति । 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप् । 'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम् । क्षतात् नाशात् त्रायत इति क्षत्त्रः । सुपीति योगविभागात्कः । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति—क्षतादित्यादिना । उदग्र उन्नतः क्षत्त्रस्यवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्त्रशब्द इत्यर्थः । क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढ. किल प्रसिद्धः खलु । नाश्वकर्णादिवत्केवलरूढः, किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्त्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतस्त्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् । उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः । 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः । 'ज्योत्स्नातमिस्रा—' इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः । तैः प्राणैर्वा किम् । निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेन 'एकातपत्रम्' । इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रयुक्तमिति वेदितव्यम् ।

भावार्थ—उन्नत क्षत्रियवर्ण का वाचक शब्द 'नाश से जो बचावे वह क्षत्रिय है' इस व्युत्पत्ति से संसार में प्रसिद्ध है । उससे विपरीत आचरण वाले क्षत्रिय का राज्य से क्या प्रयोजन है ? अथवा लोकनिन्दा से मलिन हुए प्राणों से क्या लाभ है ? ॥ ५३ ॥

'अथैकधेनोः' (२–४९) इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—महर्षेः अनुनयः च अन्यपयस्विनीनां विश्राणनात् कथं न शक्यः ? इमां सुरभेः अनूनाम् अवेहि । त्वयां तु अस्या रुद्रौजसा प्रहृतम् ।

कथमिति । अनुनयः क्रोधापनयः । चकारो वाकारार्थः । महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद्दानात् । 'त्यागो वितरणं दानमुत्सर्जनविसर्जने । विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः । कथं नु शक्यः । न शक्य इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभेः कामधेनोः । "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी । अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजसेति । त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु । नपुंसके भावे क्तः । रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः । 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ।

भावार्थ—और दूसरी दुधारु गायों के देने से महर्षि वसिष्ठ के क्रोध को किस प्रकार शान्त किया जा सकता है ? इस नन्दिनी को कामधेनु से कम न समझो ! तुमने तो इस पर शिवजी की सामर्थ्य से प्रहार किया है ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सा इयं मया स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण भवतः मोचयितुं न्याय्या । एवं (सति) तव पारणा विहता न स्यात्, मुनेः क्रियार्थः अलुप्तः च भवेत् ।

सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिदीयंकम् । एरच् इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रय तेन । भवतस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितु न्याय्या न्यायादनपेता । युक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थ-न्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एव सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात् । मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्व-प्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधन संरक्ष्यमिति भावः ।

भावार्थ—इस नन्दिनी गौ को अपना शरीर देकर भी आप से छुड़ाना उचित है । ऐसा करने पर न तो आपका व्रतान्त भोजन नष्ट होगा, न महर्षि वसिष्ठ की यज्ञादि क्रिया का साधन लुप्त होगा ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

अन्वयः—परवान् भवान् अपि इदम् अवैति । हि तव देवदारौ महान् यत्नः । रक्ष्यं विनाश्यम् स्वयम् अक्षतेन नियोक्तुः अग्रे स्थातु शक्यं न हि ।

भवानिति । परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । हि-शब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातु शक्यं न हि ।

भावार्थ—पराधीन होते हुए आप भी यह जानते हैं, क्योंकि आपका देवदारु के विषय में बहुत बड़ा प्रयत्न है । रक्षा करने के योग्य वस्तु को नष्ट करके स्वयं बिना घायल हुए शरीर से मालिक के आगे खड़ा होना नौकर को उचित नहीं ॥ ५६ ॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

अन्वयः—किम् अपि अहं तव अहिंस्यः मतः चेत् (तर्हि) मे यशः शरीरे दयालुः भव । मद्विधानाम् एकान्तविध्वंसिषु भौतिकेषु पिण्डेषु अनास्था खलु ।

किमपीति । किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह-एकान्तेति । मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः।

भावार्थ—यदि मैं तुम्हारे विचार से अवध्य हूँ तो मेरे यशोरूप शरीर पर दया करो । हमारे जैसे लोगों की अवश्य विनाश होने वाले पांच महाभूतों से बने भौतिक शरीर में अपेक्षा नहीं होती ॥ ५७ ॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—संबन्धम् आभाषणपूर्वम् आहुः, सः वनान्ते सङ्गतयोः नौ वृत्तः । तद् हे भूतनाथानुग ! त्वं सम्बन्धिनः मे प्रणयं विहन्तुं न अर्हसि ।

सम्बन्धमिति । सम्बन्धं सख्यम् । आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते सङ्गतयोर्नावावयोर्वृत्तो जातः । तत्तयो हेतोर्हे भूतनाथानुग ! शिवानुचर ! एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति । अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम् । 'प्रणयास्त्वमी । विश्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । विहन्तुं नार्हसि ॥ ५८ ॥

भावार्थ—मित्रता को बातचीत के द्वारा उत्पन्न कहते हैं । वह वनके बीच में मिले हुए हम दोनों की हो चुकी है । इसलिए हे शिवसेवक । तुम मेरे जैसे मित्र की प्रार्थना को उल्लंघन करने के योग्य नहीं हो ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

अन्वयः—'तथा' इति गाम् उक्तवते हरये सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः सः दिलीपः न्यस्तशस्त्रः स्वदेहम् आमिषस्य पिण्डम् इव उपानयत् ।

तथेतीति । तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय । 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वत । सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः । न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् । स्वदेहम् । आमिषस्य मांसस्य । 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः । पिण्डं कवलमिव । उपानयत्समर्पितवान् । एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ।

भावार्थ—'अच्छा' इस वाणी को कहने वाले सिंह के लिए तत्काल मुक्त हाथ वाला अस्त्र छोड़कर उस दिलीप ने अपने शरीर को मांस के लोथ के समान अर्पण कर दिया ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातं उत्पश्यतः अवाङ्मुखस्य प्रजानां पालयितु' उपरि विद्याधरहस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

तस्मिन्निति । तस्मिन्क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्य 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितु राज्ञ उपर्युपरिष्टात् । 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

भावार्थ—उसी समय क्रूर सिंह के झपटने की राह देखने वाले, नीचे मुँह किये प्रजाओं का पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधरो के हाथ से छूटी हुई पुष्प-वर्षा हुई ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

अन्वय.—राजा अमृतायमानम् उत्थितं 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचः निशम्य उत्थित, सन् अग्रतः प्रस्रविणीं गां स्वां जननीम् इव ददर्श सिंहं न (ददर्श) ।

उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं सत् 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्यय. । अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंहं न ददर्श ।

भावार्थ—'हे पुत्र ! उठो' ऐसा नन्दिनी के मुँह से निकले हुए अमृतमय वचन को सुनकर उठते ही राजा ने सामने टपकते हुए दूध वाली नन्दिनी गौ को अपनी माता के समान देखा, शेर को नहीं ॥ ६१ ॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्त्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—विस्मितं तं धेनुः उवाच । हे साधो ! मया मायां उद्भाव्य परीक्षितः असि ऋषिप्रभावात् मयि अन्तकः अपि प्रहर्तुं न प्रभुः किमुत अन्यहिंस्राः ।

तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् । कर्त्तरि क्तः । तं दिलीपं धेनुरुवाच । किमित्यत्राह हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंस्रा घातुकाः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । 'नमिकम्पि०' इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ।

भावार्थ—आश्चर्य में पड़े हुए राजा से नन्दिनी ने कहा हे–राजन् ! मैंने माया रचकर तेरी परीक्षा ली है । महर्षि वसिष्ठ के प्रताप से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने में समर्थ नहीं है, फिर दूसरे हिंसकों की तो क्या ताकत ? ।

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या मयि अनुकम्पया च ते प्रीता अस्मि, वरं वृणीष्व । मां केवलानां पयसां प्रसूतिं न अवेहि । किंतु प्रसन्नां कामदुघाम्(अवेहि)

भक्त्येति । हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । 'क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व स्वीकुरु । तथाहि–मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं नावेहि न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां माम् । कामान्दोग्धीति कामदुघा तामवेहि । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्यः ।

भावार्थ—महर्षि वसिष्ठ में भक्ति और मेरे ऊपर दया करने से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । पुत्र ! वर माँगो । मुझे निरी दूध देनेवाली गौ न समझो अपितु प्रसन्न हुई मुझे इच्छित फल देने वाली जानो ॥ ६३ ।

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्त्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ततः मानितार्थी स्वहस्तार्जितवीरशब्दः सः हस्तौ समानीय वंशस्य कर्तारम् अनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे।

तत इति। ततो मानितार्थी। स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम्। स राजा हस्तौ समानीय संधाय। अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः। वंशस्य कर्तारं प्रवर्त्तयितारम्। अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः। अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे।

भावार्थ—तब अतिथियों को सम्मानित करने वाले अपने बाहुबल से अर्जित किये हुए 'वीर' शब्द वाले राजा दिलीप ने सुदक्षिणा में वंश को चलानेवाले, स्थिर यशस्वी पुत्र होने की याचना की ॥ ६४ ॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सा पयस्विनी सन्तानकामाय राज्ञे तथा इति कामं प्रतिश्रुत्य 'हे पुत्र! मदीयं पयः पत्रपुटे दुग्ध्वा उपभुङ्क्ष्व' इति तम् आदिदेश।

सन्तानेति। पयस्विनी गौः। सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः। 'कर्मण्यण्'। तस्मै राज्ञे तथेति काम्यत इति कामो वरः। कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः। तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय 'हे पुत्र! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व'। 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठः। 'पिब' इति तमादिदेशाज्ञापितवती।

भावार्थ—उस नन्दिनी गौ ने पुत्र चाहने वाले राजा दिलीप से 'वैसा ही होगा' इस वरदान की प्रतिज्ञा करके 'हे पुत्र! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुहकर पी जाओ' ऐसी उनको आज्ञा दी ॥ ६५ ॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः!।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

अन्वय—हे मातः वत्सस्य च होमार्थविधेः शेषम् तव औधस्यं रक्षितायाः पृथ्व्याः षष्ठांशभागम् इव ऋषेः अनुज्ञाम् अधिगम्य उपभोक्तुम् इच्छामि।

वत्सस्येति। हे मातः! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः। होम एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानम्, तस्य च शेषम्। होमावशिष्टमित्यर्थः। तव ऊधसि भवमौधस्यं क्षीरम्। 'शरीरावयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः। रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव। ऋषेरनुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुमिच्छामि।

भावार्थ—हे माता! बछड़े के पीने से और होम करने से बचे हुए तुम्हारे

तुम्हारे दूध को ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा पाकर पालन की गई पृथ्वी के छठे हिस्से के समान पीना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

अन्वयः—क्षितीशेन इत्थं विज्ञापिता वसिष्ठधेनुः प्रीततरा बभूव । तदन्विता वसिष्ठधेनुः हैमवतात् कुक्षेः सकाशात् अश्रमेण आश्रमं प्रत्याययौ च ।

इत्थमिति । इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा पूर्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततराऽतिसन्तुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलीपनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च ।

भावार्थ—इस तरह राजा दिलीप की प्रार्थना से महर्षि वसिष्ठ की गौ नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई । और राजा के साथ हिमालय की गुफा से विना परिश्रम के आश्रम के प्रति लौटी ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रसन्नेन्दुमुखः नृपाणां गुरुः प्रहर्षचिह्नानुमितं तस्याः प्रसादं पुनरुक्तया वाचा इव गुरवे निवेद्य प्रियायै शशंस ।

तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तमेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ।

भावार्थ—निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाले, राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने हर्ष के चिह्नों से अनुमित होने वाले नन्दिनी के वरदानरूपी अनुग्रह को दुबारा कही हुई के समान वाणी द्वारा गुरु से निवेदन कर रानी से कहा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सद्वत्सलः वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः सः (सन्) वत्सहुतावशेषं नन्दिनीस्तन्यं शुभ्रं मूर्तं इव अतितृष्णः पपौ ॥ ६९ ॥

स इति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः । सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः ।

'वत्सांसाभ्या कामबले' इति लच्प्रत्ययः। वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं शुभ्रं परिच्छिन्नं यश इव, अतितृष्णः सन् पपौ।

भावार्थ—प्रशसनीय स्वभाव वाले, सज्जनों पर दयालु, महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा पालन कर राजा दिलीप ने अतितृषित हो बछड़े के पीने और हवन से बचे हुए नन्दिनी के दूध को उज्ज्वल मूर्तिमान् यश के समान पिया ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥ ७० ॥

अन्वयः—वशी वसिष्ठः यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास।

प्रातरिति। वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्याङ्गभूता या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं तत्कालोचितमित्यर्थः। 'कालाट्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः। 'यथा कथञ्चिद् गुणवृत्त्याऽपि काले वर्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः। ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रस्थापयामास।

भावार्थ—प्रातःकाल जितेन्द्रिय महर्षि वसिष्ठ ने विधिपूर्वक गोसेवा रूपी व्रत की पारणा करने के बाद यात्रा के समय समुचित स्वस्तिवाचन कर, उन दोनों राजा-रानी को उनकी राजधानी की ओर भेजा ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—नृपः हुतं हुताशं च भर्तुः अनन्तरम् अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः (सन्) प्रतस्थे।

प्रदक्षिणीकृत्येति। नृपो हुतं तर्पितं, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः। 'कर्मण्यण्'। तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः। अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य प्रागग्नो दक्षिणम्। 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यव्ययीभावः। ततश्च्विः। अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सद्भिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे।

भावार्थ—राजा दिलीप ने प्रज्वलित अग्नि और मुनि की प्रदक्षिणा के बाद अरुन्धती और बछड़े के साथ नन्दिनी की प्रदक्षिणा करके अच्छे मङ्गलाचारों से प्रवर्धित प्रताप वाला होते हुए प्रस्थान किया ॥ ७१ ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

अन्वयः—धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः सः श्रोत्राभिरामध्वनिना अनुद्धातसुखेन रथेन स्वेन पूर्णेन मनोरथेन इव मार्गं ययौ ।

श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्धातः । पाषाणादिप्रतिघातरहितः । अत एव सुखयतीति सुखः, तेन रथेन स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे—ध्वनिः श्रुतिः । अनुद्धातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ।

भावार्थ—रानी सुदक्षिणा के साथ-साथ व्रतादि दुःखों को सहन करने वाले उस राजा ने कर्णसुखद-ध्वनि-युक्त, मार्ग के झटकों से रहित रथ से प्रतिबन्धरहित अतएव सुखप्रद सफल मनोरथ के समान मार्ग को तय किया ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अदर्शनेन आहितौत्सुक्यं प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गं प्रजाः तृप्तिम् अनाप्नुवद्भिः नेत्रैः नवोदयम् ओषधीनां नाथम् इव पपुः ।

तमिति । अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्शनोत्कण्ठम् । प्रजार्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीनां नाथं सोममिव तं राजानं पपुः । अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे—अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तं प्रजाऽर्थं लोकहितार्थं व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः "तं च सोमं पपुर्देवा पर्यायेणानुपूर्वशः" इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ।

भावार्थ—(वसिष्ठाश्रम में रहने के कारण) न दिखाई पड़ने के कारण उत्कण्ठा उत्पन्न कर देने वाले, पुत्रार्थव्रत करने से कृश शरीर वाले, उस राजा को प्रजा ने दूज के चाँद की तरह अतृप्त नेत्रों से देखा ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

अन्वयः—पुरन्दरश्री सः पौरैः अभिनन्द्यमानः उत्पताकं पुरं प्रविश्य भुजङ्गेन्द्र समानसारे भुजे भूयः भूमेः धुरम् आससञ्ज ।

पुरन्दरेति । पुरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दरः शक्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्री-

यंस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः। उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम्। 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः। पुरं प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रेण समानसारे तुल्य बले। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः। भुजे भूयो भूमेर्धुरमासमञ्ज स्थापितवान्।

भावार्थ—इन्द्रतुल्यकान्तिवाले उस राजा ने नागरिकों द्वारा अभिनन्दित होकर शेषनाग तुल्य बलवाली भुजाओं पर पुनः पृथ्वी का भार उठा लिया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥ ७५ ॥

अन्वय.—अथ द्यौः अत्रेः नयनसमुत्थं ज्योतिः इव सुरसरित् वह्निनिष्ठ्यूतम् ऐशं तेज इव, राज्ञी नरपतिकुलभूत्यै गुरुभिः लोकपालानुभावैः अभिनिविष्टं गर्भम् आधत्त।

अथेति। अथ द्यौः सुरवर्त्म। 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः। अत्रेर्महर्षेर्नयनयो. समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम्। 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। ज्योतिरिव चन्द्रमिवेत्यर्थः। 'अत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः। चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे—"नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः। तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन्। स ताभ्य. सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभावितः। पपात भासयंल्लोकाञ्छीतांशुः सर्वभावन." । इति सुरसरिद् गङ्गा वह्निना निष्ठ्यूतं निक्षिप्तं 'ष्ठिवु क्लमु चाचमने' इत्यनेन निपूर्वात् ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ्। 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः। ऐशं तेज. स्कन्दमिव। अत्र रामायणम्—"ते गत्वा पर्वतं राम! कैलासं धातुमण्डितम्। अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः। देवकार्यमिदं देव! समाधत्स्व हुताशन। शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज! देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः। गर्भं धारय वै देवि! देवतानामिदं प्रियम्। इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत्। सा तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्य च। समन्ततस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः। सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन!" इति। राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै सन्ततिलक्षणायै गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टं गर्भमाधत्त दधावित्यर्थः। अत्र मनुः—"अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृप." इति। आधत्त इत्यनेन स्त्रीकर्तृक-

धारणमात्रमुच्यते। तथा मन्त्रे च दृश्यते "यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे। एवं त्वं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूनवे"। इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारण आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति। मालिनीवृत्तमेतत्। तदुक्तम्—'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकै' इति लक्षणात्।

इति संजीवनीव्याख्यायां नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः।

भावार्थ—इसके बाद आकाश के द्वारा चन्द्रमा की तरह, गङ्गा के द्वारा शिव के फेंके हुए तेज (वीर्य) की तरह, रानी सुदक्षिणा ने रघुवंश की वृद्धि के लिये लोकपालों के तेज से गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

त्रिपाठधुराह्व पं० श्रीकृष्णमणिकृत चन्द्रकला टीका में द्वितीय सर्ग समाप्त।



तृतीयः सर्गः

'राज्ञी सुदक्षिणा गर्भमाधत्त' (२—७५) इत्युक्तम्। सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति—

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सुदक्षिणा उपस्थितोदयं भर्तुः इप्सितं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखं इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः निदानं दौर्हृदलक्षणं दधौ।

उपाधिगम्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्यः।
भावोऽपि योऽभूदभवः शिवोऽयं जगत्यपायादपि नः स पायात् ॥

अथेति। अथ गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा। उपस्थितोदयं प्राप्तकालं भर्तुर्दिलीपस्येप्सितं मनोरथम्। भावे क्तः। पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भावम्। यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः। तदुक्तं भविष्योत्तरे—"कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मता" इति। तस्या मुखं प्रारम्भम्। 'सखीजनोद्वीक्षणकौमुदी' इति पाठं केचित्पठन्ति। इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य निदानं मूलकारणम्। 'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः। एवंविधं दौर्हृदलक्षणं गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ। स्वहृदयेन गर्भहृदयेन द्विहृदया गर्भिणी। यथाऽऽह वाग्भटः—"मातृजमस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत्। सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमाननम्"। इति। तत्सम्बन्धित्वाद् गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते। सा च तद्योगाद्दौर्हृदिनीति। तदुक्तं संग्रहे—'द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनी

माचक्षते' इति। अत्र दौहृद लक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद् रूपकालङ्कारः। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षणात्।

भावार्थ—इसके बाद सुदक्षिणाने प्रकटित लक्षणों वाले, स्वामी के अभीष्ट, सखियों के नेत्रों के आह्लादक, इक्ष्वाकुवंश की सन्तति के कारण भूत गर्भ के चिह्नों को धारण किया ॥ १ ॥

सम्प्रति क्षामताऽऽख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

अन्वयः—शरीरसादात् असमग्रभूषणा लोध्रपाण्डुना मुखेन (उपलक्षिता) सा, तनुप्रकाशेन शशिना (उपलक्षिता) प्रभातकल्पा शर्वरी इव अलक्ष्यत्।

शरीरेति। शरीरस्य सादात्कार्श्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा। विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता। विरलनक्षत्रेत्यर्थः। तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शशिनोपलक्षितेषदसमाप्तप्रभाता प्रभातकल्पा। प्रभातादीषदूनेत्यर्थः। 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः। शर्वरी रात्रिरिव। अलक्ष्यत। शरीरसादादिगर्भलक्षणमाह वाग्भटः—"क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम्। जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्" ॥ इति ॥

भावार्थ—शरीर की कृशता के कारण अल्प भूषणोंवाली, लोध्र के फूल की तरह पीले मुख वाली वह (सुदक्षिणा) विरल नक्षत्रों वाली तथा अल्प कान्ति युक्त चन्द्रमा से उपलक्षित, प्रातःकाल के समीप वाली रात्रि के समान दिखाई पड़ने लगी ॥ २ ॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—क्षितीश्वरः रहसि मृत्सुरभि तदाननम् उपघ्राय, शुचिव्यपाये पयोमुचां पृषतैः सिक्तं वनराजिपल्वलम्(उपाघ्राय) करी इव तृप्तिं न आययौ।

तदिति। क्षितीश्वरो रहसि मृत्सुरभि मृदा सुगन्धि तस्या आननं तदाननं सुदक्षिणामुखमुपाघ्राय तृप्तिं नाययौ। कः कमिव। शुचिव्यपाये ग्रीष्मावसाने। शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते। ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणि' इति विश्वः। पयोमुचां मेघानां पृषतैर्बिन्दुभिः। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः'

इत्यमरः। सिक्तमुक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी गज इव। अत्र करिवन-राजिपल्वलानां कान्तकामिनीवदनसमाधिरनुसन्धेयः। गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोक-प्रसिद्धमेव। एतेन दोहदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते।

भावार्थ—राजा दिलीप मिट्टी की गन्धवाले, रानी सुदक्षिणा के मुख को सूँघकर भी, ग्रीष्म के अन्त में मेघों की बूंदों से सींचे हुये वनमध्यगत छोटे तालाव को सूंघने वाले हाथी के समान तृप्ति को नहीं प्राप्त कर सका॥ ३॥

दोहृदलक्षणे मृद्भक्षणे हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षते—

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा॥ ४॥

अन्वयः—हि दिगन्तविश्रान्तरथः तत्सुतः, मरुत्वान् दिवम् इव, भुवं भोक्ष्यते, अतः प्रथमं सा तथाविधे अभिलाषे अन्यरसान् विलङ्घ्य मनो बबन्ध।

दिवमिति। हि यस्माद्दिगन्तविश्रान्तरथश्चक्रवर्ती तस्याः सुतस्तत्सुतः। मरुत्वानिन्द्रः। 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' इत्यमरः। दिवं स्वर्गमिव भुवं भोक्ष्यते। 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम्। अतः प्रथमं सा सुदक्षिणा तथाविधे भूविकारे मृद्रूपे। इत्यभिलाषो भोज्यवस्तु तस्मिन्। कर्मणि घञ्प्रत्ययः। रस्यन्ते स्वाद्यन्त इति रसा भोग्यार्थाः अन्ये च ते रसाश्च तान्विलङ्घ्य विहाय मनो बबन्ध। विदधावित्यर्थः। दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्रभूभोगसूचनार्थत्वमुत्प्रेक्षते।

भावार्थ—उस सुदक्षिणा का पुत्र, इन्द्र के द्वारा स्वर्ग की तरह इस पृथ्वी का उपभोग करेगा—इस कारण पहले उसने उस प्रकार की (मृद्भक्षणरूप) रुचि में अन्य रसों को छोड़कर मन लगाया॥ ४॥

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः॥ ५॥

अन्वयः—'मागधी ह्रिया किंचित् इप्सितं मे न शंसति, (अतः) केषु वस्तुषु स्पृहावती' इति अनुवेलम् आदृतः प्रियासखी उत्तरकोसलेश्वरः पृच्छति स्म।

नेति। मगधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी सुदक्षिणा। 'द्वयञ्मगधकलिङ्ग' इत्यण्प्रत्ययः। ह्रिया किञ्चित् किमपीप्सितमिष्टं मे मह्यं न शंसति नाचष्टे। केषु वस्तु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुक्षणमादृत आदृतवान्। कर्तरि क्तः। 'आदृतौ सादरार्चितौ' इत्यमरः। प्रियायाः सखी सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरो दिलीपः। पृच्छति स्म पप्रच्छ। 'लट् स्मे' इत्यनेन भूतार्थे लट्। सखीनां विश्रम्भभूमित्वादिति भावः।

भावार्थ—'रानी लज्जा से कोई ईच्छा मुझसे नहीं कहती, (परन्तु) किन

वस्तुओं में उनकी इच्छा रहती है ? यों बारम्बार रानी की प्यारी सखियों को राजा आदरपूर्वक पूछता था ॥ ५ ॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

अन्वयः—सा दोहददुःखशीलताम् उपेत्य यद् एव वव्रे, तद् आहृतम् अपश्यद् । हि अधिज्यधन्वनः अस्य भूपतेः त्रिदिवेऽपि इष्टं अनासाद्यं न अभूत् ।

उपेत्येति । दोहदं गर्भिणीमनोरथः । 'दोहदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसेन समं स्मृतम्' इति हलायुधः । सा सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःखशीलतां दुःखस्वभावमुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकांक्ष तदाहृतमानीतम् । भर्त्रेति शेषः । अपश्यदेव अलमतीत्यर्थः । कुतः । हि यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि स्वर्गेऽपीष्टं वस्त्वनासाद्यमनवाप्यं नाभूत् । किं साच्छया ? नेत्याह—अधिज्यधन्वन इति । नहि वीरपत्नीनामलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः । अत्र वाग्भटः—"पादशोफो विदाहोऽन्ते श्रद्धा च विविधात्मिका" इति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवाद्, न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात् । तदुक्तम्—"देयमप्यहितं तस्यै हितोपाहितमल्पकम् । श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा" अन्यत्र च—"दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।"

भावार्थ—गर्भिणी-मनोरथों से दुःख पाती हुई सुदक्षिणा जिस वस्तु की इच्छा करती थी वह वस्तु देखते ही देखते भूपति के द्वारा ला दी जाती थी; क्योंकि चढ़ी हुई प्रत्यञ्चायुक्त धनुषधारी राजा दिलीप को अभिलषित वस्तु स्वर्ग में दुर्लभ न थी ॥ ६ ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

अन्वयः—सा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा (सती) पुराणपत्रापगमात् अनन्तरं सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा लता इव रराज ।

क्रमेणेति । सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा पुष्यमाणावयवा सती । पुराणपत्राणामपगमान्नाशादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वान्मनोज्ञाः पल्लवा यस्याः सा लतेव रराज ।

भावार्थ—और वह सुदक्षिणा गर्भव्यथा को बिताकर पुष्ट अङ्गवाली होकर पुराने पत्तों के गिरजाने के बाद नवीन पत्तों से सुन्दर लता के समान सुशोभित हुई ॥ ७ ॥

लक्षणान्तरं वर्णयति—

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—दिनेषु गच्छत्सु (सत्सु) नितान्तपीवरम् आलीनमुखं तदीयं स्तनद्वयं भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियं तिरश्चकार ।

दिनेष्विति । दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु सत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम् । आसमन्तान्नीले मूखे चूचुके यस्य तत् । तदीयं स्तनद्वयम् । भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार । अत्र वाग्भटः—"अम्लेष्टना स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ" इति ।

भावार्थ—कुछ दिन बाद अतिस्थूल और नीले मुख वाले उस सुदक्षिणा के दोनों स्तनों ने भ्रमरों से व्याप्त सुन्दर कमल की कलियों की कान्ति को लजा दिया ॥ ८ ॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

अन्वयः—नृपःससत्वां महिषीं निधानगर्भां सागराम्बराम् इव अभ्यन्तरलीनपावकां शमीम् इव अन्तःसलिलां सरस्वतीं नदीम् इव अमन्यत ।

निधानेति । नृपः ससत्त्वामापन्नसत्त्वां गर्भिणीमित्यर्थः । 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । महिषीं, निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागराम्बरां समुद्रवसनाम् भूमिमिवेत्यर्थः । भूतधात्री रत्नगर्भा जगती सागराम्बरा' इति काशः । अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव । शमीतरो वह्निरस्तीत्यत्र लिङ्गं 'शमीगर्भादग्निं जनयती'ति । अन्तःसलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव । अमन्यत । एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ।

भावार्थ—राजा ने गर्भवती सुदक्षिणा को रत्न रखने वाली पृथ्वी के समान, अग्नि रखने वाले शमी वृक्ष के समान, अन्तर्जलस्थ सरस्वती नदी के समान माना ।

प्रियाऽनुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥ १० ॥

अन्वयः—धीरः सः प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेः भुजार्जितानां दिगन्तसम्पदां धृतेः च सदृशी च पुंसवनादिकाः क्रियाः यथाक्रमं व्यधत्त ।

प्रियेति । धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य मनसः समुन्नतेरौदार्यस्य भुजेन

भुजबलेन करेणावार्जितानां, न तु वाणिज्यादिना । दिगन्तेषु सम्पदा धृतेः 'पुत्रो मे भविष्यती'ति सन्तोषस्य च । 'धृतेर्योगान्तरे धैर्यं धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः । सदृशीरनुरूपाः । पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रिया यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदिशब्देनानवलोमनसीमन्तोन्नयने गृह्येते । अत्र 'मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्' इति पारस्करः । "चतुर्थेऽनवलोमनम्" इत्याश्वलायनः । "षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्" इति याज्ञवल्क्यः ।

भावार्थ—उस राजा ने पत्नी के प्रेम और मनकी उदारता के अनुसार, अपने बाहुबल से उपार्जित दिगन्तरविख्यात ऐश्वर्य के अनुसार तथा भावी पुत्र के उत्पन्न होने के सन्तोष के अनुसार पुंसवनादि संस्कारो को क्रमशः किया ॥१०॥

सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ ११ ॥

अन्वयः—गृहागतः नृपः सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया उपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तया ननन्द ।

सुरेन्द्रेति । गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद्भारात्प्रयत्नेन मुक्तासनया । आसनादुत्थितयेत्यर्थः । उपचारस्याञ्जलावञ्जलीकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या । 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवः' इत्यमरः । तया सुदक्षिणया ननन्द । 'सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रित' इत्यत्र मनुः—"अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः" इति ।

भावार्थ—रनिवास मे जाने पर राजा दिलीप अष्ट लोकपालो के अंशो को धारण किए हुए गर्भ के भारके कारण किसी तरह आसन छोड़ती हुई, प्रणाम करने के लिए अञ्जलि बाँधने में शिथिल हाथों वाली और चचल नेत्रवाली रानी सुदक्षिणा से प्रसन्न होते थे ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥ १२ ॥

अन्वय—अथ कुमारभृत्याकुशलैः आप्तैः भिषग्भिः गर्भभर्मणि अनुष्ठिते (सति) पतिः प्रतीतः (सन्) काले प्रसवोन्मुखीं प्रियाम् अभ्रिताम् दिवम् इव ददर्श ।

कुमारेति । अथ कुमारभृत्या बालचिकित्सा । 'संज्ञायां समजनिषद—'इत्यादिना क्यप् । तस्यां कुशलैः कृतिभिः । 'कृती कुशल इत्यपि, इत्यमरः । आप्तैर्हितैर्भिषग्भिर्वैद्यैः । भिषग्वैद्यौ चिकित्सके' इत्यमरः । गर्भस्य भर्मणि । 'भरणे पोषणे भर्म इति

हैमः। 'भृतिर्भर्म' इति शाश्वतः। भृञो मनिच्प्रत्ययः। 'गर्भकर्मणि' इति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्गः। अनुष्ठिते कृते सति। काले दशमे मासि। अन्यत्र ग्रीष्मावसाने। प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम्। आसन्नप्रसवामित्यर्थः। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः। प्रियां भार्याम्। अभ्राण्यस्याः सञ्जातान्यभ्रिता ताम्। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः। दिवमिव। पतिर्भर्ता प्रतीतो हृष्टः सन्। 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः। ददर्श दृष्टवान्।

भाषार्थ—बाद में बालचिकित्सा में कुशल विश्वासपात्र वैद्यों से गर्भ की पुष्टि की जाने पर राजा दिलीपने प्रसन्न हो दशवें मास में शीघ्र पुत्र जननेवाली सुदक्षिणा को तत्काल बरसने वाले मेघो से व्याप्त आकाश की भांति देखा ॥ १९ ॥

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम्।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—ततः समये शचीसमा (सा) उच्चसंश्रयैः असूर्यगैः पञ्चभिः ग्रहैः सूचितभाग्यसंपदं पुत्रं त्रिसाधना शक्तिः अक्षयम् अर्थम् इव असूत।

ग्रहैरिति। ततः शच्येन्द्राण्या समा। 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः। सा सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः। 'दशमे मासि जायते'। इति श्रुतेः। उच्चसंश्रयैरुच्चसंस्थैस्तुङ्गस्थानगैरसूर्यगैरनस्तमितैः कैश्चिद् यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद्यस्य तं पुत्रम्। त्रीणि प्रभावमन्त्रोत्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः। 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजा' इत्यमरः। अक्षयमर्थमिव। असूत। 'पूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यात्मनेपदिषु पठ्यते। तस्माद्धातोः कर्त्तरि लङ्। अत्रेदमनुसंधेयम्— 'अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा झषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः। दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचाः" ॥ इति सूर्यादीनां सप्तानां ग्रहाणां मेषवृषभादयो राशयः श्लोकोक्तक्रमविशिष्टा उच्चस्थानानि स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तमस्थानानि च नीचानि। तत्रोच्चेस्वपि दशमादयो राशिस्त्रिंशांशा यथाक्रममुच्चेषु परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति जातकश्लोकार्थः। अत्रांशास्त्रिंशो भागः। यथाऽऽह नारदः—"त्रिशद्भागात्मकं लग्नम्" इति। सूर्यप्रत्यासत्तिर्ग्रहाणामस्तमयो नाम। तदुक्तं लघुजातके—"रविणाऽस्तमयो योगो वियोगस्तूदयो भवेत्" इति। ते च स्वोच्चस्थाः फलन्ति नास्तगा नापि नीचगाः। तदुक्तं राजमृगाङ्के—"स्वोच्चे पूर्णं", स्वर्क्षकेऽर्द्धं सुहृद्भे पादं द्विड्भेऽल्पं शुभं खेचरेन्द्रः। नीचस्थायी नास्तगो वा न किञ्चित्पादं नूनं स्वत्रिकोणे ददाति"। इति

तदिदमाह कविरुच्चसंस्थैरसूर्यगैरिति च। एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहा स्वोच्चस्थाः स एव तुङ्गो भवति। तदुक्तं बृटद्यीये—"सुखिनः प्रहृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः। एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्तेऽतः परं दिव्याः" इति तदिदमाह पञ्चभिरिति।

भावार्थ—उसके बाद दसवें महीने में इन्द्राणी के समान रानी सुदक्षिणा ने उच्च स्थान में स्थित, सूर्य की समीपता से अस्त न हुए पाँच ग्रहों से सूचित भाग्यसम्पत्ति वाले पुत्र को प्रभाव, उत्साह और मन्त्र से उत्पन्न होने वाली शक्ति के द्वारा सम्पत्ति के समान उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ १४ ॥

अन्वय—तत्क्षण दिशः प्रसेदु, मरुतः सुखाः ववु, अग्नि. प्रदक्षिणार्चिः (सन्) हवि. आददे। इत्थम् सर्वं शुभशंसि बभूव। हि तादृशां भवः लोकाभ्युदयाय भवति।

दिश इति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। दिशः प्रसेदु प्रसन्ना बभूव.। मरुतो वाता. सुखा मनोहरा ववुः। अग्निः प्रदक्षिणार्चिः सन् हविराददे स्वीचकार। इत्थं सर्वं शुभशंसि शुभसूचक बभूव। तथाहि। तादृशां रघुप्रकाराणा भवो जन्म लोकाभ्युदयाय। भवतीति शेषः। ततो देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः।

भावार्थ—उस समय दिशायें निर्मल हो गयी, सुखदायक वायु बहने लगी, अग्नि प्रदक्षिणज्वाल से हवि लेने लगा। इस तरह सभी वस्तुयें मंगलसूचक हुई। क्योंकि ऐसे लोगों का जन्म संसार के कल्याण के लिए होता है ॥ १४ ॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥ १५ ॥

अन्वय:—अरिष्टशय्यां परितः विसारिणा सुजन्मनः तस्य निजेन तेजसा सहसा हतत्विष. निशीथदीपाः आलेख्यसमर्पिता इव बभूवुः।

अरिष्टशय्यामिति। 'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमरः। अरिष्टे सूतिकागृहे शय्या तस्य परितोऽभितः 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया। विसारिणा सुजन्मन. शोभनोत्पत्तेः। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विष. क्षीणकान्तयो निशीथदीपा अर्द्धरात्रप्रदीपाः। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः।

आलेख्यसमर्पिताश्चित्रार्पिता इव बभूवुः। निशीथशब्दो दीपानां प्रभाऽऽधिक्य-सम्भावनार्थः।

भावार्थ—प्रसूतिगृह के चारों ओर फैलने वाले, सुन्दर जन्म लेने वाले उस बालक के स्वाभाविक तेज से एकाएक हतकान्ति होकर आधी रात के दीपक चित्र में लिखे हुए दीप के समान हो गए ॥ १५ ॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥

अन्वयः—भूपतेः अमृतसम्मिताक्षरं कुमारजन्म शंसते शुद्धान्तचराय जनाय शशिप्रभं छत्रम् उभे चामरे च एतत् त्रयम् एव अदेयम् आसीत्।

जनायेति। भूपतेर्दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरममृतसमानाक्षरम्। 'सरूपसमसम्मिता' इत्याह दण्डी। कुमारजन्म पुत्रोत्पत्तिं शंसते कथयते शुद्धान्तचरायान्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत्। तत् किं? शशिप्रभमुज्ज्वलं छत्रम्। उभे चामरे च। छत्रादीनां राज्ञः प्रधानाङ्गत्वादिति भावः।

भावार्थ—राजा दिलीप के लिए 'राजकुमार का जन्म हुआ' ऐसा अमृत के समान कहने वाले रनिवास के परिचारकों के लिए, चन्द्रिका के समान प्रभा वाले छत्र और दो राजचिह्न चामर ये तीन ही वस्तु न देने योग्य थी ॥ १६ ॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनात् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥

अन्वयः—निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा कान्तं सुताननं पिबतः नृपस्य गुरुः प्रहर्षः इन्दुदर्शनात् महोदधेः पूरः इव आत्मनि न प्रबभूव।

निवातेति। निवातो निर्वातप्रदेशः। 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः। तत्र यत् पद्मं तद्वत्स्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा नेत्रेण कान्तं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिबतस्तृष्णया पश्यतो नृपस्य गुरुरुत्कटः प्रहर्षः (कर्त्ता) इन्दुदर्शनाद् गुरुर्महोदधेः पूरो जलौघ इव। आत्मनि शरीरे न प्रबभूव स्थातुं न शशाक। अन्तर्न माति स्मेति यावत्। न ह्यल्पाधारेऽधिकं मीयत इति भावः। यद्वा हर्षं आत्मनि स्वस्मिन्विषये य प्रबभूव। आत्मानं नियन्तुं न शशाक। किन्तु बहिर्निर्जगामेत्यर्थः।

भावार्थ—वायुरहित प्रदेश में स्थित कमल के समान निर्निमेष दृष्टि से सुन्दर पुत्र के मुख को देखते राजा दिलीप का महान् हर्ष चन्द्र के दर्शन से समुद्र के ज्वार के समान उनके शरीर में न समा सका ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः दिलीपसूनुः तपस्विना पुरोधसा तपोवनात् एत्य अखिले जात-कर्मणि कृते (सति) आकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कारः मणि इव अधिकं बभौ ।

स इति । दिलीपसूनुः । तपस्विना पुरोहितेन । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्य-मरः । वसिष्ठेन । तपस्वित्वात्तदनुष्ठितं कर्म सवीर्यं स्यादिति भावः । तपोवनादेत्या-गत्य । अखिले समग्रे जातकर्मणि कर्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति । प्रयुक्तः संस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः । आकरोद्भवः खनिप्रभवः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । मणिरिव । अधिकं बभौ वसिष्ठमन्त्रप्रभावात्तेजिष्ठोऽभूदित्यर्थः । अत्र मनुः—"प्राङ्नाभिवन्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते" इति ।

भावार्थ—वह राजा दिलीप का पुत्र तपस्वी पुरोहित वसिष्ठ जी द्वारा तपो-वन से आकर सविधि जातकर्म संस्कार के किए जाने पर खान से निकले और सानपर चढाकर पालिस की गई मणि के समान अधिक शोभित हुआ ॥ १८ ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ १९ ॥

अन्वयः—सुखश्रवाः मङ्गलतूर्यनिस्वनाः वारयोषितां प्रमोदनृत्यैः सह माग-धीपतेः सद्मनि केवलं न व्यजृम्भन्त, किन्तु दिवौकसां पथि अपि (व्यजृम्भन्त) ।

सुखेति । सुखः सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः श्रुतिसुखाः । मङ्गल-तूर्यनिस्वना मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां वेश्यानाम् । 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः । प्रमोदनृत्यैर्हर्षनर्तनैः सह मागधीपतेर्दिलीपस्य सद्मनि केवलं गृहे एव न व्यजृम्भन्त, किन्तु द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वा-त्साधुः । तेषां पथ्याकाशेऽपि व्यजृम्भन्त । तस्य देवांशत्वाद् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः ।

भावार्थ—कान को सुख देने वाले मङ्गल वाद्यों की आवाज वेश्याओं के आनन्दपूर्ण नाचों के साथ सुदक्षिणा के पति राजा दिलीप के राजमहल में ही नहीं, परन्तु आकाश में भी व्याप्त हो उठी ॥ १९ ॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥ २० ॥

अन्वयः—रक्षितः तस्य संयतः न बभूव सुतजन्महर्षितः (सन्) यं विसर्जयेत् (किन्तु) तदा स पितॄणाम् ऋणाभिधानात् केवलं स्वयम् एव मुमुचे ।

नेति । रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य । अत एव चोराद्यभावात् संयतो बद्धो न बभूव नाभूत् । किं तेनात आह—विसर्जयेदिति । सुतजन्मना

हर्षितस्तोषितः सन् यं बद्धं विसर्जयेद्विमोचयेत्। किन्तु स राजा तदा पितृणामृणाभिधानाद्बन्धनात्केवलमेकं यथा तथा स्वयमेव। एक एवेत्यर्थः। 'केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरितः' इति शाश्वतः। मुमुचे कर्मकर्त्तरि लिट्। स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे—'एष वा अनृणो यः पुत्री' इति श्रुतिः प्रमाणम्।

भावार्थ—उस रक्षक राजा दिलीप का कोई कैदी न था, जिसे पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में प्रसन्न होकर छोड़ते, किन्तु पितृ के ऋणरूपी बन्धन से वे अकेले स्वयं मुक्त हुए॥ २०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥ २१॥

अन्वयः—अर्थवित् पार्थिवः अयम् अर्भकः श्रुतस्य तथा च युधि परेषां अन्तं यायात् इति धातोः गमनार्थम् अवेक्ष्य आत्मसम्भवं नाम्ना रघुं चकार।

श्रुतस्येति। अर्थविच्छब्दार्थज्ञः पार्थिवः पृथ्वीश्वरो दिलीपः। अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्तं पारं यायात्। तथा युधि परेषां शत्रूणामन्तं पारं च यायात्। यातुं शक्नुयादित्यर्थः। 'शाकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ्। इति हेतोर्धातोः। 'अघिवघिलघिगत्यर्थाः' इति लघिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेक्ष्यालोच्य। आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघुं चकार। 'लङ्घिबह्योर्नलोपश्च'। इत्युप्रत्यये 'बलमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम्। अत्र शङ्खः—'आशौचे व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति।

भावार्थ—अर्थ विशेषज्ञ राजा दिलीप ने 'यह बालक शास्त्र के अन्त तक जायगा और युद्ध में शत्रुओं को संहार करेगा' इस प्रकार लघि धातु को गमनार्थक जानकर अपने पुत्र का नाम रघु रखा॥ २१॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः॥ २२॥

अन्वयः—स समग्रसम्पदः पितुः प्रयत्नात् शुभैः शरीरावयवैः हरिदश्वदीधिते अनुप्रवेशात् बालचन्द्रमा इव दिने दिने वृद्धिं पुपोष।

पितुरिति। स रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैर्मनोहरैः शरीरावयवैः। हरिदश्वदीधितेः सूर्यस्य रश्मेः। 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः। अनुप्रवेशाद्बा चन्द्रमा इव दिने दिने प्रतिदिनम्। 'नित्य वीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्। वृद्धिं पुपोष। अत्र वराहसंहिता-

वचनम्—"सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम्। क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः" इति।

भावार्थ—वह बालक सम्पूर्ण सम्पत्ति वाले पिता राजा दिलीप के प्रयत्न से सुन्दर अङ्गों द्वारा सूर्य-किरणों के प्रवेश से बाल चन्द्रमा के समान प्रतिदिन बढ़ने लगा।

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥ २३॥

अन्वयः—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा शचीपुरन्दरौ जयन्तेन यथा तथा तत्समौ सा मागधी नृपः च तत्सदृशेन सुतेन ननन्दतुः।

उमेति। उमावृषाङ्कौ पार्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना कार्त्तिकेयेन। 'कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः। यथा ननन्दतुः। शचीपुरन्दरौ जयन्तेन जयन्ताख्येन सुतेन। 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः। यथा ननन्दतुः। तथा तत्समौ ताभ्यामुमावृषाङ्काभ्यां शचीपुरन्दराभ्यां च समौ समानौ मागधी नृपश्च तत्सदृशेन ताभ्यां कुमारजयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः। मागधी प्राग्व्याख्याता।

भावार्थ—जिस प्रकार पार्वती और शिवजी कार्तिकेय से, इन्द्राणी और इन्द्र जयन्त से प्रसन्न हुए, उसी प्रकार उनके समान रानी और राजा रघुनामक पुत्र से प्रसन्न हुए॥ २३॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥ २४॥

अन्वयः—रथाङ्गनाम्नोः इव तयोः भावबन्धनं परस्पराश्रयं यत् प्रेम बभूव, तत् एकसुतेन विभक्तम् अपि परस्परस्य उपरि पर्यचीयत।

रथाङ्गेति। रथाङ्गनाम्नो च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकौ 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः। तयोरिव तयोर्दम्पत्योर्भावबन्धनं हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयमन्योन्यविषयं यत्प्रेम बभूव तदेकेन केवलेन ताभ्यामन्येन वा। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। सुतेन विभक्तमपि परस्परस्योपरि पर्यचीयत ववृधे। कर्मकर्त्तरि लङ्। अकृत्रिमत्वात्स्वयमेवोपचितमित्यर्थः। यदेकाधारं वस्तु तदाधारद्वये विभज्यमानं हीयते। अत्र तु तयोः प्रागेकैककर्तृकमेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत। प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः।

भावार्थ—चकवा और चकई के समान सुदक्षिणा और दिलीप का हृदयाकर्षक पारस्परिक प्रेम एक पुत्रमें बँट जाने पर एक दूसरेके ऊपर बढ़ता गया।

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ २५ ॥

अन्वयः—स अर्भकः धात्र्या प्रथमोदित वचः उवाच तदीयाम् अङ्गुलिम् अवलम्ब्य ययौ, प्रणिपातशिक्षया नम्र· अभूत्, च तेन पितु मुदं ततान ।

उवाचेति । सोऽर्भकः शिशुः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । धात्र्योपमात्रा । 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः । प्रथममुदितमुपदिष्टं वच उवाच । तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च । प्रणिपातस्य शिक्षयोपदेशेन नम्राऽभूच्च । इति यत्तेन पितुर्मुदं ततान ।

भावार्थ—वह बालक धाय से पहले सिखाये हुए वचन बोलने लगा, उसकी अंगुली पकड़कर चलने लगा और प्रणाम की शिक्षा से नम्र होने लगा, उससे राजा दिलीप के आनन्द को बढ़ाने लगा ॥ २५ ॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥

अन्वयः—शरीरयोगजैः सुखैः त्वचि अमृतं निषिञ्चन्तम् इव तं अङ्कम् आरोप्य उपान्तसम्मीलितमोचनः नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ।

तमिति । शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि त्वगिन्द्रियेऽमृतं निषिञ्चन्तं वर्षन्तमिव तं पुत्रमङ्कमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयोः संमीलितलोचनः सन् नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ । रसः स्वादः ।

भावार्थ—राजकुमार के शरीर के सम्पर्क से उत्पन्न आनन्द से स्पर्शेन्द्रिय पर मानों अमृत बरसाते हुए उसको गोद में बैठाकर आँख बन्द-किए हुए राजा ने बहुत समय के बाद पुत्र के स्पर्श-सुख का अनुभव किया ॥ २६ ॥

अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥

अन्वयः—स्थितेः च अभेत्ता (दिलीपः) परार्ध्यजन्मना अन्वयं प्रजानां पतिः गुणाग्र्यवर्तिना स्वमूर्तिभेदेन आत्मनः सर्गम् इव स्थितिमन्तम् अमंस्त ।

अमंस्तेति। स्थितेरभेत्ता मर्यादापालकः स नृपः परार्ध्यजन्मनोत्कृष्टजन्मनाऽनेन रघुणाऽन्वय वंशम् । प्रजानां पतिर्ब्रह्मा । गुणाः सत्त्वादयः । तेष्वग्र्येण मुख्येन सत्त्वेन वर्तते व्याप्रियत इति गुणाग्र्यवर्ती तेन । स्वस्य मूर्तिभेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं सृष्टिमिव स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तममंस्त मन्यते स्म । मन्यते-

रनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः। अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि। तत्र रघुपक्षे गुणा विद्याविनयादयः। 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे। स्तम्बे सत्त्वादिसंध्यादिविद्याऽऽदिहरितादिषु॥' इति विश्वः। शेषं सुगमम्॥

भावार्थ—और मर्यादापालक राजा दिलीप ने उत्कृष्ट जन्म वाले विद्याविनयादि गुणों से सम्पन्न, अपने शरीर से उत्पन्न इस रघु से अपने वंश को उसी प्रकार स्थिर माना जिस प्रकार ब्रह्मा सत्त्वगुण प्रधान अपने अवतारभेद विष्णु से अपनी सृष्टि को प्रतिष्ठित मानते हैं॥ २७॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥२८॥

अन्वयः—वृत्तचूलः सः चलकाकपक्षकैः सवयोभिः अमात्यपुत्रैः अन्वितः लिपेः यथावत् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेन समुद्रम् इव आविशत्।

स इति। "चूडाकार्यं द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्य श्रुतिचोदनात्"॥ इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तचूलो निष्पन्नचूडाकर्मा सन्। डलयोरभेदः। स रघुः। "प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्याऽऽरम्भं च कारयेत्" इति वचनात्पञ्चमे वर्षे। चलकाकपक्षकैश्चलशिखण्डकैः। 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः। सवयोभिः स्निग्धैः। 'वयस्यः स्निग्ध.' इत्यमरः। अमात्यपुत्रैरन्वितः सन् लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद्ग्रहणेन सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्दजातम्। नद्या मुखं द्वारम्। 'मुखं तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोः' इति यादवः। तेन कश्चिन्मकरादिः समुद्रमिव। आविशत्प्रविष्टः। ज्ञातवानित्यर्थः।

भावार्थ—चूडाकर्म के बाद वह रघु चञ्चल जुल्फों से युक्त समान अवस्था के मन्त्रियों के पुत्रों के साथ वर्णमाला का यथाविधि परिचय पाकर शब्दशास्त्र में प्रविष्ट हुआ, जिसप्रकार नदी के मुहाने से घड़ियाल आदि समुद्र में प्रवेश करते हैं।

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥ २९॥

अन्वयः—अथ विधिवत् उपनीतं गुरुप्रियम् एनं विपश्चितो गुरवो विनिन्युः। ते अत्र अवन्ध्ययत्ना च बभूवुः। हि क्रिया वस्तूपहिता प्रसीदति।

अथेति। "गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः॥" इति मनुस्मरणादथ गर्भादेकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं रघुं विपश्चितो विद्वांसो गुरवो विनिन्युः। ते गुरवोऽत्रास्मिन् रघावबन्ध्य-

यत्नाश्च बभूवुः । तथाहि । क्रिया शिक्षा । 'क्रिया तु निष्कृतौ शिक्षाचिकित्सा-यागकर्मसु' इति यादवः । वस्तुनि पात्रभूत उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति फलति । 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्' इति कौटिल्यः ।

भावार्थ—विधिपूर्वक यज्ञोपवीत हुए गुरुप्रिय उस राजकुमार रघु को विद्वान् गुरुजन शिक्षा देने लगे और वे लोग इस राजकुमार के प्रति सफल भी हुए । क्योंकि सुपात्र को दी हुई शिक्षा सफल होती है ।। २९ ।।

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥ ३० ॥

अन्वयः—उदारधीः स समग्रैः धियः गुणैः चतुरर्णवोपमाः चतस्रः विद्याः हरिताम् ईश्वरः पवनातिपातिभिः हरिद्भिः (चतस्रः) दिशः इव क्रमात् ततार ।

धिय इति । अत्र कामन्दकः—शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीर्गुणाः ।। इति । आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ।। इति च । उदारधीरुत्कृष्टबुद्धिः । स रघुः समग्रैर्धियो गुणैः चत्वारोऽर्णवा उपमा यासां ताश्चतुरर्णवोपमाः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । चतस्रो विद्याः । हरितां दिशामीश्वरः सूर्यः पवनातिपातिभिर्महद्भिर्निजाश्वैः । 'हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति कोशः । चतस्रो दिश इव क्रमात्ततार । चतुरर्णवोपमात्वं दिशामपि द्रष्टव्यम् ।।

भावार्थ—विमलबुद्धि उस बालक रघु ने बुद्धि के समग्र गुणों से चारों समुद्रों के समान चारों विद्याओं को क्रम से पार कर लिया जिस प्रकार दिशाओं के पति सूर्य वायु से अधिक वेगशाली अपने घोड़ों से चार दिशाओं को पार करते हैं ।। ३० ।।

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—स मेध्यां रौरवीं त्वचं परिधाय मन्त्रवत् अस्त्रम् पितुः एव अशिक्षत । तद्गुरुः एकपार्थिवः न अभूत, क्षितौ सः एकधनुर्धरः अपि (अभूत्) ।

त्वचमिति । स रघुः । "कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च" इति मनुस्मरणान्मेध्यां शुद्धां रौरवीं रुरुसम्बन्धिनीम् । 'रुरुर्महाकृष्णसारः' इति यादवः । त्वचं चर्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत्समन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिकं पितुरेवोपाध्यायादशिक्षताभ्यस्तवान् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानसंज्ञा । पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति—नेति । तद्गुरुरेकोऽ-

द्वितीयः पार्थिवः केवलं पृथिवीश्वर एव नाभूत्, किन्तु क्षितौ स दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत् ।

भावार्थ—उस रघु ने पवित्र कृष्णमृग के चर्म को धारण करके पिता ही से मन्त्रों के साथ अस्त्रों को सीखा । उनके पिता पृथ्वी मे अद्वितीय चक्रवर्ती नहीं धनुर्धारी भी थे ॥ २१ ॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ २२ ॥

अन्वयः—रघुः क्रमात् महोक्षताम् स्पृशन् वत्सतरः इव, द्विपेन्द्रभावं श्रयन् कलभ इव यौवनभिन्नशैशवः (सन्) गाम्भीर्यमनोहरं वपुः पुपोष ।

महोक्षतामिति । रघुः क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् । महानुक्षा महोक्षो महर्षभः 'अचतुरविचतुर' इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता तां स्पृशन्गच्छन्वत्सतरो दम्य इव । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभावं । महागजत्वं श्रयन्व्रजन्कलभः करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ।

भावार्थ—वृषभत्व को प्राप्त होते हुए बछडे के समान, गजत्व को पहुँचते हुए हाथी के बच्चे की समान रघु क्रम से यौवन द्वारा बालकपन दूर होने पर अपने गम्भीर और सुन्दर शरीर को पुष्ट करने लगे ॥ २२ ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥ २३ ॥

अन्वयः—अथ गुरुः अस्य गोदानविधेः अनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । नरेन्द्रकन्या तम् दक्षसुता, तमोनुदम् इव सत्पतिम् अवाप्य आबभुः ।

अथेति । 'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदर्षिभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु ।" इति केशवः । गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्त्तव्य केशान्ताख्य कर्मोच्यते । तदुक्तं मनुना—"केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः" । इति । अथ गुरुः पिता 'गुरु. गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः । अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । कृतवानित्यर्थः । अथ नरेन्द्रकन्यास्त रघुम् । दक्षस्य सुता रोहिण्यादयस्तमोनुदं चन्द्रमिव । 'तमोनुदोऽग्निचन्द्रार्का इति विश्वः । सत्पतिमवाप्यावभुः रघुरपि तमोनुत् । अत्र मनु.—' वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमाविशेत्' इति ।

भावार्थ—तब दिलीपने कुमार के केशान्त संस्कारके बाद विवाह कर दिया ।

राज कन्याएँ उन उत्तम पति को पाकर दक्षप्रजापति पुत्रीवत् सुशोभित हुई ।।३३।।

सम्प्रति यौवराज्ययोग्यतामाह—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथाऽपि नीचैर्विनयाददृश्यत ।। ३४ ।।

अन्वयः—युवा युगव्यायतबाहुः अंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः रघुः वपुः प्रकर्षात् गुरुम् अजयत् । तथापि (स) विनयात् नीचैः अदृश्यत ।

युवेति । युवा युगो नाम धुर्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः । यानाद्यङ्गे 'युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु' इत्यमरः । युगवद् व्यायतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः । अंसावस्य स्त इत्यंसलो बलवान् मांसलश्चेति वृत्तिकारः । 'बलवान्मांसलोंऽसलः' इत्यमरः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः । कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरो विशालग्रीवः । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । रघुर्वपुषः प्रकर्षादाधिक्याद्यौवनकृताद् गुरुं पितरमजयत् । तथाऽपि विनयात् नम्रत्वे नीचैरलङ्कोऽदृश्य । अनेनानौद्धत्यं च विवक्षितम् ।

भावार्थ—युवा, जूआ की तरह लम्बी भुजावाले, बली किवाड़ के समान चौड़ी छाती वाले और चौड़े कन्धे वाले रघुने शरीर की उत्कृष्टता से पिता को जीत लिया, तो भी वे नम्रता से छोटे दिखाई पड़ते थे ।। ३४ ।।

सम्प्रति तस्य यौवराज्यमाह—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ।। ३५ ।।

अन्वयः—ततः आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीं प्रजानां धुरं लघयिष्यता नृपेण 'असौ निसर्गसंस्कारविनीतः' इति युवराजशब्दभाक् चक्रे ।

तत इति । तत आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम् । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । प्रजानां धुरं पालनप्रयास लघयिष्यता लघुं करिष्यता । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति लघुशब्दाण्णिच् ततो 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । नृपेण दिलीपेनासौ रघुर्निसर्गेण स्वभावेन, संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र इति हेतोः । युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तः । 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्ययः । चक्रे कृतः । "द्विविधो विनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च" इति कौटिल्यः । तदुभयसम्पन्नत्वात्पुत्रं युवराजं चकारेत्यर्थः । अत्र कामन्दक—"विनयोपग्रहान्भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान् । अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते ।। विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ।"

भावार्थ—तब स्वयं बहुत दिनो से धारण किए हुए महान् प्रजापालन के भार को हल्का करने की इच्छा करते हुए दिलीप ने 'यह रघु स्वभाव और शास्त्राभ्यासले नम्र है, ऐसा समझकर उसे युवराज पद से विभूषित किया ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—गुणाभिलाषिणी श्रीः नरेन्द्रमूलायतनात् अनन्तरं युवराजसंज्ञितं तदास्पदम् कमलात् (श्रीः) नवावतारम् उत्पलम् इव अंशेन अगच्छत् ।

नरेन्द्रेति । गुणान्विनयादीन्सौरभ्यादींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात् । अपादानात् । अनन्तरं सन्निहितम् । युवराज इति संज्ञास्य सञ्जाता युवराजसंज्ञितम् । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । आत्मनः पद स्थानमास्पदम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम् । कमलाच्चिरोत्पन्नात् नवावतारमचिरोत्पन्नमुत्पलमिव । अंशेनागच्छत् । स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ।

भावार्थ—गुणों की इच्छा रखने वाली राजलक्ष्मी राजा रूपी मुख्य स्थान से समीपस्थ युवराज पदवी वाले रघु रूपी अपने स्थान को अंश से पुराने कमल से नये खिले हुए कमल के समान गयी ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सारथिना वायुना विभावसुः इव, घनव्यपायेन गभस्तिमान् इव, कटप्रभेदेन करी इव, तेन पार्थिवः अतितरां सुदुःसहः बभूव ।

विभावसुरिति । सारथिना सहायभूतेन । एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम् । वायुना विभावसुर्वह्निरिव । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । घनव्यपायेन शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान्सूर्य इव । कटो गण्डः । 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः । तस्य प्रभेदः स्फुटनम् । मदोदय इत्यर्थः । तेन करीव पार्थिवो दिलीपस्तेन रघुणाऽतितरामत्यन्त सुदुःसहः सुष्ठुवसह्यो बभूव ।

भावार्थ—सहायक वायु से अग्निसमान, शरत्काल में सूर्य के समान, गण्डस्थल के मद से हाथी के समान राजा दिलीप अपने को अजेय समझने लगे ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—शतक्रतूपमः स राजसुतैः अनुद्रुतं धनुर्धरं तं होमतुरङ्गरक्षणे नियुज्य एकेन अपूर्णं क्रतूनां शतम् अपविघ्नम् (यथा स्यात् तथा) आप।

नियुज्येति। शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य स शतक्रतूपमः स दिलीपः। "शतं वै तुल्या राजपुत्रा देवा आशापालाः" इत्यादि श्रुत्या। राजसुतैरनुद्रुतमनुगतं धनुर्धरं तं रघुं होमतुरङ्गाणां रक्षणे नियुज्य। एकेन क्रतुनाऽपूर्णमेकोनं क्रतूनामश्वमेधानां शतमपविघ्नमपगतविघ्नं यथा तथाऽऽप।

भावार्थ—इन्द्रतुल्य उस राजा दिलीप ने राजकुमारों के साथ धनुर्धारी उस युवराज को यज्ञ के घोड़े की रक्षा करने में नियुक्त कर एक कम सौ अर्थात् निन्यानवे यज्ञों को निर्विघ्न समाप्त किया॥ ३८॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः॥ ३९॥

अन्वयः—ततः परं यज्वना तेन पुनः मखाय उत्सृष्टं अनर्गलं तुरङ्गं शक्रः गूढविग्रहः (सन्) धनुर्भृतां रक्षिणाम् अग्रतः एव जहार किल।

तत इति। ततः परमेकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिनेष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्त्तुम्। 'क्रियाऽर्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी। उत्सृष्टं मुक्तमनर्गलमप्रतिबन्धनम्। अव्याहतस्वैरमतिमित्यर्थः। 'अपर्यावर्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति' इत्यापस्तम्बस्मरणात्। तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन्। जहार किल। किलेत्यैतिह्ये।

भावार्थ—उसके बाद यज्ञ करने वाले उस राजा दिलीप के, फिर यज्ञ के लिए छोड़े गए अप्रतिहतगति घोड़े को इन्द्रने छिप कर धनुर्धारी रक्षकोंके सामने ही हरण कर लिया॥ ३९॥

विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत्।
वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी॥ ४०॥

अन्वयः—तत् कुमारसैन्यं सपदि विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितम् (सत्) स्थितम् च। अथ च श्रुतप्रभावा यदृच्छया आगता। नन्दिनी (नाम) वसिष्ठधेनुर्ददृशे।

विषादेति। तत्कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि। विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः। तदुक्तम्—"विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः" इति। तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्त्तव्यज्ञानं यस्य तत्तथोक्तम्। विस्मितमश्वनाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्याविष्टं सत्। स्थितं तस्थौ। अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छयाऽऽगता रघोः। स्वप्रसादलब्धत्वा-

दनुजिघृक्षयेति भावः। नन्दिनी नाम वसिष्ठधेनुश्च ददृशे। द्वौ चकारावविलम्ब-सूचकौ।

भावार्थ—एकाएक मनोरथ के भङ्ग होने से किंकर्त्तव्यविमूढ होकर वह कुमार की सेना चकित होकर खडी रही। तब सुने हुए प्रभावशाली, अपनी इच्छा से आई हुई नन्दिनी नामक वसिष्ठ की गौ दिखाई पड़ी॥ ४०॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः॥ ४१॥

अन्वयः—सतां पुरस्कृतः दिलीपनन्दनः पुण्येन तदङ्गनिष्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य अतीन्द्रियेषु भावेषु अपि उपपन्नदर्शनः बभूव।

तदङ्गेति। सतां पुरस्कृतः पूजितो दिलीपनन्दनो रघुः पुण्येन तस्या नन्दिन्या यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रवः स एव जलम्। मूत्रमित्यर्थः। तेन लोचने प्रमृज्य धौत-यित्वा। अतीन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्न-त्वम्। भावेष्वपि वस्तुषूपपन्नदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव।

भावार्थ—सज्जनों से सम्मानित दिलीपकुमार रघु, उसके अङ्ग से निकले पवित्र मूत्र से आँखों को धोकर, अतीन्द्रिय पदार्थों को भी देखने वाले हो गये।

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम्॥ ४२॥

अन्वयः—नरदेवसम्भवः स पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं रथरश्मिसंयतं अश्वं हरन्तं पर्वतपक्षशातनं देवं पूर्वतः ददर्श।

स इति। नरदेवसम्भवः स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितौ-द्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। संयतं बद्धमश्वं हरन्तं पर्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवमिन्द्रं पूर्वतः पूर्वस्यां दिशि ददर्श।

भावार्थ—राजा दिलीप के पुत्र उस रघु ने बार बार सारथि द्वारा रोके गये चपलता वाले और रथकी रस्सी में बंधे हुए घोड़े को हर कर ले जाते हुए, पहाड़ों के पक्ष काटने वाले इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा॥ ४२॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव॥ ४३॥

अन्वयः—रघुः तं अनिमेषवृत्तिभिः अक्ष्णां शतैः च हरिभिः वाजिभिः तं हरिं विदित्वा एनं गगनस्पृशा धीरेण स्वरेण (एव) निवर्तयन् इव अवोचत्।

शतैरिति । रघुस्तमश्वत्तर्हारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैर्हरिभिर्हरिद्वर्णैः। 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' इति विश्वः । एनमिन्द्रं गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्तयन्निवावोचत् ।

भावार्थ—रघु ने पलक न गिराने वाली सैकडों आंखो से हरे रंग के घोड़ों से उन्हें इन्द्र समझ कर उनको आकाशस्पर्शी गम्भीर आवाज से लौटाते हुए की तरह पुकारा ।। ४३ ।।

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र ! सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे देवेन्द्र ! मनीषिभिः त्वम् एव मखांशभाजां प्रथम इति सदा निगद्यसे (तथापि स त्वम्) अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ?

मखांशेति । हे देवेन्द्र ! मनीषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभागभुजां प्रथम सदा निगद्यसे कथ्यसे । तथाऽप्यजस्रदीक्षाया प्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय । क्रतुविघाताय । क्रियां विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । कथं प्रवर्तसे ? ।

भावार्थ—हे देवराज इन्द्र ! विद्वानों द्वारा आप यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वालों में प्रधान माने गए हैं । तब निरन्तर यज्ञ में प्रवृत्त मेरे पिता के कर्म को बिगाड़ने के लिए आप क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं ।। ४४ ।।

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—त्रिलोकनाथेन दिव्यचक्षुषा त्वया मखद्विषः सदा ननु नियम्याः । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु स्वयम् अन्तरायः भवसि चेत् विधिः च्युतः ।

त्रिलोकेति । त्रयाणां लोकानां नाथस्त्रिलोकनाथः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तेन त्रैलोक्यनियामकेन । दिव्यचक्षुषाऽतीन्द्रियार्थदर्शिना त्वया मखद्विषः क्रतुविघातकाः सदा नियम्या ननु शिक्ष्याः खलु । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु क्रतुषु स्वयमन्तरायो विघ्नो भवसि चेत् । विधिरनुष्ठानं च्युतः क्षतः । लोके सत्कर्मकथैवास्तमियादित्यर्थः ।

भावार्थ—तीनों लोकोंके अधीश्वर, दिव्यनेत्र आपको यज्ञविध्वंस करनेवालों को सदा दण्ड देना चाहिये । यदि आपही धर्मपरायण मनुष्यों के याज्ञादि कर्मों में स्वयं विघ्न रूप से उपस्थित हो रहे हैं तो पुण्यकर्म नष्ट हुआ ही है ।।४५।।

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे मघवन् ! तत् महाक्रतोः अग्र्यम् अङ्गम् अमुम् तुरङ्गम् प्रतिमोक्तुम् । (हि) श्रुतेः पथः दर्शयितारः ईश्वरा मलीमसाम् पद्धतिं न आददते ।

तदङ्गमिति। हे मघवन् ! तत्तस्मात्कारणान्महाक्रतोरश्वमेधस्याग्र्यं श्रेष्ठमंगं साधनममु तुरंगं प्रतिमोक्तुं प्रतिदातुमर्हसि । तथाहि । श्रुतेः पथः दर्शयितारः सन्मार्गप्रदर्शका ईश्वरा महान्तो मलीमसा मलिनां पद्धतिं मार्गं नाददते न स्वीकुर्वते । असन्मार्गं नावलम्बन्त इत्यर्थः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः ।

भावार्थ—इस लिए हे देवराज ! अश्वमेध के मुख्य साधनभूत इस घोड़े को छोड़ दीजिए; क्योंकि वे मार्ग प्रदर्शक बड़े लोग कुमार्ग नहीं चलते ।।४६।।

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचः निशम्य दिवौकसाम् अधिपतिः सविस्मयः (सन्) रथं निवर्तयामास, उत्तरं च प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ।

इतीति । इति रघुणा समीरितं प्रगल्भ वच निशम्याकर्ण्य । दिवौकसः स्वर्गौकसः । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । तेषामधिपतिर्देवेन्द्रो रघुप्रभावात्सविस्मयः सन् । रथं निवर्तयास । उत्तरं च प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ।

भावार्थ—इस प्रकार रघु के कहे हुए धृष्टतायुक्त वचन को सुनकर इन्द्र ने चकित होकर रथ लौटा दिया और उत्तर देना आरम्भ किया ।

यदात्थ राजन्यकुमार ! तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे राजन्यकुमार ! यत् आत्थ तत् तथा । यशोधनैः तु परतः यशः रक्ष्यम्, भवद्गुरुः जगत्प्रकाश अशेषं मम् तत् (यशः) इज्यया लङ्घयितुम् उद्यतः ।

यदिति । हे राजन्यकुमार ! क्षत्रियकुमार ! 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः । यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इत्यनेनाहादेशः । तत्तथा सत्यम् । किन्तु यशोधनैरस्मादृशैः परतः शत्रुतो यशो रक्ष्यम् । ततः किमत आह—भवद्गुरुस्त्वत्पिता जगत्प्रकाशं लोकप्रसिद्धमशेषं सर्वं मम् तद्यश इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्तुमुद्यत उद्युक्तः ।

भावार्थ—हे राजकुमार ! आप जो कहते हो वह ठीक है, परन्तु हमारे ऐसे यशस्वियोंको शत्रुओं से कीर्ति की रक्षा करनी चाहिए । समस्त भुवनों में प्रसिद्ध मेरे उस यश को आपके पिता यज्ञ द्वारा उल्लङ्घन करने के लिए उद्यत हैं ।।४८।।

किं तद्यश इत्याह—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—यथा हरिः एकः (एव) पुरुषोत्तमः स्मृतः, (यथा च) त्र्यम्बकः महेश्वरः एव (स्मृतः), अपरः न, तथा मुनयः मां शतक्रतुं विदुः, नः एष शब्दः द्वितीयगामी न हि ।

हरिरिति । पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमासः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात् । कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्युत्तमपुरुष इति स्यात् । यथा हरिर्विष्णुरेक एव पुरुषोत्तमः स्मृतः । यथा च त्र्यम्बकः शिव एक एव महेश्वरः स्मृतः । नापरोऽपरः पुमान्न । तथा मां मुनयः शतक्रतुं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेश । नोऽस्माकम् । हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः । एष त्रितयोऽपि शब्दो द्वितीयगामी नहि । द्वितीयाप्रकरणे गम्यादीनामुपसङ्ख्यानात्समासः ।

भावार्थ—जिस प्रकार भगवान् विष्णु ही एक पुरुषोत्तम कहे गये हैं शिव ही महेश्वर कहे गए हैं और दूसरे नहीं; उसी प्रकार मुनि लोग मुझे शतक्रतु जानते हैं । हम लोगों के ये शब्द दूसरे व्यक्ति को प्राप्तव्य नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ॥ ५० ॥

अन्वयः—अतः त्वदीयस्य पितुः अयम् अश्वः कपिलानुकारिणा मया अपहारितः । अत्र तव प्रयत्नेन अलम् । सगरस्य सन्ततेः पदव्यां पदं मा निधाः ।

अत इति । यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्त्वदीयस्य पितुरयं शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितोऽपहृतः । अपहारित इति स्वार्थे णिच् । तवात्राश्वे प्रयत्नेनालम् । प्रयत्नो मा कारीत्यर्थः । निषेधस्य निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया । सगरस्य राज्ञः सन्ततेः सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधाः न निधेहि । निपूर्वाद्धातोर्लङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं भवेदिति भावः ।

भावार्थ—अतः कपिल मुनि का अनुकरण करनेवाले मैंने तुम्हारे पिता के घोड़े को चुरा लिया है । इस सम्बन्ध में तुम्हारा प्रयत्न निष्फल है । सगर के पुत्रों के मार्ग में पैर न रखो ॥ ५० ॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—ततः तुरगस्य रक्षिता प्रहस्य अपभयः (सन्) पुनः पुरन्दरम् बभाषे। यदि एष ते सर्गः, शस्त्रं गृहाण। भवान् रघुम् अनिर्जित्य कृती न खलु।

तत इति। ततस्तुरगस्य रक्षिता रघुः प्रहस्य प्रहासं कृत्वा। अपभयो निर्भीकः सन्। पुनः पुरन्दरं बभाषे। किमिति? हे देवेन्द्र! यद्येषोऽश्वामोचनरूपस्ते तव सर्गो निश्चयः। 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः। तर्हि शस्त्रं गृहाण। भवान् रघुं मामनिर्जित्य कृतमनेनेति कृती। कृतकृत्यो न खलु। 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः। रघुमित्यनेनात्मनो दुर्जयत्वं सूचितम्।

भावार्थ—तब अश्वरक्षक रघु ने हँस कर, निर्भय हो पुनः इन्द्र से कहा—अगर आपका यही निश्चय है तो शस्त्र उठाइए, आप मुझको जीते बिना सफल नहीं हो सकते॥ ५१॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः॥ ५२॥

अन्वयः—उन्मुखः मघवन्तम् एवम् उक्त्वा शरासनं सशरं करिष्यमाणः सः आलीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः (सन्) अतिष्ठत्।

स इति। स रघुरुन्मुखः सन् मघवन्तमिन्द्रमेवमुक्त्वा शरासनं चापं सशरं करिष्यमाणः। आलीढेनालीढाख्येन स्थानभेदेन विशेषशोभिनाऽतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण देहौन्नत्येन विडम्बितेश्वरोऽनुसृतपिनाकी सन्। अतिष्ठत्। अलीढलक्षणमाह यादवः—"स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम्। त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति॥ अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः। दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढं विपर्ययः॥" इति॥

भावार्थ—यों इन्द्र से कह ऊपर मुँह किए धनुष पर बाण चढ़ाये रघु आलीढ नामक आसन विशेष से शोभित शरीर के औन्नत्य से त्रिपुरसंहार के अवसर पर युद्ध के लिए सन्नद्ध भगवान् शंकर के समान खड़े हो गये॥ ५२॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम्॥ ५३॥

अन्वयः—रघोः अवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतः अमर्षणः गोत्रभित् अपि नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुषि अमोघं सायकं समधत्त।

रघोरिति। रघोरवष्टम्भमयं स्तम्भरूपेण। 'अवष्टम्भः सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपि' इति विश्वः। पत्रिणा बाणेन हृदि हृदये क्षतो विद्धः। अत एवामर्षणोऽसहनः। क्रुद्ध इत्यर्थः। गोत्रभिदिन्द्रोऽपि। 'सम्भावनीये धीरेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे

मतः' इति विश्वः। नवाम्बुदानामनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्त्तं क्षणमात्रं लाञ्छने चिह्नभूने धनुषि। दिव्ये धनुषीत्यर्थः। अमोघमवन्ध्यं सायकं वाणं समधत्त संहितवान्।

भावार्थ—रघु के स्तम्भरूपी वाण से हृदय पर आघात खाकर इन्द्र ने भी नये मेघों के समान वर्ण वाले धनुष पर अव्यर्थ वाण को चढ़ाया ॥ ५३ ॥

दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—भीमासुरशोणितोचितः सः आशुगः दिलीपसूनोः बृहत् भुजान्तरं प्रविश्य, अनास्वादितपूर्वं मनुष्यशोणितं कुतूहलेन इव पपौ।

दिलीप इति। भीमानां भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिरे उचितः परिचितः स इन्द्रमुक्त आशुगः सायको दिलीपसूनोः रघोर्बृहद्विशालं भुजान्तरं वक्षः प्रविश्य। अनास्वादितपूर्वं पूर्वमनास्वादितम्। सुप्सुपेति समासः। मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ।

भावार्थ—भयंकर दैत्यों के रुधिर से परिचित उस वाण ने रघु के विशाल हृदय में घुस कर, पहिले न चखे हुए मनुष्य के खून को कौतुक से पीया ॥५४॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—कुमारविक्रमः कुमारः अपि सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेः भुजे स्वनामचिह्नं सायकं निचखान।

हरेरिति। कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथोक्तः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य—' इत्यादिना समासः। कुमारोऽपि रघुरपि सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य स तस्मिन्। शच्याः पत्रविशेषकैरङ्किते शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान निखातवान्। निष्कण्टकराज्यमासस्यायं महानभिभव इति भावः।

भावार्थ—स्कन्दतुल्य पराक्रमी रघु ने भी ऐरावत के चलाने से कर्कश अङ्गुलियों वाली, इन्द्राणी के तिलक विशेष से भूपित इन्द्र की भुजा पर अपने नाम के निशान वाला वाण मारा ॥ ५५ ॥

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अन्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वज जहार, सः सुरश्रियः प्रसह्य-केशव्यपरोपणात् इव, तस्मै भृशं चुकोप।

जहारेति। अन्येन मयूरपत्रिणा मयूरपत्रवता शरेण शक्रस्येन्द्रस्य महाशनिध्वज महान्तमशनिरूप ध्वजं जहार चिच्छेद च। स शक्रः। सुरश्रियः प्रसह्य बलात्कृत्य केशानां व्यपरोणादवतारणाच्छेदनादिव। तस्मै रघवे भृशमत्यर्थं चुकोप। तं हन्तुमियेपेत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहेर्ष्या—' इत्यनेन सम्प्रदानाच्चतुर्थी।

भावार्थ—दूसरे मोरपंख वाले बाण से इन्द्र की बड़ी वज्रध्वजा को काट दिया। इन्द्र, देवताओं की लक्ष्मी के जबर्दस्ती केश कट जाने के समान, उस रघु पर बहुत कुपित हुए॥ ५६॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः॥ ५७॥

अन्वयः—जयैषिणोः तयोः गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः अधोमुखैः ऊर्ध्वमुखैः च पत्रिभिः उपान्तस्थितसिद्धसैनिकं तुमुलं युद्धं बभूव।

तयोरिति। जयैषिणोरन्योऽन्यजयाकाङ्क्षिणोस्तयोरिन्द्ररघ्वोः। गरुत्मन्तः पक्षवन्तः। 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रम्' इत्यमरः। आशीविषाः आशिषि दंष्ट्रायां विषं येषां ते आशीविषाः सर्पाः। पृषोदरादित्वात्साधुः। 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः। इव भीमदर्शनाः। सपक्षाः सर्पा इव द्रष्टॄणां भयावहा इत्यर्थः। तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च। धन्विनोरुपर्यधोदेशावस्थितत्वादिति भावः। पत्रिभिर्बाणैरुपान्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धा देवा इन्द्रस्य सैनिकाश्च रघोर्यस्मित्तत्तथोक्तं तुमुलं सकुलं युद्धं बभूव।

भावार्थ—विजयेच्छु उन दोनों के पंख वाले सांपों के समान देखने में भयानक (इन्द्र के) अधोमुख और (रघु के) ऊर्ध्वमुख बाणों से देवता और सैनिकों के देखते-देखते घमासान युद्ध हुआ॥ ५७॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः॥ ५८॥

अन्वयः—वासवः अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिः दुष्प्रसहस्य तेजसः आश्रयं तम् अम्बुदः अद्भिः स्वतः च्युतं वह्निं इव निर्वापयितुं न शशाक।

अतिप्रबन्धेति। वासवोऽतिप्रबन्धेनातिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ताभिरस्त्रवृष्टिभिर्दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहं तस्य। दुःखेनाप्यसह्यस्येत्यर्थः। तेजसः प्रतापस्याश्रयं तं रघुम्। अम्बुदोऽद्भिः स्वतश्च्युत निर्गतं वह्निमिव। निर्वापयितुं न शशाक। रघोरपि लोकपालात्मकस्येन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः।

भावार्थ—इन्द्र अत्यन्त प्रयत्न से प्रयुक्त अस्त्रों की वर्षा से असह्य तेज के आधार उस रघु को शान्त करने में समर्थ नहीं हो सके, जिस प्रकार मेघ अपने से निकली हुई तडित रूप अग्नि को स्वयं शान्त करने में असमर्थ होता है ॥५८॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्द्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ततः रघुः हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं विडौजसः, शरासनज्यां शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा अलुनात् ।

तत इति । ततो रघुर्हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे मणिवन्धे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं प्रमथ्यमानार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्ताम् । वेवेष्टि व्याप्नोतीति विड् । व्यापकमोजो यस्य स तस्य विडौजस इन्द्रस्य । पृषोदरादित्वात्साधुः । शरासनज्यां धनुर्मोर्वीम् । शशाङ्कस्यार्द्धः खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पत्रिणाऽलुनादच्छिनत् ।

भावार्थ—तब रघु ने हरिचन्दन से चिह्नित पहुँचे में, मथे जाते हुए समुद्र के समान गम्भीर ध्वनि वाली इन्द्र के धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी) को अर्द्ध चन्द्र तुल्य बाण से काट दिया ॥ ५९ ॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥

अन्वयः—विवृद्धमत्सरः स चापम् उत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः प्रणाशनाय महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितम्, स्फुरत्प्रभामण्डलम् अस्त्रम् आददे ।

स इति । विवृद्धमत्सरः प्रवृद्धवैरः इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः शत्रोः प्रणाशनाय वधाय । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कः प्रत्ययः । तेषां पक्षव्यपरोपणे पक्षच्छेद उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वज्रायुधमाददे जग्राह ।

भावार्थ—धनुष की डोरी कट जाने से क्रुद्ध इन्द्र ने धनुष फेंककर प्रबल वैरी के वध के लिए पहाड़ों के पंख काटने में कुशल चमकता हुआ वज्र उठा लिया ।

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—रघुः तेन भृशं वक्षसि ताडितः (सन्) सैनिकाश्रुभिः सह भूमौ पपात, निमेषमात्रात् तद्व्यथाम् अवधूय सैनिकहर्षनिःस्वनैः सह उत्थितः ।

रघुरिति । रघुस्तेन वज्रेण भृशमत्यर्थं वक्षसि ताडितो हतः सन् । सैनिका-

नामश्रुभिः सह भूमौ पपात। तस्मिन्पतिते ते रुरुदुरित्यर्थः। निमेषमात्रात्तद्व्यथां दुःखमवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वनाः क्ष्वेडास्तैः सहोत्थितश्च। तस्मिन्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादांश्चक्रुरित्यर्थः।

भावार्थ—रघु उस वज्र से छाती में चोट लगने से सैनिकों के रुदन के साथ पृथ्वी पर गिर गए, किन्तु क्षण भर में उस पीड़ा को दूर कर सैनिकों के हर्षनाद के साथ उठ कर खड़े हो गए ॥ ६१ ॥

तथाऽपि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्रगुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरं तस्थुषः अस्य वीर्यातिशयेन वृत्रहा तुतोष, हि गुणैः सर्वत्र पदं निधीयते।

तथाऽपीति। तथाऽपि वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे शात्रवे चिरं तस्थुषः स्थितवतोऽस्य रघोर्वीर्यातिशयेन वृत्रं हतवानिति वृत्रहा। 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्'। तुतोष। स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः। कथ शत्रोः सन्तोषोऽत आह–गुणैः सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनेषु पदमङ्घ्रिर्निधीयते। गुणैः सर्वत्र सक्रम्यत इत्यर्थः। गुणाः शत्रूनप्यावर्जयन्तीति भावः।

भावार्थ—वज्रप्रहार पर भी शस्त्रचलाने में निष्ठुर शत्रुभाव में बहुत समय तक स्थित इस रघु के बल की अधिकता से इन्द्र सन्तुष्ट हो गये, क्योंकि गुणों से ही सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है ॥ ६२ ॥

असंगमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम्।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—'सारवत्तया अद्रिषु अपि असङ्गं मे आयुधं त्वदन्येन न विसोढम्, मां प्रीतम् अवेहि, तुरङ्गमात् ऋते किम् इच्छसि' इति वासवः स्फुटम् आह।

असङ्गमिति। सारवत्तयाऽद्रिष्वप्यसङ्गमप्रतिबन्धं मे आयुधं वज्रं त्वदन्येन न विसोढम्। अतो मां प्रीतं सन्तुष्टमवेहि। तुरङ्गमादृते तुरङ्गं वर्जयित्वा। 'अन्यारादि'ति पञ्चमी। किमिच्छसीति स्फुटं वासव आह।तुरङ्गमादन्यददेयं नास्तीति भावः।

भावार्थ—'बल में पर्वतों में भी न रुकनेवाले मेरे वज्र को तुम्हारे अतिरिक्त और किसी ने नहीं सहन किया, अतः मुझे सन्तुष्ट समझो, घोड़े के अतिरिक्त क्या चाहते हो ?' इन्द्र ने स्पष्ट कहा ॥ ६३ ॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम्।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ततः निषङ्गात् असमग्रम् उद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिरञ्जितांगुलिम् इषुं प्रतिसंहरन् प्रियंवदः नरेन्द्रसूनुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् ।

तत इति । ततो निषङ्गात्तूणीरादसमग्रं यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिभी रञ्जिता अंगुल्यो येन तमिषुं प्रतिसंहरन्निवर्त्तयन् । नाप्रहरन्तं प्रहरेदिति निषेधाः दिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषद्' इति मुमागमः । नरेन्द्रसूनू रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् । न तु प्राहरदिति भावः ।

भावार्थ—तरकस से पूरा न निकाले हुए, अंगुलियों को रंग देनेवाली सुनहरे मूल भाग की कान्ति से युक्त वाण को तरकस में रख मधुरभाषी रघु ने इन्द्र से कहा ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे प्रभो ! अश्वम् अमोच्यं मन्यसे यदि ततः अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः विधिना एव कर्मणि समाप्ते (सति) क्रतोः अशेषेण फलेन युज्यताम् ।

अमोच्यमिति । हे प्रभो इन्द्र ! अश्वममोच्यं मन्यसे यदि ततस्तर्ह्यजस्रदीक्षायां प्रयतः स मद्गुरुर्मम पिता विधिनैव कर्मणि समाप्ते सति क्रतोर्यत्फलं तेन फलेनाशेषेण कृत्स्नेन युज्यतां युक्तोऽस्तु । अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः ।

भावार्थ—हे इन्द्र ! यदि आप इस घोड़े को अत्याज्य समझते हैं तो निरन्तर यज्ञ दीक्षा में तत्पर वे मेरे पिता विधिपूर्वक किये गये कर्म की समाप्ति होने पर अश्वमेध यज्ञ के पूरे फल से युक्त हों ॥ ६५ ॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे लोकेश ! सदोगतः त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः विशांपतिः च इमं वृत्तान्तं यथा तव एव संदेशहरात् शृणोति तथा विधीयताम् ।

यथेति । सदोगतः सदो गृहं गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टानामन्यतममूर्त्तित्वात् । दुरासदोऽस्मादृशैर्दुष्प्राप्यो विशांपतिर्यथेमं वृत्तान्तं तव सन्देशहराद्वार्त्ताहरादेव शृणोति च । हे लोकेशेन्द्र ! तथा विधीयताम् ।

भावार्थ—हे लोकपाल ! सभा में स्थित शिवजी के एक अंश होने से दुष्प्राप्य मेरे पिता जिस तरह इस समाचार को आप के ही दूत से सुनें वैसा आप करें ॥ ६६ ॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥

अन्वयः—मातलिसारथिः 'तथा' इति रघोः कामं प्रतिशुश्रुवान्, यथागतं ययौ; सुदक्षिणासूनुः अपि नातिप्रमनाः नृपस्य सद्मोपगृहं न्यवर्तत।

तथेतीति। मातलिसारथिरिन्द्रो रघोः सम्बन्धिनं कामं मनोरथं तथेति तथास्त्विति प्रतिशुश्रुवान्। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः। यथाऽऽगतं ययौ सुदक्षिणासूनू रघुरपि नातिप्रमना विजयलाभेऽप्यश्वनाशाशातीव तुष्टः सन्। नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नृपस्य सद्मोपगृहं प्रति न्यवर्तत।

भावार्थ—इन्द्र रघु से वैसा ही होगा ऐसी प्रतिज्ञा कर जिधर से आये थे उसी मार्ग से गये। रघु भी अनमना हो राजा दिलीप की सभा की ओर लौटे।

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—हरेः शासनहारिणा प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः तदीयं कुलिशव्रणाङ्कितम् अङ्गं हर्षजडेन पाणिना परामृशन् तम् अभ्यनन्दत्।

तमिति। हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथमं प्रबोधितो ज्ञापितः। वृत्तान्तमिति शेषः। प्रजेश्वरो दिलीपो हर्षजडेन हर्षशिथिलेन पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितम्। तस्य रघोरिदं तदीयम्। अङ्गं शरीरं परामृशंस्तं रघुमभ्यनन्दत्।

भावार्थ—इन्द्र दूत से पहिले ही जाने हुए राजा दिलीप ने उस रघु के वज्राङ्कित शरीर को हर्ष से काँपते हुए हाथ से छूकर उनकी प्रशंसा की।

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

अन्वयः—महनीयशासनः क्षितीशः इति महाक्रतूनां नवाधिकां नवतिं आयुषः क्षये दिवं समारुरुक्षुः सोपानपरम्परां इव ततान।

इतीति। महनीयशासनः पूजनीयाज्ञः क्षितीश इत्यनेन प्रकारेण 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः। महाक्रतूनामश्वमेधानां नवभिरधिकां नवतिमेकोनशतमायुषः क्षये सति दिवं स्वर्गं समारुरुक्षुरारोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पंक्तिमिव ततान।

भावार्थ—इस प्रकार आदरणीय आज्ञा वाले पृथ्वीपति दिलीप ने जीवन समाप्त होने पर स्वर्ग में चढ़ने की अभिलाषा से नौ अधिक नब्बे (९९) अश्वमेध यज्ञ की सीढ़ियों की कतार के समान रचना की ॥ ६९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—अथ विषयव्यावृत्तात्मा सः यथाविधि यूने सूनवे नृपतिककुदं सितातपवारणं दत्त्वा तया देव्या सह मुनिवनतरुच्छायां शिश्रिये हि गलितवयसाम् इक्ष्वाकूणां इदं कुलव्रतम् ।

अथेति । अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः स दिलीपो यथाविधि यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं राजचिह्नम् । 'ककुद्वत्ककुदं श्रेष्ठे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि' इति विश्वः । सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या सुदक्षिणया सह मुनिवनतरोश्छायां शिश्रिये श्रितवान् । वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः । तथाहि । गलितवयसां वृद्धानामिक्ष्वकूणामिक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम् । तद्राजसंज्ञकत्वादणो लुक् । इदं वनगमनं कुलव्रतम् । देव्या सहेत्यनेन सपत्नीकवानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः । तथा च याज्ञवल्क्यः—"सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् । वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्" इति हरिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—"रसयुगहयैन्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा" इति ।

भावार्थ—इसके बाद विषयों से विरक्त होकर वे वृद्ध राजा दिलीप युवक पुत्र रघु को नियमानुसार श्वेतच्छत्रादि राज्यचिह्न दे रानी के साथ तपोवन चले गये, क्योंकि वृद्ध इक्ष्वाकुओं की यही कुलपरम्परा थी ।। ७० ।।

त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्रिलिखित चन्द्रकला टीका में तृतीय सर्ग समाप्त ।



चतुर्थः सर्गः

अथ प्राप्तराज्यस्य राज्ञो रघोः कीदृशी शोभाऽऽसीदिति तामेवाह—

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥

अन्वयः—स गुरुणा दत्तं राज्यं दिनान्ते सवित्रा निहितं तेजः हुताशन इव प्रतिपद्य अधिकं बभौ ।

स इति । स रघुर्गुरुणा पित्रा दत्तं राज्यं राज्ञः कर्म प्रजापरिपालनात्मकम् । पुरोहितादित्वाद्यक् । प्रतिपद्य प्राप्य । दिनान्ते सायंकाले सवित्रा सूर्येण निहितं

तेजः प्रतिपद्य हुताशनोऽग्निरिव। अधिक बभौ। "सौरं तेजः सायमग्निं संक्रमते। आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति। अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति" इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम्।

भावार्थ—वे रघु पिता द्वारा दिए हुए राज्य को पाकर सायंकाल में सूर्य से स्थापित तेज को पाए हुए अग्नि के समान अधिक शोभित हुए ॥ १ ॥

अथ रघो राज्येऽवस्थानं श्रुत्वा शत्रूणां हृदि सन्तापाधिक्यं बभूवेत्याह—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥

अन्वयः—दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितं तं निशम्य राज्ञां हृदये पूर्वं प्रधूमितः अग्निः उत्थितः इव।

दिलीपेति। दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितमवस्थितं तं रघुं निशम्याकर्ण्य पूर्वं दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्जातः प्रधूमितोऽग्निः सन्तापाग्निरुत्थित इव प्रज्वलित इव। पूर्वेभ्योऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थः। राजकर्तृकस्यापि निशमनस्याग्नावुपचाराश्च समानकर्तृकत्वविरोधः।

भावार्थ—राजा दिलीप के बाद राज्य पर बैठे हुए उस रघु को सुनकर राजाओं के हृदय में जलती हुई सन्तापाग्नि मानो धधकने लगी ॥ २ ॥

अथ रघुं राज्येऽवस्थितं दृष्ट्वा सर्वा अपि प्रजाः प्रसन्ना बभूवुरित्याह—

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥

अन्वयः—पुरुहूतध्वजस्य इव तस्य नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः उन्नयनपङ्क्तयः सप्रजाः प्रजाः ननन्दुः।

पुरुहूतेति। पुरुहूतध्वजः। इन्द्रध्वजः। स किल राजभिर्वृष्ट्यर्थं पूज्यत इत्युक्तं भविष्योत्तरे—"एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर!। पर्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः।" इति। "चतुरस्रं ध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम्। आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम् ॥" इति। पुरुहूतध्वजस्येव तस्य रघोर्नवाभ्युत्थानमभ्युन्नतिमभ्युदयं च पश्यन्तीति नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः। ऊर्ध्वं प्रस्थिता उल्लसिताश्च नयनपङ्क्तयो यासां ताः सप्रजाः ससन्तानाः प्रजा जनाः। 'प्रजास्यात्सन्ततौ जने' इत्युभयत्राप्यमरः। ननन्दुः।

भावार्थ—इन्द्र की पताका की तरह रघु के नवीन वैभव को देखने वाली, सन्तान सहित प्रजायें आनन्दित हुईं ॥ ३ ॥

अथ रघुणा सिंहासनारोहणक्षणे एव शत्रुमण्डलमपि पदाक्रान्तमित्याह—

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—द्विरदगामिना तेन समम् एव द्वयं समाक्रान्तं पित्र्यं सिंहासनम् अखिलं अरिमण्डलं च ।

सममिति। द्विरद इव द्विरदैश्च गच्छतीति द्विरदगामी तेन। 'कर्तर्युपमाने' इति 'सुप्यजातौ' इति च णिनिः । तेन रघुणा समं युगपदेव द्वयं समाक्रान्तमधिष्ठितम् । किं तद् द्वयम् । पितुरागतं पित्र्यम् । 'पितुर्यत्' इति यत्प्रत्ययः । सिंहासनम् अखिलमरीणां मण्डलं राष्ट्रं च ।

भावार्थ—उस गजगामी रघु ने एक ही साथ पिता से प्राप्त सिंहासन और सम्पूर्ण शत्रुमण्डल दोनों को आक्रान्त किया ॥ ४ ॥

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—स्वयम् अदृश्या पद्मा छायामण्डललक्ष्येण पद्मातपत्रेण साम्राज्यदीक्षितं तं भेजे किल ।

छायेति । अत्र रघोस्तेजोविशेपेण स्वयं सन्निहितया लक्ष्म्या छत्रधारणं कृतमित्युत्प्रेक्षते। पद्मा लक्ष्मीः । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा: कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः। सा स्वयमदृश्या किल । किलेति सम्भावनायाम् । सती । छायामण्डललक्ष्येण कान्तिपुञ्जानुमेयेन न तु स्वरूपतो दृश्येन । छायामण्डलमित्यनेनातपज्ञानं लक्ष्यते । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्युभयत्राप्यमरः । पद्मातपत्रेण पद्ममेवातपत्रं तेन कारणभूतेन साम्राज्यदीक्षितं साम्राज्ये साम्राज्यकर्मणि मण्डलाधिपत्ये दीक्षितमभिषिक्तं तं भेजे। अन्यथा कथमेतादृशी कान्तिसम्पत्तिरिति भावः ।

भावार्थ—स्वयं अप्रकट हुई लक्ष्मी, कान्तिमण्डल से अनुमित कमलरूपी छत्र से साम्राज्य पर अभिषिक्त रघु की सेवा करने लगी ॥ ५ ॥

परिकल्पितसान्निध्या काले काले च वन्दिषु ।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥

अन्वयः—सरस्वती च काले काले वन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या स्तुत्यं (तम्) अर्थ्याभिः स्तुतिभिः उपतस्थे ।

परिकल्पितेति । सरस्वती च काले काले सर्वेष्वपि योग्यकालेषु । 'नित्यवी-

ष्वयोः' इति वीप्सायां द्विवचनम् । वन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या कृतसन्निधाना सती स्तुत्यं स्तोत्रार्हं तं रघुम् । अर्थ्याभिरर्थादनपेताभिः । 'धर्मपथ्यर्थ०' इति यत्प्रत्ययः । स्तुतिभिः स्तोत्रैरुपतस्थे । देवताबुद्ध्या पूजितवतीत्यर्थः ! देवतात्वं च (ना विष्णुः पृथिवीपतिः) इति वा लोकपालात्मकत्वाद्वेत्यनुसंधेयम् । एवं च सति 'उपाद्देव' इति वक्तव्यादात्मनेपदं सिध्यति ।

भावार्थ—और सरस्वती देवी ने समय-समय पर स्तुतिपाठकों की समीपवर्तिनी होकर स्तवनीय उस राजा का अर्थवती स्तुतियों से पूजन किया ॥ ६ ॥

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥

अन्वय—वसुन्धरा यद्यपि मनुप्रभृतिभिः मान्यैः राजभिः भुक्ता, तथापि तस्मिन् अनन्यपूर्वा इव आसीत् ।

मनुप्रभृतिभिरिति । वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिर्मन्वादिभिर्मान्यैः पूज्यै राजभिर्भुक्ता यद्यपि । भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे । 'अप्यर्थे यदि वाऽर्थे स्यात्' इति केशवः । तथाऽपि । तस्मिन् राज्ञि । अन्यः पूर्वो यस्याः साऽन्यपूर्वा अन्यपूर्वा न भवतीत्यनन्यपूर्वा अनन्योपभुक्तेवासीत् । तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तवतीत्यर्थः ।

भावार्थ—भारत वसुन्धरा यद्यपि मनु आदि माननीय राजाओं से भोगी गयी थी, तथापि उस रघु में दूसरे से न भोगी गई कामिनी की तरह अनुरक्त हुई ॥७॥

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

अन्वयः—स हि युक्तदण्डतया सर्वस्य लोकस्य मनः नातिशीतोष्णः दक्षिणः नभस्वान् इव आददे ।

स इति । हि यस्मात्कारणात्स रघुर्युक्तदण्डतया यथाऽपराधदण्डतया सर्वस्य लोकस्य मन आददे जहार । क इव । अतिशीतोऽत्युष्णो वा न भवतीति नातिशीतोष्णः । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समासः । दक्षिणो दक्षिणदिग्भवो नभस्वान्वायुरिव । मलयानिल इवेत्यर्थः । युक्तदण्डतयेत्यत्र कामन्दकः—"उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते । दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते" । इति ।

भावार्थ—क्योंकि अपराध के अनुसार दण्ड देने से रघु ने सब लोगों के मन को न अधिक ठंडे न गरम दक्षिण पवन के समान हरण कर लिया ॥ ८ ॥

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

अन्वयः—गुणाधिकतया तेन प्रजाः गुरौ सहकारस्य फलेन पुष्पोद्गमे इव मन्दोत्कण्ठाः कृताः ।

मन्देति। तेन रघुणा प्रजा गुरौ दिलीपविषये। सहकारोऽतिसौरभश्चूतः 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः। तस्य फलेन पुष्पोद्गमे पुष्पोदय इव ततोऽपि गुणाधिकतया हेतुना मन्दोत्कण्ठा अल्पौत्सुक्याः कृताः। गुणोत्तरश्चोत्तरो विषयः पूर्वं विस्मारयतीति भावः।

भाषार्थ—गुण की अधिकता से उस रघु ने प्रजा को अपने पिता के बारे में अल्पौत्सुक्य बना दिया, जैसे आम का फल जनता को बौर के विषय में मन्द उत्कण्ठा वाला बना देता है ॥ ९ ॥

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् ।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥

अन्वयः—नयविद्भिः नवे राज्ञि सत् असत् च उपदर्शितम्, तस्मिन् पूर्व एव पक्ष अभवत्, न उत्तरः ।

नयेति। नयविद्भिर्नीतिशास्त्रज्ञैर्नवे तस्मिन् राज्ञि विषये। तमधिकृत्येत्यर्थः। सद्धर्मयुद्धादिकमसत्कूटयुद्धादिकं चोपदर्शितम्। तस्मिन् राज्ञि पूर्वः पक्ष एवाभवत्। संक्रान्त इत्यर्थः। इतरः पक्षो नाभवत्। न संक्रान्त इत्यर्थः। तत्र सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतं नासत्। तदुद्भावनं तु ज्ञानार्थमेवेत्यर्थः। पक्षः साधनयोग्यार्थः। 'पक्ष पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति केशवः।

भाषार्थ—नीतिविशारदों ने महाराज रघु के प्रति धर्म और अधर्म दिखलाया किन्तु उस रघु में पहिला ही पक्ष ग्राह्य हुआ दूसरा नहीं ॥ १० ॥

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—पञ्चानाम् अपि भूतानां गुणाः उत्कर्षं पुपुषुः तस्मिन् नवे महीपाले सर्वं नवम् इव अभवत् ।

पञ्चानामिति। पृथिव्यादीनां भूतानामपि गुणा गन्धादय उत्कर्षमतिशयं पुपुषुः। अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन् रघौ नाम नवे महीपाले सर्वं वस्तुजातं नवमिवाभवत्। तदेव भूतजातमिदानीमपूर्वगुणयोगादपूर्वमिवाभवदिति भावः।

भावार्थ—पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों के भी गन्ध आदि गुण अत्यन्त पुष्ट हुए। उस नवीन महाराज के राजा होने पर सब वस्तु मानो नई सी हुई ॥११॥

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥

अन्वयः—यथा चन्द्रः प्रह्लादनात्, यथा तपनः प्रतापात्, तथा एव स राजा प्रकृतिरञ्जनात् अन्वर्थः अभूत्।

यथेति। यथा चन्द्रयत्याह्लादयतीति चन्द्र इन्दुः। 'चदिधातोरौणादिको रप्रत्ययः। प्रह्लादनाह्लादकरणादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोऽभूत्। यथा च तपतीति तपनः सूर्यः। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' इत्यनेन ल्युट्प्रत्ययः। प्रतापात्सन्तापजननादन्वर्थः। तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूत्। यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिन्प्रत्ययान्तो न तु रञ्जेस्तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेरुपुक्तं कविना।

भावार्थ—जिस प्रकार आनन्द देने से चन्द्रमा और सन्ताप देने से सूर्य सार्थक नाम वाले हुए उसी प्रकार वे रघु प्रजा को प्रसन्न करने से सार्थक नाम वाले हुए ॥ १२ ॥

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥

अन्वयः—तस्य लोचने विशाले कर्णान्तविश्रान्ते कामम् सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेण तु चक्षुष्मत्ता।

काममिति। विशाले तस्य रघोर्लोचने कामं कर्णान्तयोर्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते। चक्षुष्मत्ता तु चक्षुःफलं त्वित्यर्थः। सूक्ष्मान् कार्यार्थान्कर्तव्यार्थान्दर्शयति प्रकाशयतीति सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव शास्त्र दृष्टिविवेकिनामिति भावः।

भावार्थ—यद्यपि रघु की आँखें कान तक फैली हुई बड़ी थी, किन्तु कूटनीति बतलाने वाले शास्त्र से ही वे अपने को आँखवाला मानते थे ॥१३॥

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

अन्वयः—अथ लब्धप्रशमनस्वस्थम् एनं पङ्कजलक्षणा शरत् द्वितीया पार्थिवश्री इव समुपस्थिता।

लब्धेति। अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनामनुरञ्जनप्रतीकाराभ्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेनं रघुं पङ्कजलक्षणा पद्मचिह्ना श्रियोऽपि विशेषणमेतत्। शरद्। द्वितीया पार्थिवश्री राजलक्ष्मीरिव समुपस्थिता प्राप्ता। "रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा, योधानामपि संग्रहोऽपि तुल्या

मानव्यवस्थापनम् । साम्यं लिङ्गेषु दानवृत्तिकरणं त्यागं समानेऽर्चनं, कार्याण्येव महीभुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे ।"

भावार्थ—उसके बाद प्राप्त राज्य की यथोचित व्यवस्था करने से शान्त-चित्त उस रघु को कमलचिह्न वाली शरदृतु दूसरी राज्यलक्ष्मी के समान उप-स्थित हुई ॥ १४ ॥

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तावर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तस्य भानोः च निर्वृष्टलघुभिः मेघैः मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः प्रतापः युगपत् दिशः व्यानशे ।

निर्वृष्टेति । निःशेषं वृष्टा निर्वृष्टाः । कर्तरि क्तः । अत एव लघवः । तैर्मेघैर्मुक्तवर्त्मात्यक्तमार्गः । अत एव सुदुःसहः । तस्य रघोर्भानोश्च प्रतापः पौरुषमातपश्च । 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति यादवः । युगपद् दिशो व्यानशे व्याप ।

भावार्थ—उसके और पानी बरसा चुकने से हलके हुए बादलों से राह छोड़े हुए अत्यन्त दुःसह सूर्य के प्रताप ने एक साथ ही दिशाओं को व्याप्त कर लिया ॥ १५ ॥

वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजाऽर्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥

अन्वयः—इन्द्रः वार्षिकं धनुः सञ्जहार, रघुः जैत्रं (धनुः) दधौ, तौ हि प्रजार्थसाधने पर्यायोद्योतकार्मुकौ ।

वार्षिकमिति । इन्द्रः । वर्षासु भवं वार्षिकम् । वर्षानिमित्तमित्यर्थः । 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः । धनुः संजहार । रघुजैत्रं जयशीलम् । जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । धनुर्दधौ । हि यस्मात्ताविन्द्ररघू प्रजानामर्थस्य प्रयोजनस्य वृष्टिविजयलक्षणस्य साधनविषये पर्यायेणोद्यते कार्मुके याभ्यां तौ पर्यायोद्यतकार्मुकौ । 'पर्यायोद्यमविश्रमौ' इति पाठान्तरे पर्यायेणोद्यमो विश्रमश्च ययोस्तौ पर्यायोद्यमविश्रमौ । द्वयोः पर्यायकरणादक्लेश इति भावः ।

भावार्थ—इन्द्र ने वर्षा वाले धनुष को रख दिया रघु ने विजय शील धनुष उठाया, वे दोनों प्रजा के कार्य साधन में बारी-बारी से धनुर्धारी हुए ॥ १६ ॥

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—पुण्डरीकातपत्रः विकसत्काशचामरः ऋतुः तं विडम्बयामास, तच्छ्रियं पुनः न प्राप ।

पुण्डरीकेति। पुण्डरीकं सिताम्भोजमेवातपत्रं यस्य स तथोक्तः। विकसन्ति काशानि काशाख्यतृणकुसुमान्येव चामराणि यस्य स तथोक्तः। ऋतुः शरदृतुः पुण्डरीकनिभातपत्रं काशनिभचामरं तं रघुं विडम्बयामासानुचकार। तस्य रघोः श्रियं पुनः शोभां तु न प्राप। 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव कथ्यते' इति शाश्वतः॥ १७॥

भावार्थ—श्वेत कमल रूपी छत्र वाली खिले हुए कासरूपी चँवर वाली शरद् ऋतु ने उस रघुका अनुकरण किया, किन्तु रघुकी शोभा को न पा सकी।

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः॥ १८॥

अन्वयः—प्रसादसुमुखे तस्मिन् च विशदप्रभे चन्द्रे द्वयोः तदा चक्षुष्मतां प्रीतिः समरसा आसीत्।

प्रसादेति। प्रसादेन सुमुखे तस्मिन् रघौ विशदप्रभे निर्मलकान्तौ चन्द्रे च द्वयोर्विषये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरनुरागः समरसा समस्वादा। तुल्ययोगेति यावत्। 'रसो गन्धे रसः स्वादे' इति विश्वः। आसीत्।

भावार्थ—तब सुन्दर मुख रघु और निर्मल कान्ति चन्द्रमा के प्रति दर्शकों का समान अनुराग हुआ॥ १८॥

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव॥ १९॥

अन्वयः—हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु वारिषु च तदीयानां यशसां विभूतयः पर्यस्ताः इव।

हंसश्रेणीष्विति। हंसानां श्रेणीषु पंक्तिषु तारासु नक्षत्रेषु कुमुदानि येषु सन्तीति कुमुद्वन्ति। 'कुमुद्वान्कुमुदप्राये' इत्यमरः। 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्। तेषु कुमुदप्रायेष्वित्यर्थः। वारिषु च तदीयानां रघुसम्बन्धिनां यशसां विभूतयः सम्पदः पर्यस्ता इव प्रसारिताः किम्। इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथमेषां धवलिमेति भावः।

भावार्थ—हंसपंक्तियों में, तारागणों में और काई वाले जल में मानों उस रघु की कीर्ति को विभूति फैली हुई थी॥ १९॥

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ २०॥

अन्वयः—इक्षुच्छायनिषादिन्यः शालिगोप्यः तस्य गुणोदयम् आकुमारकथोद्घातं यशः जगुः।

इक्षुच्छायेति। इक्षूणां छायेक्षुच्छायम्। 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम्। तत्र

स्त्वम् । तत्र निषण्णा इक्षुच्छायानिषादिन्यः 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोश्छायेति विग्रहः । अन्यथा बहुत्वे नपुंसकत्वप्रसङ्गात् । शालीन् गोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः सस्यपालिकाः स्त्रियः । 'कर्मण्यण्' 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप् । गोप्तुः रक्षकस्य तस्य रघोः । गुणेभ्य उदयो यस्य तद् गुणोदयं गुणोत्पन्नमाकुमारं कुमारादारभ्य कथाऽऽरम्भो यस्य तत् । कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः । यशो जगुर्गायन्ति स्म । अथवा कुमारस्य सतो रघोर्याः कथा इन्द्रविजयादयस्तत आरभ्याकुमारकथम् । तत्राप्यभिविधावव्ययीभावः । आकुमारकथमुद्घातो यस्मिन्कर्मणि । गानक्रियाविशेषणमेतत् । 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इत्यमरः । 'आकुमारकथोद्भूतम्' इति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैरुद्भूतं यद्यशस्तद्यश आरभ्य यशो जगुरिति व्याख्येयम् ।

भावार्थ—इक्षु छाया में बैठी हुई धान की रक्षिका स्त्रियाँ रक्षक रघु के से उत्पन्न आबालप्रसिद्ध यश को गाने लगीं ॥ २० ॥

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

अन्वयः— महौजसः कुम्भयोनेः उदयात् अम्भः प्रससाद (महौजसः) रघोः (उदयात्) द्विषताम् अभिभवाशङ्कि मनः चुक्षुभे ।

प्रससादेति । महौजसः कुम्भयोनेरगस्त्यस्य । 'अगस्त्यः कुम्भसंभवः' इत्यमरः । उदयादम्भः प्रससाद प्रसन्नं बभूव । महौजसो रघोरुदयाभिभवाशङ्कि द्विषतां मनश्चुक्षुभे कालुष्यं प्राप । 'अगस्त्योदये जलानि प्रसीदन्ति' इत्यागमः ।

भावार्थ—तेजस्वी अगस्त्य नक्षत्र के उदय से जल स्वच्छ हो गया और महापराक्रमी रघु के अभ्युदय से वैरियों का मन पराजय से आशङ्कित हो गया ॥२१॥

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः महोक्षाः तस्य लीलाखेलं विक्रमं अनुप्रापुः ।

मदोदग्रा इति । मदोदग्रा मदोद्धताः । ककुदेषामस्तीति ककुद्मन्तः, महाककुद इत्यर्थः । यवादित्वान्मकारस्य वत्वाभावः । सरितां कूलान्युद्रुजन्तीति कूलमुद्रुजाः । 'उदि कूले' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषद्' इत्यादिना मुमागमः । महान्त उक्षाणो महोक्षाः । 'अचतुर–' इत्यादिना निपातनादकारान्तः । लीलाखेलं विलाससुभगं तस्य रघोरुत्साहवतो वपुष्मतः परभञ्जकस्य विक्रमं शौर्यमनुप्रापुरनुप्रापु रनुचक्रुः ।

भावार्थ—मदोद्धत बृहत्स्कन्ध, नदी-तटों को खोदने वाले बैलों ने उस रघु की विहार-क्रीडा का अनुकरण किया ॥ २२ ॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

अन्वयः—सप्तपर्णानां मदगन्धिभिः प्रसवैः आहताः तन्नागाः असूयया इव सप्तधा एव प्रसुस्रुवुः ।

प्रसवैरिति । मदस्येव गन्धो येषां तैर्मदगन्धिभिः । 'उपमानाच्च' इतीकारः समासान्तः । सप्तपर्णानां वृक्षविशेषाणाम् । 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । प्रसवैः पुष्पैराहतास्तस्य रघोर्नागा गजाः । 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः । असूययेवाहतिनिमित्तया स्पर्धयेव सप्तधैव प्रसुस्रुवुर्मदं ववृषुः । प्रतिगजगन्धाभिमानादिति भावः । 'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदस्रुतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः ।

भावार्थ—रघु के मद गन्ध सप्तपर्ण-पुष्पाहत हाथी मानो डाह से सातों अङ्गों से मद बरसाने लगे ॥ २३ ॥

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरद् ॥ २४ ॥

अन्वयः—सरितः गाधाः कुर्वती च पथः आश्यानकर्दमान् (कुर्वती) शरद् शक्तेः प्रथमं तं यात्रायै चोदयामास ।

सरित इति । सरितो गाधाः सुप्रतराः कुर्वती । पथो मार्गांश्चाश्यानकर्दमाञ्छुष्कपङ्कान्कुर्वती । 'ससंयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम् । शरच्छरदृतुस्तं रघुं शक्तेरुत्साहशक्तेः प्रथमं प्राग्यात्रायै दण्डयात्रायै चोदयामास प्रेरयामास । प्रभावमन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत्स्वयमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थः ।

भावार्थ—नदियों को घटाती हुई और मार्ग के कीचड़ को सुखाती हुई शरद् ऋतु ने रघु को उत्साहशक्ति के पहले प्रेरणा की ॥ २४ ॥

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

अन्वयः—वाजिनीराजनाविधौ सम्यक् हुतः वह्निः प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेन इव तस्मै जयं ददौ ।

तस्मा इति । वाजिनामश्वानां नीराजनाविधौ नीराजनाऽऽख्ये शान्तिकर्मणि सम्यग्विधिवद् हुतो होमसमिद्धो वह्निः प्रागतो दक्षिणं प्रदक्षिणम् । तिष्ठद्गुप्रभृति

त्वादव्ययीभावः। प्रदक्षिणां यार्ऽचिज्वाला तस्या व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जयं ददौ। उक्तमाहवयात्रायाम्—'इद्धः प्रदक्षिणगतो हुतभुङ् नृपस्य धात्रीं समुद्ररशनां वशगां करोति' इति। वाजिग्रहणं गजादीनामप्युपलक्षणं तेषामपि नीराजनाविधानात्।

भावार्थ—घोड़ों के नीराजन में विधिवत् हवन की गयी अग्नि ने दक्षिण ज्वाला से उस रघु को विजय दिया॥ २५॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥ २६॥

अन्वयः—गुप्तमूलप्रत्यन्तः, शुद्धपार्ष्णिः, अयान्वितः सः षड्विधं बलं आदाय, दिग्जिगीषया प्रतस्थे।

स इति। गुप्तौ मूलं स्वनिवासस्थानं प्रत्यन्तः प्रान्तदुर्गं च येन स गुप्तमूलप्रत्यन्तः। शुद्धपार्ष्णिरुद्धृतपृष्ठशत्रुः सेनया रक्षितपृष्ठदेशा वा। अयान्वितः शुभदेवान्वितः 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। स रघुः, षड्विधं मौलभृत्यादिरूपं बलं सैन्यम्। 'मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्' इति कोषः। आदाय दिशां जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे चचाल।

भावार्थ—दुर्ग आदि की रक्षा का प्रबन्ध कर, पृष्ठदेशस्थ राजाओं के उन्मूलक रघु यात्रा के समय मङ्गलाचरण करके ६ प्रकार की सेना ले दिग्विजयेच्छा से चले।

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम्॥ २७॥

अन्वयः—वयोवृद्धाः पौरयोषितः लाजैः तं क्षीरोर्मयः मन्दरोद्धूतैः पृषतैः अच्युतम् इव अवाकिरन्।

अवाकिरन्निति। वयोवृद्धाः पौरयोषितस्तं रघुं प्रयान्तं लाजैराचारलाजैः। मन्दरोद्धूतैः पृषतैर्बिन्दुभिः क्षीरोर्मयः, क्षीरसमुद्रोर्मयोऽच्युतं विष्णुमिव। अवाकिरन्पर्यक्षिपन्।

भावार्थ—नगर की वृद्धाओं ने धान के लावों से रघु, पर वर्षा की जैसे क्षीरसागर की लहरों ने मन्दराचल से उठे हुए छींटों से विष्णुजी के ऊपर वर्षा की थी।

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः॥ २८॥

अन्वयः—प्राचीनबर्हिषा तुल्यः सः अनिलोद्धूतैः केतुभिः अहितान् तर्जयन् इव प्रथमं प्राचीं ययौ।

स इति। प्राचीनबर्हिर्नाम कश्चिन्महाराज इति केचित्। प्राचीनबर्हिरिन्द्रः।

'पर्जन्यो मघवा वृषा हरिहयः प्राचीनबर्हिः स्मृतः' इतीन्द्रपर्यायेषु हलायुधाभिधानात् तेन तुल्यः स रघुः अनिलेनानुकूलवातेनोद्धूतैः केतुभिर्ध्वजरहितान्रिपूस्तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव। तर्जिभर्त्स्योरनुदात्तत्त्वेऽपि चक्षिङो ङित्करणेनानुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदमिति वामनः। प्रथमं प्राची दिशं ययौ।

भावार्थ—प्राचीनबर्हिष इन्द्र के समान रघु वायु से फहराती हुई पताकाओं से शत्रुओं को डराते हुए पहले पूर्व दिशा की ओर गये ॥ २८ ॥

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—स्यन्दनोद्धूतैः रजोभिः घनसन्निभैः गजैः च व्योम भुवस्तलम् इव भूतलं च व्योम इव कुर्वन् (ययौ)।

रजोभिरिति। किं कुर्वन् स्यन्दनोद्धूतैः रजोभिर्घनसन्निभैर्वर्णतः, क्रियातः, परिमाणतश्चमेघतुल्यैर्गजैश्च यथाक्रमं व्योमाकाशम्भुवस्तलमिव भूतलेन व्योमेव कुर्वन्ययाविति च पूर्वेणान्वयः।

भावार्थ—वे रथोत्थ धूल से और मेघतुल्य हाथियों से आकाश को धरणी और धरणी को आकाश के समान करते हुए चले ॥ २९ ॥

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

अन्वयः—अग्रे प्रतापः, ततः शब्दः, तदनन्तरं परागः, पश्चात् रथादि इति चतुःस्कन्धा इव सा चमूः ययौ।

प्रताप इति। अग्रे प्रतापस्तेजोविशेषः। 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। ततः शब्दः सेनाकलकलः। तदनन्तरं परागो धूलिः। 'परागः पुष्परजसि, धूलिस्नानीययोरपि' इति विश्वः। पश्चाद्रथादि रथाश्वादिकं चतुरङ्गबलम्। 'रथानीकम्' इति पाठे, इति शब्दाध्याहारेण योज्यम्। इतीत्थं चतुःस्कन्धेव चतुर्व्यूहेव। 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायांशे विज्ञानादिषु पञ्चसु। नृपे समूहे च' इति हेमः। सा चमूर्ययौ।

भावार्थ—आगे रघु का प्रताप, पीछे सेना का कोलाहल और धूलि, फिर रथ आदि इस प्रकार चतुर्व्यूहसम वह सेना चली ॥ ३० ॥

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—शक्तिमत्वात् सः मरुपृष्ठानि उदम्भांसि नाव्याः नदीः सुप्रतराः च विपिनानि प्रकाशानि चकार।

मरुति। स रघुः शक्तिमत्त्वात्समर्थत्वान्मरुपृष्ठानि निर्जलस्थानानि। 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। उदम्भांस्युद्भूतजलानि चकार। नाव्याः नौभिस्तार्याः नदीः। 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः। 'नौवयो' इत्यादिना यत्प्रत्ययः सुप्रतराः सुखेन तार्याश्चकार। विपिनान्यरण्यानि। 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः। प्रकाशानि निर्वृक्षाणि चकार। शक्त्युत्कर्षात्तस्यागम्य किमपि नासीदिति भावः।

भावार्थ—शक्तिमान् रघु ने निर्जल प्रदेशों को जलयुक्त, नाव से पार होने लायक नदियों को आसानी से पार होने योग्य और जंगलों को प्रकाशयुक्त कर दिया॥ ३१॥

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम्।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः॥ ३२॥

अन्वयः—पूर्वसागरगामिनी महतीं सेनां कर्षद् सः हरजटाभ्रष्टां गङ्गां (कर्षन्) भगीरथः इव बभौ।

स इति। महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षद् स रघुः हरस्य जटाभ्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् (साऽपि पूर्वसागरगामिनी)। भगीरथ इव बभौ। भगीरथो नाम कश्चित्कपिलदग्धानां सगराणां नप्ता, तत्पावनाय हरकिरीटाद् गङ्गां प्रवर्तयिता राजा, यत्सम्बन्धाद् गङ्गा च भागीरथी गीयते।

भावार्थ—पूर्वसमुद्रगामिनी बहुत बड़ी सेना से रघु शिवजटा-निःसृत पूर्वसागरगामिनी गङ्गा से भगीरथ के समान शोभित हुए॥ ३२॥

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः।
तस्यासीदुल्वणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः॥ ३३॥

अन्वयः—फलं त्याजितैः उत्खातैः बहुधा भग्नैः पादपैः च नृपैः दन्तिन इव तस्य मार्गः उल्वणः आसीत्।

त्याजितैरिति। फलं लाभम्। 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः' इति केशवः। वृक्षपक्षे प्रसवं च। त्याजितैः। त्यजेर्ण्यन्ताद् द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः। उत्खातैः स्वपदाच्च्यावितैः। अन्यत्रोत्पाटितैः। बहुधा भग्नै रणे जितैः। अन्यत्र छिन्नैः। नृपैः। पादपैर्दन्तिनो गजस्येव। तस्य रघोर्मार्गे उल्वण प्रकाश आसीत्। 'प्रकाशं प्रकटं स्पष्टमुल्वणं विशदं स्फुटम्' इति यादवः।

भावार्थ—फल रहित, जड़ से उखाड़े गए, तोड़-मरोड़ दिए गए वृक्षों से हाथी के मार्ग के समान, राज्यच्युत परास्त शत्रुओं से रघु का मार्ग निष्कण्टक हुआ।

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—जयी सः एवं पौरस्त्यान् तान् तान् जनपदान् आक्रामन् तालीवनश्यामं महोदधेः उपकण्ठं प्राप ।

पौरस्त्यानिति । जयी जयनशीलः । 'जिदृक्षिविश्री०' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । स रघुरेवम् । पुरो भवान्पौरस्त्यान्प्राच्यान् । 'दक्षिणापश्चादिति त्यक् । तांस्तान् । सर्वानित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । जनपदान् देशानाक्रामंस्तालीवनैः श्यामं महोदधेरुपकण्ठमन्तिकं प्राप ।

भावार्थ—वो विजयी रघु पूर्ववर्ती उन देशों को जीतते हुए ताड़ वृक्षों से श्यामवर्ण समुद्र के तट पर पहुँचे ॥ ३४ ॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अनम्राणां समुद्धर्तुः तस्मात् सिन्धुरयात् इव सुह्मैः वैतसीं वृत्तिं आश्रित्य आत्मा संरक्षितः ।

अनम्राणामिति । अनम्राणाम् । कर्मणि षष्ठी । समुद्धर्तुरुन्मूलयितुस्तस्माद्रघोः सकाशात् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी । सिन्धुरयान्नदीवेगादिव सुह्मैः सुह्मदेशीयैः । सुह्मादयः जनपदवचनाः क्षत्रियमाचक्षते । वैतसीं वेतसः सम्बन्धिनीं वृत्तिम् प्रणतिमित्यर्थः । आश्रित्य । आत्मा संरक्षितः । अत्र कौटिल्यः 'बलीयसाऽभियुक्तो दुर्बलः सर्वत्रानुप्रणतो वैतसधर्ममातिष्ठेत्' इति ।

भावार्थ—उद्दण्ड राजाओं के उन्मूलक रघु से सुह्मदेशीय राजाओं ने नदी से वेतों के समान झुककर अपने को बचाया ॥ ३५ ॥

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—नौसाधनोद्यतान् वङ्गान् तरसा उत्खाय नेता सः गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु जयस्तम्भान् निचखान ।

वङ्गानिति । नेता नायकः स रघुर्नौभिः साधनैरुद्यतान् संनद्धान्वङ्गान्राज्ञस्तरसा बलेन । 'तरसा बलरंहसी' इति यादवः । उत्खायोन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणामन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान स्थानितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—जङ्गी बेड़ों से युद्ध के लिए सन्नद्ध वङ्गाल के राजाओं को बलपूर्वक जीत कर सेनानी रघु ने गङ्गा के प्रवाहों के बीच टापुओं में अपने विजयस्तम्भों को गाड़ दिया ॥ ३६ ॥

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—आपादपद्मप्रणताः उत्खातप्रतिरोपिताः ते कलमा इव रघुं फलैः संवर्धयामासुः ।

आपादेति । आपादपद्ममङ्घ्रिपद्मपर्यन्तं प्रणताः । अत एवोत्खाताः पूर्वमुद्धता अपि प्रतिरोपिताः पश्चात्स्थापितास्ते वङ्गाः, कलमा इव शालिविशेषा इव । *'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी'* इत्यमरः । तेऽप्यापादपद्मं पादपद्ममूलपर्यन्तं प्रणताः । 'पादो बुध्ने तुरीयांशशैलप्रत्यन्तपर्वताः' इति विश्वः । उत्खातप्रतिरोपिताश्च । रघुं फलैर्धनैः । अन्यत्र सस्यैः संवर्धयामासुः । 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः । सस्ये' इति केशवः ।

भावार्थ—चरणों मे प्रणत, हटा कर फिर राजगद्दी पर प्रतिष्ठित, वङ्गदेशीय राजाओं ने धन द्वारा रघु को, झुके हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाये साठी धान द्वारा फलों से किसान की तरह परिपूर्ण कर दिया ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सः बद्धद्विरदसेतुभिः सैन्यैः कपिशां तीर्त्वा उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखः ययौ ।

स इति । स रघुर्बद्धा द्विरदा एव सेतवो यैस्तैः सैन्यैः कपिशां नाम नदीं तीर्त्वा । 'करभाम्' इति केचित्पठन्ति । उत्कलैः राजभिरादर्शितपथः सन्दर्शितपथः सन् । कलिङ्गाभिमुखो ययौ ।

भावार्थ—राजा रघु हाथियों से पुल बँधवा कर सेनासहित कपिशा नदी को पार कर उत्कल देश के राजाओं से मार्ग दिखाये हुए कलिंग देश की ओर चले ।

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सः महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं प्रतापं यन्ता गम्भीरवेदिन द्विरदस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं अङ्कुशम् इव न्यवेशयत् ।

स इति । स रघुर्महेन्द्रस्य कुलपर्वतविशेषस्य । 'महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्ति-

मानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः' । इति विष्णुपुराणात् मूर्ध्नि तीक्ष्णं दुःसहं प्रतापम् । यन्ता सारथिर्गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य गजविशेषस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं शितमङ्कुशमिव । न्यवेशयन्निक्षिप्तवान् । 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य कथनादपि आत्मानं यो न जानाति सा स्याद् गम्भीरवेदिता' । इति राजपुत्रीये । चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि । गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः' इति मृगचर्मीये ।

भावार्थ—उस रघु ने महेन्द्र पर्वत की चोटी पर अपने प्रबल प्रताप को रखा, जैसे महावत मत्त गम्भीरवेदी हाथी के मस्तक पर तीखा अंकुश रखता है।

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४० ॥

अन्वयः—तं गजसाधनः कलिङ्गः अस्त्रैः पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षी पर्वतः इव प्रतिजग्राह ।

प्रतीति । गजसाधनः सन् कलिङ्गानां राजा 'द्व्यञ्मगध' इत्यनेनाण्प्रत्ययः। अस्त्रैरायुधैस्तं रघुम् । पक्षाणां छेदे उद्यतमुद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव प्रतिजग्राह प्रत्यभियुक्तवान् ।

भावार्थ—जैसे पत्थर बरसाने वाले पर्वतों ने अस्त्रों से पंख काटने में तत्पर इन्द्र का सामना किया था वैसे ही हाथी साधने वाले कलिङ्ग राज ने मोर्चा लिया ॥ ४० ॥

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तत्र द्विषां नाराचदुर्दिनं विषह्य काकुत्स्थः सन्मङ्गलस्नातः इव जयश्रियं प्रतिपेदे ।

द्विषामिति । काकुत्स्थो रघुस्तत्र महेन्द्राद्रौ द्विषां नाराचदुर्दिनं नाराचा बाणविशेषाणां दुर्दिनम् । लक्षणया वर्षमुच्यते । विषह्य सहित्वा सद्यथाशास्त्रं मङ्गलस्नात इव विजयमङ्गलार्थमभिषिक्त इव जयश्रियं प्रतिपेदे पाप । 'यत्तु सर्वौषधिस्नानं तन्माङ्गल्यमुदीरितम्' इति यादवः ।

भावार्थ—उस पर्वत पर शत्रुओं के बाणों की घोर वर्षा को सहन करके काकुत्स्थ रघु ने मङ्गल के लिए स्नात के समान विजय-लक्ष्मी पायी ॥ ४१ ॥

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तत्र रचितापानभूमयः योधाः नारिकेलासवं शात्रवं यशः च ताम्बूलीनां दलैः पपुः।

ताम्बूलीनामिति। तत्र महेन्द्राद्रौ युध्यन्त इति योधाः। पचाद्यच्। रचिताः कल्पिता आपानभूमयः पानयोग्यप्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो नारिकेलासवं नारिकेलमद्यं ताम्बूलीनां नागवल्लीनां दलैः पपुः। तत्र विजह्रुरित्यर्थः। शात्रवं यशश्च पपुः जह्रुरित्यर्थः।

भावार्थ—पर्वत पर मद्यपान के लिये स्थान बनाकर रघु के सैनिकों ने नारियल के मद्य को पान के पत्तों में पिया और शत्रुओं के यश को भी हरण कर लिया।

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—धर्मविजयी सः नृपः गृहीतप्रतिमुक्तस्य महेन्द्रनाथस्य श्रियं जहार; मेदिनीं तु न (जहार)।

गृहीतेति। धर्मविजयी धर्मार्थं विजयशीलः स नृपो रघुः। गृहीतश्चासौ प्रतिमुक्तश्च गृहीतप्रतिमुक्तः। तस्य महेन्द्रनाथस्य कालिङ्गस्य श्रियं जहार। धर्मार्थमिति भावः। मेदिनीं तु न जहार। शरणागतवात्सल्यादिति भावः।

भावार्थ—धर्मविजेता राजा रघु ने पकड़ कर मुक्त किए गए महेन्द्र गिरि के राजा की लक्ष्मी को हर लिया, राज्य को नहीं ॥ ४३ ॥

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ततः अनाशास्यजयः फलवत्पूगमालिना वेलातटेन एव अगस्त्याचरिताम् आशां ययौ।

तत इति। ततः प्राचीविजयानन्तरम् फलवत्पूगमालिना फलितक्रमुकश्रेणीमता। व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः। वेलायाः समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैवागस्त्येनाचरितामाशां दक्षिणां दिशमनाशास्यजयः। अयत्नसिद्धत्वादप्रार्थनीयजयः सन् ययौ। 'अगस्त्यो दक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थितः। वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्दनः' इति ब्रह्मपुराणे।

भावार्थ—पूर्व दिशा को जीत कर आशातीत विजयी रघु फलसंयुक्त सुपारी के विपिन की कतारवाले समुद्र के किनारे-२ अगस्त्यमुनिसेवित दक्षिण की ओर चले ॥ ४४ ॥

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सः गजदानसुगन्धिना सैन्यपरिभोगेण कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयाम् इव अकरोत् ।

स इति । सः रघुः गजानां मदेन दानेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना । 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारादेशः समासान्तः । यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, तथाऽपि 'निरङ्कुशाः कवयः' तथा माघकाव्ये–'ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः सततमास्ततगानगिरोऽलिभिः' (६।५०) नैषधे च–'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा' (३।९४)इति। 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षेऽपि जघन्य एव। 'सेनाया सेनायां समवेता. सैन्याः'। 'सेनाया समवेता ये सैनिकाश्च ते' इत्यमरः। सेनाया वा' इति ण्यप्रत्ययः। तेषां परिभोगेण कावेरीं नाम सरितं, सरितां पत्युः समुद्रस्य शङ्कनीयामविश्वसनीयामिवाकरोत्। संभोगलिङ्गदर्शनाद्भर्तुरविश्वासो भवतीति भावः।

भावार्थ—उस रघु ने गजमदगन्धित सैनिकों की विलासलीला से कावेरी को समुद्र के प्रति मानो अविश्वसी बना दिया ॥४५॥

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—'विजिगीषोः गताध्वनः तस्य बलैः, मारीचोद्भ्रान्तहारिताः मलयाद्रेः उपत्यकाः अध्युषिताः।

बलैरिति। विजिगीषोर्विजेतुमिच्छोर्गताध्वनस्तस्य रघोर्बलैः सैन्यैः। 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति यादवः। मारीचेषु मरीचवनेषूद्भ्रान्ताः परिभ्रान्ताः हारीताः पक्षिविशेषा यासु ताः। 'तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः' इत्यमरः। मलयाद्रेरुपत्यका आसन्नभूमयः। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां' इत्यनेन त्यकन् अध्युषिताः उपत्यकासूषितमित्यर्थः। 'उपान्वध्याङ्'-इति कर्मत्वम्।

भावार्थ—विजयेच्छु, कुछ मार्ग पार कर चुके राजा रघु की सेना ने मिर्च के वनों में उड़नेवाली हारीत चिड़ियों वाले पर्वत की तराई में विश्राम किया।

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अश्वक्षुण्णानाम् एलानाम् उत्पतिष्णवः फलरेणवः तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु ससञ्जुः।

ससञ्जुरिति। अश्वैः क्षुण्णानामेलालतानामुत्पतिष्णव उत्पतनशीलाः। 'अलंकृञ्निराकृञ्—' इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः। फलरेणवः फलरजांसि तुल्यगन्धिषु समानगन्धिषु। सर्वधनीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः। मत्तेभानां कटेषु ससञ्जुः सक्ताः। 'गजगण्डकटीकटौ' इति कोशः।

भावार्थ—घोड़ों की टापों से चूर्णित इलायची के फलों की उड़ती हुई धूलियाँ समानगन्धी गजों की कनपटी में गयी ॥ ४७ ॥

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—चन्दनानां भोगिवेष्टनमार्गेषु समर्पितं त्रिपदीच्छेदिनां अपि करिणां ग्रैवं न अस्रसत्।

भोगीति। चन्दनानां चन्दनद्रुमाणां भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्ववेष्टनाभिम्नेषु समर्पितं सक्तं त्रिपदीछेदिनां पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादवः। करिणाम्। ग्रीवासु भवं ग्रैवं कण्ठबन्धनम्। 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इत्यण्प्रत्ययः। नास्रसन्नस्रस्तमभूत्। 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुषादित्वादङ्। 'अनिदिता'मिति नलोपः।

भावार्थ—चन्दन के वृक्षों में साँपों के लिपटने की रेखाओं में बंधे हुऐ पैर के सीकड़ को तोड़ डालने वाले हाथियों के गले के बन्धन ढीले नहीं हुए ॥४८॥

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥

अन्वयः—दक्षिणस्यां दिशि रवेः अपि तेजः मन्दायते तस्यां एव (दिशि) पाण्ड्याः रघोः प्रतापं न विषेहिरे।

दिशीति। दक्षिणस्यां दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति। लोहितादित्वात्क्यष्प्रत्ययः। 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम्। दक्षिणायते तेजोमान्द्यादिति भावः। तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूनां जनपदानां राजानः पाण्ड्याः 'पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः'। रघोः प्रतापं न विषेहिरे न सोढवन्तः। सूर्यविजयिनोऽपि विजितवानिति भावः।

भावार्थ—जिस दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, उसी दिशा में पाण्ड्य देश के राजा रघु का प्रताप नहीं सह सके ॥ ४९ ॥

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—ते ताम्रपर्णीसमेतस्य महोदधेः मुक्तासारं स्वं सञ्चितं यशः इव तस्मै निपत्य ददुः।

ताम्रपर्णीति। ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम्। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिपु' इत्यमरः। स्वं स्वकीयं यश इव। तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः। यशसः शुभ्रत्वादौपम्यम्। ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम्।

भावार्थ—पाण्ड्यदेश के राजाओं ने, ताम्रपर्णी नदी से संयुक्त महासागर के उत्तम मोती, अपने सञ्चित यश के समान रघु को उपहार में दिए ॥ ५० ॥

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१ ॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तटेषु आलीनचन्दनौ तस्याः दिशः स्तनौ इव मलयदर्दुरौ शैलौ यथाकामं निर्विश्य असह्यविक्रमः सः उदन्वता दूरात् मुक्तं मेदिन्याः स्रस्तांशुकं नितम्बं इव सह्यं अलङ्घयत्।

स इति। असह्येति च। युग्ममेतद्। असह्यविक्रमः सः रघुस्तटेषु सानुष्वालीनचन्दनौ व्याप्तचन्दनद्रुमौ। 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। स्तनपक्षे—प्रान्तेषु व्याप्तचन्दनानुलेपौ। तस्या दक्षिणास्या दिशः स्तनाविव स्थितौ मलयदर्दुरौ नाम शैलौ यथाकामं यथेच्छं निर्विश्योपभुज्य। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः। उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः। 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः। उदन्वता दूरान्मुक्तं दूरतस्त्यक्तम्। 'स्तोकान्तिक०' इति समासः। 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यलुक्। स्रस्तांशुकं मेदिन्या नितम्बमिव स्थितं सह्यं सह्याद्रिमलङ्घयदाक्रान्तोऽतिक्रान्तो वा।

भावार्थ—तटस्थ चन्दन के वृक्षों से युक्त दक्षिणदिशारूपी रमणी के दो स्तनों के तुल्य मलय और दर्दुर गिरिपर यथेच्छ निवास कर असह्य पराक्रमी रघु समुद्र से दूर पृथ्वीकामिनी को खिसकी हुई साड़ी वाले नितम्बतुल्य सह्य पर्वत को लाँघ गये ॥ ५१–५२ ॥

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अपरान्तजयोद्यतैः विसर्पद्भिः तस्य अनीकैः अर्णवः रामास्त्रोत्सारितः अपि सह्यलग्न इव आसीत्।

तस्येति। अपरान्तानां पाश्चात्यानां जय उद्यतैरुद्युक्तैः। 'अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च सूर्यरिकादयः' इति यादवः। विसर्पद्भिर्गच्छद्भिस्तस्य रघोरनीकैः सैन्यैः। 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः। अर्णवो रामस्य जामदग्न्यस्यास्त्रैरुत्सारितः परिसारितोऽपि सह्यलग्न इवासीत्। सैन्यं द्वितीयोऽर्णव इवादृश्यतेति भावः।

भावार्थ—पश्चिम की विजय के लिये जाने वाली रघु की सेना से समुद्र परशुराम के अस्त्रों से हटाए जाने पर भी सह्य पर्वत से मिला हुआ सा प्रतीत होता था ॥ ५३ ॥

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—भयोत्सृष्टविभूषाणां केरलयोषिताम् अलकेषु तेन चमूरेणुः चूर्णप्रतिनिधीकृतः।

भयेति। तेन रघुणा भयेनोत्सृष्टविभूषाणां केरलयोषितां केरलाङ्गनानामलकेषु चमूरेणुः सेनारजश्चूर्णस्य कुङ्कुमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः। एतेन योषितां पलायनं चमूनां च तदनुधावनं ध्वन्यते।

भावार्थ—रघु ने भय से अलङ्काररहित केरल देश की स्त्रियों के सुन्दर घुँघराले बालों में सेना की धूलि सुगन्धित चूर्ण के स्थान में लगा दी ॥ ५४ ॥

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—मुरलामारुतोद्धूतं कैतकं रजः तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् अगमत्।

मुरलेति। मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी। 'मुरलीमारुतोद्धूतम्' इति केचित्पठन्ति। तस्य मारुतेनोद्धूतमुत्थापितं कैतकं केतकीसम्बन्धि रजस्तद्योधवारबाणानां रघुभटकञ्चुकानाम्। 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः। अयत्नपटवासतामयत्नसिद्धवस्त्रवासनाद्रव्यत्वमगमत्। 'पिष्टातःपटवासकः' इत्यमरः।

भावार्थ—मुरला नदी की हवा से उड़ी हुई केवड़ा पुष्प की धूलि ने रघु के सैनिकों के कवचों को अनायास ही सुगन्धित कर दिया ॥ ५५ ॥

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—चरतां वाहानां गात्रशिञ्जितैः वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिरभ्यभूयत।

अभ्यभूयतेति । चरतां गच्छतां वाहानां वाजिनाम् । 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहय-सैन्धवसप्तय' इत्यमरः । गात्रशिञ्जितैर्गात्रेषु शब्दायमानैः । कर्तरि क्तः । 'गात्र-शिञ्जितैः' इति वा पाठः । शिञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । वर्मभिः कवचैः । 'मर्मरः' इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जितैर्गात्रध्वनिभिरित्यर्थः । मर्मरो मर्मरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम् । पवनेनोद्धूतानां कम्पितानां राजतालीवनानां ध्वनिरभ्यभूयत तिरस्कृतः ।

भावार्थ—चलते हुए घोड़ों के शरीर पर बजते हुए कवचों से हवा हिलाये गये ताड़ के वनों के शब्द दब गए ॥ ५६ ॥

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—खर्जूरीस्कन्धनद्धानां करिणां मदोद्गारसुगन्धिषु कटेषु पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः पेतुः ।

खर्जूरीति । खर्जूरीणां तृणद्रुमविशेषाणाम् । 'खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः' इत्यमरः । स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु । 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः' इत्यमरः । नद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्रवेण सुगन्धिषु । 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः । कटेषु पुंनागेभ्यो नागकेशरेभ्यः पुंनागपुष्पाणि विहाय । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शिलीमुखा अलयः पेतुः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । ततोऽपि सौगन्ध्यातिशयादिति भावः ।

भावार्थ—खजूर में बँधे हुए हाथियों के मद से सुगन्धित कनपटियों पर नागकेसर को छोड़कर भौंरे आ बैठे ॥ ५७ ॥

अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—उदन्वान् अभ्यर्थितः रामाय अवकाशं ददौ किल अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करं (ददौ) ।

अवकाशमिति । उदन्वानुदधी रामाय जामदग्न्याय । अभ्यर्थितो याचितः सन् अवकाशं स्थानं ददौ किल । किलेति प्रसिद्धौ । रघवे त्वपरान्तमहीपालव्याजेन करं बलिं ददौ । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । अपरान्तानां समुद्रमध्यदेश-वर्तित्वात्तद्दत्तकरे समुद्रदत्तत्वोपचारः । करदानं च भीत्या, न तु याच्ञयेति रामाद्रघोरुत्कर्षः ।

भावार्थ—समुद्र ने माँगने पर परशुराम को स्थान दिया था । उसी समुद्र ने पश्चिम देश के राजाओं के बहाने रघु को राजकर दिया ॥ ५८ ॥

मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—तत्र सः मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणं त्रिकूटमेव उच्चैर्जयस्तम्भं चकार ।

मत्तेति । तत्र स रघुर्मत्तानामिभानां रदनोत्कीर्णानि दन्तक्षतान्येव । भावे क्तः । व्यक्तानि स्फुटानिविक्रमलक्षणानि पराक्रमचिह्नानि विजयवर्णविलिस्थानानि यस्मिस्तं तथोक्तं त्रिकूटमेवोच्चैर्जयस्तम्भं चकार । गाढप्रकाशस्त्रिकूटोऽद्रिरेवोत्कीर्णस्तम्भी रघोर्जयस्तम्भोऽभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—उस रघु ने अपने हाथियों के दाँतों से खुदे हुए पराक्रम के चिह्न वाले त्रिकूट पर्वत को ही केरल देश में विजयस्तम्भ बनाया ॥ ५९ ॥

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ ६० ॥

अन्वयः—ततः संयमी तत्वज्ञाने इन्द्रियाख्यान् रिपून् इव स पारसीकान् जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे ।

पारसीकानिति । ततः स रघुः । संयमी योगी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाख्यानिन्द्रियनामकान् रिपूनिव पारसीकान् राज्ञो जेतुं स्थलवर्त्मना तस्थे न तु निर्दिष्टेनापि जलपथेन, समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः ।

भावार्थ—उसके बाद जैसे योगी ज्ञान से इन्द्रियों को जीत लेते हैं वैसे ही राजा रघु पारसियों को जीतने के लिए स्थल मार्ग से चले ॥६०॥

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—स यवनीमुखपद्मानां मधुमदमकालजलदोदयः अब्जानां बालातपमिव न सेहे ।

यवनीति । स रघुर्यवनानीनां यवनस्त्रीणाम् । 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष् । मुखानि पद्मानीव मुखपद्मानि । उपमितसमासः । तेषां मधुना मद्येन यो मदो मदरागः । कार्यकारणभावयोरभेदेन निर्देशः । तं न सेहे । कमिव । अकाले प्रावृड्व्यतिरिक्ते काले जलदोदयः । प्रायेण प्रावृषि पद्मविकाशस्याप्रसक्तत्वादब्जानां सम्बन्धिनं बालातपमिव । अब्जहितत्वादब्जसम्बन्धित्वं सौरातपस्य ।

भावार्थ—रघु पारसी स्त्रियों के मुख की मद्य गन्ध को सहन न कर सके, जैसे समय में उठा हुआ बादल कमलसम्बन्धित बालसूर्य के ताप को नहीं सहता ॥६१॥

सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः ।
शाङ्र्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तस्य अश्वसाधनैः पाश्चात्यैः शाङ्र्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजसि तुमुलोऽभूत् ।

सङ्ग्राम इति । तस्य रघोरश्वसाधनैर्वाजिसैन्यैः । 'साधनं सिद्धिसैन्ययोः' इति हैमः । पश्चाद्भवैः पाश्चात्ययवनैः सह । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक् । सहार्थे तृतीया । शृङ्गाणां विकाराः शाङ्र्गाणि धनूंषि तेषां कूजितैः शब्दैः । 'शाङ्र्गं पुनर्धनुषि शाङ्गिणः । जये च शृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषतः' इति केशवः । अथवा शाङ्र्गैः शृङ्गसम्बन्धिभिः कूजितैर्विज्ञेया अनुमेयाः प्रतियोधाः प्रतिभटा यस्मिंस्तस्मिन् रजसि तुमुलः संग्रामः संकुलं युद्धमभूत् । 'तुमुलं रणसंकुले' इत्यमरः ।

भावार्थ—अश्वसेना वाले पश्चिम देशवासियों के साथ धनुष की टङ्कारों से ही अपने शत्रु का द्योतक, धूलि के अन्धेरे में रघु, का भीषण संग्राम हुआ ॥६२॥

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

अन्वयः—स तेषां भल्लापवर्जितैः श्मश्रुलैः शिरोभिः सरघाव्याप्तैः क्षौद्रपटलैः इव महीं तस्तार ।

भल्लेति । स रघुर्भल्लापवर्जितैर्बाणविशेषकृत्तैः । 'स्नुहीदलफलो भल्ल' इति यादवः । श्मश्रुलैः प्रवृद्धमुखरोमवद्भिः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः । तेषां पाश्चात्यानां शिरोभिः सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्याप्तैः । 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः । क्षुद्रः सरघा । क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः । क्षुद्राभिः कृतानि क्षौद्राणि मधूनि । 'मधुः क्षौद्रं माक्षिकादि इत्यमरः । 'क्षुद्राभ्रमरवटपादञ्' इति संज्ञायामञ्प्रत्ययः । तेषां पटलैः सञ्चयैरिव । 'पटलं तिलके नेत्ररोगे छन्दसि सञ्चये । पिटके परिवारे च' इति हैमः । महीं तस्ताराच्छादयामास ।

भावार्थ—रघु ने मधुमक्खियों से व्याप्त मधु के छत्तों के समान भल्ल बाणों से कटे हुए उनके दाढ़ीवाले शिरों से पृथ्वी को पाट दिया ॥६३॥

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अपनीतशिरस्त्राणाः शेषाः तं शरणं ययुः, महात्मनां संरम्भः हि प्रणिपातप्रतीकारः ।

अपनीतेति । शेषा हतावशिष्टा अपनीतशिरस्त्राणा अपसारितशीर्षण्याः सन्तः

'शीर्षकम्। शीर्षण्यं च शिरस्त्रे' इत्यमरः। शरणागतलक्षणमेतत्। तं रघुं शरणं ययुः तथाहि। महात्मनां संरम्भः कोपः। 'संरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्वः। प्रणिपातः प्रणतिरेव प्रतिकारो यस्य सः। हि महतां परकीयमौद्धत्यमेवासह्यं न तु जीवितमिति भावः।

भावार्थ—शेष वचे हुए यवन अपने शिर के टोपों को उतार कर उस रघु की शरण में गये और क्षमा पा गये, क्योंकि बड़े लोगों का क्रोध नम्रतासे दूर होता है।

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु॥ ६५॥

अन्वयः—तद्योधाः आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु मधुभिः विजयश्रमं विनयन्ते स्म।

विनयन्त इति। तस्य रघोर्योधा भटा आस्तीर्णान्यजिनरत्नानि चर्मश्रेष्ठानि यासु तासु द्राक्षावलयानां भूमिषु। 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च' इत्यमरः। मधुभिर्द्राक्षाफलप्रकृतिकैर्मद्यैर्विजयश्रमं युद्धखेदं विनयन्ते स्मापनीतवन्तः। 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट्।

भावार्थ—रघु के सैनिकों ने अंगूरों के कुजों में चर्मासन पर बैठ, अंगूरी शरावे से थकावट को दूर किया॥ ६५॥

ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव॥ ६६॥

अन्वयः—ततः रघुः भास्वान् इव उस्रैः शरैः, उदीच्यान् रसान् इव उद्धरिष्यन् कौवेरीं दिशं प्रतस्थे।

तत इति। ततो रघुर्भास्वान्सूर्य इव शरैर्बाणैरुस्रैः किरणैरिव। 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः। उदीच्यानुदग्भवान्नृपान्रसानुदकानीवोद्धरिष्यन्कौवेरीं कुबेरसम्बन्धिनीं दिशमुदीचीं प्रतस्थे। अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा। यथाऽऽह दण्डी—'एकानेकेवशब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा' इति।

भावार्थ—जैसे उत्तरायण सूर्य अपनी किरणों से जल को सुखाते हैं वैसे ही रघु बाणों से उत्तरप्रदेश के राजाओं की पराजय के लिए उत्तर की चले।

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥ ६७॥

अन्वयः—सिन्धुतीरविचेष्टनैः विनीताध्वश्रमाः तस्य वाजिनः लग्नकुंकुमकेसरान् स्कन्धान् दुधुवुः।

विनीतेति। सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः। 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः। सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्तनैर्विनीताध्वश्रमास्तस्य रघोर्वाजिनोऽश्वाः, लग्नाः कुङ्कुमकेसराः कुङ्कुमकुसुमकिञ्जल्का येषां तान्। यद्वा लग्नकुङ्कुमाः केसरा सटा येषां तान्। 'अथ कुङ्कुमम्। कश्मीरजन्म' इत्यमरः। केसरो नागकेसरे। तुरङ्गसिंहयोः स्कन्धकेशेषुबकुलद्रुमे। पुन्नागवृक्षे किञ्जल्के स्यात्' इति हैमः। स्कन्धान्कायान्। 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायेंऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु नृपे समूहे व्यूहे च' इति हैमः। दुधुवुः कम्पयति स्म।

भावार्थ—सिन्धु नदी के किनारे लौटने से मार्ग की थकावट दूर करने वाले रघु के घोड़ों ने केसर लगे हुए देह झाड़े॥ ६७॥

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ ६८॥

अन्वय—तत्र भर्तृषु व्यक्तविक्रम रघुचेष्टित हूणावरोधानां कपोलपाटलादेशि बभूव।

तत्रेति। तत्रोदीच्यां दिशि भर्तृषुव्यक्तविक्रमम्। भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थः। रघुचेष्टित रघुव्यापारः। हूणा जनपदाख्याः क्षत्रियाः, तेषामवरोधा अन्तःपुरस्त्रियः। तासां कपोलेषु पाटलस्य पाटलिम्नस्ताडनादिकृततारुण्यस्यादेशुपदेशकं बभूव। अथवा पाटल आदेशयादेष्टा यस्य तत् बभूव। स्वयं लेख्यायत इत्यर्थः।

भावार्थ—उत्तर के राजाओं के प्रति पराक्रम दिखाने वाला रघु का पौरुष हूणों की स्त्रियों के कपोलों में लालिमा का सूचक हुआ॥ ६८॥

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः॥ ६९॥

अन्वयः—समरे तस्य वीर्यं सोढुम् अनीश्वराः काम्बोजाः गजालानपरिक्लिष्टैः अक्षोटैः सार्धम् आनताः।

काम्बोजा इति। काम्बोजा राजानः समरे तस्य रघोर्वीर्यं प्रभावम्। 'वीर्यं तेजःप्रभावयोः' इति हैमः। सोढुमनीश्वरा अशक्ताः सन्तः गजानामालानं बन्धनम्। भावे ल्युटि 'विभाषा लीयतेः' इत्यात्वम्। तेन परिक्लिष्टैः परिदतैरक्षोटैर्वृक्षविशेषैः सार्धमानताः।

भावार्थ—युद्ध में रघु के पराक्रम को न सह सकने वाले काम्बोज राजा हाथियों के रस्सों से छिले हुए अखरोट के पेड़ों के साथ नम्र हो गये॥ ६९॥

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्॥ ७०॥

अन्वयः—तेषां सदश्वभूयिष्ठाः तुङ्गाः द्रविणराशयः उपदाः कोसलेश्वरं शश्वत् विविशुः, उत्सेका न (विविशुः)।

तेषामिति। तेषां काम्बोजानां सद्भिरश्वैर्भूयिष्ठा बहुलास्तुङ्गा द्रविणानां हिरण्यानाम्। 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्' इत्यमरः। राशय एवोपदा उपायनानि। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। कोसलेश्वरं कोसलदेशाधिपतिं तं रघुं शश्वदसकृद्विविशुः। 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः। तथाऽप्युत्सेका गर्वास्तु न विविशुः, सत्यपि गर्वकारणे न जगर्वेत्यर्थः।

भावार्थ—उन राजाओं के बहुत से अच्छे-अच्छे काबुली घोड़े और ऊँची सोने की राशि उपहार में रघु के पास बार-बार आई, किन्तु गर्व नहीं आया।।७०।

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः॥ ७१॥

अन्वयः—ततः अश्वसाधनः सन् गौरीगुरुं शैलम् उद्धूतैः धातुरेणुभिः तत्कूटान् वर्धयन् इव आरुरोह।

तत इति। ततोऽनन्तरमश्वसाधनः सन् गौर्या गुरुं पितरं शैलं हिमवन्तम्। उद्धूतैरश्वखुरोद्धूतैर्धातूनां गैरिकादीनां रेणुभिस्तत्कूटास्तस्य शृङ्गाणि। 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः। वर्धयन्निव। आरुरोह। उत्पतद्धूलिदर्शनाद्गिरिशिखर वृद्धिभ्रमो जात इति भावः।

भावार्थ—उसके बाद रघु घुड़सवारों को ले, हिमालय पर घोड़ों की टापों से उड़ी हुई गैरिकादि धातुओं की धूलि से उसके शिखर को ऊँचा करते हुए से चढे।

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम्।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥ ७२॥

अन्वयः—तुल्यसत्त्वानां गुहाशयाना सैन्यघोषे अपि असंभ्रमं परिवृत्य अवलोकितं शशंस।

शशंसेति। तुल्यसत्त्वानां सैन्यैः समानबलानाम्। गुहासु शेरत इति गुहाशयास्तेषाम्। 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः। सिंहानां हरीणाम्।' सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। सम्बन्धि परिवृत्य परावृत्यावलोकितं शयित्वैव ग्रीवाभङ्गेनावलोकनं कर्तृ सैन्यघोषे सेनाकलकले सम्भ्रमकारणे सत्यप्यसम्भ्रममन्तःक्षोभविरहितम्। नञः प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समास इष्यते। शशंस कथयामास। सैन्येभ्य इत्यर्थाल्लभ्यते।

बाह्यचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः । असम्भ्रान्तत्वे हेतुस्तुल्यसत्त्वानामिति । न हि समबलाः समबलाद् बिभ्यतीति भावः ।

भावार्थ—रघु ने समान बलवाले कन्दरा-स्थित सिंहों का, सेना के कोलाहल से भी न घबड़ाते हुए, उपेक्षा से गरदन उठा कर देखना सैनिकों से कहा ॥७२॥

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

अन्वयः—भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः गङ्गाशीकरिणः मरुतः तं मार्गे सिषेविरे ।

भूर्जेष्विति । भूर्जेषु भूर्जपत्रेषु । 'भूर्जपत्रो भुजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका मता' इति यादव. । मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिः । 'मर्मरः शुष्कपर्णानाम्' इति यादवः । अयं च शुक्लादिशब्दवद्गुणिन्यपि वर्तते । प्रयुज्यते च—'मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिः' इति । अतो मर्मरीभूताः । मर्मरशब्दवन्तो भूता इत्यर्थः । कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः । श्रोत्रसुखाश्चेति भावः । गङ्गाशीकरिणः शीतलाः । मरुतो वाता मार्गे तं सिषेविरे ।

भावार्थ—भोजपत्रों मे मरमर शब्दकारी, बांस में ध्वनि-उत्पादक, गङ्गाजल के शीतल कणों को लेकर बहने वाले वायु ने रास्ते में रघु की सेवा की ॥७३॥

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—सैनिकाः नमेरूणां छायासु निषण्णमृगनाभिभिः वासितोत्सङ्गाः दृषदः अध्यास्य विशश्रमुः ।

विशश्रमुरिति । सैनिकाः सेनायां समवेताः । प्राग्वहतीयष्ठक्प्रत्ययः । नमेरूणां सुरपुन्नागानां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभिर्वासितोत्सङ्गाः सुरभिततला दृषदः शिला अध्यास्याधिष्ठाय । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्म । दृषत्स्वधिष्ठायेत्यर्थः । विशश्रमुर्विश्रान्ताः ।

भावार्थ—रघु के सैनिकों ने नमेरु वृक्षों की छाया में बैठे हुए कस्तूरी मृग के बैठने से सुगन्धित चट्टानों पर बैठ कर विश्राम किया ॥७४॥

सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ओषधयः नेतुः नक्तम् अस्नेहदीपिका आसन् ।

सरलेति। सरलेषु देवदारुविशेषेष्वासक्तानि यानि मातङ्गानां गजानाम् ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयाणि कण्ठशृङ्खलानि। 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इति चकाराड्ढञ्-प्रत्ययः। तेषु स्फुरितत्विषः प्रतिफलितभास ओषधयो ज्वलन्तो ज्योतिर्लता-विशेषा नक्तं रात्रौ नेतुर्नायकस्य रघोरस्नेहदीपिकास्तैलनिरपेक्षाः प्रदीपा आसन्।

भावार्थ—देवदारु में बँधे हुए हाथियों के गले के हारों में चमकती हुई ज्योतिर्लता आदि बूटियाँ सेना के लिए विना तेल के दीपक का काम करती थी।

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—तस्य उत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः देवदारवः किरातेभ्यः गजवर्ष्म शशंसुः।

तस्येति। तस्य रघोरुत्सृष्टेषूज्झितेषु निवासेषु सेनानिवेशेषु कण्ठरज्जुभिर्गजग्रैवैः क्षता निष्पिष्टास्त्वचो येषां ते देवदारवः किरातेभ्यो वनचरेभ्यो गजानां वर्ष्म प्रमाणम्। 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इत्यमरः। शशंसुः कथितवन्तः। देवदारुस्कन्ध-त्वक्क्षतैर्गजानामौन्नत्यमनुमीयत इत्यर्थः।

भावार्थ—रघु के छोड़े हुए फौजी पड़ावों पर गले की सिक्कडों से छिली हुई छालवाले देवदारु से भीलों ने हाथियों की ऊँचाई वतलायी ॥ ७६ ॥

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तत्र रघोः पर्वतीयैः गणैः नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलं घोरं जन्यम् अभूत्।

तत्रेति। तत्र हिमाद्रौ रघोः पर्वते भवैः पर्वतीयैः। 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः। गणैरुत्सवसंकेताख्यैः सप्तभिः सह। 'गणानुत्सवसंकेतानजयत्सप्त पाण्डवः' इति महाभारते। नाराचानां वाणविशेषाणां क्षेपणीयानां भिन्दपालानाम-श्मनां च निष्पेषेण सङ्घर्षेणोत्पतिता अनला यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। 'क्षेपणीयो भिन्दिपालः खड्गो दीर्घो महाफलः' इति यादवः। घोरं भीमं जन्यं युद्धमभूत्। 'युद्धमायोधनं जन्यमि'त्यमरः।

भावार्थ—उस हिमालय पर रघु का पर्वतीय गणों से नाराच, वाण, भिन्दि-पाल और पत्थर के टुकड़ों की रगड़ से उठी हुई अग्नि वाला भयङ्कर युद्ध हुआ।

शरैरुत्सवसंकेतान् स कृत्वा विरतोत्सवान्।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—सः शरैः उत्सवसङ्केतान् विरतोत्सवान् कृत्वा किन्नरान् बाह्वोः जयोदाहरणं गापयामास ।

शरैरिति । स रघुः शरैर्बाणैरुत्सवसङ्केताख्यान् गणान्विरतोत्सवान्कृत्वा । जित्वेत्यर्थः । किन्नरान्बाह्वोः स्वभुजयोर्जयोदाहरणं जयख्यापकं प्रबन्धविशेषं गापयामास । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' इत्यनेन किन्नराणां कर्मत्वम् ।

भावार्थ—उस रघु ने बाणों से उत्सव संकेत नामक पहाड़ी कबीलों को पराजित कर किन्नरों द्वारा अपनी भुजा की जयकथा का गान कराया ॥ ७८ ॥

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तेषु उपायनपाणिषु (सत्सु) परस्परेण राज्ञा हिमवतः सारः हिमाद्रिणा राज्ञः सारः विज्ञातः ।

परस्परेणेति । तेषु गणेषूपायनयुक्ताः पाणयो येषां तेषु सत्सु परस्परेणान्योऽन्यं राज्ञा हिमवतः सारो धनरूपो विज्ञातः, हिमाद्रिणाऽपि राज्ञः सारो बलरूपो विज्ञातः । एतेन तत्रत्यवस्तूनामनर्घ्यत्वं गणानामभूतपूर्वश्च पराजय इति ध्वन्यते ।

भावार्थ—भेंट देने के लिए हाथ में लेकर पर्वतीयों के सुवर्णादि आने पर रघु ने हिमालय के धन और हिमालय ने राजा रघु के बल को जाना ॥ ७९ ॥

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः ।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—तत्र अक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्य सः पौलस्त्यतुलितस्य अद्रेः ह्रियम् आदधानः इव अवरुरोह ।

तत्रेति । स रघुस्तत्र हिमाद्रावक्षोभ्यमधृष्यं यशोराशिं निवेश्य निधाय । पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः कैलासस्य ह्रियमादधानो जनयन्निव । अवरुरोहावततार । कैलासमगत्वैव प्रतिनिवृत्तः । नहि शूराः परेण पराजितमभियुञ्जन्ते ।

भावार्थ—उस हिमालय पर अमर कीर्ति स्थापित कर रघु रावण से उठाए गए कैलास पर्वत की ओर न जाकर मानो उसे लज्जित करते हुए लौट गए ।

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तस्मिन् तीर्णलौहित्ये (सति) प्राग्ज्योतिषेश्वरः तद्गजालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः सह चकम्पे ।

चकम्प इति । तस्मिन् रघौ । तीर्णा लौहित्या नाम नदी येन तस्मिंस्तीर्णलौहित्ये सति । प्राग्ज्योतिषाणां जनपदानामीश्वरः, तस्य रघोर्गजानामालनतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः कृष्णागुरुवृक्षैः सह चकम्पे कम्पितवान् ।

भावार्थ—उस रघु के लौहित्यनद के पार उतर जाने पर प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा रघु के हाथियों को सीकरों के बांधने के लिए स्तम्भभूत काले अगर के वृक्षों के साथ काँप गये ॥ ८१ ॥

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—स रुद्धार्कम् अधारावर्षदुर्दिनम् अस्य रथवर्त्मरजः अपि न प्रसेहे, कुतः एव पताकिनीम् ।

नेति । स प्राग्ज्योतिषेश्वरो रुद्धार्कमावृतसूर्यम् । अधारावर्षं च तद् दुर्दिनं धारावृष्टिं विना दुर्दिनीभूतम् । अस्य रघो रथवर्त्मरजोऽपि न प्रसेहे । पताकिनीं सेनां तु कुत एव प्रसेहे । न कुतोऽपीत्यर्थः ।

भावार्थ—वे आसाम के राजा सूर्य को ढँक देने वाले वर्षा के बिना मेघावृत दिन के समान रघु के रथ की धूलि को भी न सह सके फिर सेना को कैसे सह सकते ॥ ८२ ॥

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—कामरूपाणाम् ईशः अत्याखण्डलविक्रमं तं भिन्नकटैः नागैः, यैः अन्यान् उपरुरोध, भेजे ।

तमिति । कामरूपाणां नाम देशानामीशोऽत्याखण्डलविक्रममतीन्द्रपराक्रमं तं रघुम् । भिन्नाः स्रवन्मदाः कटा गण्डा येषां तैर्नागैर्गजैः साधनैर्भेजे नागान्दत्वा शरणङ्गत इत्यर्थः । कीदृशैर्नागैः । यैरन्यान्रघुव्यतिरिक्तन्नृपानुपरुरोध । शूराणामपि शूरो रघुरिति भावः ।

भावार्थ—कामरूप देश के राजा ने इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी उस रघु की मदस्रावी हाथियों की भेंट से सेवा की, जिनसे अन्य आक्रमणकारियोंको रोका था ।

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—कामरूपेश्वरः हेमपीठाधिदेवतां तस्य पादयोश्छायां रत्नपुष्पोपहारेणानर्च ।

कामेति। कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवतां तस्य रघोः पादयोश्छायां मन-श्रमयपादपीठव्यापिनीं कान्तिं रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेनानर्चयां-यामास।

भावार्थ—कामरूप के राजा ने सुवर्णनिर्मित राजसिंहासन के देवता उस रघु के पैरों की उपहारभूत रत्नमय पुष्पों को अर्पित करके पूजा की ॥ ८४ ॥

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

अन्वयः—इति दिशः जित्वा जिष्णुः (सः) राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु रथोद्धतं रज विश्रायन् न्यवर्तत।

इतीति। जिष्णुर्जयशीलः 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इतिग्स्नुप्रत्ययः। स रघुरित्थं दिशो जित्वा रथैरुद्धतं रजश्छत्रशून्येषु। रघोरेकच्छत्रकत्वादिति भावः। राज्ञां मौलिषु किरीटेषु। 'मौलि किरीटे धम्मिल्ले चूडाकङ्केलिमूर्धजे' इति हैमः। विश्रामयन्। सङ्क्रामयन्नित्यर्थः। न्यवर्तत निवृत्तः।

भावार्थ—इस प्रकार चारो दिशाओं को जीत, विजयी राजा रघु राजाओं के छत्रहीन मुकुटों पर रथ की धूलि को भरते हुए अपनी राजधानी लौटे। ८५।

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सः सर्वस्वदक्षिणं विश्वजितं यज्ञम् आजह्रे हि, सतां वारिमुचाम् इव आदानं विसर्गाय।

स इति। रघुः सर्वस्व दक्षिणा यस्य तं सर्वस्वदक्षिणम्। 'विश्वजित्सर्वस्व-दक्षिणः' इति श्रुतेः। विश्वजित नाम यज्ञमाजह्रे कृतवानित्यर्थः। युक्त चैतदित्याह—सतां साधूनाम् वारिमुचां मेघानामिव। आदानमर्जनं विसर्गाय त्यागाय हि, पात्रविनियोगायेत्यर्थः।

भावार्थ—रघु ने दक्षिणा के रूप में सर्वस्व दे दिया जाने वाला विश्वजित् नामक यज्ञ किया, क्योंकि सज्जनों का मेघों के समान लेना दूसरों को देने के लिए होता है ॥ ८६ ॥

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥ ८७ ॥

अन्वयः—सत्रान्ते सचिवसखः काकुत्स्थः गुर्वीभिः पुरस्क्रियाभिः शमितपराजयव्यलीकान् चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तये अनुमेने।

सत्रान्त इति। काकुत्स्थो रघुः सत्रान्ते यज्ञान्ते। 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने धनेऽपि च' इत्यमरः। सचिवानाममात्यानां सखेति सचिवसखः सन्। 'सचिवो भृतकेऽमात्ये' इति हैमः। तेषामत्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सखित्वव्यपदेशः। 'राजाहः सखिभ्यष्टच्'। गुर्वीभिर्महतीभिः। 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके' इति हैमः। पुरस्क्रियाभिः पूजाभिः शमितं पराजयेन व्यलीकं दुःखं वैलक्ष्यं वा येषां तान्। 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः। चिरविरहेणोत्सुकिता उत्कण्ठिता अवरोधा अन्तःपुराङ्गना येषां तान्। राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः क्षत्रियास्तान्। 'राजश्वशुराद्यत्' इत्यपत्यार्थे यत्प्रत्ययः। मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। स्वपुरं प्रति निवृत्तये प्रतिगमनायानुमेनेऽनुज्ञातवान्। प्रहर्षिणीवृत्तमेतत्। तदुक्तम्—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति।

भावार्थ—यज्ञ के बाद मन्त्रियों की सम्मतिसे काकुत्स्थ रघु ने अत्यन्त सम्मान से, पराजय को भूल जाने वाले और अधिक दिन के वियोग से अपनी रानियों में उत्सुक राजाओं को अपनी-अपनी राजधानी को लौट जाने की आज्ञा दी ॥८७॥

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम्।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं प्रसादलभ्यं सम्राजः चरणयुगं प्रस्थानप्रणतिभिः अङ्गुलीषु मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरं चक्रुः।

त इति। ते राजानः रेखा इव ध्वजाश्च कुलिशानि चातपत्राणि च, ध्वजाद्याकाररेखा इत्यर्थः। तानि चिह्नानि यस्य तत्तथोक्तम् प्रसादेनैव लभ्यम् प्रसादलभ्यम्। सम्राजः सार्वभौमस्य रघोश्चरणयुगं प्रस्थाने प्रयाणसमये याः प्रणतयो नमस्कारास्ताभिः करणैः। अङ्गुलीषु मौलिषु केशबन्धनेषु याः स्रजो माल्यानि ताभ्यश्च्युतैर्मकरन्दैः पुष्परसैः। 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः। रेणुभिः परागैश्च। 'परागः सुमनोरजः' इत्यमरः। गौरवर्णं चक्रुः।

भावार्थ—उन राजाओं ने रेखा, ध्वज, वज्र और छत्र चिह्न वाले, कृपा से प्राप्य रघु के चक्रवर्ती लक्षणों वाले पैरों को प्रस्थानकाल के प्रणाम से अङ्गुलियों में किरीटों की माला के परागों से श्वेत कर दिया ॥ ८८ ॥

त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्रिलिखित चन्द्रकला टीका में चतुर्थ सर्ग समाप्त।

❀❀❀

पञ्चमः सर्गः

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोशजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

इन्दीवरदलश्याममिन्दिराऽऽनन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

अन्वयः—विश्वजिति अध्वरे निःशेषविश्राणितकोशजातम् तं क्षितीशम् उपात्तविद्यः गुरुदक्षिणार्थी वरतन्तुशिष्यः कौत्सः प्रपेदे ।

तमिति । विश्वजिति विश्वजिन्नाम्न्यध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । निःशेषं विश्राणितं दत्तम् । 'श्रण दाने' चुरादिः । कोशानामर्थराशीनां जातं समूहो येन तं तथोक्तम् । 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः । 'जातं जनिसमूहयोः' इति शाश्वतः । एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति । तं क्षितीशं रघुमुपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यण् । इञोऽपवादः । गुरुदक्षिणार्थी । 'पुष्करादिभ्यो देशे' इत्यत्रार्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीनिः । अप्रत्याख्येय इति भावः । प्रपेदे प्राप । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः ।

भावार्थ—विश्वजित् यज्ञ की दक्षिणा में सर्वस्व समर्पण कर देने के बाद महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि विद्या पढ़ कर गुरुदक्षिणा के लिए १४ करोड़ धन लेने की इच्छा से महाराज रघु के पास आए ॥ १ ॥

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

अन्वयः—अनर्घशीलः यशसा प्रकाशः आतिथेयः सः वीतहिरण्मयत्वात् मृण्मये पात्रे अर्घ्यम् निधाय श्रुतप्रकाशम् अतिथिम् प्रत्युज्जगाम ।

स इति । अनर्घशीलोऽमूल्यस्वभावः । असाधारणस्वभाव इत्यर्थः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इति । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरशाश्वतौ । यशसा कीर्त्या । प्रकाशत इति प्रकाशः । पचाद्यच् । अतिथिषु साधुरातिथेयः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ् । स रघुः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम् । 'दाण्डिनायन॰' इत्यादिना सूत्रेण निपातः । वीतहिरण्मयत्वादपगतसुवर्णपात्रत्वात् । यज्ञस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादिति भावः । मृण्मये मृद्विकारे पात्रे । अर्घार्थमिदमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां

च' इति यत् । पूजाऽर्थं द्रव्यं निधाय श्रुतेन शास्त्रेण प्रकाशं प्रसिद्धम् । श्रूयत इति श्रुतं वेदशास्त्रम् । अतिथिमभ्यागतं कौत्सम् । प्रत्युज्जगाम ।

भाषार्थ—असाधारणस्वभाव, यशस्वी और अतिथिसेवी रघु सुवर्ण पात्रों के अभाव में मृत्पात्र में अर्घ्य रखकर वेदाध्ययन से देदीप्यमान कौत्स के सम्मुख हुए।

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥

अन्वयः—विधिज्ञः मानधनाग्रयायी कृत्यवित् विशांपतिः तपोधनम् आरात् विष्टरभाजम् तम् विधिवत् अर्चयित्वा कृताञ्जलिः (सन्) इति उवाच ।

तमिति । विधिज्ञः शास्त्रज्ञः । अकरणे प्रत्यवायभीरुरित्यर्थः । मानधनानामग्रयाय्यग्रेसरः । अपयशोभीरुरित्यर्थः । कृत्यवित्कार्यज्ञः । आगमनप्रयोजनमवश्यं प्रष्टव्यमिति कृत्यवित् । विशाम्पतिर्मनुजेश्वरः । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । विष्टरभाजमासनगतम् । उपविष्टमित्यर्थः । 'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति निपातः । तं तपोधनं विधिवद्विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । अर्चयित्वाऽऽरात्समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । कृताञ्जलिः सन्निति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ।

भाषार्थ—शास्त्रज्ञ स्वात्माभिमानियों में श्रेष्ठ और कर्तव्यपरायण रघु आसन पर विराजमान् तपस्वी कौत्स का विधिवत् पूजन करके हाथ जोड़ते हुए यों बोले.।

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे कुशाग्रबुद्धे ! मन्त्रकृताम् ऋषीणाम् अग्रणीः ते गुरुः कुशली अपि ? यतः त्वया अशेषम् ज्ञानम् लोकेन उष्णरश्मेः चैतन्यम् इव आप्तम् ।

अप्यग्रणीरिति । हे कुशाग्रबुद्धे ! सूक्ष्मबुद्धे ! 'कुशाग्रीयमतिः प्रोक्तः सूक्ष्मदर्शी च यः पुमान्' इति हलायुधः । मन्त्रकृतां मन्त्रस्रष्टॄणाम् । 'सुकर्मपाप०' इत्यादिना क्विप् । ऋषीणामग्रणीः श्रेष्ठस्ते तव गुरुः कुशल्यपि क्षेमवान्किम् ? अपिः प्रश्ने । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । यतो यस्माद् गुरोः सकाशात्त्वयाऽशेषं ज्ञानम् । लोकेनोष्णरश्मेः । सूर्याच्चैतन्यं प्रबोध इव । आप्तं स्वीकृतम् ।

भाषार्थ—हे बुद्धिमान् कौत्सजी ! मन्त्रसाक्षात्कर्ता, ऋषियों में श्रेष्ठ आपके गुरु कुशलपूर्वक तो हैं न ? जिनसे आपने सम्पूर्ण ज्ञानराशि प्राप्त की है जैसे सूर्य से मनुष्य जागरण को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—कायेन वाचा मनसा अपि वासवधैर्यलोपि यत् शश्वत् सम्भृतम् महर्षेः त्रिविधम् तत् तपः अन्तरायैः व्ययम् न आपाद्यते कच्चित् ?

कायेनेति। कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना, वाचा वेदपाठेन, मनसा गायत्रीजपादिना, कायेन वाचा मनसाऽपि कारणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्यं लुम्पतीति वासवधैर्यलोपि। स्वपदापहारशङ्काजनकमित्यर्थः। यत्तपः शश्वदसकृत्। 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः। सम्भृतं सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोस्त्रिविधं वाङ्मनकायजं तत्तपोऽन्तरायैर्विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सरःशापैर्व्ययं नाशं नापाद्यते कच्चिद् न नीयते।

भावार्थ—आपके गुरु जी ने अधिकारच्युत हो जाने की आशंका से इन्द्र के धैर्य को भी नष्ट कर देने वाला जो कायिक, वाचिक, मानसिक तप संचय किया है कहीं उस त्रिविध तप का विघ्नों से नाश तो नहीं कराया जाता ? ॥ ५ ॥

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः सुतनिर्विशेषम् संवर्धितानां श्रमच्छिदाम् वः आश्रमपादपानाम् वाय्वादिः उपप्लवः न कच्चित् ?।

आधारेति। आधारबन्धप्रमुखैरालवालनिर्माणादिभिः प्रयत्नैरुपायैः। सुतेभ्यो निर्गतो विशेषोऽतिशयो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा संवर्धितानां श्रमच्छिदां व आश्रमपादपानां वाय्वादिः। आदिशब्दाद्दावानलादिः। उपप्लवो बाधको न कश्चिन्नास्ति किम्।

भावार्थ—आलवाल, जलदानादि उपायोंसे पुत्रके समान सम्वर्धित, पथिकों के विश्रामक तपोवन के वृक्षों को झंझावातादि उपद्रवों से कोई बाधा तो नहीं होती ? ॥ ६ ॥

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

अन्वयः—क्रियानिमित्तेषु अपि कुशेषु मुनिभिः वत्सलत्वात् अभग्नकामा तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला प्रसूतिः अनघा कच्चित्।

क्रियेति। क्रियानिमित्तेष्वप्यनुष्ठानसाधनेष्वपि कुशेषु मुनिभिर्वत्सलत्वान्मृगस्नेहादभग्नकामाऽप्रतिहतेच्छा। तेषां मुनीनामङ्का एव शय्यास्तासु च्युतानि नाभिनालानि यस्याः सा तथोक्ता मृगीणां प्रसूतिः सन्ततिरनघाऽव्यसना कच्चित्। अनपायिनी किम्।

भावार्थ—अनुष्ठान के लिए रखे गए कुशों को भी खाने को इच्छुक जिन हरिणों के शावकोंको स्नेहवश मुनि लोग नहीं रोकते, मुनियों की गोद में नाभि-नाल के गिराने वाले वे नवजात हरिणों के बच्चे कुशल से तो हैं न ? ॥७॥

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥

अन्वयः—यैः नियमाभिषेकः निर्वर्त्यते, येभ्यः पितॄणाम् निवापाञ्जलयः, उञ्छषष्ठाङ्कितानि वः तानि तीर्थजलानि शिवानि कच्चित् ।

निर्वर्त्यत इति । यैस्तीर्थजलैर्नियमाभिषेको नित्यस्नानादिर्निवर्त्यते निष्पाद्यते । येभ्यो जलेभ्यः उद्धृत्येति शेषः । पितॄणामग्निष्वात्तादीनां निवापाञ्जलयस्तर्पणाञ्जलयः । निर्वर्त्यन्ते । उञ्छानां प्रकीर्णोद्धृतधान्यानां षष्ठैः षष्ठभागैः पालकत्वाद्राजग्राह्यैरङ्कितानि सैकतानि पुलिनानि येषां तानि तथोक्तानि वो युष्माकं तानि तीर्थजलानि शिवानि भद्राणि कच्चित् । अनुप्लवानि किमित्यर्थः ।

भावार्थ—जिन तीर्थजलों से नित्यस्नानादि क्रियायें निष्पन्न होती हैं और पितरों का तर्पण किया जाता है, देय षष्ठांश राजभाग उञ्छ से सुशोभित वे तीर्थजल उपद्रवरहित तो हैं न ? ॥८॥

नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

अन्वयः—कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागम् वन्यम् शरीरस्थितिसाधनम् वः नीवारपाकादि जानपदैः कडङ्गरीयैः न आमृश्यते कच्चित् ।

नीवारेति । कालेषु योग्यकालेषूपपन्नानामागतानामतिथीनां कल्प्या भागा यस्य तत्तथोक्तम् । वने भवं वन्यम् शरीरस्थितेर्जीवितस्य साधनं वो युष्माकम् । पच्यत इति पाकः फलम् । धान्यमिति यावत् । नीवारपाकादि । जनपदेभ्य आगतैर्जानपदैः । कडङ्गरं बुसमर्हन्तीति कडङ्गरीयाः तैर्गोमहिषादिभिर्नामृश्यते कच्चित् न भक्ष्यते किमित्यर्थः ।

भावार्थ—बलि वैश्वदेव के बाद उचित समय पर उपस्थित अतिथियों के भाग वाले, आप लोगों के जीवन के आधार, वनों में उत्पन्न नीवार आदि धान्य को ग्रामीण घास भूसा खाने वाले पशु तो नहीं खा जाते ? ॥ ९ ॥

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ १० ॥

अन्वयः—त्वम् प्रसन्ने न सता महर्षिणा सम्यक् विनीय गृहाय अनुमतः अपि हि ते सर्वोपकारक्षमम् द्वितीयम् आश्रम सङ्क्रमितुम् अयम् काल. अस्ति ।

अपीति । किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिक्षयित्वा विद्यामुपदिश्येत्यर्थः । गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम् । अनुमतोऽप्यनुज्ञातः किम् । यस्मात्ते तव सर्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यवानप्रस्थयतीनामुपकारे क्षमं शक्तम् । द्वितीयमाश्रमं गार्हस्थ्य सङ्क्रमितु प्राप्तुमय काल । विद्याग्रहणानन्तर्यात्तस्येति भावः ।

भावार्थ—क्या प्रसन्नता से वरतन्तु ने भली भाँति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए आपको आज्ञा दे दी है ? क्योंकि आपकी यह अवस्था गृहस्थाश्रम में प्रवेश के योग्य है ॥ १० ॥

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—अर्हत' तव अभिगमेन मे मनः न तृप्तम्, किन्तु नियोगक्रियया उत्सुकम् शासितु आज्ञया अपि आत्मना वा माम् सम्भावयितुम् वनात् प्राप्तोऽसि ?

तवेति । अर्हतः पूज्यस्य प्रशस्यस्य । तवाभिगमेनागमनमात्रेण मे मनो न तृप्तं न तुष्टम् । किन्तु नियोगक्रिययाऽऽज्ञाकरणेनोत्सुक सोत्कण्ठम् । शासितुर्गुरोराज्ञयाप्यात्मना स्वतो वा । मां सम्भावयितुं वनात्प्राप्तोऽसि ।

भावार्थ—आपके आगमन मात्र से मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हो सकता है किन्तु आपकी आज्ञा सुनने को बड़ी उत्कण्ठा है । क्या आप गुरु की आज्ञा से या स्वेच्छा से मुझे कृतार्थ करने आये हैं ? ॥ ११ ॥

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥

अन्वयः—अर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोः इति उदाराम् अपि गाम् निशम्य वरतन्तुशिष्यः स्वार्थोपपत्तिम् प्रति दुर्बलाशः सन् तम् इति अवोचत् ।

इतीति । अर्घ्यपात्रेण मृण्मयेनानुमितो व्ययः सर्वस्वत्यागो यस्य तस्य रघोरित्युक्तप्रकारामौदार्ययुक्तामपि गां वाचम् । 'मनोनियोगक्रिययोत्सुकं मे' इत्येवरूपाम् । निशम्य श्रुत्वा वरतन्तुशिष्यः कौत्सः स्वार्थोपपत्ति स्वकार्यसिद्धि प्रति दुर्बलाशः सम्पूर्णमयपात्रदर्शनाच्छिथिलमनोरथः सन्तं रघुमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत् ।

भावार्थ—मिट्टी के अर्घ्यपात्र से ही विश्वजित् यज्ञ में समस्त सम्पत्ति का व्यय व्यक्त करने वाले रघु की यह उदार वाणी सुन, कौत्स ऋषि अपनी कार्यसिद्धि में निराश होते हुए बोले ॥१२॥

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ १३ ॥

अन्वयः—राजन् सर्वत्र नः वार्तम् अवेहि, त्वयि नाथ सति प्रजानाम् अशुभम् कुतः ? सूर्ये तपति सति तमिस्रा लोकस्य दृष्टेः आवरणाय कथम् कल्पेत ।

सर्वत्रेति । हे राजन् ! त्वं सर्वत्र नोऽस्माकं वार्तं स्वास्थ्यमवेहि जानीहि 'वार्तं वल्गुन्यरोगे च' इत्यमरः । वार्तं पाटवमारोग्यं भव्य स्वास्थ्य मनामयम् इति यादवः । न चेदाश्चर्यमित्याह—नाथ इति । त्वयि नाथे ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुःखं कुतः ? तथाहि सूर्ये तपति प्रकाशमाने सति तमिस्रा तमस्ततिः । 'तमिस्रम्' इति पाठे तिमिरम् । लोकस्य जनस्य । दृष्टेरावरणाय कथं कल्पेत् ? दृष्टिमावरितुं नालमित्यर्थः ।

भावार्थ—हे राजन् ! आप हमारी सब प्रकार से कुशल समझें, आप जैसे राजा के रहने पर प्रजा का अकुशल कैसे हो सकता है ? यतः सूर्य के प्रकाशमान रहते अन्धकार किसी की दृष्टि को ढक सकता है ! ॥ १३ ॥

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग ! तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥ १४ ॥

अन्वयः—प्रतीक्ष्येषु भक्तिः ते कुलोचिता, महाभाग तया पूर्वान् अतिशेषे तु अहम् व्यतीतकालः सन् अर्थिभावात् त्वाम् अभ्युपेतः इति मे विषादः अस्ति ।

भक्तिरिति । प्रतीक्ष्येषु पूज्येषु । भक्तिरनुरागविशेषस्ते तव कुलोचिता कुलाभ्यस्ता । हे महाभाग ! सार्वभौम ! तया भक्त्या पूर्वानतिशेषेऽतिवर्तसे । अहं व्यतीतकालोऽतिक्रान्तकालः सन्नर्थिभावात्त्वामभ्युपेत इति मे मम विषादः ।

भावार्थ—पूज्यजनों मे भक्ति रखना आपकी कुलपरम्परा है, अतः आप में यह गुण अपने पूर्वजों से भी अधिक है । किन्तु इसका मुझे अत्यन्त दुःख है कि मैं समय वीतने पर आया ॥ १४ ॥

शरीरमात्रेण नरेन्द्र ! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥

अन्वयः—नरेन्द्र ! तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः त्वम् शरीरमात्रेण तिष्ठन् आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन अवशिष्टः नीवार इव आभासि ।

शरीरेति । हे नरेन्द्र ! तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता दत्ता ऋद्धिर्येन स तथोक्तः । शरीरमात्रेण तिष्ठन् । आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्या मनुष्यप्रमुखाः । तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य स स्तम्बेन काण्डेनावशिष्टः नीवार इव । आभासि शोभसे ।

भावार्थ—हे राजन् ! यज्ञ में सर्वस्व दे देने के कारण शरीरमात्र से स्थित आप वैसे ही लग रहे हैं जैसे वनवासियों द्वारा फल तोड़ लिए जाने पर डण्ठलमात्र शेष नीवार धान्य हो ॥ १५ ॥

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥ १६ ॥

अन्वयः—भवान् एकनराधिपः सन् मखजम् अकिञ्चनत्वम् यत् व्यनक्ति तत् स्थाने। हि सुरैः पर्यायपीतस्य हिमांशो कलाक्षयः वृद्धेः श्लाघ्यतरः भवति।

स्थान इति। भवानेकनराधिप सार्वभौमः सन्। मखजं मखजन्यम्। न विद्यते किंचन यस्येत्यकिञ्चनः। तस्य भावस्तत्त्वं निर्धनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति। स्थाने युक्तम्। तथाहि सुरैर्देवैः पर्यायेण क्रमेण पीतस्य हिमांशोः कलाक्षयो वृद्धेरुपचयाच्छ्लाघ्यतरो हि वरः खलु।

भावार्थ—आप अद्वितीय चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञ में सर्वस्व दान कर देने से उत्पन्न निर्धनता को प्रकट कर रहे हैं, यह उचित ही है, क्यों देवताओं द्वारा क्रम से पीये गये चन्द्रमा का कलाक्षय वृद्धि की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय होता है।

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥

अन्वयः—तत् तावत् अनन्यकार्यः अहम् अन्यतः गुर्वर्थम् आहर्तुम् यतिष्ये, ते स्वस्ति अस्तु, चातकः अपि निर्गलिताम्बुगर्भम् शरद् घनम् न अर्दति।

तदिति। तत्तस्मात्तावदनन्यकार्यः। प्रयोजनान्तररहितोऽहमन्यतो वदान्यान्तराद् गुर्वर्थं गुरुधनमाहर्तुमर्जयितुं यतिष्ये उद्योक्ष्ये। ते तुभ्यं स्वस्ति शुभमस्तु। तथाहि—चातकोऽपि निर्गलितोऽम्ब्वेव गर्भो यस्य तं शरद्घनं नार्दति न याचते।

भावार्थ—हे राजन् ! गुरुदक्षिणातिरिक्ति दूसरा कोई प्रयोजन न रखनेवाला मैं अन्य दाता से गुरुदक्षिणा की प्राप्ति का प्रयत्न करूँगा, क्योंकि चातक पक्षी भी जल रहित मेघ से जल की याचना नहीं करता। आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य।
किं वस्तु विद्वन्! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥ १८ ॥

अन्वयः—एतावत् भवत्या प्रतियातुकामम् महर्षेः नृपतिः निषिध्य 'हे विद्वन् त्वया गुरवे प्रदेयम् वस्तु किम् कियत् वा' इति तम् अन्वयुङ्क्त।

एतावदिति। एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातुं कामो यस्य तं प्रतियातुकामं गन्तुकामम्। महर्षेर्वरतन्तोः शिष्यं कौत्सं नृपती रघुर्निषिध्य निवार्य। हे विद्वन्! त्वया

गुरवे प्रदेयं वस्तु किं किमात्मकं, कियत् किंपरिमाणं वा । इत्येवं तं कौत्समन्वयुङ्क्तापृच्छत् ।

भाषार्थ—ऐसा कह गमनेच्छु कौत्स को रघु ने रोककर पूछा कि हे विद्वन् ! आपको गुरुदक्षिणा में क्या वस्तु देनी है और कितनी देनी है ॥ १८ ॥

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

अन्वयः—यथावत् विहिताध्वराय स्मयावेशविवर्जिताय वर्णाश्रमाणां गुरवे तस्मै विचक्षणः वर्णी सः प्रस्तुतम् आचचक्षे ।

तत इति । ततो यथावद्यथाऽर्हम् । विहिताध्वराय विधिवदनुष्ठितयज्ञाय । सदाचारायेत्यर्थः । स्मयावेशविवर्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय । अनुद्धतायेत्यर्थः । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च गुरवे नियामकाय । सर्वकार्यनिर्वाहकायेत्यर्थः । तस्मै रघवे विद्वान्वर्णी ब्रह्मचारी । स कौत्सः प्रस्तुतं प्रकृतमाचचक्षे ।

भाषार्थ—उसके बाद शास्त्रानुसार यज्ञ करनेवाले निरहंकार रघु से ब्रह्मचारी कौत्स ने प्रकृत विषय कहा ॥ १९ ॥

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥

अन्वयः—समाप्तविद्येन मया महर्षिः गुरुदक्षिणायै विज्ञापितः अभूत्, स च चिराय अस्खलितोपचारां ताम् भक्तिम् एव पुरस्तात् अगणयत् ।

समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिर्गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीकारार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च गुरुश्चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव पुरस्तात्प्रथममगणयत्संख्यातवान् । भक्त्यैव सन्तुष्टः किं दक्षिणयेत्युक्तवानित्यर्थः ।

भाषार्थ—समस्त विद्याओं को पढ़ लेने पर मैंने महर्षि वरतन्तु से जब गुरुदक्षिणा लेने की प्रार्थना की तब उन्होंने बहुत दिनों तक नियमपूर्वक मेरे द्वारा की गयी गुरु-सेवा को ही श्रेष्ठ दक्षिणा समझा ॥ २० ॥

निर्बन्धसञ्जातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥

अन्वयः—निर्बन्धसंजातरुषा गुरुणा अर्थकार्श्यम् अचिन्तयित्वा अहम् 'वित्तस्य चतस्रः दश च कोटीः मे आहर' इति विद्यापरिसंख्यया उक्तः ।

निर्बन्धेति । निर्बन्धेन प्रार्थनाऽतिशयेन सञ्जातरुषा सञ्जातक्रोधेन गुरुणा ।

अयंकार्दयं दारिद्र्यमचिन्तयित्वाऽविचार्याहम् । वित्तस्य धनस्य चतस्रो दश च कोटीश्चतुर्दशकोटीर्मे मह्यमाहरानयेति विद्यापरिसंख्ययाऽनुसारेणोक्तः ।

भावार्थ—बार-बार गुरुदक्षिणा के लिए आग्रह करने पर क्रुद्ध गुरु ने मेरी दरिद्रता पर ध्यान न दे कहा कि १४ विद्याओं के लिए १४ करोड़ द्रव्य लाकर दो ।। २१ ।।

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ।। २२ ।।

अन्वय.—सः अहम् सपर्याविधिभाजनेन भवन्तम् प्रभुशब्दशेषम् मत्वा श्रुत-निष्क्रयस्य अल्पेतरत्वात् सम्प्रति उपरोद्धुम् न अभ्युत्सहे ।

सोऽहमिति । सोऽहं सपर्याविधिभाजनेनार्घ्यपात्रेण भवन्तं प्रभुशब्द एव शेषो यस्य तं मत्वा श्रुतनिष्क्रयस्य विद्यामूल्यस्याल्पेतरत्वादतिमहत्त्वात्सम्प्रत्युपरोद्धुं निर्बन्धु नाभ्युत्सहे ।

भावार्थ—पूजा में मृण्मय अर्घ्यपात्र के द्वारा ही आपको सर्वथा निर्धन जान कर गुरुदक्षिणा की अधिकता से अब आपसे कुछ कहने का साहस नहीं है । आप तो अब नाममात्र से सम्राट् हैं ।। २२ ।

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ।। २३ ।।

अन्वयः—द्विजराजकान्तिः एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिः जगदेकनाथः वेदविदाम् वरेण द्विजेन इत्थम् आवेदितः सन् एनम् भूयः जगाद ।

इत्थमिति । द्विजराजकान्तिश्चन्द्रकान्तिः । एनसः पापान्निवृत्तेन्द्रियवृत्तिर्यस्य स जगदेकनाथो रघुर्वेदविदां वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेनेत्थमावेदितः सन् एनं कौत्सं भूयः पुनर्जगाद ।

भावार्थ—चन्द्रसमकान्ति निष्पाप, संसार के एकमात्र, स्वामी रघु कौत्स के यों कहने पर फिर बोले ।। २३ ।।

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ।। २४ ।।

अन्वयः—'श्रुतपारदृश्वा गुर्वर्थम् अर्थी रघोः सकाशात् कामम् अनवाप्य वदान्यान्तरम् गतः' इति अयम् मे परीवादनवावतारः मा भूत् ।

गुर्वर्थमिति । श्रुतस्य पारं दृष्टवाञ्छ्रुतपारदृश्वा । गुर्वर्थं गुरुदक्षिणार्थं यथा तथाऽर्थी याचकः । रघोः सकाशात्कामं मनोरथमनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तरं दात्रन्तरं

गतः' इत्येवंरूपोऽयं परीवादस्य नवो नूतनः प्रथमोऽवतार आविर्भावो मे मा भून्माऽस्तु ।

भावार्थ—हे कौत्स ! 'सकलशास्त्रपारङ्गत गुरुदक्षिणायाचक, रघु के पास मनोरथ पूर्ण न होने पर दूसरे दाता के पास गये' यह निन्दा का नया अवतार न हो ॥ २४ ॥

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—सः त्वम् महिते प्रशस्ते मदीये अग्न्यगारे चतुर्थः अग्नि इव वसन् द्वित्राणि अहानि सोढुम् अर्हसि अहं तावत् त्वदर्थम् साधयितुम् यते ।

स इति । स त्वं महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालायां चतुर्थोऽग्निरिव वसन्द्वित्राणि द्वे त्रीणि वाऽहानि दिनानि सोढुमर्हसि । हे अर्हन् ! मान्य ! त्वदर्थं तव प्रयोजनं साधयितुं यावद्यते ।

भावार्थ—अतः मेरी परम पवित्र अग्निशाला में चतुर्थ अग्नि के समान दो या तीन दिन निवास करें, जब तक मैं आपकी कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करूँ ॥ २५ ॥

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुवेरात् ॥ २६ ॥

अन्वयः—अग्रजन्मा प्रतीतः सन् तस्य अवितथम् सङ्गरम् इति प्रत्यग्रहीत्, तथा रघु अपि गाम् आत्तसाराम् अवेक्ष्य कुवेरात् अर्थम् निष्क्रष्टुम् चकमे ।

तथेतीति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः प्रतीतः प्रीतः संस्तस्य रघोरवितथममोघं सङ्गरं प्रतिज्ञाम् । 'तां गिरम्' इति केचित्पठन्ति । तथेति प्रत्यग्रहीत् । रघुरपि गां भूमिमात्तसारां गृहीतधनामवेक्ष्य कुवेरार्थं निष्क्रष्टुमाहर्तुं चकमे इयेष ।

भावार्थ—ब्राह्मण कौत्स ने प्रसन्न हो रघु की अव्यर्थ प्रतिज्ञा को स्वीकार किया। इधर महाराज रघु ने भी पृथ्वी को सारहीन समझ कुवेर से धन लेने की इच्छा की । २६ ॥

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव वलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ॥ २७ ॥

अन्वयः—वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावात् उदन्वदाकाशमहीधरेषु मरुत्सखस्य वलाहकस्य इव तद्रथस्य गतिः न हि विजघ्ने ।

वसिष्ठेति । वसिष्ठस्य यन्मंत्रेणोक्षणमभिमन्त्र्य प्रोक्षणं तज्जात्प्रभावात्साम-र्थ्याद्धेतोः । उदन्वदाकाशमहीधरेषूदन्वत्युदधावाकाशे महीधरेषु वा । मरुतसखस्य मरुतः सखेति तत्पुरुष । ततो वायुसहायस्येति लभ्यते । वारीणा वाहको बला-हकः तस्येव मेघस्येव । तद्रथस्य गतिः सञ्चारो न विजघ्ने न विहता हि ।

भावार्थ—जैसे वायु की सहायता से मेघ की गति सर्वत्र हो जाती है वैसे ही महर्षि वसिष्ठ के मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल के प्रोक्षण से उत्पन्न सामर्थ्य से महाराज रघु की गति भी कहीं भी नहीं रुकती थी ॥ २७ ॥

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसम्भावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अथ प्रदोषे प्रयतः धीरः रघुः सामन्तसम्भावनया एव कैलासनाथम् तरसा जिगीषुः सन् कल्पितशस्त्रगर्भम् रथम् अधिशिश्ये ।

अथेति । अथ प्रदोषे रजनीमुखे । तत्काले यानाधिरोहणविधानात् । प्रयतो धीरो रघुः । समन्ताद्भवः सामन्तः । राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलासनाथं कुबेरं तरसा बलेन जिगीषुर्जेतुमिच्छुः सन् । कल्पितं सज्जितं शस्त्रं गर्भे यस्य तं रथमधिशिश्ये । रथे शयितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—इसके बाद धैर्यशाली रघु साधारण राजा के समान तैयार हो कुबेर को जीतने की इच्छा से शुभ मुहूर्त होने के कारण सायंकाल में ही सशस्त्र रथ में सो गये ॥ २८ ॥

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥

अन्वयः—प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै कोशगृहे नियुक्ताः जनाः सविस्मयाः सन्तः कोषगृहस्य मध्ये नभस्तः पतिताम् हिरण्मयीम् वृष्टिम् शशंसुः ।

प्रातरिति । प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोषगृहे नियुक्ता अधिकृता भाण्डागारिकाः सविस्मयाः सन्तः कोषगृहस्य मध्ये नभस्तो नभसः पतितां हिर-ण्मयीं सुवर्णमयीम् । वृष्टिं शशंसुः कथयामासुः ।

भावार्थ—प्रातःकाल राजा रघु प्रस्थान के लिए ज्यों ही उद्यत हुए, त्यों ही आश्चर्यचकित राजकोश रक्षकों ने सूचना दी कि कोशगृह में आकाश से सुवर्ण की वर्षा हुई है ॥ २९ ॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—भूपतिः अभियास्यमानात् कुवेरात् लब्धम् वज्रभिन्नम् सुमेरोः पादम् इव स्थितम् तम् भासुरहेमराशिम् समस्तम् एव कौत्साय दिदेश।

तमिति। भूपतिः रघुः। अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणात्कुवेराल्लब्धम्। कुलिशेन सुमेरोः पादं प्रत्यन्तपर्वतमिव स्थितम्। 'शृङ्गम्' इति क्वचित्पाठः। तं भासुरं भास्वरम्। हेमराशिं समस्तं कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ।

भावार्थ— युद्ध के लिए चढ़ाई किए जाने वाले कुवेर से वृष्टि द्वारा प्राप्त चमकती हुई सुवर्ण राशि रघु ने कौत्स ऋषि को दे दी। जो कि वज्र से काट कर गिराये हुए सुमेरु के टुकडे के समान दिखती थी॥ ३०॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥ ३१॥

अन्वयः—तौ द्वौ अपि साकेतनिवासिनः जनस्य अभिनद्यसत्त्वौ अभूताम्। गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहः अर्थी, अर्थिकामात् अधिकप्रदः नृपः च।

जनस्येति। तावर्थिदातारौ द्वावपि साकेतनिवासिनोऽयोध्यावासिनः। जनस्याभिनन्द्यसत्त्वं स्तुत्यव्यवसायावभूताम्। कौ द्वौ? गुरुप्रदेयादधिकेऽतिरिक्तद्रव्ये निःस्पृहोऽर्थी। अर्थिकामादर्थिमनोरथादधिकं प्रददातीति तथोक्तः। नृपश्च।

भावार्थ—उस समय अयोध्यानिवासी याचक कौत्स और दाता रघु दोनों की सराहना करने लगे। इधर तो कौत्स गुरुदक्षिणा से अधिक एक कौड़ी भी लेना नहीं चाहते थे और उधर रघु वह समस्त धन कौत्स को देने के लिए इच्छुक थे॥ ३१॥

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः॥ ३२॥

अन्वयः—अथ प्रीतमनाः महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः सन् उष्ट्रवामीशतवाहितार्थम् आनतपूर्वकायम् प्रजेश्वरम् करेण स्पृशन् वाचम् उवाच।

अथेति। अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः सम्प्रस्थास्यमानः सन्। उष्ट्राणां क्रमेलकानां वामीनां वडवानां च शतैर्वाहितार्थं प्रापितधनमानतपूर्वकायम्। विनयनम्रं प्रजेश्वरं करेण स्पृशन्वाचमुवाच।

भावार्थ—इसके बाद परम प्रसन्न कौत्स ऋषि प्रस्थान करते हुए सैकड़ों ऊँटों खच्चरों से धन को पहुँचा देने का प्रयत्न करने वाले, मस्तक झुकाये हुए रघु पर हाथ फेरते हुए यों बोले॥ ३२॥

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा॥ ३३॥

अन्वयः—वृत्ते: स्थितस्य प्रजानाम् अधिपतेः भूः कामसूः यदि, अत्र चित्रम् किम् तु तव प्रभावः अचिन्तनीयः येन द्यौः अपि मनीषितम् दुग्धा ।

किमिति । वृत्ते. स्थितस्य प्रजानामधिपतेर्नृपस्य भू कामात्सूत इति कामसूः यदि । अत्र कामप्रसवने किं चित्रम् । न चित्रमित्यर्थः किन्तु तव प्रभावो महिमा त्वचिन्तनीयः । येन त्वया द्यौरपि मनीषितमभिलषित दुग्धा ।

भावार्थ—राजकार्य में तत्पर रहने वाले आप की पृथ्वी यदि मनोऽनुकूल वस्तुओं को उत्पन्न करती हो तो आश्चर्य नहीं क्योंकि आपका प्रभाव अचिन्तनीय है जिससे आपने इच्छानुसार स्वर्ग को भी दुह लिया है ॥ ३३ ॥

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सर्वाणि श्रेयांसि अधिजग्मुषः ते अन्यत् आशास्यम् पुनरुक्तभूतम् (अस्ति) किन्तु ईड्यम् भवन्तम् भवतः पिता इव त्वम् अपि आत्मगुणानुरूपम् पुत्रम् लभस्व ।

आशास्यमिति । सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुषः प्राप्तवतस्ते तवान्यत्पुत्रातिरिक्तमाशास्यमाशीःसाध्यमाशंसनीय वा पुनरुक्तभूतम् । सर्वंसिद्धमित्यर्थः । किन्त्वीड्यं स्तुत्यं भवतः पितेवात्मगुणानुरूपम् त्वया तुल्यगुणं पुत्रं लभस्व प्राप्नुहि ।

भावार्थ—सर्वकल्याणभोगी आपको अन्य आशीर्वाद देना व्यर्थ है । जैसे पिता ने तुल्यगुण आपको प्राप्त किया । उसी तरह आप भी अपने समान गुणवाले पुत्र को प्राप्त करें ॥ ३४ ॥

इत्थम् प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अग्रजन्मा इत्थम् राज्ञे आशिषम् प्रयुज्य गुरोः सकाशम् प्रतीयाय राजा अपि जीवलोकः अर्कात् आलोकम् इव तस्मात् आशु सुतम् लेभे ।

इत्थमिति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः । इत्थं राज्ञ आशिषं प्रयुज्य दत्त्वा गुरोः सकाशं समीपं प्रतीयाय प्राप । राजाऽपि । जीवलोको जीवसमूहः । अर्कादालोकं प्रकाशमिव । शीघ्रम् । 'चैतन्यम्' इति पाठे ज्ञानम् । तस्माद्दपेराशु सुतं लेभे प्राप ।

भावार्थ—कौत्सऋषि भी रघु को आशीर्वाद देकर अपने गुरु के पास चले गये उधर राजा रघु ने भी थोड़े दिनों में आशीर्वाद के प्रभाव से पुत्र प्राप्त किया जैसे मनुष्यगण सूर्य से प्रकाश पाता है ॥ ३५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ ३६ ॥

अन्वयः—तस्य देवी ब्राह्मे मुहूर्ते किल कुमारकल्पम् कुमारम् सुषुवे, अतः पिता ब्रह्मणः एव नाम्ना तम् आत्मजन्मानम् अजम् चकार।

ब्राह्म इति। तस्य रघोर्देवी महिषी ब्राह्मे ब्रह्मदेवताकेऽभिजिन्नामके मुहूर्ते किलेषदसमाप्तं कुमारं कुमारकल्पं स्कन्दसदृशम्। कुमारं पुत्रं सुषुवे। अतो ब्राह्ममुहूर्तोत्पन्नत्वात्पिता रघुर्ब्रह्मणो विधेरेव नाम्ना तमात्मजन्मानं पुत्रमजमजनामकं चकार।

भावार्थ—रघु की रानी ने ब्राह्म मुहूर्त में कार्तिकेय के समान पुत्र उत्पन्न किया। इसलिए पिता रघु ने ब्रह्मा के ही नाम से उस पुत्र का नाम अज रखा॥ ३६॥

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥ ३७॥

अन्वयः—ओजस्वि रूपम् तत् एव, वीर्यम् तत् एव, नैसर्गिकम् उन्नतत्वम् तत् एव आसीत्, कुमारः प्रदीपात् प्रवर्तितः दीपः इव स्वात् कारणात् न बिभिदे।

रूपमिति। ओजस्वि तेजस्वि बलिष्ठं वा। रूपं वपुः तदेव पैतृकमेव वीर्यं शौर्यं तदेव। नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वं तदेव। कुमारो बालकः। प्रदीपात् स्वोत्पादकदीपादिव। स्वात्स्वकीयात्। कारणाज्जनकान्न बिभिदे भिन्नो नाभूत्।

भावार्थ—कुमार अज का वही पितृ तुल्य तेजोयुक्त रूप वही पराक्रम वही स्वाभाविक ऊँचाई थी जैसे एक दीपक से जलाया गया दूसरा दीपक उससे भिन्न नहीं होता वैसे ही अपने पिता से अज भिन्न नहीं थे॥ ३७॥

उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।
श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष॥ ३८॥

अन्वयः—गुरुभ्यः विधिवत् उपात्तविद्यम् यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् तम् प्रति साभिलाषा अपि श्रीः धीरा कन्या पितुः इव गुरोः अनुज्ञाम् आचकाङ्क्ष।

उपात्तेति। गुरुभ्यो विधिवद्यथाशास्त्रमुपात्तविद्यं लब्धविद्यम्। यौवनस्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमजं प्रति साभिलाषाऽपि श्रीः धीरा स्थिरोन्नतचित्ता। कन्या पितुरिव। गुरोरनुज्ञामाचकाङ्क्षेयेष। यौवराज्यार्होऽभूदित्यर्थः।

भावार्थ—विधिवत् विद्याध्ययन के बाद युवा अवस्था से अत्यन्त सुन्दर उस अज को वरण करने में राजलक्ष्मी रघु की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी जैसे कोई कन्या अभिलषित वर के प्रति पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करती हो।

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयम्वरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥

अन्वय—अथ स्वसुः इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थम् कुमारानयनोत्सुकेन क्रथकैशिकानाम् ईश्वरेण भोजेन आप्तः दूतः रघवे विसृष्टः ।

अथेति । अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थं कुमारस्याजस्यानयन उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण भोजेन राज्ञाऽऽप्तो हितोदूतो रघवे विसृष्टः प्रेषितः ।

भावार्थ—इसके बाद विदर्भराज भोज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयम्वर मे युवराज अज को बुलाने की इच्छा से अपने विश्वासपात्र दूत को रघु के पास भेजा ॥ ३९ ॥

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—असौ तम् श्लाघ्यसम्बन्धम् विचिन्त्य पुत्रम् च दारक्रियायोग्यदशम् विचिन्त्य ससैन्यम् एनम् ऋद्धाम् विदर्भाधिपराजधानीम् प्रति प्रस्थापयामास ।

तमिति । असौ रघुस्तं भोजं श्लाघ्यसम्बन्धमनूचानत्वादिगुणयोगात्स्पृहणीसम्बन्धं विचिन्त्य विचार्य पुत्रं च दारक्रियायोग्यदशं विवाहयोग्यवयसं विचिन्त्य ससैन्यमेनं पुत्रमृद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजस्य राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास । धीयतेऽस्यामिति धानी ।

भावार्थ—रघु ने विदर्भराज भोज के साथ सम्बन्ध करना उचित समझ और पुत्र अज की अवस्था को भी विवाह योग्य विचार कर सेनासहित युवराज अज को समृद्धिमान विदर्भ की राजधानी की ओर भेजा ॥ ४० ॥

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—उपकार्यारचितोपचाराः जानपदोपदाभिः वन्येतराः तस्य मनुजेन्द्रसूनोः मार्गे निवासाः उद्यानविहारकल्पाः बभूवुः ।

तस्येति । उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु । उपक्रियत उपकरोति वा पटमण्डपादि राजसदनमिति । रचिता उपचाराः शयनादयो येषु ते तथोक्ताः । जानपदानां जनपदेभ्य आगतानामुपदाभिरुपायनैः वन्या वनेभवा इतरे येषां ते वन्येतराः । अवन्या इत्यर्थः । तस्य मनुजेन्द्रसूनोरजस्य मार्गे निवासा वासनिवा उद्यानान्याक्रीडाः । तान्येव विहारा विहारस्थानानि तत्कल्पाः तत्सदृशाः बभूवुः ।

भावार्थ—मार्ग में बने हुए उस अज के विश्रामस्थल राजधानी के उद्यानों में बने हुए विहारों के समान ही सुन्दर थे, क्योंकि वहाँ तम्बुओं के अन्दर शय्या आदि बिछी हुई थी और उपहार एवं सुख साधन मौजूद थे, जो जंगल में बने हुए नहीं ज्ञात होते थे ॥ ४१ ॥

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—विलङ्घिताध्वा सः सीकरार्द्रैः मरुद्भिः आनर्तितनक्तमाले नर्मदा-रोधसि क्लान्तम् रजोधूसरकेतु सैन्यम् निवेशयामास ।

सेति । विलङ्घिताध्वाऽतिक्रान्तमार्गः सोऽजः सीकरार्द्रैः । शीतलैरित्यर्थः । मरुद्भिर्वातैरानर्तिताः कम्पिता नक्तमालाश्चिरविल्वाख्यवृक्षभेदाः । यस्मिंस्तस्मिन् । नर्मदाया रोधसि रेवायास्तीरे क्लान्तं श्रान्तं रजोभिर्धूसराः केतवो ध्वजा यस्य तत्सैन्यं निवेशयामास ।

भावार्थ—यात्रा समाप्त करके अज ने जलार्द्र, वायुकम्पित, करंज वृक्ष वाले नर्मदा नदी के किनारे पर धूल से धूसरित पताका वाली थकी हुई अपनी सेना को ठहराया ॥ ४२ ॥

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथ उपरिष्टात् भ्रमद्भिः भ्रमरैः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः निर्धौत-दानामलगण्डभित्तिः वन्यः गजः सरित्तः उन्ममज्ज ।

अथेति । अथोपरिष्टादूर्ध्वम् । मदलोभादिति भावः । भ्रमरैः प्रागुन्मज्जनात्पूर्वं सूचितो ज्ञापितोऽन्तःसलिले प्रवेशो यस्य स तथोक्तः । निर्धौतदाने क्षालितमदे अत एवामले गण्डभित्ती यस्य स तथोक्तः । प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती । निर्धौतदानेनामला गण्डभित्तिर्यस्येति वा । वन्यो गजः सरित्तो नर्मदाया सकाशात् उन्मज्जोत्थितः ।

भावार्थ—सेनाविश्रामानन्तर नर्मदा से एक जंगली हाथी निकला । पानी के ऊपर मद के लोभ से मंडराते हुए भौंरों से जल में डुबकी लगाने का अनुमान हो रहा था और उसके कपोल पानी से धुलकर निर्मल हो गये थे ॥ ४३ ॥

निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥

अन्वयः—निःशेषविक्षालितधातुना अपि नीलोर्ध्वरेखाशबलेन अश्मविकुण्ठितेन दन्तद्वयेन ऋक्षवतः तटेषु वप्रक्रियाम् शंसन् बभौ ।

निःशेषेति । कथम्भूतो गजः । निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि धौतगैरिकादि-नाऽपि । नीलाभिरूर्ध्वाभी रेखाभिस्तटाभिघातजनिताभिः शबलेन कर्बुरेण। अश्मभिः पाषाणैर्विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन दन्तद्वयेन । ऋक्षवान्नाम कश्चित्तस्य पर्वतः । तस्य तटेषु वप्रक्रिया वप्रक्रीडाम् । उत्खातकेलिमित्यर्थः । शंसन्कथयन् । सूचयन्नित्यर्थः । युग्मम् ।

भावार्थ—जल मे डूबकर स्नान करने से जिसके गैरिकादि धातु घुल गये थे और पर्वत के तट पर प्रहार करने से ऊपर की तरफ काली रेखाओ चितकबरे एवं पत्थरों से टूटे नोक दातो से ऋक्षवान् नामक पर्वत के तट प्रान्तो मे पत्थरों के लिये हुए दातों से उत्पादन क्रिया को सूचित करता हुआ वह गज नर्मदा से निकला ॥ ४४ ॥

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान् वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन सशब्दम् बृहतः तरङ्गान् भिन्दन् तीराभिमुखः सः वार्यर्गलाभङ्गे प्रवृत्तः इव बभौ ।

संहारेति । संहारविक्षेपयोः संकोचनप्रसारणयोर्लघुक्रियेण क्षिप्रव्यापारेण । हस्तेन शुण्डादण्डेन । सशब्दं सघोषं बृहतस्तरङ्गान्भिन्दन् विदारयन् तीराभिमुखः स गजः । वारी गजबन्धनस्थानम् । वार्या अर्गलाया विष्कम्भस्य भङ्गे भञ्जने प्रवृत्त इव बभौ ।

भावार्थ—जल्दी २ बटुरते और फैलते हुए सूड से बड़े २ तरंगों को चीरता और चीघारता हुआ नर्मदा के तीर की तरफ वह हाथी शृङ्खला तोड़ने मे लगा हुआ जान पड़ता था ॥ ४५ ॥

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

अन्वयः—शैलोपमः सः शैवलमञ्जरीणाम् जालानि उरसा कर्षन् पश्चात् तटम् उत्ससर्प, पूर्वम् तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहः तटम् उत्ससर्प ।

शैलेति । शैलोपमः स गजः शैवलमञ्जरीणां जालानि बृन्दान्युरसा कर्षन्पश्चात्तटमुत्ससर्प । पूर्वं तेन गजेनोत्पीडितो नुन्नो वारिराशिर्यस्य स सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ।

भावार्थ—पर्वतोपम वह हाथी से सेवाल की लताओ को अपने वक्षःस्थल से छिन्न-भिन्न करता हुआ पीछे से तीर पर पहुँचा, किन्तु उससे पूर्व ही उसके चलने से क्षुभित तरंग नर्मदा का प्रवाह तट पर पहुँच गया ॥ ४६ ॥

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्ददीपे मददुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तस्य एकनागस्य कपोलभित्त्योः जलावगाहक्षणमात्रशान्ता मददुर्दिन-श्री वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनः ददीपे ।

तस्येति । तस्यैकनागस्यैकाकिनो गजस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहेन क्षणमात्रं शान्ता निवृत्ता मददुर्दिनश्रीर्मदवर्षलक्ष्मीर्वन्येतरेषां ग्राम्याणामनेकपानां द्विपानां दर्शनेन पुनर्ददीपे ववृधे ।

भावार्थ—उस गज श्रेष्ठ के गण्डस्थलों से झरने वाली मदधारा नर्मदा के जल में डुबकी लगाने से क्षणमात्र के लिए बन्द हो गई थी, वही अज की सेना के हाथियों के देखने से पुनः बरसने लगी ॥ ४७ ॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहम् (अत एव) असह्यम् तदीयम् मदम् आघ्राय सेनागजेन्द्राः विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सन्तः विमुखाः बभूवुः ।

सप्तच्छदेति । सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य क्षीरवत्कटुः सुरभिः प्रवाहः प्रसारो यस्य तदीयं मदमाघ्राय सेनागजेन्द्राः। विलङ्घितस्तिरस्कृत आधोरणानां हस्तिपकानां तीव्रो महान्यत्नो यैस्ते तथोक्ताः सन्त । विमुखाः पराङ्मुखाः बभूवुः ।

भावार्थ—छितवन के दूध के समान गन्ध वाले असह्य उस जंगली हाथी के मद को सूँघकर अज की सेना के बड़े २ हाथी महावतों के अकुश की मार की उपेक्षा कर वापस भागने लगे ॥ ४८ ॥

स छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥

अन्वयः—छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यम् भग्नाक्षपर्यस्तरथम् रामापरित्राणविहस्त-योधम् सेनानिवेशम् क्षणेन तुमुलम् चकार ।

सेति । स गजः । छिन्ना बन्धा यैस्ते छिन्नबन्धा द्रुताः पलायिताः, युगं वहन्तीति युग्या वाहा यस्मिन् सः, स चासौ शून्यश्च तम् । भग्ना अक्षा रथावयवदारुविशेषाः । येषान्ते भग्नाक्षा अत एव पर्यस्ताः पतिता रथा यस्मिस्तम् । रामाणां परित्राणे संरक्षणे विहस्ता व्याकुलाः योधाः यस्मिस्तं सेनानिवेशं शिविरं क्षणेन तुमुलं चकार ।

भावार्थ—अज की सेना का सारा शिविर उस जंगली हाथी के आते ही व्याकुल

हो उठा। हाथी घोड़े बन्धन तोड़कर शीघ्रता से भागने लगे। धुरा टूट जाने से रथ गिरने लगे और योद्धा लोग स्त्रियों की रक्षा करने में व्यस्त हो गये ॥४९॥

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

अन्वयः—नृपतेः वन्यः करी अवध्य इति श्रुतवान् कुमार आपतन्तम् तम् निवर्तयिष्यन् (अत एव) नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः (सन्) विशिखेन कुम्भे जघान।

तमिति। नृपते राज्ञो वन्य करीवध्य इति श्रुतवाञ्शास्त्राज्ज्ञातवान्कुमार आपतन्तमभिधावन्तं गजं निवर्तयिष्यन्न तु प्रहरिष्यन्। अत एव नात्यायतमनतिदीर्घं यथा स्यात् तथा कृष्टशार्ङ्ग ईषदाकृष्टचापः सन्विशिखेन बाणेन कुम्भे जघान।

भावार्थ—'राजा को जंगली हाथी नहीं मारना चाहिए' यह जानते हुए अज ने सामने आते हुए उस हाथी को भगाने की इच्छा से थोड़ा धनुष को खींचकर छोड़े बाण से गण्डस्थल पर मारा ॥ ५० ॥

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सः विद्धमात्रः किल नागरूपम् उत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः सन् स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तम् व्योमचरम् वपुः प्रपेदे।

स इति। स गजो विद्धमात्रः किल न तु प्रहृतस्तथाऽपि नागरूपं गजशरीरमुत्सृज्य। तेन वृत्तान्तेन विस्मितैस्तद्विस्मितैः सैन्यैर्दृष्टः सन्। स्फुरतः प्रभामण्डलस्य मध्यवर्ति कान्तं मनोहरं व्योमचरं वपुः प्रपेदे प्राप।

भावार्थ—अज के बाण से विद्ध होते ही उस जंगली हाथी ने अपने हाथी के शरीर को छोड़कर सैनिकों के देखते २ देदीप्यमान प्रभामण्डल के मध्य में स्थित आकाशगामी शरीर धारण कर लिया ॥ ५१ ॥

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अथ प्रभावोपनतैः कल्पद्रुमोत्थैः पुष्पैः कुमारम् अवकीर्य दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः वाग्मी सः पुरुष उवाच।

अथेति। अथ प्रभावेणोपनतैः प्राप्तैः कल्पद्रुमोत्पन्नैः पुष्पैः कुमारमजमवकीर्याभिवृष्य दशनप्रभाभिर्दन्तकान्तिभिः संवर्धिता उरःस्थले ये तारहाराः स्थूला मुक्ताहारास्ते येन स तथोक्तः। वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वक्ता। स पुरुष उवाच।

भावार्थ—इसके बाद अज पर अपने प्रभाव से प्राप्त, कल्प वृक्ष के पुष्पों की वर्षा कर दांतों की कान्ति से वक्षःस्थल पर लटकते हुए मोती के हार को और भी उन्नतवान वाग्मी वह दिव्य पुरुष अज से यों बोला ॥ ५२ ॥

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अवलेपमूलात् मतङ्गशापात् मतङ्गजत्वम् अवाप्तवान् अस्मि । माम् प्रियदर्शनस्य गन्धर्वपतेः तनूजम् प्रियंवदम् अवेहि ।

मतङ्गेति । अवलेपमूलाद् गर्वहेतुकाद् । मतङ्गस्य मुनेः शापान्मतङ्गगजत्वमवाप्तवानस्मि । मां प्रियदर्शनस्य प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्वपतेर्गन्धर्वराजस्य तनूजं पुत्रम् प्रियंवदं प्रियंवदाख्यमवेहि जानीहि ।

भावार्थ—मेरे अहंकार से क्रुद्ध मतंग ऋषि के शाप से मैं हाथी हो गया था । वस्तुतः मैं गन्धर्वों के राजा प्रियदर्शन का पुत्रप्रियंवद हूँ ऐसा आप समझें ।

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

अन्वयः—सः महर्षिः च प्रणतेन मया अनुनीतः (सन्) पश्चात् मृदुताम् अगच्छत्, हि जलस्य उष्णत्वम् अग्न्यातपसम्प्रयोगात्, यत् शैत्यम् सा प्रकृतिः ।

स इति । महर्षिश्च प्रणतेन मयानुनीतः सन्पश्चान्मृदुतां शान्तिमगच्छत् । तथा हि जलस्योष्णत्वमग्नेरातपस्य वा सम्प्रयोगात्सम्पर्कात्, न तु प्रकृत्योष्णत्वम् । यच्छैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः ।

भावार्थ—मेरे अनुनय करने पर वे मतंग ऋषि शान्त हो गये, क्योंकि जल गर्मी पाकर गरम हो जाता है किन्तु उसका स्वभाव तो शीतल ही है ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः अजः यदा ते कुम्भम् अयोमुखेन शरेण भेत्स्यति तदा स्वेन वपुर्महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे' इति सः तपोनिधिः माम् अवोचत् ।

इक्ष्वाकिवति । इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य सोऽजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति, तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे इति स तपोनिधिर्मामवोचत् ।

भावार्थ—प्रार्थना से प्रसन्न हो मतंग मुनि ने मुझ से कहा कि इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न अज नामक राजकुमार जब तुम्हारे कुम्भस्थल को लोहे के फल वाले बाण से वेधेंगे तब तुम पुनः अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लोगे।

सम्मोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—चिरप्रार्थितदर्शनेन सत्त्ववता त्वया अहं शापात् सम्मोचितः भवतो प्रतिप्रियम् न कुर्याम् चेत् मे स्वपदोपलब्धिः वृथा स्यात्।

सम्मोचित इति । चिरं प्रार्थितं दर्शनं यस्य तेन सत्त्ववता बलवता त्वयाऽहं शापात्समोचितो मोक्षं प्रापितः । भवतः प्रतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्यां चेन्मे स्वपदोपलब्धिः स्वस्थानप्राप्तिः वृथा स्याद्धि ।

भावार्थ—मतंग मुनि के शाप से हाथी बनकर मैं बहुत दिनों से आपके दर्शन की प्रतीक्षा कर रहा था, बलवान् आपने मुझे उस शाप से मुक्त कर दिया । यदि इस उपकार के बदले में आपका प्रत्युपकार न करूँ तो मेरा अपना स्थान प्राप्त करना ही व्यर्थ होगा ॥ ५६ ॥

सम्मोहनं नाम सखे ! ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥ ५७ ॥

अन्वयः—सखे ! प्रयोगसंहार विभक्तमन्त्रम् गान्धर्वम् सम्मोहनम् नाम मम अस्त्रम् आदत्स्व, यतः प्रयोक्तुः अरिहिंसा न च विजयः च हस्ते भवति ।

सम्मोहनमिति । हे सखे! सखिशब्देन समप्राणतोक्ता । प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमन्त्रं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम् । सम्मोह्यतेऽनेनेति सम्मोहनं नाम ममास्त्रमादत्स्व गृहाण । यतोऽस्त्रात्प्रयोक्तुरस्त्रप्रयोगिणोहिंसा न च, विजयश्च हस्ते भवतीति शेषः।

भावार्थ—हे मित्र अज ! आप चलाने और लौटा लेने के पृथक् पृथक् मन्त्र वाले इस सम्मोहन नामक गन्धर्वास्त्र को लीजिए । इसकी विशेषता है कि चलाने वाले के शत्रुओं का वध भी नहीं होगा और अनायास विजय भी होगी ॥ ५७ ॥

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—माम् प्रति ह्रिया अलम् ! कुतः ? यत् त्वम् प्रहरन् अपि मुहूर्तं दयापरः अभूः, तस्मात् उपच्छन्दयति मयि त्वया प्रतिषेधरौक्ष्यम् न प्रयोज्यम्।

अलमिति । किं च । मां प्रति ह्रिया प्रहारनिमित्तयाऽलम् । कुतः ? यद्यो-

यद्यतोहेतोस्त्वं मां प्रहरन्नपि मुहूर्तं दयापरः कृपालुर्भूः। तस्मादुपच्छन्दयति प्रार्थयमाने मयि त्वया प्रतिषेधः परिहार स एव रौक्ष्यं पारुष्यम्। तन्न प्रयोज्यं न कर्तव्यम्।

भावार्थ—मेरे ऊपर प्रहार करने के कारण लज्जित न हों क्योंकि प्रहार करते हुए भी आप मुझ पर दयालु ही रहे। अतः मेरी प्रार्थना को अस्वीकार करके रूक्षता का व्यवहार न करें॥ ५८॥

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात्॥ ५९॥

अन्वयः—नृसोमः अस्त्रवित् स तथा इति सोमोद्भवायाः पवित्रम् पयः उपस्पृश्य उदङ्मुखः सन् निगृहीतशापात् अस्त्रमन्त्रम् जग्राह।

तथेति। ना सोमश्चन्द्र इव नृसोमः। उपमितसमासः। पुरुषश्रेष्ठ इत्यर्थः। अस्त्रविदस्त्रज्ञः सोऽजस्तथेति। सोम उद्भवो यस्याः सा तस्याः सोमोद्भवायाः सरितो नर्मदाया पवित्रं पय उपस्पृश्य पीत्वा। उदङ्मुखः सन्निगृहीतशापान्निवर्तितशापात् उपकृतादित्यर्थः। तस्मात्प्रियंवदादस्त्रमन्त्रं जग्राह।

भावार्थ—चन्द्रोपम अस्त्रविद्याविशारद राजकुमार अज ने अच्छा कह कर प्रियंवद की बात को मान लिया और चन्द्रमा से उत्पन्न नर्मदा नदी के पवित्र जल से आचमन कर उत्तराभिमुख हो शापमुक्त उस प्रियवद गन्धर्व से अस्त्र चलाने और लौटाने का मन्त्र सीख लिया॥ ५९॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतुः।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्॥ ६०॥

अन्वयः—एवम् अध्वनि दैवयोगात् अचिन्त्यहेतुः सख्य आसेदुषोः तयोः एकः चैत्ररथप्रदेशान् अपरः सौराज्यरम्यान् विदर्भान् ययौ।

एवमिति। एवमध्वनि मार्गे दैववशादचिन्त्यहेत्वनिर्धार्यहेतुकं सख्यं सखित्वम्। आसेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोर्मध्ये एको गन्धर्वश्चैत्ररथस्य कुवेरोद्यानस्य प्रदेशान्। अपरोऽजः, सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान्विदर्भदेशान्ययौ।

भावार्थ—मार्ग में दैवयोग से अचिन्त्यहेतुक मित्र को प्राप्त हुए उन दोनों में से एक (प्रियंवद) तो चैत्ररथ नामक कुवेर के बगीचे की ओर गया और दूसरे अच्छे शासन के कारण रमणीय विदर्भ देश की ओर गये॥ ६०॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली॥ ६१॥

अन्वयः—नगरोपकण्ठे तस्थिवांसम् तम् तदागमारूढगुरुप्रहर्षः क्रथकैशिकेन्द्रः प्रवृद्धोर्मिः ऊर्मिमाली चन्द्रम् इव प्रत्युज्जगाम ।

तमिति । नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवांसं स्थितं तमजं तस्याजस्यागमेनागमनेनारूढ उत्पन्नो गुरुः प्रहर्षो यस्य स क्रथकैशिकेन्द्रो विदर्भराजः । प्रवृद्धोर्मिरूर्मिमाली समुद्रश्चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ।

भावार्थ—अपने नगर के बाहर उस युवराज अज के आगमन से अत्यन्त प्रसन्न विदर्भ देश के राजा भोज अज का स्वागत करने के लिए ऐसे गये जैसे लहरीसंयुक्त समुद्र चन्द्रोदय से प्रसन्न होकर उनसे मिलने लिए ऊपर उठता है।

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—एनम् अग्रयायी नीचैः पुरम् प्रवेश्य प्रीत्या अर्पितश्रीः तथा उपाचरत् यथा तत्र समेतः जनः वैदर्भम् आगन्तुम् अजम् गृहेशम् मेने ।

प्रवेश्येति । एनमजमग्रयायी । सेवाधर्मेण पुरो गच्छन्नित्यर्थः । नीचैर्नम्रः पुरं प्रवेश्य प्रवेशं कारयित्वा प्रीत्यार्पितश्रीस्तथा तेन प्रकारेणोपाचरदुपचरितवान् । यथा येन प्रकारेण तत्र पुरे समेतो मिलितो जनो वैदर्भं भोजमागन्तुं प्राघूर्णिकं मेने । अजं गृहेशं गृहपतिं मेने ।

भावार्थ—सेवा से अज के आगे चलते हुए विनम्र राजा भोज अज को नगर में ले जाकर प्रेमपूर्वक अपनी सारी सम्पत्ति से ऐसा व्यवहार किया कि वहाँ आये हुए जन समूह ने यही समझा कि युवराज अज ही गृहस्वामी हैं और विदर्भ नरेश राजा भोज अतिथि हैं ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥

अन्वयः—रघुप्रतिनिधिः सः प्रणतैः तस्य अधिकारपुरुषैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् रम्याम् नवोपकार्याम् बाल्यात् परां दशाम् इव अध्युवास ।

तस्येति । रघुप्रतिनिधी रघुकल्पः । रघुतुल्य इत्यर्थः । सोऽजः प्रणतैर्नमस्कृतवद्भिः । तस्य भोजस्याधिकारो नियोगस्तस्य पुरुषैः । प्रदिष्टां प्राग्द्वारस्य वेद्यां विनिवेशितः पूर्णकुम्भो यस्यास्ताम् । रम्यां रमणीयां नवोपकार्यां नूतनं राजभवनम् । मदनो बाल्यात्परां शैशवादनन्तरां दशामिव । यौवनमिवेत्यर्थः । अध्युवासाधिष्ठितवान् । तत्रोषितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—रघु के प्रतिनिधि अज प्रणत राजा भोज के द्वारा नियुक्त अधिकारी पुरुषों से बतलाये हुए, नवीन कपड़े से बने हुए, राजाओं के योग्य सुन्दर मण्डप में गये जिसके सामने वेदियों पर सजल मांगलिक कलश रखे हुए थे; वहाँ यों रहने लगे मानो कामदेव बाल्यावस्था को बिताकर युवावस्था में निवास करते हों ॥ ६३ ॥

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललामकमनीयमजस्य लिप्सोः।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥ ६४ ॥

अन्वयः—तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकम् कमनीयम् कन्याललाम लिप्सोः अजस्य भावावबोधकलुषा दयिता इव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव।

तत्रेति। तत्रोपकार्यायां स्वयंवरनिमित्तं समाहृतः सम्मेलितो राजलोको येन तत्कमनीयं स्पृहणीयं कन्याललाम कन्यासु श्रेष्ठम्। लिप्सोर्लब्धुमिच्छोः। अजस्य भावावबोधे पुरुषस्याभिप्रायपरिज्ञाने कलुषाऽसमर्था दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव। अभिमुखीशब्दो ङीपन्तश्च्व्यन्तो वा।

भावार्थ—पटनिर्मित मण्डप से जिस कमनीय कन्या को पाने के लिए अनेक राजा आये हुए थे उसको पाने की चिन्ता करते हुए अज को देर से निद्रा आई, जैसे कोई प्रिय के हृदय को न जाननेवाली नवोढा नायिका अपने प्रिय के पास विलम्ब से जाती हो ॥ ६४ ॥

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम्।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् प्रथितप्रबोधं तं सवयसः उदारवाचः सूतात्मजाः वाग्भिः उषसि प्राबोधयन्।

तमिति। कर्णभूषणाभ्यां निपीडितौ पीनावंसौ यस्य तम्। शय्याया उत्तरच्छदस्योपर्यास्तरणवस्त्रस्य विमर्देन घर्षणेन कृशो विरलोऽङ्गरागो यस्य तम्। प्रथितप्रबोधं प्रकृष्टज्ञानं तमेनमजं सवयसः समानवयस्का उदारवाचः प्रगल्भगिरः सूतात्मजा वन्दिपुत्राः। 'वैतालिकाः' इति वा। वाग्भिः स्तुतिपाठैरुषसि प्राबोधयन्प्रबोधयामासुः।

भावार्थ—कर्ण कुण्डलों से स्थूल कन्धों पर चिह्न वाले शय्या की चद्दर की रगड़ से निवृत्त अंगराग वाले अज को समवयस्क मृदुभाषी वन्दिपुत्रों ने उत्तम ज्ञान सम्पन्न मांगलिक गीतों से जगाया ॥ ६५ ॥

रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥

अन्वयः—मतिमतां वर ! रात्रिः गता, शय्यां मुञ्च, धात्रा जगतः धूः द्विधा एव विभक्ता ननु, ताम् एकतः तव गुरुः विनिद्रः सन् बिभर्ति, तस्याः भवान् अपरधुर्यपदावलम्बी (भव)।

रात्रिरिति। हे मतिमतां वर ! निर्धारणे षष्ठी। रात्रिर्गता। शय्यां मुञ्च। विनिद्रो भवेत्यर्थः। धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्भारः। द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थः। विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु। तां धुरमेकत एककोटौ तव गुरुः पिता विनिद्रः सन्बिभर्ति तस्या धुरो भवान्। धुरं वहतीति धुर्यो भारवाही। तस्य पदं वहनस्थानम्। अपरं यद् धुर्यपदं तदवलम्बी। ततो विनिद्रो भवेत्यर्थः।

भावार्थ—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अज ! रात बीत गई। अतः आप शय्या को छोड़ें, क्योंकि ब्रह्माजी से पृथ्वी पालन का भार दो भागों में विभक्त है। उसमें एक भाग आपके पिता नींद छोड़कर वहन कर रहे हैं, दूसरे भाग को आप संभालें॥ ६६॥

निद्रावशेन भवताऽप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीविनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥

अन्वयः—निद्रावशेन भवता पर्युत्सुकत्वम् अपि निशि खण्डिता अबला इव अनवेक्ष्यमाणा सती लक्ष्मीः येन पर्युत्सुकत्वम् विनोदयति सः चन्द्रः अपि दिगन्तलम्बी सन् त्वदाननरुचिं विजहाति।

निद्रेति। निद्रावशेन निद्राऽधीनेन। भवता पर्युत्सुकत्वमपि। त्वय्यनुरक्तत्वमपीत्यर्थः। निशि खण्डिता भर्तुरन्यासङ्गज्ञानकलुषिताबलेव नायिकेव। अनवेक्ष्यमाणाऽविचार्यमाणा सती। उपेक्ष्यमाणेत्यर्थः। 'ह्यनवेक्ष्यमाणा' इति पाठे निद्रावशेन भवताऽनवेक्ष्यमाणाऽनिरीक्ष्यमाणा। लक्ष्मीः प्रयोजककर्त्री येन प्रयोज्येन चन्द्रेण पर्युत्सुकत्वं त्वद्विरहवेदनाम्। विनोदयति निराकरोतीति योजना। शेषं पूर्ववत्। लक्ष्मीर्येन चन्द्रेण सह। त्वदाननसदृशत्वादिति भावः। विनोदयति विनोदं करोति। स चन्द्रोऽपि दिगन्तलम्बी पश्चिमाशां गतः सन्। अस्तं गच्छन्नित्यर्थः। अत एव त्वदाननरुचिं विजहाति। त्वन्मुखसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः।

भावार्थ—निद्राकामिनी रमणी के अधीन हुए के द्वारा अनुरक्त होती हुई भी उपेक्षणीय आपकी सौन्दर्यलक्ष्मी रात्रि में खण्डिता नायिका के समान खिन्न होकर जिस चन्द्रमा के साथ अपने मन को बहलाती थी, वह चन्द्रमा भी इस समय पश्चिम दिशा में अस्त होता हुआ आपकी मुख कान्ति के समान कान्ति को छोड़ रहा है। इसलिए नींद को छोड़ कर आप उस निराश्रित सौन्दर्य लक्ष्मी को ग्रहण करें॥ ६७॥

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तत् वल्गुना युगपत् तावत् उन्मिषितेन सद्यः द्वे परस्परतुलाम् अधिरोहताम्, (के द्वे ?) अन्तः प्रस्पन्दमानपरुपेतरमन्दं तव चक्षुः, अन्तःप्रचलित भ्रमरं पद्मं च ।

तदिति । तत्तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहणाद्वल्गुना मनोज्ञेन । युगपत्तावदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मीलितेन सद्यो द्वे अपि परस्परतुलामन्योन्यसादृश्यमधिरोहतां प्राप्नुताम् । प्रार्थनायाम् लोट् । के द्वे । अन्तः प्रस्पन्दमाना चलन्ती परुपेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य तत्तथोक्तम् । तव चक्षुः । अन्तः प्रचलितभ्रमरं चलद्भृङ्गं पद्मं च ।

भावार्थ—इस सौन्दर्यलक्ष्मी को स्वीकार करने के कारण एक ही समय में तुम्हारी आखें और कमल ये दोनों एक दूसरे के वरावरी करते हैं, क्योंकि इस समय वन्द आखों में चिकनी और काली पुतलियां घूम रही हैं और कमलों में भ्रमर घूम रहे हैं । अर्थात साथ ही खुलने और खिलने से आंख और कमलों की पर्ण रूप से समानता हो जायगी ॥ ६८ ॥

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥ ६९ ॥

अन्वयः—विभातवायुः ते मुखमारुतस्य स्वाभाविकम् सौरभ्यम् परगुणेन इप्सुः इव अनोकहानाम् वृन्तात् श्लथं पुष्पं हरति च अरुणांशुभिन्नैः सरसिजैः संसृज्यते ।

वृन्तादिति । विभातवायुः प्रभातवायुः स्वाभाविकं ते तव मुखमारुतस्य निश्वासपवनस्य सौरभ्यं सौगन्ध्यं । परगुणेन । सांक्रामिकगन्धेन । ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव । अनोकहानां वृक्षाणां श्लथं शिथिलं पुष्पं वृन्तात्पुष्पबन्धनात् । हरत्यादत्ते । अरुणांशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसिजातैःकमलैः सह । संसृज्यते संगच्छते ।

भावार्थ—सुवह की हवा वृक्षों के शिथिल वृन्त वाले पुष्पों को वृन्त से गिरा रही है और सूर्य की किरणों से विकसित कमलों का स्पर्श करती वह रही है । मानों आपको सोए हुए देखकर वह आपके मुख की स्वाभाविक सुगन्धि के समान सुगन्धि को दूसरों से लेने की अभिलाषा कर रही है । अर्थात् सूर्योदय का समय हुआ, आप उठें ॥ ६९ ॥

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिवत्वदीयम् ॥ ७० ॥

अन्वय:—ताम्रोदरेषु पतितम् निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः लब्धपर-भागतया अधरोष्ठे त्वदीयम् सदशनार्चिः लीलास्मितम् इव आभाति ।

ताम्रेति । ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु पतितं निर्धौता या हारगुलिका मुक्तामणयस्तद्वद्विशदं हिमाम्भो लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया अधरोष्ठे त्वदीयं सदशनार्चिर्दन्तकान्तिसहितं लीलास्मितमिवाभाति शोभते ।

भावार्थ—ताम्र के समान लाल वृक्षों के नये पत्तों पर गिरे हुए स्वच्छ मोतियोंके हार के दाने के समान निर्मल ओस के कण इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, जिस प्रकार अधरोष्ठ मे आपको दांतो की कान्ति के सहित लीलापूर्वक मन्द हास सुशोभित होता है ॥ ७० ॥

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्णाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥

अन्वय:—यावत् प्रतापनिधिः भानुः न आक्रमते, तावत् अह्णाय अरुणेन तमः निरस्तम् । हे वीर ! त्वयि आयोधनाग्रसरताम् (याते सति) तव गुरुः स्वयम् रिपून् उच्छिनत्ति किं वा ।

यावदिति । प्रतापनिधिस्तेजोनिधिर्भानुर्यावन्नाक्रमते नोद्गच्छति । तावद् भानावनुदित एवेत्यर्थः । अह्णाय झटिति अरुणेनानूरुणा । तमो निरस्तम् । हे वीर ! त्वय्यायोधनेषु युद्धेषु । अग्रसरतां याते सति तव गुरुः पिता रिपून्स्वयमुच्छिनत्ति किं वा । नोच्छिनत्त्येवेत्यर्थः । न खलु योग्यपुत्रन्यस्तभाराणां स्वामिनां स्वयं व्यापारखेद इति भावः ।

भावार्थ—तेज के आकर भगवान सूर्य के उदय होने के पहले ही सारथि अरुण अन्धकार को दूर कर देते हैं । यह ठीक ही है; क्योंकि योग्य सेवक के रहने स्वामी को स्वयं कार्य करने का कष्ट नहीं होना चाहिए । हे वीर ! संग्राम मे सबसे आगे लड़ने वाले आपके समान सुयोग्य पुत्र के रहते हुए आपके पिता महाराज रघु को क्या शत्रुओं का संहार करना पड़ता है ॥ ७१ ॥

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥ ७२ ॥

अन्वय:—ते उभयपक्षविनीतनिद्राः मुखरशृङ्खलकर्षिणः स्तम्बेरमाः शय्याम् जहति येषां दन्तकोशाः तरुणारुणरागयोगात् भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति ।

शय्यामिति । उभाभ्यां पक्षाभ्यां विनीता अपगता निद्रा येषां त उभयपक्षविनीतनिद्रा मुखराण्युत्थानचलनाच्छब्दायमानानि शृङ्खलानि निगडानि कर्षन्तीति

तथोक्तास्त एव तव स्तम्बे रमन्त इति स्तम्बेरमा हस्तिनः शय्यां जहति त्यजन्ति। येषां स्तम्बेरमाणां। दन्ताः कोशा इव दन्तकोशा दन्तकुड्मलास्तरुणारुणरागयोगाद् बालार्कारुणः संपर्काद्धेतोर्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति।

भावार्थ—दोनों पार्श्वों से करवट लेकर नींद छोड़ने वाले, झनझनाती हुई सीकड़ों को खींचते हुए आपकी सेना के हाथी उठ गये। जिनके दाँत उदय होते सूर्य की लाल किरणों के सम्पर्क से कटे हुए पर्वत के गेरु के टुकड़े के समान मालूम पड़ते हैं ॥ ७२ ॥

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—वनजाक्ष ! दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिताः वनायुदेश्याः वाहाः निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति।

दीर्घेष्विति। हे वनजाक्ष ! नीरजाक्ष ! दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिता बद्धा वनायुदेश्या वनायुदेशे भवाः। अमी वाहा अश्वा निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यान्यास्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि। वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति मलिनानि कुर्वन्ति।

भावार्थ—हे कमलनेत्र। अज ! वस्त्रों से बनी हुई अश्वशालाओं में बन्धे हुए पारस देश में उत्पन्न ये आपके घोड़े निद्रा त्याग करके आगे रखे हुये चाटने लायक सेंधव नमक के टुकड़ों को अपने मुख की भाप से मलिन कर रहे हैं ॥७३॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मंजुवाक्पञ्जरस्थः ॥

अन्वयः—म्लानपुष्पोपहारः विरलभक्तिः भवति, प्रदीपाः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः भवन्ति, अपि च अयं पञ्जरस्थः ते शुकः त्वत्प्रबोधप्रयुक्ताम् नः गिरम् अनुवदति।

भवतीति। म्लानः पुष्पोपहार पुष्पपूजा म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति। प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य मण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति। निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः। अपि चायं मञ्जुवाङ् मधुरवचनः पञ्जरस्थस्ते तव शुकस्त्वत्प्रबोधनिमित्तेन प्रयुक्तानुच्चारितां नोऽस्माकं गिरं वाणीमनुवदति। अनुकृत्य वदतीत्यर्थः।

भावार्थ—रात्रि के समय उपहार में आये हुए पुष्पों के मुरझा जाने से उनकी रचना शिथिल हो रही है, प्रकाश हो जाने के कारण दीपक अपने प्रभामण्डल के प्रकाश से रहित हो रहे हैं और मधुर बोलने वाला पिंजरों में रखा हुआ आपका

यह मुर्गा भी आपको जगाने के लिए गाये गये हम लोगों के गीतों का अनुकरण कर रहा है। अतः निद्रा को त्याग कर उठ जायें ॥ ७४ ॥

इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—इति विरचितवाग्भिः बन्दिपुत्रैः सपदि विगतनिद्रः कुमारः तल्पं उज्झाञ्चकार, मदपटुनिनदद्भिः राजहंसैः बोधितः सुरगजः गाङ्गं सैकतं इव।

इतीति। इतीत्थं विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैर्वैतालिकैः। सपदि विगतनिद्रः कुमारः तल्पं शय्याम्। उज्झाञ्चकार विससर्ज। कथमिव? मदेन पटु मधुरं निनदद्भी राजहंसैर्बोधितः सुप्रतीकाख्यः। सुरगज ईशानदिग्गजः। गङ्गाया इदं गाङ्गं सैकतं पुलिनमिव।

भावार्थ—इस प्रकार सुन्दर वचनों की रचना करने वाले बन्दिपुत्रों की वाणी से जगकर अज तत्काल इस प्रकार शय्या से उठ गये जिस प्रकार मधुर शब्द करने वाले राजहंसों से जगाया गया सुप्रतीक नामक दिग्गज आकाश गंगा के रेतीले तट को त्याग रहा है ॥ ७५ ॥

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—अथ अञ्चिताक्षिपक्ष्मा शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितम् विधिं अवसाय्य कुशलविरचितानुकूलवेषः सन् स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजम् अगात्।

अथेति। अथोत्थानानन्तरमञ्चितानि चारूण्यक्षिपक्ष्माणि यस्य सोऽजः शास्त्रे दृष्टमवगतं दिवसमुखोचितं प्रातःकालोचितं विधिमनुष्ठानमवसाय्य समाप्य। कुशलैः प्रसाधनदक्षैर्विरचितो वेषो नेपथ्यं यस्य स तथोक्तः सन्स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजं राजसमूहमगादगमत्। पुष्पिताग्रावृत्तमेतत्। तल्लक्षणम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति।

भावार्थ—शय्या त्यागकर उठने के बाद सुन्दर पलकों वाले युवराज अज शास्त्रोक्तप्रातः काल में करने के योग्य संध्यावन्दनादि क्रिया को समाप्त करके अलंकृत करने वालों में कुशल पुरुषों के द्वारा स्वयंवर में जाने योग्य उत्तम वेष बना कर स्वयंवर में बैठे हुए राज समाज में गये ॥ ७६ ॥

विराटपुरान्न पं० श्री कृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित अन्वय
और चन्द्रकला टीका में पञ्चमसर्ग समाप्त।

❀ ❀ ❀

षष्ठः सर्गः

जाह्नवी मूर्ध्नि पादे वा कालः कंठे वपुष्यथ।
कामारिं कामतातं वा कंचिदेकं भजामहे ॥

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥

अन्वयः—सः उपचारवत्सु मञ्चेषु सिंहासनस्थान् मनोज्ञवेषान् वैमानिकानाम् मरुतां आकृष्टलीलान् नरलोकपालान् अपश्यत्।

स इति। सोऽजस्तत्र स्थाने उपचारवत्सु राजोपचारवत्सु मञ्चेषु पर्यङ्केषु सिंहासनस्थान्मनोज्ञवेषान्मनोहरनेपथ्यान्वैमानिकानां विमानैश्चरताम्। 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः। मरुताममराणाम् 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः। आकृष्टलीलान्गृहीतसौभाग्यान् आकृष्टमरुल्लीलानित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। नरलोकं पालयन्तीति नरलोकपालाः। कर्मण्यण्प्रत्ययः। तान्भूपालानपश्यत् सर्गेऽस्मिन्नुपजातिश्छन्दः।

भावार्थ—स्वयम्वर में जाकर अज ने देखा कि राजकीय साधनों से सजाये गये मंचों पर उत्कृष्ट वेष बनाकर बैठे हुए राजा लोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं मानों विमानों पर देवता लोग बैठे हुए हों ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

अन्वयः—रतेः गृहीतानुनयेन ईश्वरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं कामम् स्थितं काकुत्स्थं आलोकयताम् नृपाणां मनः इन्दुमतीनिराशं बभूव।

रतेरिति। 'रतिः स्मरप्रियायां च रागे च सुरते स्मृता' इति विश्वः। रतेः कामप्रियाया गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन गृहीतरत्यनुनयेनेत्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं काममिव स्थितं काकुत्स्थमजमालोकयतां नृपाणां मन इन्दुमतीनिराशं वैदर्भी निःस्पृहं बभूव। इन्दुमतीं सत्पतिमेनं विहाय नास्मान्वरिष्यतीति निश्चिक्युरित्यर्थः। सर्वातिशयसौन्दर्यमस्येति भावः।

भावार्थ—कामदेव की पत्नी रति की प्रार्थना को स्वीकार करके भगवान् शंकर से पुनः अपने शरीर को प्राप्त किये हुए कामदेव के समान सुन्दर अज को देखकर राजाओं का मन इन्दुमती के प्रति निराश हो गया ॥ २ ॥

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुंगं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ ३ ॥

अन्वयः—असौ कुमारः वैदर्भनिर्दिष्टं मञ्चं क्लृप्तेन सोपानपथेन मृगराजशावः शिलाविभङ्गैः नगोत्सङ्गं इव आरुरोह ।

वैदर्भेति । असौ कुमारो वैदर्भेण भोजेन निर्दिष्टं प्रदर्शितं मंचं पर्यङ्कं क्लृप्तेन सुविहितेन सोपानपथेन मृगराजशावः सिंहपोतः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः ।' इत्यमरः । शिलानां विभङ्गैर्भङ्गीभिस्तुङ्गमुन्नतं नगोत्संगं शैलाग्रमिव आरुरोह ।

भावार्थ—वे राजकुमार अज, विदर्भ नरेश भोज के द्वारा बताये गये मञ्च पर सुन्दर ढङ्ग से बनाई गई सीढ़ियों से इस प्रकार चढ गये, जिस प्रकार सिंह का बच्चा एक-एक चट्टानों पर पैर रखता हुआ ऊंचे पहाड़ के ऊपर चढ़ जाता हो ॥ ३ ॥

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ ४ ॥

अन्वयः—परार्ध्यं वर्णास्तरणोपपन्नं रत्नवद् आसनं आसेदिवान् स मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन भूयिष्ठं उपमेयकान्तिः आसीत् ।

परार्ध्येति । परार्ध्याः श्रेष्ठा वर्णा नीलपीतादयो यस्य तेनास्तरणेन कम्बलादिनोपपन्नं संगतं रत्नवद्रत्नखचितमासनं सिंहासनमासेदिवानधिष्ठितवान्सोऽजः मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन सेनान्या सह । 'सेनानीरग्निभूर्गुहः ।' इत्यमरः । भूयिष्ठमत्यर्थमुपमेयकान्तिरासीत् । मयूरस्य विचित्ररूपत्वात्तत्साम्यं रत्नासनस्य, तद्द्वारा च तदारूढयोरपीति भावः ।

भावार्थ—राजकुमार अज का वह सिंहासन सोने का बना हुआ था उसमें अनेक प्रकार के रत्न जड़े हुए थे एवं उस पर रंग-बिरंग के बहुमूल्य मखमली वस्त्र बिछे हुए थे। उस पर बैठे हुए अज इस प्रकार सुन्दर लग रहे थे मानों कार्तिकेय अपने मोर की पीठ पर बैठे हों ॥ ४ ॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥

अन्वयः—पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युता सहस्रधा विभक्त आत्मा इव तासु राजपरम्परासु श्रिया सहस्रधा विभक्तः प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्य आत्मा व्यरुचत्।

तास्विति । तासु राजपरम्परासु श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या पयोमुचां मेघानां पङ्क्तिषु विद्युतेव सहस्रधा विभक्तः तरङ्गेषु तरिणिरिव स्वयमेव प्रत्येकं संक्रामित इत्यर्थः । प्रभाविशेषस्योदयेनाविर्भविन दुर्निरीक्ष्यो दुर्दर्शन आत्मा श्रियः स्वरूपं व्यरुचद्व्यद्योतिष्ट । "द्युद्भ्यो लुङि' परस्मैपदम् । द्युतादित्वादङ्प्रत्ययः । तस्मिन्समये प्रत्येकं संक्रान्तलक्ष्मीकतया तेषां किमपि दुरासदं तेजः प्रादुरासीदित्यर्थः ।

भावार्थ—वहाँ बैठे हुए राजाओं के वेषभूषा के चाकचिक्य से आँखें चौंधिया जाती थीं और ऐसा मालूम पड़ता था कि सौन्दर्य-लक्ष्मी ने अपनी शोभा को उन राजाओं में इस प्रकार बाँट दिया है जिस प्रकार बिजली अपनी चमक को बादलों में बाँट देती है ॥ ५ ॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—महार्हासनसंस्थितानां उदारनेपथ्यभृतां तेषां मध्ये कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजात इव स रघुसूनुः एव धाम्ना रराज ।

तेषामिति । महार्हासनसंस्थितानां श्रेष्ठसिंहासनस्थानाम् उदारनेपथ्यभृतामुज्ज्वलवेषधारिणां तेषां राज्ञां मध्ये कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजात इव सुरद्रुमविशेष इव । 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । संतानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥' इत्यमरः । स रघुसूनुरेव धाम्ना तेजसा । 'भूम्ना' इति पाठेऽतिशयेनेत्यर्थः । रराज । अत्र कल्पद्रुमशब्दः पञ्चान्यतमविशेषवचनः उपकल्पयन्ति मनोरथानिति व्युत्पत्त्या सुरद्रुममात्रोपलक्षकतया प्रयुक्त इत्यनुसंधेयम् । कल्पा इव द्रुमा कल्पद्रुमा इति विग्रह ।

भावार्थ—बहुमूल्य सिंहासनों पर बैठे हुए सुन्दर वेश बनाकर उन राजाओं के बीच में विराजमान केवल एक रघुकुमार अज ही नन्दनवन के वृक्षों में पारिजात के समान अपने तेज से अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

अन्वयः—पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान् नृपतान् विहाय रेचितपुष्पवृक्षा द्विरेफा मदोत्कटे वन्ये गन्धद्विपे इव तस्मिन् निपेतुः ।

नेत्रेति । पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान्नृपतीन्विहाय तस्मिन्नजे निपेतुः । स इव सर्वोत्कर्षेण ददृशे इत्यर्थः । कथमिव मदोत्कटे मदेनोद्भिन्नगण्डे निर्भरमदे ।

वा वन्ये गन्धद्विपे गन्धप्रधाने द्विपे गजे। रेचिता रिक्तीकृताः पुष्पाणां वृक्षा यैस्ते। त्यक्तपुष्पवृक्षा इत्यर्थः द्विरेफा भृङ्गा इव। द्विपस्य वन्यविशेषणं द्विरेफाणां पुष्पवृक्षत्यागसंभावनार्थं कृतम्।

भावार्थ—नागरिकों की दृष्टियाँ सभी राजाओं से हटकर उस अज पर इस प्रकार आ लगीं जिस प्रकार भ्रमर विकसित वृक्षों को छोड़कर उत्कट गन्धवाले जंगली हाथी पर झुक पड़ते हैं ॥ ७ ॥

त्रिभिर्विशेषकमाह—

अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके।
संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अथ अन्वयज्ञैः बन्दिभिः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके स्तुते सञ्चारिते अगुरु-सारयोनौ धूपे च वैजयन्तीः समुत्सर्पति च सति पतिंवरा (कन्या विवेश)।

अथेति। अथान्वयज्ञै राजवंशाभिज्ञैर्बन्दिभिः स्तुतिपाठकैः। 'बन्दिनः स्तुति-पाठकाः' इत्यमरः। सोमार्कवंश्ये सोमसूर्यवंशभवे नरदेवलोके राजसमूहे स्तुते सति विवेशेत्युत्तरेण संबन्धः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। संचारिते समन्तात्प्रचारिते अगुरुसारो योनिः कारणं यस्य तस्मिन्धूपे च वैजयन्तीः पताकाः समुत्सर्पति सति अतिक्रम्य गच्छति सति।

भावार्थ—इसके बाद राजवंश की परम्परा को जाननेवाले बन्दियों ने सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं की प्रशंसा की और अगर के सार से निर्मित जलाई गई धूपवत्तियों का धुआँ उड़ता हुआ फहराती हुई पताकाओं के ऊपर तक फैल गया ॥ ८ ॥

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥

अन्वयः—पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनां उद्धतनृत्यहेतौ प्रध्मातशंखे मंगलार्थे तूर्यस्वने परितः दिगन्तान् मूर्च्छति सति (कन्या विवेशेति परेणान्वयः)।

पुरोपकण्ठेति। किं च पुरस्योपकण्ठे समीप उपवनान्याश्रयो येषां कलापिनां बर्हिणामुद्धतनृत्य हेतौ मेघध्वनिसादृश्यात्ताण्डवकारणे प्रध्माताः पूरिताः शङ्खा यत्र तस्मिन् मङ्गलार्थे मङ्गलप्रयोजनके तूर्यस्वने वाद्यघोषे परितः सर्वतो दिगन्तान्मूर्च्छति व्याप्नुवति सति।

भावार्थ—नगर के आसपास के उपवनों में रहनेवाले मोरों के प्रसन्नतापूर्वक

नाचने के कारणभूत मांगलिक बाजों की ध्वनियाँ दशों दिशाओं में गूँज उठीं और शंख बजने लगे ॥ ९ ॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिम्वरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥ १० ॥

अन्वयः—पतिम्वरा क्लृप्तविवाहवेषा कन्या मनुष्यवाह्यं परिवारशोभि चतुरस्रयानं अध्यास्य मञ्चान्तरराजमार्गं विवेश ।

मनुष्येति । पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा । 'अथ स्वयंवरा पतिंवरा च वर्याऽथ' इत्यमरः । "संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितनिदमः" इत्यनेन खच्प्रत्ययः । क्लृप्तविवाहवेषा कन्येन्दुमती मनुष्यैर्वाह्यं परिवारेण परिजनेन शोभि चतुरस्रयानं चतुरस्रवाहनं शिविकामध्यारुह्य मञ्चान्तरे मञ्चमध्ये यो राजमार्गं तां विवेश ।

भावार्थ—इसी बीच पति को स्वयं वरण करनेवाली विवाह के समय का वेष धारण किए हुए कुमारी इन्दुमती परिवारों से सुशोभित मनुष्यों के द्वारा ढोए जाने वाली पालकी पर चढ़कर मंचों के बीच बने हुए राजमार्ग पर आ गई ।

तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥

अन्वयः—नेत्रशतैकलक्ष्ये कन्यामये तस्मिन् विधातुः विधानातिशये नरेन्द्राः अन्तःकरणैः निपेतुः केवलं आसनेषु देहैः स्थिताः आसन् ।

तस्मिन्निति । नेत्रशतानामेकलक्ष्ये एकदृश्ये कन्यामये कन्यारूपे तस्मिन्विधातुर्विधानातिशये सृष्टिविशेषे नरेन्द्राः अन्तःकरणैर्निपेतुः आसनेषु देहैः केवलं देहैरेव स्थिताः देहानपि विस्मृत्य तत्रैव दत्तचित्ता बभूवुरित्यर्थः । अन्तःकरणकर्तृके निपतने नरेन्द्राणां कर्तृत्वव्यपदेश आदरातिशयार्थः ।

भावार्थ—सैकड़ों नेत्रों का एक मात्र लक्ष्य कन्यारूप ब्रह्मा की सर्वोत्तम रचना उस इन्दुमती पर राजवर्ग अन्तःकरण से मग्न हो गया, केवल उनके शरीर मंचों पर रह गये थे । अर्थात् इन्दुमती के प्रति सभी राजाओं का हृदय आकृष्ट हो गया ॥ ११ ॥

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥

अन्वयः—तां प्रति अभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः विविधाः शृङ्गारचेष्टाः पादपानां प्रवालशोभा इव बभूवुः ।

सामिति । तामिन्दुमतीं प्रति अभिव्यक्तमनोरथानां प्रकटाभिलाषाणां महीपतीनां राज्ञां प्रणयाग्रदूत्यः । प्रणयः प्रार्थना, प्रेम वा 'प्रणयास्त्वमी । विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । प्रणयेऽग्रदूत्यः प्रथमदूतिकाः प्रणयप्रकाशकत्वसाम्याद् दूतीत्वव्यपदेशः । विविधाः शृङ्गारचेष्टाः शृङ्गारविकाराः पादपानां प्रवालशोभाः पल्लवसंपद इव बभूवुरुत्पन्नाः. अत्र शृङ्गारलक्षणं रससुधाकरे-(विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः । नीता सदस्यरस्यत्व रतिः शृङ्गार उच्यते ॥) रतिरिच्छाविशेषः । तच्चोक्तं तत्रैव-(यूनोरन्योन्यविषयस्थायिनीच्छा रतिः स्मृताः) इति । चेष्टाशब्देन तदनुभावविशेषा उच्यन्ते । तेऽपि तत्रैवोक्ताः-(भावं मनोगतं साक्षात्स्वहेतुं व्यञ्जयन्ति ये । तेऽनुभावा इति ख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः ॥ ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवाः ।) इति । तत्र गात्रारम्भसम्भवांश्चेष्टाशब्दोक्ताननुभावान् 'कश्चित्'—इत्यादिभिः श्लोकैर्वक्ष्यति शृङ्गाराभासश्चायमेकत्रैव प्रतिपादनात् । तदुक्तम्— एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा । योषितो बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः ॥ इति ।

भावार्थ—उस इन्दुमती के प्रति स्पष्ट अभिलाषा वाले राजाओं ने वृक्षों के पल्लवों की शोभा के समान अनेक प्रकार की चेष्टायें की, वे चेष्टायें मानों उनके प्रेम को इन्दुमती तक पहुँचानेवाली दूतियाँ थीं ॥ १२ ॥

'शृङ्गारचेष्टा बभूवुः' इत्युक्तम्, ता एव दर्शयति—

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ १३ ॥

अन्वयः—कश्चित् कराभ्यां उपगूढनालं आलोलपत्राभिहितद्विरेफम् रजोभिः अन्तः परिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ।

कश्चिदिति । कश्चिद्राजा कराभ्यां पाणिभ्यामुपगूढनालं गृहीतनालम् आलोलैश्चलैः पत्रैरभिहता ताडिता द्विरेफा येन तत्तथोक्तं रजोभिः परागैरन्तःपरिवेषं मण्डलं बध्नातीत्यन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार । करस्थलीलारविन्दवत्त्वयाहं भ्रमयितव्य इति नृपाभिप्रायः । हस्तघूर्णकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्यभिप्रायः ।

भावार्थ—कोई राजा अपने हाथ में लिए नाल दण्ड वाले लीला कमल को घुमाने लगा । उसके घुमाने से भौंरे तो इधर-उधर भाग गये किन्तु उसके ऊपर भरे हुए पराग के चारों ओर फैल जाने से एक मण्डल-सा बंध गया ॥ १३ ॥

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥ १४ ॥

अन्वयः—साचीकृतचारुवक्त्रः अपरः विलासी अंसात् विलग्नं रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नं प्रालम्बं उत्कृष्य यथावकाशं निनाय ।

विस्रस्तमिति । विलसनशीलो विलासी । "वौ कषलसकत्थस्रम्भः" इति घिनुण्प्रत्ययः । अपरो राजांसाद्विस्रस्तं रत्नानुविद्धं रत्नखचितं यदङ्गदं केयूरं तस्य कोटिलग्नं प्रालम्बमृजुलम्बिनीं स्रजम् । 'प्रालम्बमृजुलम्बि स्यात्कण्ठात्' इत्यमरः । 'प्रावारम्' इति पाठे तूत्तरीयं वस्त्रम् । 'उत्कृष्योद्धृत्य साचीकृतं तिर्यक्कृतं चारु वक्त्रं यस्य स तथोक्तः सन् यथावकाशं स्वस्थानं निनाय । प्रावारोत्क्षेपणच्छलेनाहं त्वामेवं परिरप्स्ये इति नृपाभिप्रायः । गोपनीयं किञ्चिदङ्गेऽस्ति ततोऽयं प्रवृणुत इतीन्दुमत्यभिप्रायः ।

भावार्थ—दूसरा विलासी राजा कन्धे से नीचे सरके हुई रत्नों से जटित भुजबन्ध के किनारे में उलझे हुई दुपट्टे को थोड़ा मुख को घुमाकर फिर से गले में रखने लगा ॥ १४ ॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—ततः अन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः सन् आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना तिर्यग्विसंसर्पि नखप्रभेण पादेन हैमं पीठं विलिलेख ।

आकुञ्चितेति । ततः पूर्वोक्तादन्योऽपरो राजा किंचित्समावर्जितनेत्रशोभे ईषदवाक्पतितनेत्रशोभः सन् आकुञ्चिता आभुग्ना अग्राङ्गुलयो यस्य तेन तिर्यग्विसंसर्पिण्यो नखप्रभा यस्य तेन च पादेन हैमं हिरण्मयं पीठं पादपीठं विलिलेखलिखितवान् । पादाङ्गुलीनामाकुञ्चनेन त्वं मत्समापमागच्छेति नृपाभिप्रायः । भूमिविलेखकोऽयमपलक्षण इतीन्दुमत्याशयः । भूमिविलेखनं तु लक्ष्मीविनाशहेतुः ।

भावार्थ—तीसरा राजा नेत्र को थोड़ा नीचे करके कटाक्ष विक्षेप करता हुआ चारों तरफ फैलती हुई नखों की चमक वाली और कुछ मोड़ी हुई पैर की अंगुलियों से सुवर्ण निर्मित पावदान पर कुछ लिखने लगा ॥ १५ ॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥

अन्वयः—कश्चित् आसनार्धे वामं भुजं निवेश्य तत्सन्निवेशात् अधिकोन्नतांसः विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सन् सुहृत्समाभाषणतत्परः अभूत् ।

निवेश्येति । कश्चिद्राजा वामं भुजमासनार्धं सिंहासनैकदेशे निवेश्य संस्थाप्य

तत्संनिवेशात्तस्य वामभुजस्य संनिवेशात्संस्थापनादधिकोन्नतांसो वामांस एव यस्य स तथोक्तः सन् विवृत्ते परावृत्ते त्रिके त्रिकप्रदेशे भिन्नहारो लुण्ठितहारः सन् 'पृष्ठ वंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः। सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत्। वामपार्श्ववर्तिनैव मित्रेण संभाषितुं प्रवृत्त इत्यर्थः। अत एव विवृत्तत्रिकत्वं घटते। त्वया वामाङ्गे निवेशितया सहैवंवाती भविष्य इति नृपाभिप्रायः। परं दृष्ट्वा पराङ्मुखोऽयं न कार्यकर्तेतीन्दुमत्यभिप्रायः॥ १६॥

भावार्थ—कोई राजा सिंहासन के आधे भाग मे बाईं भुजा को रखकर अपने पास बैठे हुए मित्र से बातचीत करने लगा, जिससे उसका दाँया कन्धा कुछ ऊँचा हो गया और गले का हार पृष्ठ अंश पर लटक गया॥ १६॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः।
प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः॥ १७॥

अन्वयः—अन्यः युवा प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैः नखाग्रैः विलासिनी विभ्रमदन्तिपत्रम् आपाण्डुरं केतकबर्हं विपाटयामास।

विलासिनीति। अन्यो युवा विलासिन्याः प्रियाया विभ्रमार्थं दन्तपत्रं दन्तपत्रभूतमापाण्डुरं केतकबर्हं केतकदलम्। 'दलेऽपि बर्हम्' इत्यमरः। प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैरभ्यस्तनिक्षेपणैर्नखाग्रैर्विपाटयामास विदारयामास। अहं तव नितम्बे एवं नखव्रणादीन्दास्यामीति नृपाशयः। तृणच्छेदकवत्पत्रपाटकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः।

भावार्थ—एक दूसरा युवक राजा किसी विलासिनी स्त्री के शृंगार के लिए कान के आभूषण के रूप मे बने हुए श्वेत वर्ण के केतकी पुष्प के पत्तों को प्रिया के नितम्बो पर रखने के योग्य नखाग्रों से नोच रहा था॥ १७॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नांगुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥ १८॥

अन्वय—कश्चित् कुशेशयाताम्रतलेन रेखाध्वजलाञ्छनेन करेण रत्नाङ्गुलीयरत्नप्रभया अनुविद्धान् अक्षान् सलील उदीरयामास।

कुशेशयेति। कश्चिद्राजा कुशेशयं शतपत्रमिवाताम्रं तलं यस्य तेन। 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः। रेखारूपो ध्वजो लाञ्छनं यस्य तेन करेण अङ्गुलीषु भवान्यङ्गुलीयान्यूर्मिकाः। 'अङ्गुलीयमूर्मिका' इत्यमरः। जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' इति छ प्रत्ययः। रत्नानामङ्गुलीयानि तेषां प्रभयानुविद्धान्व्याप्तानक्षान्पाशान्

'अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः । सलीलमुदीरयामासोच्चिक्षेप । अहं त्वया सहैवं रंस्ये—इति नृपाभिप्रायः । अक्षचातुर्ये कापुरुषोऽयमितीन्दुमत्यभिप्रायः। (अक्षैर्मादीव्येत्) इति श्रुतिनिषेधात् ।

भावार्थ —कोई राजा जिसकी हथेली कमल के समान लाल थी और उस पर ध्वजा की रेखायें बनी हुई थी वे अपने हाथ से रत्न जटित अगूठी, की कान्ति से झलकते हुए पाशों को धीरे-धीर उछाल रहा था ।। १८ ।।

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥

अन्वयः—कश्चित् यथाभागं अवस्थिते अपि स्वसन्निवेशात् व्यतिलङ्घिनी इव किरीटे वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रं एकं करं व्यापारयामास ।

कश्चिदिति । कश्चिद्यथाभागं यथास्थानमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव स्वस्थानाच्चलित इव किरीटे वज्राणां किरीटगतानामंशवो गर्भे येषां तान्यङ्गुलिरन्ध्राणि यस्य तमेकं करं व्यापारयामास । किरीटवन्मम शिरसि स्थितामपि त्वां भारं न मन्य इति नृपाभिप्रायः । शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्यभिप्रायः ।

भावार्थ—कोई राजा अपने स्थान पर स्थित रहने पर भी मुकुट को अपने स्थान से सरका हुआ समझकर उस पर अपना एक हाथ रखता था ऐसा करने में उसके हाथ की अंगुलियों के बीच का भाग मुकुट के रत्नों की किरणों से चमक उठता था ।। १९ ।।

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ।। २० ॥

अन्वयः—ततः नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी सुनन्दा प्राक् कुमारीं मगधेश्वरस्य सन्निकर्षं नीत्वा पुंवत् अवदत् ।

तत इति । ततोऽनन्तरं नृपाणां श्रुतनृपवृत्तवंशेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुनन्दा सुनन्दाख्या प्रतिहारं रक्षतीति प्रतिहाररक्षी द्वारपालिका । कर्मण्यण्प्रत्ययः । "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः" इत्यनेन ङीप् । प्राक्प्रथमं कुमारीमिन्दुमतीं मगधेश्वरस्य सन्निकर्षं समीपं नीत्वा पुंवत्पुंसा तुल्यम् । "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इति वतिप्रत्ययः । अवदत् ।

भावार्थ—इनके बाद राजाओं के आचरण एवं वंश परम्परा को जानने वाली और पुरुषों के समान ढीठ बोलने वाली द्वारपालिका सुनन्दा राजकुमारी इन्दुमती को सर्वप्रथम मगधनरेश के पास ले जाकर बोली ।। २० ।।

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥

अन्वयः—असौ शरणोन्मुखानां शरण्यः अगाधसत्त्वः प्रजारञ्जनलब्धवर्णः मगधप्रतिष्ठः यथार्थनामा परन्तपः नाम राजा अस्ति ।

असाविति । असौ राजा असाविति पुरोवर्तिनो निर्देशः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शरणोन्मुखानां शरणार्थिनां शरण्यः शरणे रक्षणे साधुः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः शरणं भवितुमर्हः शरण्य इति नाथनिरुक्तिर्निर्मूलैव । अगाधसत्त्वो गम्भीरस्वभावः 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । मगधा जनपदाः तेषु प्रतिष्ठास्पदं यस्य स मगधप्रतिष्ठः । 'प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम्' इत्यमरः। प्रजारञ्जने लब्धवर्णो विचक्षणः यद्वा प्रजारञ्जनेन लब्धोत्कर्षः. परान् शत्रूंस्तापयतीति परंतपः परंतपाख्यः "द्विषत्परयोस्तापेः" इति खच्प्रत्ययः । "खचि ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमः । नामेति प्रसिद्धौ यथार्थनामा संतापनादिति भावः ।

भावार्थ—ये राजा शरण में आनेवालों की रक्षा करते हैं और बड़े पराक्रमी हैं ये मगध देश के निवासी हैं और इन्होंने अपनी प्रजाओं को सुख देकर बड़ा नाम कमाया है । इनका नाम परन्तप है जो यथार्थ है क्योंकि ये शत्रुओं को सन्ताप देने वाले है ॥ २१ ॥

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अन्ये सहस्रशः नृपाः कामं सन्तु जनाः अनेन भूमिं राजन्वतीं आहुः नक्षत्रताराग्रहसंकुला अपि रात्रिः चन्द्रमसा एव ज्योतिष्मती भवति ।

काममिति । अन्ये नृपाः कामं सहस्रशः सन्तु भूमिमनेन राजन्वतीं शोभनराजवतीमाहुः । नैतादृक्कश्चिदस्तीत्यर्थः । 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यमरः । "राजन्वान्सौराज्ये" इति निपातनात्साधुः । तथा हि नक्षत्रैरश्विन्यादिभिस्ताराभिः साधारणैर्ज्योतिभिर्ग्रहैर्भौमादिभिश्च संकुलापि रात्रिश्चन्द्रमसैव ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती नान्येन ज्योतिषेत्यर्थः ।

भावार्थ—यद्यपि संसार में हजारों राजा हैं किन्तु इन्हीं से पृथ्वी इस प्रकार श्रेष्ठ राजा वाली कहलाती है । जिस प्रकार तारा ग्रह और नक्षत्रों से भरी रहने पर भी रात्रि चन्द्रमा से ही चाँदनी वाली कहलाती है ॥ २२ ॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥

अन्वयः—अयं अध्वराणां क्रियाप्रबन्धात् अजस्रं आहूतसहस्रनेत्रः सन् चिरं शच्याः अलकान् पाण्डुकपोललम्बान् मन्दारशून्यान् चकार ।

क्रियेति । अयं परंतपोऽध्वराणां क्रतूनां क्रियाप्रबन्धादनुष्ठानसातत्यात् अविच्छिन्नादनुष्ठानादित्यर्थः । अजस्रं नित्यमाहूतसहस्रनेत्रः संश्चिरं शच्या अलकान्पाण्डुकपोलयोर्लम्बास्रन् स्रस्तान् । पचाद्यच् । मन्दारैः कल्पद्रुमकुसुमैः शून्यांश्चकार । प्रोषितभर्तृका हि केशसंस्कारं न कुर्वन्ति "प्रोषिते मलिना कृशा" इति । "क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् । हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥" इति च स्मरणात् ।

भाषार्थ—सर्वदा यज्ञ करके इन्होंने इन्द्र को अपने यहाँ वार वार बुलाया है जिसका फल यह हुआ है कि इन्द्राणी के पीले कपोलों पर लटकने वाले बाल शृङ्गार न होने के कारण कल्पवृक्षों के फूलों से शून्य हो गये हैं । अर्थात् इन्द्र को इनके यज्ञ में आ जाने पर पति के पास न रहने से इन्द्राणी ने शृङ्गार करना छोड़ दिया है ॥ २३ ॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—वरेण्येन अनेन गृह्यमाणं पाणिं इच्छसि चेत् तदा प्रवेशे प्रासादवातायानसंश्रितानां पुष्पपुरांगनानां नेत्रोत्सवं त्वं कुरु ।

अनेनेति । वरेण्येन वरणीयेन वृणोतेरौणादिक एण्यप्रत्ययः । अनेन राज्ञा गृह्यमाणं पाणिमिच्छसि चेत् पाणिग्रहणमिच्छसि चेदित्यर्थः । प्रवेशे प्रवेशकाले प्रासादवातायनसंश्रितानां राजभवनगवाक्षस्थितानां पुष्पपुराङ्गनानां पाटलिपुराङ्गनानां नेत्रोत्सवं कुरु । सर्वोत्तमानां तासामपि दर्शनीया भविष्यसीति भावः ।

भावार्थ—यदि तुम इस श्रेष्ठ राजा के साथ अपना विवाह करना चाहती हो तो इनको राजधानी में प्रवेश करते समय महलों के झरोखों में बैठी हुई पाटलिपुत्र की महिलाओं को अपना दर्शन देकर प्रसन्न करो ॥ २४ ॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ २५ ॥

अन्वयः—तया एवम् उक्ते सति किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला तन्वी तं अवेक्ष्य एनं अभाषमाणा ऋजुप्रणामक्रियया एव प्रत्यादिदेश ।

एवमिति । एवं तया सुनन्दयोक्ते सति तं परंतपमवेक्ष्य किंचिद्विस्रसिनी दूर्वाङ्का दूर्वाचिह्ना मधूकमाला गुडपुष्पमाला यस्याः सा । 'मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ' इत्यमरः । वरणे शिथिलप्रयत्नेति भाव । तन्वीन्दुमत्येन नृपमभाषमाणम् । ऋज्व्या भावशून्यया प्रणामक्रिययैव प्रत्यादिदेश परिजहार ।

भावार्थ—उस सुनन्दा के ऐसा कहने पर इन्दुमती ने थोड़ी आँख उठाकर उस राजा को देखा, उसके हाथ से दूर्वायुक्त महुए की माला कुछ सरक गई और बिना कुछ कहे ही साधारण रूप से प्रणाम करके उसे अस्वीकार करती हुई आगे बढ़ गई ॥ २५ ॥

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—वेत्रग्रहणे नियुक्ता सा एव तां राजसुतां समीरणोत्था तरंगलेखा मानसराजहंसी पद्मान्तरं इव राजान्तरं निनाय ।

तामिति । सैव नान्यचित्तज्ञत्वादिति भाव. । वेत्रग्रहणे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा तां राजसुतां राजान्तरमन्यराजानं निनाय । नयतिर्द्विकर्मकः । कथमिव समीरणोत्था वातोत्थता तरङ्गलेखोर्मिपङ्क्तिर्मानसे सरसि या राजहंसी तां पद्मान्तरमिव ।

भावार्थ—जिस प्रकार हवा के झकोरों से उठी हुई लहर मानसरोवर की राजहंसिनी को एक कमल से दूसरे कमल तक पहुँचा देती है उसी प्रकार द्वारपालिका सुनन्दा ने भी राजकुमारी इन्दुमती को उस मगध-नरेश के पास से दूसरे राजा के पास पहुँचा दिया ॥ २६ ॥

जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥

अन्वयः—सुनन्दा एनां जगाद सुरांगनाप्रार्थितयौवनश्रीः सूत्रकारैः विनीतनागः च अयं अङ्गनाथः भूमिगतः अपि ऐन्द्रं पदं भुङ्क्ते किल ।

जगादेति । एनामिन्दुमतीं जगाद । किमिति अयमङ्गनाथोऽङ्गदेशाधीश्वरः सुराङ्गनाभि. प्रार्थिता कामिता यौवनश्रीर्यस्य स तथोक्त. पुरा किलैनमिन्द्रसाहाय्यार्थमिन्द्रपुरगामिनमकामयन्ताप्सरस इति प्रसिद्धिः । किं च सूत्रकारैर्गजशास्त्रकृद्भिः पालकाप्यादिभिर्महर्षिभिर्विनीतनागः शिक्षितगजः । किलेत्यैतिह्ये । अत एव भूमिगतोऽप्यैन्द्रं पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते भूर्लोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थः । गजाप्सरोदेवाधिसेव्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थः । पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद्भुवमवतीर्णं

दिग्गजवर्गमालोक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतैर्देवर्षिभिः प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशीकृत्य भुवि सम्प्रदायं प्रावर्तयदिति कथा गीयते।

भावार्थ—और सुनन्दा इन्दुमती से बोली कि ये अङ्ग देश के राजा हैं इनके यौवन सौन्दर्य को देवताओं की स्त्रियाँ चाहा करती हैं और गजशास्त्र विशारद विद्वान् भी इनके हाथियों को शिक्षा दिया करते हैं। ये पृथ्वी पर रहते हुए भी स्वर्गीय सुखों को भोगते हैं॥ २७॥

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमांस्तनेषु।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः॥ २८॥

अन्वयः—शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमान् अश्रुबिन्दून् पर्यासयता अनेन उन्मुच्य सूत्रेण विना हाराः एव अर्पिताः।

अनेनेति। शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमानश्रुबिन्दून्। 'अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः। पर्यासयता प्रस्तारयता भर्तृवधादितिभावः। अनेनाङ्गनाथेनोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिताः। अविच्छिन्नाश्रुबिन्दुप्रवर्तनादुत्सूत्रहारार्पणमेव कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते।

भावार्थ—इन्होंने जिन राजाओं को युद्ध में मारा था उनकी स्त्रियों ने पति वियोग के शोक में अपने गलों से मोतियों का हार उतार फेंका किन्तु उनके स्तनों पर गिरती हुई आसुओं की बूदें बड़े-बड़े मोतियों के समान मालूम पड़ती थी। उन्हें देखकर अनुमान होता था कि इन्होंने शत्रुओं स्त्रियों के गले से मोतियों के हार उतार कर डोरा के विना आसुओं का हार पहना दिया है।

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया॥ २९॥

अन्वयः—निसर्गभिन्नास्पदं श्रीः च सरस्वती च इति द्वयं अस्मिन् एकसंस्थं अस्ति। हे कल्याणि! कान्त्या सुन्दरतया गिरा च योग्या त्वं एव तयोः तृतीया भव।

निसर्गेति। निसर्गतः स्वभावतो भिन्नास्पदं भिन्नाश्रयम् सहावस्थानविरोधीत्यर्थः। श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र संस्था स्थितिर्यस्य तदेकसंस्थम्। उभयमिह सगतमित्यर्थः। हे कल्याणि! 'वह्वादिभ्यश्च" इति ङीप्। कान्त्या सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या संसर्गार्हा त्वमेव तयो श्रीसरस्वत्योस्तृतीया समानगुणयोर्युवयोर्दाम्पत्यं युज्यत एवेति भावः। दक्षिणनायकत्वं चास्य ध्वन्यते, तदुक्तम्—'तुल्योऽनकत्र दक्षिणः' इति।

भावार्थ—स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वाली लक्ष्मी और सरस्वती दोनों इस राजा के पास एक साथ रहती हैं। अर्थात् ये राजा विद्वान् एवं धनवान् दोनो ही हैं। हे कल्याणि! तुम सुन्दर भी हो और मधुर भाषिणी भी हो इसलिए तुम इन दोनो के साथ तीसरी बनकर रहो अर्थात् इस राजा को वरण करो॥ २९॥

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥ ३०॥

अन्वयः—अथ कुमारी अङ्गराजात् चक्षु अवतार्य त्वं याहि इति जन्यां अवदत्। असौ काम्यः न इति न, सा च सम्यक् द्रष्टुं न वेद, इति न, हि लोकः भिन्नरुचिः भवति।

अथेति। अथ कुमार्यङ्गराजाच्चक्षुरवतार्य अपनीयेत्यर्थः। जन्यां मातृसखीम् 'जन्या मातृसखीमुदो.' इति विश्वः। सुनन्दां याहि गच्छेत्यवदत्। 'यातेति जन्यामवदत्' इति पाठे जनीं वधूं वहन्तीति जन्या वधूबान्धवः तां यात गच्छतेत्यवदत्। 'जन्यो वरवधूज्ञातिप्रियतुल्यहितेऽपि च' इति विश्वः। अथवा जन्या वधूभृत्याः। 'जन्यो नवोढायाः' इति केशवः संज्ञायां "जन्या" इति यत्प्रत्यान्तो निपातः। यदत्राह वृत्तिकारः—'जनीं वधूं वहन्तीति जन्या जामातुर्वयस्याः' इति यच्चामरः—'जन्याः स्निग्धा वरस्य ये' इति तत्सर्वमुपलक्षणार्थमित्यविरोधः। न चायमङ्गराजनिषेधो, दृश्यदोषान्नापिदृष्टिदोषादित्याह—नेत्यादिना। असावङ्गराजः काम्यः न कमनीयो, नेति किन्तु काम्य एवेत्यर्थः। सा कुमारी च सम्यग्द्रष्टुं विवेक्तुं न वेदेति न वेदैवेत्यर्थः। किन्तु लोको जनो भिन्नरुचिर्हि रुचिरमपि किञ्चित्कस्मैचिन्न रोचते। किं कुर्मो न हीच्छा नियन्तुं शक्यत इति भावः।

भावार्थ—इसके बाद राजकुमारी इन्दुमती ने उस अङ्गराज से अपनी दृष्टि हटाकर सुनन्दा से कहा—आगे चलो। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर न था और न यही बात थी कि इन्दुमती ने उसे ठीक से देखा ही न हो किन्तु लोग भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं कोई किसी को चाहता है कोई किसी को।

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥ ३१॥

अन्वयः—ततः प्रतिहारभूमौ नियुक्ता द्विषद्भिः दुष्प्रसहं परं विशेषदृश्यं नृपं नवोत्थानं इन्दुम् इव इन्दुमत्यै निदर्शयामास।

तत इति । ततोऽनन्तरं प्रतिहारभूमौ द्वारदेशे नियुक्ता दौवारिकी । 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः ।' इत्यमरः । द्विषद्भिः शत्रुभिर्दुष्प्रसहं दुःसहं शूरमित्यर्थः । विशेषेण दृश्यं दर्शनीयम् । रूपवन्तमित्यर्थः । परमन्यं नृपं नवोत्थानं नवोदयमिन्दुमिव इन्दुमत्यै निदर्शयामास ।

भावार्थ—इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दा ने एक दूसरे राजा को इन्दुमती के लिए दिखाया जो शत्रुओं से असह्य, विशेष दर्शनीय, नई अवस्था वाला और नवोदित चन्द्रमा के समान सुन्दर था ॥ ३१ ॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ ३२ ॥

अन्वयः—उदग्रबाहुः विशालवक्षाः तनुवृत्तमध्यः अयं अवन्तिनाथः त्वष्ट्रा चक्रभ्रमं आरोप्य यत्नोल्लिखितः उष्णतेजा इव विभाति ।

अवन्तीति । उदग्रबाहुर्दीर्घबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः कृशवर्तुलमध्योऽयं राजाऽवन्तिनाथोऽवन्तिदेशाधीश्वरः त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा भर्तुस्तेजोवेगमसहमानया दुहित्रा संज्ञादेव्या प्रार्थितेनेति शेषः । चक्रभ्रमं चक्राकारं शस्त्रोत्तेजनयन्त्रम् । 'भ्रमाऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुण्डाख्ये शिल्पियन्त्रके' इति विश्वः । आरोप्य यत्नेनोल्लिखित उष्णतेजाः सूर्य इव विभाति । अत्र मार्कण्डेयः— 'विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता । भ्रममारोप्य तत्तेजः शातनायोपचक्रमे ।' इति ।

भावार्थ—लम्बी भुजा चौड़ी छाती और पतली गोलाकार कमर वाले ये राजा जो सूर्य के समान चमक रहे हैं । ये अवन्ति देश के राजा हैं मालूम पड़ता है कि विश्वकर्मा ने शान चढाने वाले अपने चक्र पर चढ़ाकर इन्हें बड़े यत्न से सूर्य के समान खराद दिया है ॥ ३२ ॥

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ ३३ ॥

अन्वयः—समग्रशक्तेः अस्य प्रयाणेषु अग्रसरैः वाजिभिः उत्थितानि रजांसि सामन्त शिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं कुर्वन्ति ।

अस्येति । समग्रशक्तेः शक्तित्रयसम्पन्नस्यास्यावन्तिनाथस्य प्रयाणेषु जैत्रयात्रास्वग्रेसरैर्वाजिभिरश्वैरुत्थितानि रजांसि सामन्तानां समन्ताद्भवानां राज्ञां ये शिखामणयश्चूडामणयस्तेषां प्रभाप्ररोहास्तमयं तेजोंकुरनाशं कुर्वन्ति । नासीरैरेवास्य शत्रवः पराजीयन्त इति भावः।

भावार्थ—समस्त शक्तियो से संपन्न इस राजा की दिग्विजय यात्रा में आगे

चलनेवाले घोड़ों के टापो से उड़ी हुई धूलियाँ सामन्त राजाओं के मुकुट मणियों की प्रभा को मलिन कर देती हैं ॥ ३३ ॥

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तामिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥

अन्वयः—असौ महाकालनिकेतनस्य चन्द्रमौलेः अदूरे वसन् प्रियाभिः सह तामिस्रपक्षे अपि ज्योत्स्नावतः प्रदोषान् निर्विशति किल ।

असाविति । असाववन्तिनाथ. महाकालं नाम स्थानविशेषः । तदेव निकेतनं स्थानं यस्य तस्य चन्द्रमौलेरीश्वरस्यादूरे समीपे वसन् अत एव हेतोस्तामिस्रपक्षे कृष्णपक्षेऽपि प्रियाभिः सह ज्योत्स्नावत. प्रदोषान्रात्रीन्निर्विशत्यनुभवति किल । नित्यज्योत्स्ना विहारत्वमेतस्यैव नान्यस्येति भावः ।

भावार्थ—सिर पर चन्द्रमा को धारण करनेवाले महाकाल के मन्दिर के पास मे ही इनका राजमहल है । इसलिए ये कृष्णपक्ष की रात्रियों मे भी शिवजी के सिर पर स्थित चन्द्रमा की चाँदनी से अपनी स्त्रियों के साथ चाँदनी वाली रातों का ही आनन्द अनुभव करते रहते हैं ॥ ३४ ॥

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु ! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे रम्भोरु ! यूना अनेन पार्थिवेन सह सिप्रातरंगानिलकम्पितासु उद्यानपरम्परासु विहर्तुं ते मनसः रुचिः अस्ति कच्चित् ? ।

अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भाविवोरू यस्याः सा रम्भोरूस्तस्याः सम्बोधनम् हे रम्भोरु ! "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ्प्रत्यय. । नदीत्वाद्ध्रस्वः । यूनानेन पार्थिवेन सह सिप्रा नाम तत्रत्या नदी तस्यास्तरङ्गाणामनिलेन कम्पितामुद्यानानां परम्परासु पंक्तिषु विहर्तुं ते तव मनसो रुचिः कच्चित् स्पृहास्ति किमित्यर्थः । 'अभिष्वङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्' इत्यमरः ।

भावार्थ—हे केले के स्तम्भ के समान चिकनी और ढालू जंघावाली इन्दुमती ! क्या तुम इस युवक राजा के साथ उज्जयिनी के उन उद्यानों मे विहार करना चाहती हो, जिनमे सिप्रानदी के तरङ्गों से शीतल वायु हर हर करता हुआ बराबर बहता रहता है ? ॥ ३५ ॥

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—उत्तमसौकुमार्या सा अभिद्योतितवन्धुपद्मे प्रतापसंशोषित शत्रुपङ्के तस्मिन् कुमुद्वती भानुमती इव भावं न ववन्ध ।

तस्मिन्निति । उत्तमसौकुमार्योत्कृष्टाङ्गमार्दवा सेन्दुमती अभिद्योतितान्युल्लसितानि बन्धव एव पद्मानि येन तस्मिन् प्रतापेन तेजसा संशोषिताः एव पङ्काः कर्दमा येन तस्मिन्नवन्तिनाथे कुमुद्वतीम् । "कुमुदनड्वेतसेभ्यो ड्मतुप्" इति ड्मतुप्प्रत्यय भानुमत्यंशुमतीव भावं चित्तं न ववन्ध न तत्रानुरागमकरोदित्यर्थः । पद्मत्वेन शत्रूणां पङ्कत्वेन च निरूपणं राज्ञः सूर्यसाम्यार्थम् ।

भावार्थ—अत्यन्त सुकुमारी उस कुमारी इन्दुमती को मित्रों को प्रसन्न करने वाला और शत्रुओं का संहारक वह प्रतापी राजा उसी प्रकार अच्छा नहीं लगा जिस प्रकार कुमुदिनी को वह सूर्य अच्छा नहीं लगता जो कमलों को खिलाता है और कीचड़ को सुखा देता है ॥ ३६ ॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुनन्दा तामरसान्तराभां गुणैः अनूनां विधातुः ललितां सृष्टिं सुदतीं तां अनूपराजस्य अग्रतः विधाय भूयः जगाद ।

तामिति । सुनन्दा तामरसान्तराभां पद्मोदरतुल्यकान्ति कनकगौरीमित्यर्थः । गुणैरनूनाम् अधिकामित्यर्थः । शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती । "वयसि दन्तस्य दतृ" इति दत्रादेशः । "उगितश्च" इति ङीप् । तां प्रकृतां प्रसिद्धां वा विधातुर्ललितां सृष्टिं मधुरनिर्माणां स्त्रियमित्यर्थः । अनुगता आपो येषु तेऽनूपा नाम देशाः । "ऋक्पूरब्धूः पथामनक्षे" इत्यप्प्रत्ययः समासान्तः । "ऊदनोर्देशे" इत्यूदादेशः । एनां राज्ञोनूपराजस्याग्रतो विधाय व्यवस्थाप्य भूयः पुनर्जगाद ।

भावार्थ—कमल के समान कान्तिवाली, गुणों से परिपूर्ण, ब्रह्मा की मनोहर रचना और सुन्दर दाँतों वाली उस इन्दुमती को वहाँ से अनूप देश के राजा के सामने ले जाकर सुनन्दा फिर बोली ॥ ३७ ॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुः अष्टादशद्वीपनिखातयूपः अनन्यसाधारणराजशब्दः योगी कार्तवीर्यः बभूव किल ।

सङ्ग्रामेति । सङ्ग्रामेषु युद्धेषु निर्विष्टा अनुभूताः सहस्रं बाहवो यस्य स तथोक्तः युद्धादन्यत्र द्विभुज एव दृश्यत इत्यर्थः । अष्टादशसु द्वीपेषु निखाता स्था-

पिता यूपा येन स तथोक्तः सर्वक्रतुयाजी सार्वभौमश्चेति भावः। जरायुजादि-सर्वभूतरञ्जनादनन्यसाधारणो राजशब्दो यस्य तथोक्तः योगी ब्रह्मविदित्यर्थः। स किल भगवतो दत्तात्रेयाल्लब्धयोग इति प्रसिद्धिः। कृतवीर्यस्यापत्यं पुमान्कार्तवीर्यो नाम राजा बभूव किलेति। अथ चास्य महिमा सर्वोऽपि दत्तात्रेयवरप्रसाद-लब्ध इति भारते दृश्यते।

भावार्थ—पहले कार्तवीर्य नामक एक योगाभ्यासी राजा हो गये हैं उनमे यह विशेषता थी कि जब वे युद्ध मे लड़ने जाते थे तब उनके हजारों हाथ निकल जाते थे। उन्होने आट्ठारहो द्वीपो मे जाकर यज्ञस्तम्भो को गाड़ दिया था। वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई अपने को राजा नहीं कह सकता था॥ ३८॥

> अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्।
> अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥ ३९॥

अन्वयः—विनेता यः अकार्यचिन्तासमकालं एव पुरस्ताच्चापधरः प्रादुर्भवन् सन् प्रजानाम् अन्तःशरीरेषु अपि अविनयं प्रत्यादिदेश।

अकार्येति। विनेता शिक्षको यः कार्तवीर्यः अकार्यस्यासत्कार्यस्य चिन्तया अहं चौर्यादिकं करिष्यामीति बुद्धया समकालमेककालमेव यथा तथा पुरस्तादग्रे चापधरः प्रादुर्भवन्सन् प्रजानां जनानाम्। 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः अन्तः-शरीरेष्वन्तःकरणेषु शरीरशब्देनेन्द्रियं लक्ष्यते। अविनयमपि प्रत्यादिदेश। मान-सापराधमपि निवारयामासेत्यर्थः। अन्ये तु वाक्कायापराधमात्रप्रतिकर्तार इति भावः।

भावार्थ—इनकी प्रजाओ मे से जो कोई व्यक्ति ज्यों ही किसी बुरे कार्य को करने का मन मे विचार करता था त्यों ही उसे ऐसा मालूम पड़ता था कि धनुष बाण हाथ मे लिए हुए राजा कार्तवीर्यार्जुन हमे दण्ड देने के लिए सामने उपस्थित है। इसलिए इनकी प्रजायें किसी अकार्य को करने का विचार तक भी नहीं करती थी॥ ३९॥

> ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
> कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात्॥ ४०॥

अन्वयः—ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेण यस्य कारागृहे आप्रसादात् उषितम्।

ज्याबन्धेति। ज्याया मौर्व्या बन्धेन बन्धनेन निष्पन्दा निश्चेष्टा भुजा यस्य तेन विनिःश्वसती ज्याबन्धोपरोधाद्दीर्घं निःश्वसन्ती वक्त्रपरम्परा दशमुखो यस्य तेन निर्जितवासवेनेन्द्रविजयिना अनेन्द्रादयोऽप्यनेन जितप्राया एवेति भावः। लङ्केश्वरेण

दशास्येन यस्य कार्तवीर्यस्य कारागृहे वन्धनागारे। 'कारास्याद्वन्धनालये' इत्यमरः। आप्रसादादनुग्रहपर्यन्तमुषितं स्थितम्। "नपुंसके भावे क्तः" एतत्प्रसाद एव तस्य मोक्षोपायो न तु क्षात्रमिति भावः।

भावार्थ—जिस रावण ने इन्द्र को जीत लिया था। उसे भी उन्होंने अपने कारागार में वन्दी वनाकर उसकी भुजाओं को धनुष की डोरी से इस प्रकार कसकर वांध दिया था कि वह वेचारा तव तक उसी में उसांस करता रहा जब तक प्रसन्न होकर इन्होंने उसे नहीं छोड़ा॥ ४०॥

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी।
येन श्रियाः संशयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम्॥ ४१॥

अन्वयः—आगमवृद्धसेवी प्रतीपः इति एष भूपतिः तस्य अन्वये जातः येन संश्रयदोषरूढं श्रियाः स्वभावलोला इति अयशः प्रमृष्टम्।

तस्येति। आगमवृद्धसेवी श्रुतवृद्धसेवी प्रतीप इति ख्यात इति शेषः। एष भूपतिस्तस्य कार्तवीर्यस्यान्वये वंशे जातः। येन प्रतीपेन संश्रयस्याश्रयस्य पुंसो दोषैर्व्यसनादिभिः रूढमुत्पन्नं श्रियः संवन्धि स्वभावलोला प्रकृतिचञ्चलेत्येवंरूपमयशो दुष्कीर्तिः प्रमृष्टं निरस्तम्। दुष्टाश्रयत्यागशीलायाः श्रियः प्रकृतिचापलप्रवादो मूढजनपरिकल्पित इत्यर्थः। अयं तु दोषराहित्यान्न कदाचिदपि श्रिया त्यज्यत इति भावः।

भावार्थ—उन्हीं प्रसिद्ध राजा कीर्तवीर्य के वंश में ये उत्पन्न हुए हैं। ये वेदों और वृद्धों की वड़ी सेवा करते हैं इनका नाम प्रतीप है। इन्होंने आश्रय दोष से दूषित लक्ष्मी के स्वभावचञ्चला इस अपयश को धो दिया है। अर्थात् इनके पास लक्ष्मी सदा निवास करती है। वास्तविक वात यह है कि लक्ष्मी तो उसी व्यक्ति को छोड़कर अन्यत्र चली जाती है जो दुर्व्यसनी हो पर इनमें कोई व्यसन नहीं तो इन्हें क्यों कर छोड़े॥ ४१॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम्।
धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रधाराम्॥ ४२॥

अन्वयः—यः आयोधने कृष्णगतिं सहायं अवाप्य क्षत्रियकालरात्रिं रामपरश्वधस्य शितां धारां उत्पलपत्रधारां संभावयति।

आयोधन इति। यः प्रतीप आयोधने युद्धे कृष्णगतिं कृष्णवर्त्मानमग्निं सहायमवाप्य क्षत्रियाणां कालरात्रिं संहाररात्रिमित्यर्थः। रामपरश्वधस्य जामदग्न्यपरशोः। 'द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः' इत्यमरः। शितां तीक्ष्णां धारां मुखम्।

'खड्गादीनां च निशितमुखे धारा प्रकीर्तिता' इति विश्वः। उत्पलपत्रस्य सार इव सारो यस्यास्तां तथाभूतां सम्भावयति मन्यते। एतन्नगरजिगीषयाऽऽगतान्रिपूं-स्त्वयमेव भक्षयामीति भगवता वैश्वानरेण दत्तवरोऽयं राजा दह्यन्ते च तथागताः शत्रव इति भारते कथाऽनुसन्धेया।

भावार्थ—ये राजा इतने बलवान् हैं कि अग्नि से वरदान प्राप्त करके उस परशुरामजी के फरसे की तेज धारा को कमल के पत्तों के समान निःसार समझते हैं जिसने युद्ध में २१ बार क्षत्रियों का संहार कर डाला है॥ ४२॥

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः॥ ४३॥

अन्वयः—यदि माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीं जलवेणिरम्यां रेवां प्रासादजालैः प्रेक्षितुं कामः अस्ति तर्हि त्वं दीर्घबाहोः अस्य अङ्कलक्ष्मीः भव।

अस्येति। दीर्घबाहोरस्य प्रतीपस्याङ्कलक्ष्मीर्भव। एनं वृणीष्वेत्यर्थः। अनेनायं विष्णुतुल्य इति ध्वन्यते। माहिष्मती नामास्य नगरी तस्या वप्रः प्राकार एव नितम्बः तस्य काञ्चीं रशनाभूतां जलानां वेण्या प्रवाहेण रम्याम्। 'ओघः प्रवाहो वेणी च' इति हलायुधः। रेवां नर्मदां प्रासादजालैर्गवाक्षैः। 'जालं समूह आनायो गवाक्षक्षारकावपि' इत्यमरः। प्रेक्षितुं कामः इच्छाऽस्ति यदि।

भावार्थ—इनकी राजधानी माहिष्मती नगरी की चहार दिवारी रूप नितम्ब की करधनी के रूप में स्थित और जल रूप वेणी से रमणीय नर्मदा नदी को राजभवनों के झरोखों से यदि देखना चाहती हो तो इस महाबाहु राजा को वरण करो॥ ४३॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः॥ ४४॥

अन्वयः—प्रकामं प्रियदर्शनः अपि सः क्षितीशः शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः पर्याप्तकलः शशी नलिन्याः इव तस्याः रुचये न बभूव।

तस्या इति। प्रकामं प्रीतिकरं दर्शनं यस्य सोऽपि दर्शनीयोऽपीत्यर्थः। स क्षितीशः शरदा प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधो निरस्तमेघावरणः पर्याप्तकलः पूर्णकलः शशी नलिन्या इव। तस्या इन्दुमत्या रुचये न बभूव। रुचिं नाजीजनदित्यर्थः। लोको भिन्नरुचिरिति भावः।

भावार्थ—जिस प्रकार मेघरूप आवरण से रहित निर्मल शरद ऋतु का मनोहर चन्द्रमा कमलिनी को अच्छा नहीं लगता है उसी प्रकार देखने में अत्यन्त सुन्दर भी वह प्रतीप राजा इन्दुमती के मन में नहीं जँचा॥ ४४॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥

अन्वयः—लोकान्तरगीतकीर्तिम् आचारशुद्धोभयवंशदीपं शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य शुद्धान्तरक्ष्या सा कुमारी जगदे ।

सेति । लोकान्तरे स्वर्गादावपि गीतकीर्तिमाचारेण शुद्धयोरुभयोर्वंशयोर्मातृपितृकुलयोर्दीपं प्रकाशकम् । उभयवंशेत्यत्रोभयपक्षवन्निर्वाहः । शूरसेनानां देशनामाधिपतिं सुषेणं नाम नृपतिमुद्दिश्याभिसंधाय शुद्धान्तरक्ष्यान्तःपुरपालिकया । 'कर्मण्यण्' 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप् । सा कुमारी जगदे ।

भावार्थ—तब अन्तःपुरपालिका सुनन्दा राजकुमारी इन्दुमती को मथुरा के राजा सुषेण के पास ले गई और उन्हें दिखा कर इन्दुमती से कहने लगी कि इनकी कीर्ति स्वर्गादिलोक में भी गाई जाती है और इन्होंने अपने शुद्ध चरित्र से मातृकुल और पितृकुल दोनों को उज्ज्वल कर दिया है ॥ ४५ ॥

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परास्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यज्वा एष पार्थिवः नीपान्वयः अस्ति यं आश्रित्य गुणैः शान्तं सिद्धाश्रमं एत्य सत्वैः नैसर्गिकैः अपि परेण उत्ससृजे ।

नीपेति । यज्वा विधिवदिष्टवान् । "सुयजोङ्वनिप्" इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । एष पार्थिवः नीपोनामान्वयोऽस्येति नीपान्वयो नीपवंशजः । यं सुषेणमाश्रित्य गुणैर्ज्ञानमौनादिभिः शान्तं प्रसन्नं सिद्धाश्रममेत्य प्राप्य सत्त्वैर्गजसिंहादिभिः प्राणिभिरिव नैसर्गिकः स्वाभाविकोऽपि परस्परेण विरोध उत्ससृजे त्यक्तः ॥ ४६ ॥

भावार्थ—ये राजा विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले हैं और राजा नीप के वंश में उत्पन्न हुए हैं । इनमें सभी गुण एक साथ उसी प्रकार स्थित रहते हैं, जिस प्रकार ऋषियों के शान्त आश्रमों में सभी जीव स्वाभाविक विरोध को छोड़कर एक साथ रहते हैं ॥ ४६ ॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव सन्निविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यस्य नयनाभिरामा कान्तिः हिमांशो कान्तिः इव आत्मगेहे सन्निविष्टा अस्ति । अविषह्यं तेजः तु हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु रिपुमन्दिरेषु सन्निविष्टम् अस्ति ।

यस्येति । हिमांशोः कान्तिश्चन्द्रकिरणा इव नयनयोरभिरामा यस्य सुषेणस्य

कान्ति शोभास्वगेहे स्वभवने संनिविष्टा संक्रान्ता अविषह्यं विसोढुमशक्यं तेजः प्रतापस्तु हर्म्याग्रेषु धनिकमन्दिरप्रान्तेषु । 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः । संरूढास्तृणाङ्कुरा येषां तेषु शून्येष्वित्यर्थः । रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु । 'मन्दिरे नगरे गृहे' इति विश्व । सन्निविष्टम् । स्वजनाह्लादको द्विषन्तपश्चेति भावः ।

भावार्थ—चन्द्रमा की चांदनी के समान नेत्रों को आह्लादित करनेवाला जिसका प्रकाश तो घर मे रहता है और सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओं के उन राजभवनों पर दिखाई देता है जिनके उजड़ जाने से उसमे घास पात जम गई है ॥ ४७ ॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ ४८ ॥

अन्वयः—यस्य वारिविहारकाले अवरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनात् मथुरां गता अपि कलिन्दकन्या गङ्गोर्मिसंसक्तजला इव भाति ।

यस्येति । यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः कलिन्दो नाम शैलस्तत्कन्या यमुना । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः । मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी तां गतापि । गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः । मथुरायां गङ्गाभाव सूचयत्यपिशब्दः । कालिन्दी तीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यते इति वक्ष्यति तत्कथमधुना मथुरासंभव इति चिन्त्यम् । मथुरा मधुरापुरीति शब्दभेद. । यद्वा सान्येति गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्मिभि. संसक्तजलेव भाति । धवलचन्दनसंसर्गात्प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासङ्गतेव भातीत्यर्थः । सितासिते हि गङ्गायमुने' इति घण्टापथः ।

भावार्थ—जलविहार करते समय इनकी रानियों के स्तनों पर लगा हुआ श्वेत चन्दन घुलकर जब यमुना जल मे मिल जाता है उस समय मथुरा मे यमुना जी का रंग ऐसा मालूम पड़ेगा कि मानो वहीं पर उनका गंगाजी की लहरों से संगम हो गया है ॥ ४८ ॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—तार्क्ष्यात् त्रस्तेन यमुनौकसा कालियेन विसृष्टं किल वक्षःस्थलव्यापिरुचं मणिं दधानः यः सकौस्तुभं कृष्णं ह्रेपयति इव ।

त्रस्तेनेति। तार्क्ष्याद्गरुडात्त्रस्तेन यमुनौकः स्थानं यस्य तेन कालियेन नाम नागेन विसृष्टं किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम्। किलेत्यैतिह्ये। वक्षःस्थलव्यापिरुचं मणिं दधाना यः सुषेणः सकौस्तुभं कृष्णं ह्रेपयतीवं व्रीडयतीव। 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' इत्यनेन पुगागमः। कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः।

भावार्थ—गरुड़ के डर से यमुना के जल में रहने वाले कालियनाग द्वारा अभयदान देने के उपहार में दिए गए छाती पर फैलती हुई कान्तिवाले मणि को धारण किए हुए इस राजा की शोभा के सामने कौस्तुभ मणि को पहने हुए भगवान् कृष्ण की शोभा भी फीकी पड़ जाती है॥ ४९॥

संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि! यौवनश्रीः॥ ५०॥

अन्वयः—हे सुन्दरि! अमुं युवानं भर्तारं संभाव्य मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये चैत्ररथात् अनूने वृन्दावने यौवनश्रीः निर्विश्यताम्।

सम्भाव्येति। युवानममुं सुषेणं भर्तारं संभाव्य मत्वा पतित्वेनाङ्गीकृत्येत्यर्थः। मृदुप्रवालोत्तरोपरिप्रस्तारितकोमलपल्लवापुष्पशय्या यस्मिंस्तत्तस्मिंश्चैत्ररथात्कुबेरोद्यानादनूने वृन्दावने वृन्दावननामक उद्याने हे सुन्दरि! यौवनश्रीर्यौवनफलं निर्विश्यतां भुज्यताम्।

भावार्थ—हे सुन्दरी? इस युवक राजा के साथ विवाह करके चैत्ररथ नामक कुबेर के उद्यान से भी सुन्दर वृन्दावन में कोमल पत्तों और पुष्पों की शय्याओं पर विहार करते हुए अपनी जवानी की शोभा को चरितार्थ करो।

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥ ५१॥

अन्वयः—च प्रावृषि कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु, अम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि अध्यास्य कलापिनां नृत्यं पश्य।

अध्यास्येति। किं च प्रावृषि वर्षासु कान्तासु गोवर्धनस्याद्रेः कन्दरासु दरीषु। 'दरी तु कन्दरी वा स्त्री' इत्यमरः। अम्भसः पृषतैर्बिन्दुभिरुक्षितानि सिक्तानि शिलायां भवं शैलेयम्। 'शिलाजतु च शैलेयम्' इति यादवः। यद्वा—शिला पुष्पाख्य ओषधिविशेषः। 'कलानुसार्यं वृद्धाश्मपुष्पशीत शिवानि तु। शैलेयम्' इत्यमरः 'शिलायां ढः।' इत्यत्र शिलाया इति योगविभागादि- वार्थं ढप्रत्ययः। तद्गन्धवन्ति शैलेयगन्धीनिशिलान्यध्यास्याधिष्ठाय कलापिनां बर्हिणां नृत्यं पश्य।

भावार्थ—और वर्षा ऋतु में गोवर्धन पर्वत की सुहावनी गुफाओं में पानी की फुहारों से भीगे हुए एवं शिलाजीत के गन्ध से सुवासित चट्टानों पर बैठकर मोरों का नाच देखो ॥ ५१ ॥

नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥ ५२ ॥

अन्वयः—आवर्तमनोज्ञनाभिः अन्यवधूः भवित्री सा सागरगामिनी स्रोतोवहा मार्गवशात् उपेतं महीधरं इव तं नृपं व्यत्यगात् ।

नृपमिति । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । आवर्तमनोज्ञा नाभिर्यस्याः सा । इदं च नदीसाम्यार्थमुक्तम् । अन्यवधूरन्यपत्नी भवित्री सा कुमारी तं नृपं सागरगामिनी सागरं गन्त्री स्रोतोवहा नदी मार्गवशादुपेतं प्राप्तं महीधरं पर्वतमिव व्यत्यगादतीत्य गता ।

भावार्थ—पानी के भंवर के समान गहरी नाभी वाली और किसी दूसरे की स्त्री बनने वाली वह इन्दुमती उस राजा सुषेण को छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जिस प्रकार समुद्र से मिलने वाली नदी मार्ग में पड़े हुए पर्वतों को छोड़कर आगे बढ़ जाती है ॥ ५२ ॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अथ भुजिष्या अंगदाश्लिष्टभुजं सादितशत्रुपक्षं हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथं आसेदुषीं अबालेन्दुमुखीं बालां बभाषे ।

अथेति । अथ भुजिष्या किंकरी सुनन्दा । 'भुजिष्या किंकरी मता' इति हलायुधः । अङ्गदाश्लिष्टभुजं केयूरबद्धबाहुं सादितशत्रुपक्षं विनाशितशत्रुवर्गं हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथमासेदुषीमासन्नामबालेन्दुमुखीं पूर्णेन्दुमुखीं बालामिन्दुमतीं बभाषे ।

भावार्थ—इसके बाद दासी सुनन्दा पूर्णचन्द्रमा के समान सुन्दरमुखवाली इन्दुमती को उस कलिंग देश के राजा हेमाङ्गद को दिखाकर बोली ,जो अपनी बाहु में बिजायठ पहने हुए थे और अपने शत्रुओं को नष्ट कर डालने में दक्ष थे ।

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—महेन्द्राद्रिसमानसारः असौ महेन्द्रस्य महोदधेः च पतिः अस्ति यस्य यात्रासु महेन्द्रः क्षरत्सैन्यगजच्छलेन पुरः याति इव ।

असाविति। महेन्द्राद्रेः समानसारस्तुल्यसत्त्वोऽसौ हेमाङ्गदो महेन्द्रस्य नाम कुलपर्वतस्य महोदधेश्च पतिः स्वामी। महेन्द्रमहोदधी एवास्य गिरिजलदुर्गे इति भावः। यस्य यात्रासु क्षरन्तां मदस्राविणां सैन्यगजानां छलेन महेन्द्रो महेन्द्रादिः पुरोऽग्रे यातीव अद्रिकल्पा अस्य गजा इत्यर्थः।

भावार्थ—ये महेन्द्रपर्वत के समान शक्तिशाली है और इनका अधिकार महेन्द्र पर्वत एवं समुद्र दोनों पर है। जब ये युद्ध के लिये प्रस्थान करते हैं तब इनके आगे २ चलनेवाले मस्त हाथी ऐसे मालूम पड़ते हैं मानों महेन्द्र पर्वत स्वयं हाथियों का वेष बनाकर इनके आगे चल रहा है॥ ५४॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे॥ ५५॥

अन्वयः—सुभुजः चापभृतां पुरोगः यः बन्दीकृतानां रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके पद्धती इव द्वे ज्याघातरेखे भुजाभ्यां बिभर्ति।

ज्याघातेति। सुभुजश्चापभृतां पुरोगो धनुर्धराग्रेसरो यः बन्दीकृतानां प्रगृहीतानाम् 'प्रग्रहोपग्रहो बन्द्याम्' इत्यमरः। रिपुश्रियां साञ्जनो बाष्पसेको ययोस्ते कज्जलमिश्राश्रुसिक्ते इत्यर्थः। पद्धती इव द्वे ज्याघातानां मौर्वीकिणानां रेखे राजी भुजाभ्यां बिभर्ति। द्विवचनात्सव्यसाचित्वं गम्यते। रिपुश्रियां भुजाभ्यामेवाहरणात्तद्गमरेखयोस्तत्पद्धतित्वेनोत्प्रेक्षा। तयोः श्यामत्वात्साञ्जनाश्रुसेकोक्तिः।

भावार्थ—सुन्दर भुजा वाले और धनुर्धारियों में श्रेष्ठ इस हेमाङ्गद राजा के दोनों भुजाओं मे धनुष की डोरी खींचने से जो दो काली २ रेखायें बन गई हैं वे ऐसी मालूम पड़ती हैं मानों बन्दिनी बनाई गई शत्रुओं की राजलक्ष्मी के अञ्जनयुक्त आँसूओं से सिक्त उनके आने के लिए दो मार्ग बने हों॥ ५५॥

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्॥ ५६॥

अन्वयः—आत्मनः सद्मनि सुप्तं यं सन्निकृष्टः मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः वातायनदृश्यवीचिः अर्णवः एव प्रबोधयति।

यमिति। आत्मनः सद्मनि सुप्तं हेमाङ्गदं संनिकृष्टः समीपस्थोऽत एव प्रासादवातायनैर्दृश्यवीचिर्मन्द्रेण गम्भीरेण। 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः। ध्वनिनाश्विद्याजितं निर्जितं यामस्य तूर्यं प्रहरावसानसूचकं वाद्यं येन स तथोक्तः। 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः। अर्णव एव प्रबोधयति अर्णवस्यैव तूर्यकार्यकारित्वात्तद्वैयर्थ्यमित्यर्थः। समुद्रस्यापि सेव्यः किमन्येषामिति भावः।

भावार्थ—ठीक, इनके राजभवन के पास ही समुद्र वर्तमान है जिसकी लहरें राजभवन के झरोखों से स्पष्ट दिखाई देती हैं। जब ये अपने महल में सोते हैं तब अपनी गम्भीर गर्जना से रात्रि के चतुर्थ प्रहर के अन्त में बजनेवाले बाजों को व्यर्थ कर देने वाला वह समुद्र ही इन्हें प्रातःकाल में जगाता है ॥ ५६ ॥

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अनेन सार्द्धं तालीवनमर्मरेषु अम्बुराशेः तीरेषु द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैः मरुद्भिः अपाकृतस्वेदलवा सती त्वं विहर।

अनेनेति। अनेन राज्ञा सार्धं तालीवनैर्मर्मरेषु मर्मरेति ध्वनत्सु। 'अथ मर्मरः स्वनिते वस्त्र-पर्णानाम्' इत्यमरवचनाद्गुणपरस्यापि मर्मरशब्दस्य गुणिपरत्वं प्रयोगादवसेयम्। अम्बुराशेः समुद्रस्य तीरेषु द्वीपान्तरेभ्य आनीतानि लवङ्गपुष्पाणि देवकुसुमानि यैस्तैः। लवङ्गं देवकुसुमम् इत्यमरः। मरुद्भिर्वातैरपाकृताः प्रशमिताः स्वेदस्य लवा बिन्दवो यस्याः सा तथाभूता सती त्वं विहर क्रीड।

भावार्थ—यदि तुम चाहो तो इनके साथ विवाह करके समुद्र के उन तटों पर विहार करो, जहाँ पर रातों दिन ताड़ के वृक्षों की मर्मरध्वनि सुनाई पड़ती रहती है और विहार करनेवालों के पसीनों को अन्य द्वीपों से लवंग के पुष्पों की गन्ध को लेकर बहने वाली हवा दूर करती है ॥ ५७ ॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—आकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तया एवं प्रलोभिता अपि नीत्या दूरकृष्टा लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् जनात् इव तस्मात् अपावर्तत।

प्रलोभितेति। आकृत्या रूपेण लोभनीयाऽकर्षणीया न तु वर्णनमात्रेणेत्यर्थः। विदर्भराजावरजा भोजानुजेन्दुमती तया सुनन्दयैवं प्रलोभितापि प्रचोदितापि नीत्या पुरुषकारेण दूरकृष्टा दूरमानीता लक्ष्मीः प्रतिकूलं दैवं तस्य तस्मात्पुंस इव तस्मादेमाङ्गदादपावर्तत प्रतिनिवृत्ता।

भावार्थ—केवल वर्णनमात्र से नहीं किन्तु सौन्दर्य से आकृष्ट होनेवाली विदर्भराज भोज की छोटी बहन वह इन्दुमती सुनन्दा की लुभावनी बातें सुनकर भी उस राजा को छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जिस प्रकार दुरुपाय से पाई गई लक्ष्मी भाग्यहीनपुरुष को छोड़कर चली जाती है ॥ ५८ ॥

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य।
इतश्चकोराक्षि! विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम्॥ ५९॥

अन्वयः—अथ दौवारिकी देवसरूपं उरगाख्यस्य पुरस्य नाथं एत्य हे चकोराक्षि! इतः त्वं विलोकय इति पूर्वानुशिष्टां भोज्यां निजगाद।

अथेति। अथ द्वारे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा। "तत्र नियुक्तः" इति ठक्प्रत्ययः। "द्वारादीनां च" इत्यौ आगमः। अकारेण देवरूपं देवतुल्यम् उरगाख्यस्य पुरस्य पाण्ड्यदेशे कान्यकुब्जतीरवर्तिनागपुरस्य नाथमेत्य प्राप्य हे चकोराक्षि! इतो विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां पूर्वमुक्तां भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्रियं भोज्यामिन्दुमतीम्। "क्रोड्यादिभ्यश्च" इत्यत्र भोजात्क्षत्रियादित्युपसंख्यानात्ष्यङ्प्रत्ययः। "यङश्चाप्" इति चाप्। निजगाद। इतो विलोकयेति पूर्वमुक्त्वा पश्चाद्वक्तव्यं निजगादेत्यर्थः।

भावार्थ—इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दा देवताओं के समान सुन्दर उरगपुर (नागपुर) के राजा के पास ले जाकर भोजवंश में उत्पन्न उस इन्दुमती से बोली कि चकोर के समान नेत्र वाली इन्दुमती! इधर तो देखो॥ ५९॥

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥ ६०॥

अन्वयः—अंसार्पितलम्बहारः हरिचन्दनेन क्लृप्ताङ्गरागः अयं पाण्ड्यः बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गारः अद्रिराजः इव आभाति।

पाण्ड्य इति। अंसयोरर्पिताः लम्बन्त इति लम्बाः हारा यस्य सः हरिचन्दनेन गोशीर्षाख्येन चन्दनेन। 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः। क्लृप्ताङ्गरागः सिद्धानुलेपनोऽयं पाण्डूनां जनपदानां राजा पाण्ड्यः। पाण्डोर्जनपदशब्दात्क्षत्रियाड्ड्यण्वक्तव्यः* इति ड्यण्प्रत्ययः। तस्य राजन्यपत्यवदिति वचनात्. बालातपेन रक्ता अरुणाः सानवो यस्य स सनिर्झरोद्गारः प्रवाहस्यन्दनसहितः। 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः। अद्रिराज इवाभाति।

भावार्थ—ये पाण्ड्य देश के राजा हैं इनके कन्धों पर बड़ा हार लटक रहा रहा है और शरीर में हरिचन्दन का लेप लगा हुआ है। इस देश में ये उस हिमालय के समान सुन्दर लग रहे हैं जिसका शिखर प्रातःकाल की धूप से लाल हो गया हो और जिस पर से पानी के अनेक झरने गिर रहे हों॥ ६०॥

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः॥ ६१॥

अन्वयः—विन्ध्यस्य महाद्रेः संस्तम्भयिता निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः अगस्त्यः अश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः यस्य प्रीत्या सौस्नातिकः भवति ।

विन्ध्यस्येति । विन्ध्यस्य नाम्नो महाद्रेः तपनमार्गनिरोधाय वर्धमानस्येति शेषः । संस्तम्भयिता निवारयिता । निःशेषं पीत उज्झितः पुनस्त्यक्तः । सिन्धुराजः समुद्रो येन सोऽगस्त्योऽश्वमेधस्यावभृथे दीक्षान्ते कर्मणि । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । आर्द्रमूर्तेः स्नातस्येत्यर्थः । यस्य पाण्ड्यस्य प्रीत्या स्नेहेन न तु दाक्षिण्येन सुस्नातं पृच्छतीति सौस्नातिकः भवति । * पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः * इत्युपसंख्यानाट्ठक् ।

भावार्थ—जब ये अश्वमेध यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान कर लेते हैं तब वे अगस्त्य ऋषि आकर इनसे कुशल पूछते हैं जिन्होंने महापर्वत विन्ध्याचल को ऊपर बढ़ने से रोक दिया था और समुद्र को पीकर पुनः उगल दिया था ॥६१॥

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥

अन्वयः—पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की दृप्तः लंकाधिपतिः दुरापं अस्त्रं हरात् आप्तवता येन इन्द्रलोकावजयाय प्रतस्थे ।

अस्त्रमिति । पुरा पूर्वं जनस्थानस्य खरालयस्य विमर्दशङ्की दृप्त उद्धतो लङ्काधिपती रावणो दुरापं दुर्लभमस्त्रं ब्रह्मशिरोनामकं हरादाप्तवता येन पाण्ड्येन संधाय इन्द्रलोकावजयायेन्द्रलोकं जेतुं प्रतस्थे । इन्द्रविजयिनो रावणस्यापि विजेतेत्यर्थः ।

भावार्थ—जब महाप्रतापी रावण इन्द्र को जीतने के लिए चला तब उसने इनसे इस डरसे सन्धि कर लिया कि कहीं ऐसा न हो कि ये मेरे पीछे खरदूषण के निवास स्थान दण्डकारण्य को नष्ट भ्रष्ट कर दें क्योंकि इन्होंने भी शिवजी से ब्रह्मशिरा नाम का एक दुर्लभ अस्त्र प्राप्त किया है ॥ ६२ ॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—महाकुलीनेन अनेन पाणौ विधिवद् गृहीते सती त्वं गुर्वी मही इव रत्नानुविद्धार्णवमेखलायाः दक्षिणस्याः दिशः सपत्नी भव ।

अनेनेति । महाकुलीनेन महाकुले जातेन । "महाकुलादञ्खञौ" इति खञ्प्रत्ययः । अनेन पाण्ड्येन त्वदीये पाणौ विधिवद्यथाशास्त्रं गृहीते सति गुर्वी

गुरुः। "वोतो गुणवचनात्" इति ङीप्। महीव रत्नैरनुविद्धो व्याप्तोऽर्णव एव मेखला यस्यास्तस्याः। इदं विशेषणं मह्यामिन्दुमत्यां च योज्यम्। दक्षिणस्याः दिशः सपत्नी भव। अनेन सपत्न्यन्तराभावो ध्वन्यते।

भावार्थ—उच्चकुल में उत्पन्न इस राजा के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लेने पर तुम पृथ्वी के समान उस दक्षिण दिशा की सौत बन जाओगी जिसकी करधनी रत्नों से परिपूर्ण समुद्र ही है ॥६३॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगासु एलालतालिङ्गितचन्दनासु तमालपत्रास्तरणासु मलयस्थलीषु शश्वत् रन्तुं त्वं प्रसीद।

ताम्बूलेति। ताम्बूलवल्लीभिर्नागवल्लीभिः परिणद्धाः परिरब्धाः पूगाः क्रमुका यासु तासु 'ताम्बूलवल्ली नागवल्ल्यपि' इति 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इति चामरः। एलालताभिरालिङ्गिताश्चन्दना मलयजा यासु तासु। गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। तमालस्य तापिच्छस्य पत्राण्येवास्तरणानि यासु तासु। 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः। मलयस्थलीषु। शश्वन्मुहुः सदा वा रन्तुं प्रसीदानुकूला भव।

भावार्थ—यदि तुम मलय पर्वत की उन घाटियों में सर्वदा विहार करना चाहती हो तो इनसे विवाह कर लो वहाँ पर नागवल्ली लताओं से परिवेष्टित सुपारी के वृक्ष हैं एवं इलायची की लता से लिपटे हुए चन्दन के वृक्ष हैं और तमाल के पत्ते ही बिछौने हैं ॥ ६४ ॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥

अन्वयः—असौ नृपः इन्दीवरश्यामतनुः त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः असि तडित्तोयदयोः इव वां योगः अन्योऽन्यशोभापरिवृद्धये अस्तु।

इन्दीवरेति। असौ नृप इन्दीवरश्यामतनुः त्वं रोचना गोरोचनेव गौरी शरीरयष्टिर्यस्याः सा ततस्तडित्तोयदयोर्विद्युन्मेघयोरिव वां युवयोर्योगः समागमोऽन्योन्यशोभायाः परिवृद्धयेऽस्तु।

भावार्थ—ये राजा नीलकमल के समान श्यामवर्ण हैं तुम गोरोचन जैसी गोरी हो। अतः यदि इनके साथ तुम्हारा विवाह हो जायेगा तो तुम ऐसी सुन्दरी लगोगी जैसे बादल के साथ बिजली सुन्दर लगती है ॥ ६५ ॥

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥

अन्वयः—विदर्भाधिपतेः स्वसुः चेतसि तदीयः उपदेशः दिवाकरादर्शनबद्धकोशे अरविन्दे नक्षत्रनाथांशुः इव अन्तरं न लेभे ।

स्वसुरिति । विदर्भाधिपतेर्भोजस्य स्वसुरिन्दुमत्याश्चेतसि तदीयः सुनन्दासम्बन्ध्युपदेशो वाक्यं दिवाकरस्य दर्शनेन बद्धकोशे मुकुलितेऽरविन्दे नक्षत्रनाथांशुश्चन्द्रकिरण इव अन्तरमवकाशं न लेभे ।

भावार्थः—जिस प्रकार सूर्य के न देखने से बन्द होने वाले कमल में चन्द्रमा की किरणों को स्थान नहीं मिलता है उसी प्रकार सुनन्दा का उपदेश विदर्भ नरेश भोज की बहन इन्दुमती के हृदय में स्थान नहीं प्राप्त कर सका ॥ ६६ ॥

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—पतिम्वरा सा रात्रौ सञ्चारिणी दीपशिखा इव यं यं व्यतीयाय सः सः भूमिपालः नरेन्द्रमार्गाट्टः इव विवर्णभावं प्रपेदे ।

संचारिणीति । पतिंवरा सेन्दुमती रात्रौ सञ्चारिणी दीपशिखेव यं यं भूमिपालं व्यतीयायातीत्य गता स स भूमिपालः । स सर्व इत्यर्थः । "नित्यवीप्सयोः" इति वीप्सायां द्विर्वचनम् । नरेन्द्रमार्गे राजपथेऽट्टाख्यो गृहभेद इव । 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः । विवर्णभावं विच्छायत्वम् अट्टस्तु तमोवृतत्वं प्रपेदे ।

भावार्थ—जिस तरह रात में आगे बढ़ने वाली दीपशिखा राजमार्ग में बने हुए जिस महल को पारकर जब आगे बढ़ जाती है तब वह महल अंधेरा व्याप्त हो जाने के कारण शोभारहित हो जाता है । उसी तरह पति को स्वयं वरण करने वाली वह इन्दुमती जिस जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ती जाती थी वह राजा उदासीन होता जाता था ॥ ६७ ॥

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तस्यां उपस्थितायां सत्यां रघोः सूनुः माम् वृणीत न वा इति समाकुलः अभूत् । अस्य वामेतरः बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैः संशयं नुनोद ।

तस्यामिति । तस्यामिन्दुमत्यामुपस्थितायामागतायां सत्यां रघोः सूनुरजो मां वृणीत न वेति समाकुलः संशयितोऽभूत् । अथाजस्य वामेतरो वामादितरो

दक्षिणो बाहुः केयूरं बध्यतेऽत्रेति केयूरबन्धोऽङ्गदस्थानं तस्योच्छ्वसितैः स्फुरणैः संशयं नुनोद ।

भावार्थ—जब वह इन्दुमती रघु के पुत्र अज के पास आकर खड़ी हो गई तब उनका मन इसलिये व्याकुल हो उठा कि यह मुझे वरण करेगी या नहीं ? किन्तु उसी समय दक्षिण भुजा ने विजयमठ बांधने की जगह को फड़का कर उनके सन्देह को दूर कर दिया । शकुन शास्त्र के अनुसार दाहिनी भुजा फड़कने से स्त्री की प्राप्ति होती है अतः अब अज को सन्देह नहीं रहा ॥ ६८ ॥

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्तताऽन्योपगमात्कुमारी ।
नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदालिः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—कुमारी सर्वावयवानवद्यं तं प्राप्य अन्योपगमात् व्यावर्तत हि षट्पदालिः प्रफुल्लं सहकारवृक्षम् एत्य वृक्षान्तरं नहि काङ्क्षति ।

तमिति । कुमारी सर्वेष्ववयवेष्वनवद्यमदोषं तमजं प्राप्य अन्योपगमाद्राजान्तरोपगमाद्व्यावर्तत निवृत्ता । तथा—हि षट्पदालिः भृङ्गावलिः प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितम् । पुष्पितमित्यर्थः । प्रपूर्वात्फुल्लतेः पचाद्यच् । फलतेस्तु प्रफुल्लमिति पठितव्यम् । "अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघा" इति निषेधात् इत्युभयथापि न कदाचिदनुपपत्तिरित्युक्तः प्राक् । सहकारं चूतावशेषमेत्य 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभ' इत्यमरः । वृक्षान्तरं न काङ्क्षति । नहि सर्वोत्कृष्टवस्तुलाभेऽपि वस्त्वन्तरस्याभिलाषः स्यादित्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार पुष्पित आम के वृक्ष को पाकर भ्रमर की पंक्ति दूसरे वृक्ष की चाह नहीं करती, उसी प्रकार सर्वांग सुन्दर उस अज को पाकर वह इन्दुमती दूसरे राजा के पास जाने से रुक गई ॥ ६९ ॥

तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

अन्वयः—अनुक्रमज्ञा सुनन्दा इन्दुप्रभां इन्दुमतीं तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्तिं अवेक्ष्य सविस्तरं इदं वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ।

तस्मिन्निति । तस्मिन्नजे समावेशिता संक्रामिता चित्तवृत्तिर्यया ताम् इन्दोः प्रभेव प्रभा यस्यास्ताम् आह्लादकत्वादिन्दुसाम्यम् । इन्दुमतीमवेक्ष्यानुक्रमज्ञा वाक्यपौर्वापर्याभिज्ञा सुनन्देदं वक्ष्यमाणं सविस्तरं सप्रपञ्चम् । "प्रथने वावशब्दे" इति घञो निषेधात् "ऋदोरप्" इत्यप्प्रत्ययः । 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ।

भावार्थ—बोलने का क्रम जाननेवाली सुनन्दा चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दर कान्तिवाली इन्दुमती को अज मे अनुरक्त जानकर विस्तारपूर्वक बात बनाती हुई बोली ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंश्य नृपाणां ककुदम् आहितलक्षण ककुत्स्थः इति राजा अभूत्, यत उन्नतेच्छा उत्तरकोशलेन्द्रा श्लाघ्य काकुत्स्थशब्द, दधति ।

इक्ष्वाकिवति । इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य वंश्यो वंशे भवः नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः 'ककुच्च ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे राजलक्ष्मणि' इति विश्व । आहितलक्षणः प्रख्यातगुणः । 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणौ' इत्यमरः । ककुदि वृषांसे तिष्ठतीति ककुत्स्थ इति प्रसिद्ध. कश्चिद्राजाऽभूत् । यतः ककुस्थादारभ्योन्नतेच्छा महाशयाः। 'महेच्छस्तु महाशय' इत्यमर । उत्तरकोसलेन्द्रा राजानो दिलीपादयः श्लाघ्यं प्रशस्तं ककुत्स्थस्यापत्यं पुमान्काकुत्स्थ इति शब्दा संज्ञां दधति बिभ्रति । तन्नामसस्पर्शोऽपि वंशस्य कीर्तिकर इति भावः । पुरा किल पुरञ्जयो नाम साक्षाद्भगवतो विष्णोरंशावतारः कश्चिदैक्ष्वाको राजा देवैः सह समयबन्धेन देवासुरयुद्धे महोक्षरूपधारिणो महेन्द्रस्य ककुदि स्थित्वा पिनाकिलीलया निखिलमसुरकुलं निहत्य ककुत्स्थसंज्ञां लेभे इति पौराणिकी कथानुसंधेया । वक्ष्यते चायमेवार्थं उत्तरश्लोके ।

भावार्थ—इक्ष्वाकु के वंश मे उत्पन्न राजाओं में श्रेष्ठ प्रख्यातगुणशाली एक ककुत्स्थ नाम के राजा हो गये हैं जिनके कारण उत्तर कोशल के सभी राजा प्रसिद्धि की इच्छा से अपने को काकुत्स्थ कहते आये है ॥ ७१ ॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यः प्राप्तपिनाकिलीलः सन् महोक्षरूपं महेन्द्रम् आस्थाय संयति बाणैः असुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः चकार।

महेन्द्रमिति । यः ककुत्स्थः संयति युद्धे महानुक्षा महोक्षः । "अचतुर०" इत्यादिना निपातः । तस्य रूपमिव रूपं यस्य तं महेन्द्रमास्थायाध्युष्य अत एव प्राप्ता पिनाकिन ईश्वरस्य लीला येन स तथोक्तः सन्बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखा निवृत्तपत्ररचनाश्चकार । तद्भर्तॄनसुरानवधीदित्यर्थः । नहि विधवा प्रसाध्यन्त इति भावः ।

भावार्थ—जिस ककुत्स्थ राजा ने देवासुर संग्राम मे बैल का रूप धारण किये

हुए इन्द्र के ऊपर सवार होकर नन्दी पर चढ़े हुए शंकरजी की लीला को प्राप्त होकर अपने बाणों से असुरों का संहार कर दिया जिससे उनकी स्त्रियाँ विधवा होने के कारण अपने कपोलों पर पत्र रचना रूप शृङ्गार करना सदा के लिए छोड़ दिया ॥ ७२ ॥

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ ७३ ॥

अन्वयः—यः ऐरावताऽऽस्फालनविश्लथम् अङ्गदम् अङ्गदेन संघट्टयन् स्वाम् अग्र्यां मूर्तिम् उपेयुषः अपि गोत्रभिदः अर्धासनम् अधितष्ठौ ।

ऐरावतेति । यः ककुत्स्थ ऐरावतस्य स्वर्गजस्यास्फालनेन ताडनेन विश्लथं शिथिलमङ्गदमैन्द्रमङ्गदेन स्वकीयेन संघट्टयन्-संघर्षयन्स्वामग्र्यां श्रेष्ठां मूर्तिमुपेयुषोऽपि प्राप्तस्यापि गोत्रभिद इन्द्रस्यार्धमासनमर्धासनम् । "अर्धं नपुंसकम्" इति समासः । अधितष्ठावधिष्ठितवान् । "स्यादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य" इत्यभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वम् । न केवलं महोक्षरूपधारिण एव तस्य ककुदमारूढत् किन्तु निजरूपधारिणोऽपीन्द्रस्यार्धासनमित्यपिशब्दार्थः । अथवा अर्धासनमपीत्यपेरन्वयः ।

भावार्थ—जो ककुत्स्थ राजा संग्राम समाप्त हो जाने पर जब इन्द्र अपना असली रूप धारण करके ऐरावत पर सवार होकर स्वर्ग में जाकर सिंहासन पर बैठे, तब ऐरावत को बारबार हांकने से इन्द्र का जो बिजावठ ढीला पड़ गया था उसे अपने बिजावट से रगड़ता हुआ अपने ही श्रेष्ठ मूर्ति को प्राप्त किये हुए इन्द्र के आधे आसन पर बैठे ॥ ७३ ॥

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—उरुकीर्तिः कुलप्रदीपः नृपतिः दिलीपः तस्य कुले जातः किल यः शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये एकोनशतक्रतुत्वे अतिष्ठत् ।

जात इति । उरुकीर्तिर्महायशाः कुलप्रदीपो वंशदीपको दिलीपो नृपतिस्तस्य ककुत्स्थस्य कुले जातः किल । यो दिलीपः शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये न त्वशक्त्येति भावः । एकेनोनाः शतं क्रतवो यस्य स एकोनशतक्रतुः तस्य भावे तत्त्वेऽतिष्ठत् । इन्द्रप्रीतये शततमं क्रतुमवशेषितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—उस ककुत्स्थ राजा के वंश में महायशस्वी कुलदीपक दिलीप नाम के राजा उत्पन्न हुए थे जो इन्द्र की डाह को दूर करने के लिए निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ करके ही रुक गये सौवां यज्ञ पूर्ण नहीं किये ॥ ७४ ॥

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यस्मिन् महीं शासति सति विहारार्धपथे निद्रां गतानां वाणिनीनाम् अंशुकानि वातः अपि न अस्रंसयत् आहरणाय हस्तं कः लम्बयेत् ।

यस्मिन्निति । यस्मिन्दिलीपे महीं शासति सति विहरत्यत्रेति विहार क्रीडा-स्थानम् तस्यार्धपथे निद्रां गतानां वाणिनीनां मत्ताङ्गनानाम् । 'वाणिनी नर्तकी मत्ताविदग्धवनितासु च" इति विश्वः । 'वाणिन्यौ नर्तकीदूत्यौ' इत्यमरश्च । अंशु-कानि वस्त्राणि वातोऽपि नास्रंसयन्नाकम्पयत् आहरणायापहर्तुं को हस्तं लम्बयेत् प्रसारयेत् । सिद्धत्वादकुतोभयसञ्चाराः प्रजा इत्यर्थः । अर्धश्चासौ पन्थाश्चेति विग्रहः । समप्रविभागे प्रमाणाभावान्नैकदेशिसमासः ।

भावार्थ—जिस राजा दिलीप के शासन करते समय क्रीडा स्थान में मद पीकर सोई स्त्रियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं छू सकता था तो फिर दूसरा कौन पुरुष उन्हें छूने के लिए हाथ बढ़ा सकता है ॥ ७५ ॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—विश्वजितः महाक्रतोः प्रयोक्ता तस्य पुत्रः रघुः पदं प्रशास्ति यः चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां विभूतिं मृत्पात्रशेषाम् अकरोत् ।

पुत्र इति । विश्वजितो नाम महाक्रतोः प्रयोक्ताऽनुष्ठाता तस्य दिलीपस्य पुत्रो रघुः पदं पैत्र्यमेव प्रशास्ति पालयति । यो रघुश्चतसृभ्यो दिग्भ्य आवर्जिताऽऽहृता संभृता सम्यग्वर्धिता च या तां चतुर्दिगावर्जितसंभृतां विभूतिं सम्पदं मृत्पात्रमेव शेषो यस्यास्तामकरोत् । विश्वजिद्यागस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादित्यर्थः ।

भावार्थ—उन्हीं के पुत्र रघु उनके बाद राजा हुए हैं जिन्होंने चारों दिशाओं को जीतकर इकट्ठा किया हुआ अपार धनराशि विश्वजित नामक यज्ञ में ब्राह्मणों को दान देकर अपने पास केवल मिट्टी के पात्र को ही शेष रखा था ॥ ७६ ॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयाऽलम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—अद्रीन् आरूढम् उदधीन् वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ऊर्ध्वं गतम् अनुबन्धि च यस्य यशः इयत्तया परिच्छेत्तुम् अलं न अस्ति ।

आरूढमिति—किं च अद्रीनारूढम् उदधीन्वितीर्णमवगाढम् सकलभूगोलव्यापक-

मित्यर्थः। भुजङ्गमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम् ऊर्ध्वं स्वर्गादिकं गतं व्याप्तम्। इत्थं सर्वदिग्व्यापीत्यर्थः। अनुबध्नातीत्यनुबन्धि चाविच्छेदि कालत्रयव्यापकं चेत्यर्थः। अत एवैवंभूतं यस्य यश इयत्तया देशतः कालतो वा केनचिज्ज्ञानेन परिच्छेत्तुं परिमातुं नालं न शक्यम्।

भावार्थ—पर्वतों तक पहुँचा हुआ, समुद्रों के पार गया हुआ, नागलोक से भी व्याप्त हुआ, स्वर्गादिलोकों में फैला हुआ और अविच्छिन्न रूप से सर्वत्र व्याप्त जिस रघु के यश की कोई इयत्ता नही कर सकता है॥ ७७॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति॥ ७८॥

अन्वयः—असौ कुमारः अजः त्रिविष्टपस्य पतिं जयन्तः इव तम् अनुजातः दम्यः यः भुवनस्य गुर्वीं धुरं धुर्येण पित्रा सदृशं बिभर्ति।

असाविति। असावजाख्यः कुमारः त्रिविष्टपस्य स्वर्गस्य पतिमिन्द्रं जयन्त इव। 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः। तं रघुमनुजातः तस्माज्जात इत्यर्थः। जन्यजनकयोरानन्तर्यात्। "गत्यर्थाकर्मकश्लिष-शीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च" इति क्तः। सोपसृष्टत्वात्सकर्मकत्वम्। आह चात्रैव सूत्रे वृत्तिकारः—"श्लिषादयः सोपसृष्टाः सकर्मका भवन्ति" इति। तज्जातोऽपि तदनुजातो भवति दम्यः शिक्षणीयावस्थः योऽजो गुर्वीं भुवनस्य धुरं धुर्येण धुरंधरेण चिरनिरूढेन पित्रा सदृशं तुल्यं यथा तथा बिभर्ति। यथा कश्चिद्वत्सतरोऽपि धर्मेण महोक्षेण समं वहतीत्युपमालङ्कारो ध्वन्यते। 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः।

भावार्थ—ये कुमार अज स्वर्ग के स्वामी इन्द्र से जयन्त के समान उस महाराज रघु से उत्पन्न हुए हैं और ये भी अपने प्रतापी पिता के सामान राज्य का सब काम सम्भालते हैं॥ ७८॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन॥ ७९॥

अन्वयः—कुलेन कान्त्या नवेन वयसा विनयप्रधानैः तैस्तैः गुणैः आत्मनः तुल्यम् अमुं त्वं वृणीष्व, रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु।

कुलेनेति। कुलेन कान्त्या लावण्येन नवेन वयसा यौवनेन विनयः प्रधानं येषां तैस्तैर्गुणैः श्रुतशीलादिभिश्चात्मनस्तुल्यं स्वानुरूपममुमजं त्वं वृणीष्व किं बहुना रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु संगच्छताम्। प्रार्थनायां रत्नकाञ्चनयोरिवात्यन्तानुरूपत्वाद्युवयोः समागमः प्रार्थ्यत इत्यर्थः।

भावार्थ—कुल से सौन्दर्य से नई युवावस्था से और विनय, दया, दाक्षिण्य शील, शक्ति आदि सद्गुणों से ये तुम्हारे अनुरूप हैं इसलिये तुम इन्हें वरण करो जिससे सुवर्ण का रत्न के साथ मेल हो जाय। क्योंकि रत्न की शोभा उसके अनुरूप सुवर्ण से ही होती है दूसरे से नहीं ॥ ७९ ॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

अन्वयः—ततः सुनन्दावचनावसाने नरेन्द्रकन्या लज्जां तनूकृत्य प्रसादामलया दृष्ट्या सम्वरणस्रजा इव कुमारं प्रत्यग्रहीत्।

तत इति। ततः सुनन्दावचनस्यावसानेऽन्ते नरेन्द्रकन्येन्दुमती लज्जां तनूकृत्य संकोच्य प्रसादेन मनःप्रसादेनामलया प्रसन्नया दृष्ट्या संवरणस्य स्रजा स्वयंवरणार्थं स्रजेव कुमारमजं प्रत्यग्रहीत्स्वीचकार। सम्यक्सानुरागमपश्यदित्यर्थः।

भावार्थ—इस प्रकार सुनन्दा के कहने के बाद राजकुमारी इन्दुमती ने संकोच छोड़कर प्रेम भरी दृष्टि से देखकर अज को स्वीकार कर लिया, मानो वह दृष्टि ही स्वयंवर की माला हो ॥ ८० ॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—सा यूनि तस्मिन् अभिलाषबन्धं शालीनतया वक्तुं न शशाक, तथापि अरालकेश्याः सः रोमाञ्चलक्ष्येण गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत्।

सेति। सा कुमारी यूनि तस्मिन्नजेऽभिलाषबन्धमनुरागग्रन्थिं शालीनतयाऽधृष्टतया। 'स्यादधृष्टस्तु शालीनः' इत्यमरः। "शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः" इति निपातः। वक्तुं न शशाक तथाप्यरालकेश्याः सोऽभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण पुलकव्याजेन। 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः। गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत् सात्त्विकाविर्भावलिङ्गेन प्रकाशित इत्यर्थः।

भावार्थ—वह कुमारी इन्दुमती उस युवक अज विषयक अपने अनुराग को धृष्ट न होने के कारण वाणी से प्रगट तो नहीं कर सकी, पर घुंघराले बालवाली उस इन्दुमती के हृदय का वह अनुराग छिपाने पर भी नहीं छिप सका, रोमाञ्च के बहाने बाहर आ ही गया ॥ ८१ ॥

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सख्यां तथागतायां (सत्यां) सखी, वेत्रभृत्, हे आर्ये ? (वयम्) अन्यतः व्रजामः इति परिहासपूर्वम्, आवभाषे अथ वधूः एनाम्, असूयाकुटिलम् ददर्श ।

तथेति । सख्यामिन्दुमत्यां तथागतायां तथाभूतायां दृष्टानुरागायां सत्यामित्यर्थः । सखी सहचरी । "सख्यशिश्वीति भाषायाम्" इति निपातनान्ङीप् । वेत्रभृत्सुनन्दा हे आर्ये पूज्ये । अन्यतोऽन्यं प्रति व्रजाम इति परिहासपूर्वमावभाषे । अथ वधूरिन्दुमत्येनां सुनन्दामसूयया रोषेण ददर्श अन्यागमनस्यासह्यत्वादित्यर्थः ।

भावार्थ—अज में इन्दुमती को इस प्रकार अनुरक्त जानकर द्वारपालिका इन्दुमती परिहास की दृष्टि से कहने लगी—आर्ये ! आगे बढ़िए। दूसरे राजा के पास चलें, इस पर उस राजकुमारी ने उसे असूयापूर्वक कुटिल दृष्टि से देखा ॥८२॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—करभोपमोरूः सा चूर्णगौरं गुणं मूर्तम् अनुरागम् इव धात्रीकराभ्यां रघुनन्दनस्य कण्ठे यथाप्रदेशम् आसञ्जयामास ।

सेति । करभः करप्रदेशविशेषः । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ उपमा ययोस्तावूरू यस्याः सा करभोपमोरूः । "उरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ्प्रत्ययः । सा कुमारी चूर्णेन मङ्गलचूर्णेन गौरं लोहितं गुणं स्रजां मूर्तं मूर्तिमन्तमनुरागमिव धात्र्या उपमातुः सुनन्दायाः कराभ्यां रघुनन्दनस्याजस्य कण्ठे यथाप्रदेशं यथास्थानमासञ्जयामासासक्तं कारयामास । न तु स्वयमाससञ्ज अनौचित्यात् ।

भावार्थ—करभ के समान जंघावाली उस इन्दुमती ने मंगल चूर्ण से लाल रंगवाली स्वयंवर की माला को सुनन्दा के हाथों से रघु के पुत्र अज के गले में पहनवा दिया। वह माला उस समय ऐसी मालूम पड़ती थी कि मानों इन्दुमती ने अपना साक्षात् मूर्तिमान् अनुराग ही अज के ऊपर न्योछावर कर दिया हो ॥ ८३ ॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—वरेण्यः सः मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया तया स्रजा विदर्भराजावरजां कण्ठार्पितबाहुपाशाम् अमंस्त ।

तयेति । वरेण्यो वरणीय उत्कृष्टः । वृञ एण्यः । सोऽजो मङ्गलपुष्पमय्या

मधूकादिकुसुममय्या विशालवक्षःस्थले लम्बया लम्बमानया तया प्रकृतया स्रजा विदर्भराजावरजामिन्दुमतीं कण्ठार्पितौ बाहू एव पाशौ यया तामंस्त मन्यतेऽर्हुत् । बाहुपाशकल्पसुखमन्वभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—मंगलमय पुष्पों से बनी हुई और अपने वक्षःस्थल पर लटकती हुई उस माला को धारण करके अज को ऐसा मालूम होने लगा कि मानो आलिंगन करने के लिए विदर्भ राज भोज की छोटी बहन इन्दुमती ने उनके गले में अपनी भुजायें डाल दी हों ॥ ८४ ॥

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—तत्र समगुणयोगप्रीतयः पौराः इयं मेघमुक्तं शशिनम् उपगता कौमुदी इव अनुरूपं जलनिधिम् अवतीर्णा जह्नुकन्या इव इति नृपाणां श्रवणकटु एकवाक्यं विवव्रुः ।

शशिनमिति । तत्र स्वयंवरे समगुणयोस्तुल्यगुणयोरिन्दुमतीरघुनन्दनयोर्योगेन प्रीतिर्येषां ते समगुणयोगप्रीतयः पौराः पुरे भवा जनाः इयमजसंगतेन्दुमती मेघैर्मुक्तं शशिनं शरच्चन्द्रमुपगता कौमुदी अनुरूपं सदृशं जलनिधिमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या भागीरथी तत्सदृशीत्यर्थः । इत्येवं नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषमेव मविसंवादि वाक्यमेकवाक्यं विवव्रुः । मालिनीवृत्तम् ।

भावार्थ—उस स्वयंवर मे इन दोनो समान गुणवालों के सम्बन्ध हो जाने से प्रसन्न होकर पुरवासी एक स्वर मे प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि यह इन्दुमती मेघमुक्त निर्मल चन्द्रमा को प्राप्त चांदनी और अनुरूप समुद्र को प्राप्त गंगा के समान सौभाग्यवती हो गई । पर यह सुनकर अन्य राजाओं को बड़ा कटुआ लगता था ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—एकतः प्रमुदितवरपक्षम् अन्यतः वितानं तत् क्षितिपतिमण्डलम् उषसि प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रं सर इव आसीत् ।

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्तथोक्तम् । अन्यतोऽन्यत्र वितानं शून्यं भग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः । तत्क्षितिपति-

मण्डलं उषसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलनं सर इव सरस्तुल्यम् आसीत् । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

भावार्थ—उस समय वह स्वयम्वर मण्डप सुवह में उस सरोवर के समान लगने लगा जिसमे एक ओर तो खिले हुए कमल दिखाई दे रहे हों और दूसरी ओर संकुचित कुमुदों का समूह मौजूद हो। क्योंकि एक ओर अज के समर्थक व्यक्ति हँसते हुए खड़े थे दूसरी ओर इन्दुमती को न पाने से निराश होकर अप्रसन्न (उदासीन) राजा लोग थे ॥ ८६ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणि शास्त्री द्वारा लिखित अन्वय और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका में रघुवंशमहाकाव्य का स्वयम्वरवर्णन नामक षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ।



सप्तमः सर्गः

भजेमहि निपीयैकं मुहुरन्यं पयोधरम् ।
मार्गन्तं बालमालोक्याश्वासयन्तौ हि दम्पती ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ विदर्भनाथः सदृशेन उपयन्त्रा युक्तां साक्षात् स्कन्देन (युक्तां) देवसेनाम् इव, (स्थितां) स्वसारम् पुरप्रवेशाभिमुखः बभूव ।

अथेति । अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्री वरेण युक्ताम् अत एव साक्षात्प्रत्यक्षम् । 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी । पूर्वं हि ब्रह्मणा निर्मिते देवसेनादैत्यसेने इन्द्रः कन्येऽभूतां तयोः पूर्वस्याः पतित्वे स्कन्दोऽभिषिक्त इत्यागमः । तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव । उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ।

भावार्थ—स्वयंवर हो चुकने के बाद, विदर्भ देश के राजा योग्य वर से युक्त अपनी बहन इन्दुमती को लेकर नगर की ओर चले। अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ जाते हुए अज ऐसे चल रहे थे मानो देवसेना के साथ साक्षात् स्कन्द जा रहे हों ॥ १ ॥

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

अन्वयः—विभातग्रहमन्दभासः पृथिवीक्षितः अपि भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वात् रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः सन्तः सेनानिवेशान् जग्मुः ।

सेनेति । भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्री भोज्या तामिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेष्वाकृतिषु वेशेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूया वृथेति निन्दन्तः किञ्च विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्त इव मन्दभासः क्षीणकान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशाञ्छिबिराणि जग्मुः ।

भावार्थ—इन्दुमती के प्रति असफल मनोरथ होने के कारण प्रातःकालीन नक्षत्रों के समान फीके पड़े हुए अपने अपने रूप और वेशभूषा पर ग्लानि करते हुए अज के अतिरिक्त राजा लोग अपने-अपने शिविरों में गये ॥ २ ॥

ननु क्रुद्धाश्चेत्युध्यन्तां तत्राह—

सान्निध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तत्र शच्याः सान्निध्ययोगात् स्वयम्वरक्षोभकृताम् अभावः (बभूव) किल तेन काकुत्स्थम् उद्दिश्य समत्सरः अपि क्षितिपाललोकः शशाम ।

सान्निध्येति । तत्र स्वयंवरक्षेत्रे शच्या इन्द्राण्याः सन्निधिरेव सान्निध्यम् । तस्य योगात्सद्भावाद्धेतोः स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । किलेति स्वयंवरविघातकाः शच्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमजमुद्दिश्य समत्सरोऽपि सवैरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाक्षुभ्यत् ।

भावार्थ—उस स्वयम्वर स्थल में इन्द्राणी स्वयं उपस्थित थीं इसलिए किसी का साहस नहीं हुआ कि कोई गड़बड़ी कर सके। इसलिए अज से ईर्ष्या करने वाले राजा लोग भी शान्त रहे ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः वरः वध्वा सह तावत् प्रकीर्णाभिनवोपचारम् इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कं ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् राजमार्गं प्राप।

तावदिति। 'यावत्तावच्च साकल्ये इत्यमरः'। तावत्प्रकीर्णाः साकल्येन प्रसारिता अभिनवा नूतना उपचारः पुष्पप्रकरादयो यस्य तं तथोक्तम् इन्द्रायुधानीव द्योतितानि प्रकाशितानि तोरणान्यङ्काश्चिह्नानि यस्य तम्। ध्वजानां छाया ध्वजच्छायम्। "छाया बाहुल्ये" इति नपुंसकत्वम्। तेन निवारित उष्ण आतपो यत्र तं तथा राजमार्गं स वरोवोढा वध्वा सह प्राप विवेश।

भावार्थ—वह अज अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ उस मुख्य राजमार्ग पर पहुँचे जहाँ स्थान २ पर नये २ सुन्दर फूल उन पर बरसाये जा रहे थे इन्द्रधनुष के समान रंग बिरंग के तोरण उनके सत्कार के लिए सजाये गये थे और वहाँ इतनी झंडियां ध्वजा पताका आदि लगाई गई थी कि धूप भी नहीं मालूम पड़ती थी ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

अन्वयः—ततः चामीकरजालवत्सु सौधेषु तदलोकनतत्पराणां पुरसुन्दरीणाम् इत्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि बभूवुः।

तत इति। ततस्तदनन्तरं चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु सौधेषु तस्याजस्यालोकने तत्पराणामासक्तनां पुरसुन्दरीणामित्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्तान्यान्यकार्याणि केशबन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टितानि व्यापाराः। नपुंसके भावे क्तः। बभूवुः।

भावार्थ—इसके बाद अज को देखने के लिए नगर की सुन्दरियाँ अपना २ काम छोड़कर महल में सुनहले झरोखों की ओर दौड़ पड़ीं ॥ ५ ॥

तान्येवाह पञ्चभिः श्लोकैः—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

अन्वयः—सहसा आलोकमार्गं व्रजन्त्या कयाचित् उद्वेष्टनवान्तमाल्यः करेण रुद्धः अपि केशपाशः तावत् बद्धुं न एव सम्भावितः।

आलोकेति। सहसाऽऽलोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या कयाचित्कामिन्योद्वेष्टनवान्तमाल्यः उद्वेष्टनो द्रुतगतिवशादुन्मुक्तबन्धनः अत एव वान्तमाल्यो बन्धविश्लेषेणोद्गीर्णमाल्यः करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः केशकलापः। 'पाशः पक्षश्च

हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः। तावदालोकमार्गप्राप्तिपर्यन्तं बद्धं बन्धनार्थं न सम्भावितो न चिन्तित एव।

भावार्थ—अज को देखने के लिए झरोखो पर शीघ्रता से जाती हुई किसी स्त्री का केश खुल गया, जल्दी में जूड़ा बाँधने की भी उसे सुधि नहीं रही। वह उसे हाथ में पकड़े ही खिड़की पर पहुँच गई। केश पाश ढीले पड़ जाने से उसमें गूथे हुए पुष्प बराबर नीचे गिरते जाते थे॥ ६॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥ ७॥

अन्वयः—काचित् प्रसाधिकालम्बितं द्रवरागं एव अग्रपादम् आक्षिप्य उत्सृष्ट लीलागतिः सती आगवाक्षात् अलक्तकाङ्कां पदवीं ततान।

प्रसाधिकेति। काचित् प्रसाधिकयालङ्कर्त्र्या लम्बितं रञ्जनार्थं धृतं द्रवरागमेवार्द्रालक्तकमेव अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपाद इति कर्मधारयसमासः। "हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्याम्" इति वामनः। तमाक्षिप्याकृष्य उत्सृष्टलीलागतिस्त्यक्तमन्दगमना सती आगवाक्षाद्गवाक्षपर्यन्तं पदवीं पन्थानमलक्तकाङ्कां लाक्षारागचिह्नां ततान विस्तारयामास।

भावार्थ—एक स्त्री शृङ्गार करने वाली अपनी दासी से पैरों में महावर लगवा रही थी उसी समय अज के आने की कल-कल शब्द को सुनकर शृङ्गार करने वाली के हाथों से गीले महावर वाले पैरों को खींचकर झरोखे को ओर दौड़ पड़ी जिससे झरोखे तक उसके पैर के महावर का लाल २ चिह्न पड़ गया।

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ ८॥

अन्वयः—अपरा दक्षिणं विलोचनं अञ्जनेन सभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा सती तथा एव शलाकां वहन्ती वातायनसन्निकर्षं ययौ।

विलोचनमिति। अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन सम्भाव्यालंकृत्य सम्भ्रमादिति भावः। तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वर्जितं वामनेत्रं यस्याः सती तथैव शलाकामञ्जनतूलिकां वहन्ती सती वातायनसन्निकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ। दक्षिणग्रहणं संभ्रमाद्व्युत्क्रमकरणद्योतनार्थम्। सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते इति श्रुतेः।

भावार्थ—एक दूसरी स्त्री अपनी आखों में अञ्जन लगा रही थी दाहिनी आँख में अञ्जन लगा कर अज को देखने की जल्दी में बाईं आँख में बिना अञ्जन लगाये ही हाथ में सलाई लिए हुए झरोखे के पास पहुँच गई॥ ८॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अन्या जालान्तरप्रेषितदृष्टिः सती प्रस्थानभिन्नां नीवीं न बबन्ध किन्तु नाभिप्रविष्टाभरणेन हस्तेन वासः अवलम्ब्य तस्थौ।

जालेति। अन्या स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिर्गवाक्षमार्गप्रेरितदृष्टिः सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वसनग्रन्थिम् 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः। न बबन्ध किन्तु नाभिप्रविष्टा आभरणानां कङ्कणादीनां प्रभा यस्य तेन प्रभैव नाभेराभरणमभूदिति भावः। हस्तेन वासोऽवलम्ब्य गृहीत्वा तस्थौ।

भावार्थ—इसके अतिरिक्त कोई अन्य स्त्री झरोखे की ओर देखती हुई जल्दी से चल रही थी कि उसकी फुफती खुल गई। उसे बिना बांधे ही हाथ से पकड़ कर खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गई। हाथ के आभूषणों की चमक उसकी नाभी तक पहुँच रही थी ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥

अन्वयः—सत्वरम् उत्थितायाः कस्याश्चित् अर्धाञ्चिता, दुर्निमिते पदे पदे गलन्ती रशना तदानीम् अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा आसीत्।

अर्धेति। सत्वरमुत्थितायाः कस्याश्चिदर्धाञ्चिता मणिभिरर्धगुम्फिता दुर्निमिते सम्भ्रमाद्दुरुत्क्षिप्ते। 'डुमिञ्प्रक्षेपणे' इति धातोः कर्मणि क्तः। पदे पदे प्रतिपदम्। वीप्सायां द्विर्भावः। गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीं गमनसमयेऽङ्गुष्ठमूलेऽर्पित सूत्रमेव शेषो यस्या साऽऽसीत्।

भावार्थ—एक स्त्री बैठी हुई मणियों से करधनी गूँथ रही थी जिसका एक छोर उसने पैर के अँगूठे में बांध रखा था। वह अभी आधी ही गूँथ पाई थी कि एका-एक उठकर अज को देखने के लिए झरोखे की ओर दौड़ पड़ी। उसका परिणाम यह हुआ कि झरोखे तक पहुँचते-पहुँचते मणि तो निकल कर इधर-उधर बिखर गये किन्तु केवल उसके अँगूठे में सूत बँधा रह गया ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥

अन्वयः—सान्द्रकुतूहलानां तासां आसवगन्धगर्भैः विलोलनेत्रभ्रमरैः मुखैः व्याप्तान्तराः गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इव आसन्।

तासामिति। तदानीं मान्द्रकुतूहलानां तासां स्त्रीणामासवगन्धो गर्भे येषां तैः विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषां तैः मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इव कमलाङ्कृत इव। 'सहस्रपत्र कमलम्' इत्यमरः। आसन्।

भावार्थ—मदिरा की सुगन्ध से वासित मुखवाली, झरोखों में उत्सुकता से झाँकती हुई वे स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानो झरोखों में बहुत से कमल सजे हुए हों और उन पर अनेक भौंरे बैठे हुए हों। अर्थात् उन स्त्रियों सुन्दर मुखों पर उनकी आँखें ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कमल पर भौंरे बैठे हों।

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥

अन्वयः—ताः नार्यः राघवं दृष्टिभिः आपिबन्त्यः 'सत्यः' विषयान्तराणि न जग्मुः, तथा हि आसां शेषेन्द्रियवृत्तिः सर्वात्मना चक्षुः प्रविष्टा इव (बभूव)।

ता इति ता नार्यो रघोरपत्यं राघवमजम्। "तस्यापत्यम्" इत्यण्प्रत्ययः। दृष्टिभिरापिबन्त्योऽपि तृष्णाया पश्यन्त्यो विषयान्तराण्यान्विषयान्न जग्मुः न विविदुरित्यर्थः। तथाहि आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिश्चक्षुर्व्यतिरिक्तश्रोत्रादिन्द्रियव्यापारः सर्वात्मना स्वरूपकात्स्न्येन चक्षुः प्रविष्टेव श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु अन्यथा स्वस्वविषयाधिगमः किं न स्यादिति भावः।

भावार्थ—वे स्त्रियाँ एक टक होकर अज को अपने नेत्रों से इस प्रकार देख रही थी कि मानों उनका ध्यान किसी दूसरे काम की ओर गया ही नहीं था, क्योंकि इन स्त्रियों के दूसरी इन्द्रियों का व्यापार नेत्रों में ही प्रविष्ट हो गया है।

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या।
पद्मेव नारायणमन्यथाऽसौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—भोज्या परोक्षैः भूपतिभिः वृता (अपि) स्वयम्वरम् एव साधुम् अमंस्त (इति) स्थाने अन्यथा असौ पद्मा नारायणम् इव आत्मतुल्यं कान्तं कथं लभेत।

स्थान इति। भोज्येन्दुमती परोक्षैरदृष्टैर्भूपतिभिः वृता ममैवेयमिति प्रार्थितापि स्वयंवरमेव साधु हितममंस्त मेने न तु परोक्षमेव कञ्चित्प्रार्थकं वव्रे स्थाने युक्तमेतत्। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। कुतः अन्यथा स्वयंवराभावेऽसाविन्दुमती पद्मा लक्ष्मीः। "अर्शआदिभ्योऽच्" इत्यच्प्रत्ययः नारायणमिव आत्मतुल्यं स्वानुरूपं कान्तं पतिं कथं लभेत न लभेतैव तदसद्विवेकाभावादिति भावः।

भावार्थ—स्त्रियाँ आपस में बातें कर रही थी कि बहुत से राजाओं ने अपने

आप इन्दुमती से विवाह करने की प्रार्थना की थी पर इसने स्वयम्बर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा। अन्यथा इन्दुमती विष्णु को लक्ष्मी के समान अपने अनुरूप पति अज को कैसे पा सकती ? ॥ १३ ॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥

अन्वयः—(प्रजापतिः) स्पृहणीयशोभम् इदं द्वन्द्वं चेत् परस्परेण न अयोजयिष्यत् (तर्हि) अस्मिन् द्वये प्रजानां पत्युः रूपविधानयत्नः वितथः अभविष्यत् ।

परस्परेणेति । स्पृहणीयशोभं सर्वाशास्यसौन्दर्यमिदं मिथुनम् । "द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु" इत्यनेन निपातः । परस्परेण नायोजयिष्यच्चेन्न योजयेद्यदि तर्हि प्रजानां पत्युर्विधातुरस्मिन्द्वये द्वन्द्वे रूपविधानयत्नः सौन्दर्यनिर्माणप्रयासो वितथो विफलोऽभविष्यत् । एतादृशानुरूपस्त्रीपुंसान्तराभावादिति भावः । "लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ" लृङ् । 'कुतश्चित्कारणवैगुण्यात्क्रियाया अनभिनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः' इति वृत्तिकारः ।

भावार्थ—यदि ब्रह्मा अत्यन्त सुन्दर इन दोनों की जोड़ी न मिलाते तो इन दोनों को इतना सुन्दर बनाने का उनका प्रयास व्यर्थ ही हो जाता ॥ १४ ॥

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—इमौ नूनं रतिस्मरौ अभूताम् तथाहि इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु आत्मप्रतिरूपम् एव गता हि मनः जन्मान्तरसंगतिज्ञम् (भवति) ।

रतीति । रतिस्मरौ नित्यसहचरावित्यभिप्रायः । नूनं तावेवेयं चेमौ दम्पती अभूताम् एतद्रूपेणोत्पन्नौ । कुतः तथाहि इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु राजसहस्रमध्ये सत्यपि व्यत्यासकारण इति भावः । आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव । 'तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः' इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं जातमत आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसंगतिज्ञं भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनः प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम् । जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्तकमिति भावः ।

भावार्थ—ये दोनों पूर्व जन्म में रति और कामदेव ही रहे होंगे । इसीलिए तो हजारों राजाओं के बीच में इन्दुमती ने अज को ही वरण किया है, यह बात ठीक ही है कि मन पूर्व जन्म के सम्बन्ध को भलीभांति पहचान लेता है ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

अन्वय—इति पौरवधूमुखेभ्यः उद्गताः श्रोत्रसुखाः कथाः शृण्वन् (सन्) कुमारः मंगलसंविधाभिः उद्भासित सम्बंधिनः सद्म समाससाद।

इतीति। इति स्थाने वृत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्गता उत्पन्नाः श्रोत्रयोः सुखा मधुराः सुखशब्दो विशेष्यनिघ्नः। 'पाप पुण्य सुखादि च' इत्यमरः। कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मङ्गलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासितं शोभितं सबन्धिनः कन्यादायिनः सद्म गृहं समाससाद प्राप।

भावार्थ—नगर की महिलाओं के मुखसे इस प्रकार की कर्णसुखद प्रिय बातें सुनते हुए कुमार अज अपने सम्बन्धी महाराज भोज के उस राजभवन में पहुँच गये जो मंगलमय सामग्रियों की सजावट से जगमगा रहा था॥ १६॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः॥ १७॥

अन्वयः—तत. सः कामरूपेश्वरदत्तहस्तः (सन्) करेणुकायाः आशु अवतीर्य अथो वैदर्भनिर्दिष्टम् अन्तः चतुष्क नारीमनांसि इव विवेश।

तत इति। ततोऽनन्तरं करेणुकाया हस्तिन्याः सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽजः अथोऽनन्तरं वैदर्भेण निर्दिष्टं प्रदर्शितमन्तश्चतुष्कं चत्वरं नारीणां मनांसीव विवेश।

भावार्थ—इसके बाद वे अज कामरूप (कामाक्षा) के राजा के हाथ का सहार लेकर हाथी से शीघ्र उतर गये। बाद विदर्भ भोज से दिखाए गये मण्डप में इस प्रकार प्रवेश किये मानो वे स्त्रियों के मन में प्रवेश करते हों॥ १७॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः॥ १८॥

अन्वयः—महार्हसिंहासनसंस्थितः असौ भोजोपनीतं सरत्नं मधुपर्कमिश्रं अर्घ्यं दुकूलयुग्मं, च वनिताकटाक्षैः सार्द्धं जग्राह।

महार्हेति। महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावजः भोजेनोपनीतं रत्नैः सहितं सरत्नं मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्यं दुकूलयोः क्षौमयोर्युग्मं च वनिताकटाक्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्धं जग्राह गृहीतवान्।

भावार्थ—अज वहाँ जाकर बहुमूल्य सिंहासन पर बैठ गये और भोज ने उन्हें रत्नों के सहित मधुपर्क युक्त अर्घ्य और दो रेशमी वस्त्र दिये, जिसे अज ने वहाँ की स्त्रियों के कटाक्ष के साथ २ ग्रहण किया॥ १८॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ १९ ॥

अन्वयः—दुकूलवासाः सः विनीतैः अवरोधरक्षैः वधूसमीपं स्फुटफेनराजिः उदन्वान् नवैः चन्द्रपादैः वेलासकाशम् इव निन्ये ।

दुकूलेति । दुकूलवासः सोऽजः विनीतैर्नम्रैरवरोधरक्षैरन्तःपुराधिकृतैर्वधूसमीपं निन्ये । तत्र दृष्टान्तः—स्फुटफेनराजिरुदन्वान्समुद्रो नवैर्नूतनैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैर्वेलायाः सकाशं समीपमिव पूर्णदृष्टान्तोऽयम् ।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा की नवीन किरणें स्पष्टफेनसमूहवाले समुद्र को तीर के पास ले जाती हैं उसी प्रकार अन्तःपुर के रक्षक रेशमी वस्त्र पहने हुए उस अज को इन्दुमती के पास ले गये ॥ १९ ॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयाञ्चकार ॥ २० ॥

अन्वयः—तत्र अर्चितः अग्निकल्पः भोजपतेः पुरोधाः आज्यादिभिः अग्नि हुत्वा तम् एव विवाहसाक्ष्ये आधाय च वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार ।

तत्रेति । तत्र सद्मन्यर्चितः पूजितोऽग्नितुल्यो भोजपतेर्भोजदेशाधीश्वरस्य पुरोधाः पुरोहितः 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । आज्यादिभिर्द्रव्यैरग्नि हुत्वा तमेव चाग्नि विवाहसाक्ष्ये आधाय च कृत्वेत्यर्थः । वधूवरौ संगमायाञ्चकार योनयामास ।

भावार्थ—वहाँ पर सत्कृत और अग्नि के समान तेजस्वी राजा भोज के पुरोहित ने घी आदि सामग्रियों से अग्नि में हवन करके और उसी अग्नि को विवाह में साक्षी बनाकर अज और इन्दुमती का विवाह सम्बन्ध करा दिया ।

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥

अन्वयः—सः राजसूनुः हस्तेन वध्वाः हस्तं परिगृह्य अनन्तराशोकलताप्रवालं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूतः इव सुतरां चकासे ।

हस्तेनेति । स राजसूनुर्हस्तेन स्वकीयेन वध्वा हस्तं परिगृह्य अनन्तरायाः सन्निहितायाः अशोकलतायाः प्रवालं पल्लवं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूत आम्र इव सुतरां चकासे ।

भावार्थ—जिस प्रकार आम्रवृक्ष अपनी पत्तियों के साथ अशोकलता की लाल पत्तियों के मिल जाने से मनोहर लगने लगता है उसी प्रकार कुमार अज भी इन्दुमती के हाथ को अपने हाथ में ले लेने पर अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ २१ ॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥ २२ ॥

अन्वयः—वरः कण्टकितप्रकोष्ठः आसीत् कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते तत्क्षणं मनोभवेन तस्मिन् द्वये आत्मवृत्तिः समं विभक्ता इव ।

आसीदिति । वरः कण्टकितः पुलकितः प्रकोष्ठो यस्य स आसीत् । 'सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यमरः । कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते बभूव । अत्रोत्प्रेक्षते तस्मिन्द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्तिः सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिर्मनोभवेन कामेन समं विभक्तेव पृथक्कृतेव प्राविभक्तस्याप्यनुरागसाम्यस्य संप्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणिस्पर्शसंकृतत्वमुत्प्रेक्ष्यते । अत्र वात्स्यायनः—"कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलिः स्विन्नमुखी च भवति पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति एभिरनयोर्भावं ईक्षेत" इति । स्त्रीपुरुषयोः स्वेदरोमाञ्चाभिधानं सात्त्विकमात्रोपलक्षणम् न तु प्रतिनियमो विवक्षित एभिरिति बहुवचनसामर्थ्यात् । एवं सति कुमारसंभवे—"रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्" इति व्युत्क्रमवचनं न दोषायेति 'वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य' इत्यपरार्धस्य पाठान्तरे व्याख्यानान्तरम् पाणिसमागमेन पाण्योः संस्पर्शेन कर्त्रा तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्तिः स्थितिः समं विभक्तेव समीकृतेवेत्यर्थः ।

भावार्थ—इन्दुमती के हाथ को अपने हाथ में ले लेने पर अज के हाथ में रोमाञ्च हो गया और इन्दुमती की अङ्गुलियों मे पसीना आने लगा । उस समय ऐसा मालूम हुआ मानों कामदेव ने अपने सात्विक वृत्ति को उन दोनों में बराबर-बराबर बाँट दिया है । इसलिए दोनों में समान भाव से सात्विक भाव का उदय हुआ ॥ २२ ॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

अन्वय—अपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि अन्योन्यलोलानि तयोः विलोचनानि मनोज्ञां ह्रीयन्त्रणाम् आनशिरे ।

तयोरिति । अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्तितानि क्रिययोर्निरीक्षणलक्षणयोः समापत्त्या यदृच्छासंगत्या निवर्तितानि प्रत्याकृष्टान्यन्योऽन्यस्मिल्लोलानि 'लोलश्चलतृष्णयोः' इत्यमरः । तयोर्दम्पत्योर्विलोचनानि दृष्टयो मनोज्ञां रम्यां ह्रिया निमित्तेन यन्त्रणां संकोचमानशिरे प्रापुः ।

भावार्थ—वे दोनों एक दूसरे को कनखियों से देखते थे और आंखें चार होते ही लज्जा से अपनी-अपनी आंखों को संकुचित कर लेते थे इस प्रकार दोनों का यह लज्जा भरा संकोच देखने वालों को बड़ा ही सुन्दर लगता था।

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—तत् मिथुनम् उदर्चिषः कृशानोः प्रदक्षिणप्रक्रमणात् मेरोः उपान्तेषु वर्तमानम् अन्योन्यसंसक्तम् अहस्त्रियामम् इव चकासे।

प्रदक्षिणेति। तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्नेः प्रदक्षिणप्रक्रमणात्प्रदक्षिणीकरणात् मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्तमानमावर्तमानं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थः। अन्योन्यसंसक्तं परस्परसंगतं मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम्। अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियामं रात्रिंदिवमिव समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः। चकासे दिदीपे।

भावार्थ—जिस समय अज और इन्दुमती दोनों हवन से प्रदीप्त अग्नि की प्रदक्षिणा कर रहे थे। उस समय मालूम पड़ता था कि मानो दिन और रात एक साथ मिलकर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा कर रहे हैं॥ २४॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ २५ ॥

अन्वयः—नितम्बगुर्वी मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती सा वधूः विधातृप्रतिमेन तेन गुरुणा प्रयुक्ता (सती) अग्नौ लाजविसर्गं चकार।

नितम्बेति। नितम्बेन गुर्व्यलघ्वी। 'दुर्धरालघुनोर्गुर्वी' इति शाश्वतः। विधातृप्रतिमेन ब्रह्मतुल्येन तेन गुरुणा याजकेन प्रयुक्ता जुहुधीति नियुक्ता मत्तचकोरस्येव नेत्रे यस्याः सा वधूरग्नौ लाजविसर्गं चकार।

भावार्थ—विशाल नितम्बवाली मदोन्मत्त चकोर के समान चञ्चल नेत्रवाली सलज्ज इन्दुमती ने ब्रह्मा के समान विद्वान् उस पुरोहित के कहने पर अग्नि में लावा का हवन किया॥ २५॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

अन्वयः—हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः धूमः कृशानोः उदियाय कपोलसंसर्पिशिखः (सन्) सः तस्याः मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे।

हविरिति। हविष आज्यादेः शमीपल्लवानां लाजानां च गन्धोऽस्यास्तीति

हवि. शमीपल्लवलाजगन्धी (शमीपल्लवमिश्रांल्लाजानञ्जलिना वपति) इति कात्यायनः । पुण्यो धूमः कृशानोः पावकादुदियायोद्भूतः । कपोलयोः संसर्पिणी प्रसरणशीला शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्या वध्वा मुहूर्तं कर्णोत्पलतां प्रपेदे ।

भावार्थ—घी शमीपल्लव और लावों के गन्धवाला पवित्र धूआँ अग्नि से निकलकर जब इन्दुमती के कपोल तक पहुँचा तब ऐसा मालूम पड़ा मानो इन्दुमती ने नीले कमल का कर्णफूल पहना हो ॥ २६ ॥

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ २७ ॥

अन्वयः—तत् वधूमुखम् आचारधूमग्रहणात् अञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लान-बीजाङ्कुरकर्णपूरं पाटलगण्डलेखं बभूव ।

तदिति । तद्वधूमुखमाचारेण प्राप्ताद्धूमग्रहणात् अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः अञ्जनमिश्रबाष्पोदकमित्यर्थः । तेन समाकुलाक्षम् । प्रम्लानो बीजाङ्कुरो यवाङ्कुर एव कर्णपूरोऽवतंसो यस्य तत्पाटलगण्डलेखमरुणगण्डस्थलं च बभूव ।

भावार्थ—उस वैवाहिक अग्नि का धूआँ लगने से इन्दुमती की आँखों से आञ्जन मिला हुआ आँसू बहने लगा, कानों के कर्णभूषण कुम्हला गये, और गाल लाल हो गये ॥ २७ ॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैः बन्धुमता राज्ञा च पुरन्ध्रिभिः च क्रमशः प्रयुक्तम् आर्द्राक्षतारोपणं अन्वभूताम् ।

ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थविशेषैः कृतसमावर्तनैरित्यर्थः । 'स्नातकस्त्वाप्लुतो व्रती' इत्यमरः । बन्धुपुरःसरेणेत्यर्थः । राज्ञा च पुरन्ध्रिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्यात्क्रमेण कृतमार्द्राक्षतानामारोपणमनुभूतवन्तौ ।

भावार्थ—सुवर्ण के सिंहासन पर बैठे हुए उन इन्दुमती और अज दोनों के ऊपर स्नातक एवं बन्धुओं के साथ राजा भोज और पति पुत्रवती सौभाग्यवती स्त्रियों ने बारी-बारी से गीले अक्षत छोड़कर उन्हें आशीर्वाद दिया ॥ २८ ॥

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अधिश्रीः भोजकुलप्रदीपः सः राजा इति स्वसुः पाणिग्रहणं सम्पाद्य, महीपतीनां पृथक् अर्हणार्थं अधिकृतान् समादिदेश।

इतीति। अधिश्रीः अधिगता प्राप्ता श्रीः संपत्तिः येन सः अधिकसंपन्नो भोजकुलप्रदीपः स राजा इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं संपाद्य कारयित्वा महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशोऽर्हणार्थं पूजार्थमधिकृतानधिकारिणः समादिदेशाज्ञापयामास।

भावार्थ—इस प्रकार सम्पत्तिशाली भोज वंश के दीपक राजा ने अपनी बहन इन्दुमती का विवाह संस्कार समाप्त करके दूसरे राजाओं को पृथक्-पृथक् आदर सत्कार करने के लिए अपने अधिकारियों को आदेश दिया॥ २९॥

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन॥ ३०॥

अन्वयः—मुदः लिङ्गैः संवृतक्रियाः ते गूढनक्राः प्रसन्नाः ह्रदाः इव आमन्त्र्य तदीयां पूजां उपदाछलेन प्रत्यर्प्य ययुः।

लिङ्गैरिति। मुदः संतोषस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रिया निगूहितमत्सराः अत एव प्रसन्नाबहिर्निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा ह्रदा इव स्थितास्ते नृपा वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां वैदर्भीयां पूजामुपदाच्छलेनोपायनभिषेण प्रत्यर्प्य ययुर्गतवन्तः।

भावार्थ—जिस प्रकार भयंकर जल जन्तुवों से युक्त होते हुए भी गंभीर सरोवर ऊपर से स्वच्छ जलवाले मालूम पड़ते है उसी तरह अन्दर द्वेष रखने वाले राजालोग अपने हृद्गत द्वेष हँसी आदि के कपट को छिपाकर बाहरी प्रसन्नता व्यक्त करते थे। वे सभी विदर्भ राज से आज्ञा लेकर और उनकी दी हुई सामग्री को भेंट के व्याज से पुनः उन्हें लौटाकर विदा हुए॥ ३०॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ॥ ३१॥

अन्वयः—आरम्भसिद्धौ कृतपूर्वसंवित् सः राजलोकः समयोपलभ्यं तत् प्रमदामिषं आदास्यमानः (सन्) अजस्य पन्थानं आवृत्य तस्थौ।

स इति। आरम्भसिद्धौ कार्यसिद्धौ विषये पूर्वं कृता कृतपूर्वा। सुप्सुपेति समासः कृतपूर्वा संवित्संकेतो मार्गावरोधरूप उपायो स तथोक्तः। 'संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां संकेताचारनामसु' इति केशवः। स राजलोकः समयोपलभ्यमजप्रस्थानकाले लभ्यम् तदा,तस्यैकाकित्वादिति भावः। 'समरोपलभ्यम्' इतिपाठे युद्धसाध्यमित्यर्थः

तत्प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशव.। आदास्यमानो ग्रहीष्यमाणः सन्नजस्य पन्थानमावृत्यावरुध्य तस्थौ।

भावार्थ—उन राजाओं ने मिलकर पहले ही निश्चय कर लिया था कि जब अज इन्दुमती को लेकर चलें तब उन्हें घेर लिया जाय और उनसे इन्दुमती को छीन लिया जाय, इसलिए वे अज का मार्ग रोककर बीच में ही रुक गये थे ॥ ३१ ॥

भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अनुष्ठितानन्तरजाविवाहः क्रथकैशिकानां भर्ता अपि तावत् सत्त्वानुरूपाऽऽहरणीकृतश्रीः (सन्) राघवं प्रस्थापयत् (स्वयम्) अन्वगात् च ।

भर्तेति । अनुष्ठितः संपादितोऽनन्तरजाया अनुजाया विवाहो येन स तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्ता स्वामी भोजोऽपि तावत्तदा सत्त्वानुरूपमुत्साहानुरूपं यथा तथा आ समन्तात् अनेनानियतवस्तुदानमित्यर्थः । हरणं कन्यायै देयं धनम् । तदेवाह कात्यायन.—'ऊढया कन्यया वापि पत्यु पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धसौदायिकं स्मृतम् ।' 'यौतुकादि तु तद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः । आहरणीकृता श्रीर्येन तथोक्तः सन्राघवमजं प्रस्थापयत्प्रस्थापितवान्स्वयमन्वगादनुजगाम च ।

भावार्थ—अपनी छोटी बहन इन्दुमती का विवाह कर देने के बाद विदर्भ नरेश भोज ने अपनी सम्पत्ति के अनुसार दहेज देकर अज को विदा किया और वे स्वयं पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे चले ॥ ३२ ॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कुण्डिनेशः मार्गे त्रिलोकप्रथितेन अजेन सार्द्धं तिस्रः वसतीः उषित्वा पर्वात्यये उष्णरश्मेः सोम. इव तस्मात् अपावर्तत ।

तिस्र इति । कुण्डिनं विदर्भनगरं तस्येशो भोजस्त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्धं मार्गे पथि तिस्रो वसती रात्रीरुषित्वा स्थित्वा 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः । "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया । पर्वात्यये दर्शान्त उष्णरश्मेः सूर्यात्सोमश्चन्द्र इव तस्मादजादपावर्तत । तं विसृज्य निवृत्त इत्यर्थः ।

भावार्थ—(यह ज्योतिष शास्त्र का सिद्धान्त है कि सूर्य और चन्द्रमा अमावास्या के दिन एक साथ रहते हैं और बाद चन्द्रमा सूर्य से अलग हो जाते हैं)

जिस प्रकार अमावस्या के अन्त में सूर्य के पास से चन्द्रमा लौट जाते हैं उसी प्रकार तीनों लोक में प्रसिद्ध अज के साथ मार्ग में तीन रात बिताकर विदर्भ नरेश भोज लौट गये ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

अन्वयः—नृपाः प्राक् अपि आत्तस्वतया कोसलेन्द्रे प्रमन्यवः बभूवुः, अतः समेताः (सन्तः) तदात्मजस्य स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे ।

प्रमन्यव इति । नृपा राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीतधनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः स्वयंवरार्थं समेताः सङ्गताः सन्तस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ।

भावार्थ—रघु ने अपने दिग्विजय के समय सभी राजाओं का धन छीन लिया था इसलिए वे सब उनके पहले से ही विरोधी हो चुके थे । इस कारण स्वयंवर में एकत्र सम्मिलित हुए वे सभी राजे इस समय रघु के पुत्र अज का स्त्रीरत्नलाभ सहन नहीं कर सके ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—दृप्तः सः राजन्यगणः भोजकन्याम् उद्वहन्तं तं बलिप्रदिष्टां श्रियम् आददानं त्रैविक्रमं पादम् इन्द्रशत्रुः इव पथि रुरोध ।

तमिति । दृप्त उद्धतः स राजन्यगणो राजसङ्घातः भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजं बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणं त्रिविक्रमस्येमं त्रैविक्रमं पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव पथि रुरोध । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे— (विरोचनविरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध ह ।) इति ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बलि द्वारा दी गई लक्ष्मी को ग्रहण करते समय इन्द्रशत्रु प्रह्लाद ने वामन के चरण को बीच में ही रोक लिया था उसी प्रकार इन्दुमती को ले जाते हुए अज को उस उद्धत राजसमूह ने रास्ते में रोक लिया ।

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सः कुमारः तस्याः रक्षार्थम् अनल्पयोधं पित्र्यं सचिवम् आदिश्य उत्तरङ्गः शोणः भागीरथीम् इव, तां पार्थिववाहिनीम् प्रत्यग्रहीत् ।

तस्या इति । स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभटं पितुरागतः पित्र्यम् आप्तमित्यर्थं । सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम् । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमर । भागीरथीमुत्तरङ्गः शोणः शोणाख्यो नद इव प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ।

भावार्थ—वह अज इन्दुमती की रक्षा के लिए बहुत से योद्धाओं के साथ पिता के समय से ही वर्तमान विश्वासपात्र मन्त्री को नियुक्त कर स्वयं उस सेना को रोककर उसी प्रकार खड़े हो गये, जिस प्रकार बाढ़ के समय विशाल तरङ्गों वाला सोनभद्र गंगाजी की धारा को रोक देता है ॥ ३६ ॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पत्तिः पदातिं रथेशः रथिनं तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढं गजस्य यन्ता गजस्थम् अभ्यपतत् इत्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि युद्धम् बभूव ।

पत्तिरिति । पत्तिः पादचारी योद्धा पदातिं पादचारमभ्यपतत् पदा पादाभ्यामततीति पदातिः । "पादस्य पदज्यातिगोपहतेषु" इत्यनेन पदादेशः । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः' इत्यमरः । रथेशो रथिको रथिनं रथारोहमभ्यपतत् तुरङ्गसाद्यश्वारोहस्तुरङ्गाधिरूढमश्वारोहमभ्यपतत् । 'रथिनःस्यन्दनारोहा अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः । गजस्य यन्ता हस्त्यारोहो गजस्थं पुरुषमभ्यपतत् । इत्यनेन प्रकारेण तुल्यप्रतिद्वन्द्वमेकजातीयप्रतिभटं युद्धं बभूव । अन्योन्यं द्वन्द्वं कलहोऽस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनो योधाः 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः ।

भावार्थ—दोनों दलों में युद्ध शुरू हो गया पैदल पैदलों से भिड़ गये, रथ वाले रथ वालों से जूझ गये, घुड़सवार घुड़सवारों से उलझ पड़े, हाथी सवार हाथी सवारों पर टूट पड़े, इस प्रकार दोनों दलों में बराबर जोर का युद्ध होने लग गया ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तूर्येषु नदत्सु सत्सु अविभाव्यवाचः चापभृतः कुलोपदेशान् न, उदीरयन्ति स्म, परस्परस्य ऊर्जितम् नाम बाणाक्षरैः एव शशंसुः ।

नदत्स्विति । तूर्येषु नदत्सु नदत्स्वविभाव्यवाचोऽनवधार्यगिरश्चापभृतो धानुष्काः कुलमुपदिश्यते प्रख्याप्यते यैस्ते कुलोपदेशास्तान्कुलनामानि नोदीरयन्ति स्म नोच्चा-

रयामासुः । श्रोतुमशक्यत्वाद्वाचो नाब्रुवन्नित्यर्थः । किंतु बाणाक्षरैर्बाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्यान्योन्यस्योर्जितं प्रख्यातं नाम शशंसुरूचुः ।

भावार्थ—वहाँ इतना जोर से रणदुन्दुभि बज रही थी कि स्पष्ट कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता था इसलिए धनुर्धारी योद्धा अपना कुल और नाम भी नहीं पुकारते थे किन्तु वे जो बाण चला रहे थे उन पर खुदे हुए अक्षरों से ही उनके नामों का ज्ञान हो जाता था ॥ ३८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यंदनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—संयति अश्वैः उत्थापितः स्यन्दनवंशचक्रैः सान्द्रीकृतः कुञ्जरकर्णतालैः विस्तारितः रेणुः नेत्रक्रमेण सूर्यम् उपरुरोध ।

उत्थापित इति । संयति संग्रामेऽश्वैस्तुरगैरुत्थापितः । स्यन्दनवंशानां रथसमूहानां चक्रै रथाङ्गैः 'चक्रं सैन्ये जलावर्ते रथावयवराष्ट्रयोः । संसारे मण्डले वृन्ते धर्मभेदास्त्रभेदयोः ॥' इति वैजयन्ती सान्द्रीकृतो घनीकृतः 'वंशः पृष्ठास्थ्नि गोहोर्ध्वकाष्ठे वेणौ गणे कुले' इति केशवः । कुञ्जरकर्णानां तालैस्ताडनैर्विस्तारितः प्रसारितो रेणुर्नेत्रक्रमेणांशुकपरिपाट्यां अंशुकमित्यर्थः । 'स्याज्जडांशुकयोर्नेत्रम्' इति । 'क्रमोऽङ्घ्रौ परिपाट्यां च' इति च केशवः । सूर्यमुपरुरोधाच्छादयामास ।

भावार्थ—युद्धस्थल में घोड़ों की टापों से उठी हुई धूलि रथ के पहिए से उठी हुई धूली के साथ मिलकर दुगुनी हो गई और हाथियों के कानों को हिलाने से वह धूली चारों तरफ इस प्रकार फैल गई मानों सूर्य को कपड़े से ढक दिया गया हो ॥ ३९ ॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

अन्वयः—वायुवशात् विदीर्णैः मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि पिबन्तः मत्स्यध्वजाः पर्याविलानि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्याः इव बभुः ।

मत्स्येति । वायुवशाद्विदीर्णैर्विवृतैर्मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनीरजांसि सैन्यरेणून्पिबन्तो गृह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजाः पर्याविलानि परितः कलुषाणि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्या सत्यमत्स्या इव बभुर्भान्ति स्म ।

भावार्थ—मछली के आकार वाली सेना की झण्डियों के मुँह खुल गये थे वायु के कारण जब उनमें सेना की धूल उड़कर पड़ती थी तब वे ऐसी मालूम

पड़ती थी कि मानों वर्षा का गंदला पानी पीती हुई सच्ची मछलियाँ हैं ॥ ४०॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सैनिकैः सान्द्रे रजसि रथाङ्गध्वनिना रथः विजज्ञे नागः विलोल घण्टाक्वणितेन विजज्ञे आत्मपरावबोध स्वभर्तृनामग्रहणात् बभूव ।

रथ इति । सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः। नागो हस्ती विलोलानां घण्टानां क्वणितेन नादेन विजज्ञे । आत्मपरावबोधः स्वपरविवेकः योधानामिति शेषः । स्वभर्तृणां स्वस्वामिनां नामग्रहणान्नामोच्चारणाद्बभूव । रजोन्धतया सर्वे स्वं परं च शब्दादेवानुमाय प्रजह्नुरित्यर्थः ।

भावार्थ—उस युद्ध में धूली इतनी छा गई कि पहियों के शब्द को सुनकर ही मालूम पड़ता था कि रथ आ रहा है, बजती हुई घंटाओं की ध्वनि से हाथी मालूम पड़ते थे और अपने तथा पराये का ज्ञान तब होता था जब दोनों दलों के सैनिक अपने २ राजाओं का नाम ले लेकर युद्ध करते थे ॥ ४१ ॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—लोचनमार्गम् आवृण्वतः आजौ विजृम्भितस्य रजोऽन्धकारस्य शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा रुधिरप्रवाहः बालारुणः अभूत् ।

आवृण्वत इति । लोचनमार्गमावृण्वतो दृष्टिपथमुपरुन्धतः आजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य रज एवान्धकारं तस्य शस्त्रक्षतेभ्योऽश्वद्विपवीरेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तो रुधिरप्रवाहो बालारुणो बालार्कोऽभूत् । 'अरुणो भास्करेऽपि स्यात्' इत्यमरः । बालविशेषणं रुधिरसावर्ण्यम् ।

भावार्थ—नेत्रपथ को आच्छादित करने वाला, और युद्धस्थल में व्याप्त, धूलिरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए शस्त्रों से कटे हुए घोड़े हाथी और योद्धाओं के शरीर से निकला हुआ रुधिर प्रवाह उत्पन्न प्रातःकाल के सूर्य के समान लाल मालूम पड़ता था ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥ ४३ ॥

अन्वयः—क्षतजेन च्छिन्नमूलः तस्य उपरिष्टात् पवनावधूतः सः रेणु अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितः धूमः इव आवभासे ।

स इति। क्षतजेन रुधिरेण छिन्नमूलः त्याजितभूतलसम्बन्ध इत्यर्थः। तस्य क्षतजस्योपरिष्टात्पवनावधूतो वाताहतः स रेणुः अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इव आबभासे दिदीपे।

भावार्थ—उस समय पृथ्वी पर इतना रुधिर बहा कि नीचे की धूल दब गई और ऊपर की धूल वायु के सहारे इधर-उधर फैल कर इस तरह लगती थी मानों अग्नि से ऊपर उठकर धूआं ऊपर फैल गया है नीचे केवल अंगार मात्र शेष अग्नि रह गया है॥ ४३॥

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
यः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः॥ ४४॥

अन्वयः—रथस्थाः प्रहारमूर्च्छाऽपगमे निवर्तिताश्वान् यन्तॄन् उपालभ्य यैः सादिताः लक्षितपूर्वकेतून् तान् एव सामर्षतया निजघ्नुः।

प्रहारेति। रथस्था रथिनः प्रहारेण या मूर्च्छा तस्या अपगमे इति मूर्च्छितानामन्यत्र नीत्वा संरक्षणं सारथिधर्म इति कृत्वा निवर्तिताश्वान्यन्तॄन्सारथीनुपालभ्यासाधु कृतमित्यधिक्षिप्य पूर्वं यैः स्वयं सादिता हता लक्षितपूर्वकेतून् पूर्वदृष्टैः केतुभिः प्रत्यभिज्ञातानित्यर्थः। तानेव सामर्षतया सकोपत्वेन हेतुना निजघ्नुः प्रजहुः।

भावार्थ—जो योद्धा अपने प्रतियोद्धा के प्रहार से मूर्च्छित हो गये थे उनको उनके सारथी लेकर युद्धस्थल से बाहर चले गये, पर जब उनकी मूर्च्छा छूटी तब वे अपने सारथी को भला बुरा कहने लगे और जिनसे घायल हुए थे उन्हें रथ की पताका से पहचान कर उनके ऊपर क्रोध से प्रहार करने लगे॥ ४४॥

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः।
सम्प्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम्॥ ४५॥

अन्वयः—हस्तवतां धनुर्भृतां पृषत्का अर्धमार्गे परबाणलूनाः अपि आत्मजवानुवृत्त्या फलिभिः पूर्वार्धभागैः शरव्यम् एव सम्प्रापुः।

अपीति। अर्धश्चासौ मार्गश्च अर्धमार्गस्तस्मिन्नर्धमार्गे परेषां बाणैर्लूनाश्छिन्ना अपि हस्तवतां कृतहस्तानां धनुर्भृतां पृषत्काः शरा आत्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः शृणातीति शरः तस्मै हितं शरव्यं लक्ष्यम्। "उगवादिभ्यो यत्" इति यत्प्रत्ययः। 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः। सम्प्रापुरेव। न तु मध्ये पतिता इत्यर्थः।

भावार्थ—सिद्धहस्त धनुर्धारियों से छोड़े गये बाण यद्यपि शत्रुओं के बाणों

से बीच में ही कट जाते थे फिर भी इतना वेग होता था कि उनका फल लगा हुआ अगला भाग लक्ष्य तक पहुँच ही जाता था ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—गजसन्निपाते निशितैः क्षुराग्रैः चक्रैः हृतानि अपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि आधोरणानां शिरांसि चिरेण पेतुः ।

आधोरणानामिति । गजसंनिपाते गजयुद्धे निशितैरत एव क्षुराग्रैः क्षुरस्याग्रमिवाग्रं येषां तैश्चक्रैरायुधविशेषैर्हृतानि छिन्नान्यपि श्येनानां पक्षिविशेषाणाम् । 'पक्षी श्येन' इत्यमरः । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ताः केशा येषां तानि आधोरणानां हस्त्यारोहाणाम् । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिन' इत्यमरः । शिरांसि चिरेण पेतुः पतितानि । शिरःपातात्प्रागेवादाय पश्चादुत्पतता पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिरपातहेतुरिति भावः ।

भावार्थ—हाथियों के युद्ध में तेज तथा क्षुरे के समान फलवाले चक्रों से कटे हुए महावतों के मस्तकों को लेकर बाज पक्षी ऊपर उड़ जाते थे । लम्बे लम्बे बाल बाजों के नखों में बंध जाते थे जिससे वे मस्तक कुछ देर में पृथ्वी पर गिरते थे ।। ४६ ॥

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥

अन्वयः—पूर्वं प्रहर्ता अश्वसादी प्रतिप्रहाराक्षमं तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहम् रिपुं भूयः न जघान किन्तु प्रत्याश्वसन्तम् आचकाङ्क्ष ।

पूर्वमिति । पूर्वं प्रथमं प्रहर्ताश्वसादी तौरङ्गिकः प्रतिप्रहारेऽक्षममशक्तं तुरङ्गमस्कन्धे निषण्णदेहम् मूर्छितमित्यर्थः । रिपुं भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार किन्तु प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष । 'नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादिति भावः ।

भावार्थ—एक घुड़सवार ने अपने शत्रु घुड़सवार पर प्रहार किया जिससे वह घोड़े के कंधे पर झूल गया उसे अपना सिर उठाने की भी शक्ति नहीं रही । पहले प्रहार करने वाले घुड़सवार ने मूर्छित होने के कारण अपने ऊपर अस्त्र चलाने में असमर्थ उस शत्रु पर फिर प्रहार नहीं किया किन्तु उसके जीने की ही इच्छा की । क्योंकि ऐसे शत्रुओं पर प्रहार करना निन्दित माना गया है ।

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥ ४८ ॥

अन्वयः—तनुत्यजां वर्मभृतां बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिः विकोशैः असिभिः उद्यन्तम् अग्निं विविग्नाः गजाः करशीकरेण शमयाम्बभूवुः ।

तनुत्यजामिति । तनुत्यजां तनुषु निस्पृहाणामित्यर्थः । वर्मभृतां कवचिनां सम्बन्धिभिर्बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिरत एव विकोशैः पिधानादुद्धृतैः । 'कोशोऽस्त्री कुड्मले भङ्गपिधाने' इत्यमरः । असिभिः खङ्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीता गजाः करशीकरेण शुण्डादण्डजलकणेन शमयाम्बभूवुः शान्तं चक्रुः ।

भावार्थ—अपने प्राणों की परवाह न करके लड़ने वाले कवचधारी योद्धाओं की नंगी तलवारों से हाथियों के बड़े २ दातों पर प्रहार करने पर उनसे चिनगारियां निकलने लगीं, उनसे डर कर व्याकुल हाथी अपने सूँड के पानी से उस आग को बुझाने लगे ।। ४८ ॥

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैः चषकोत्तरा इव शोणितमद्यकुल्या रणक्षितिः मृत्योः पानभूमिः इव रराज ।

शिलीमुखेति । शिलीमुखैर्बाणैरुत्कृत्तानि शिरांस्येव फलानि तैराढ्या सम्पन्ना च्युतैर्भ्रष्टैः शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शीर्षण्यानि । शीर्षण्यं च 'शिरस्त्रेऽथ' इत्यमरः । तैश्चषकोत्तरा 'चषकः' पानपात्रमुत्तरं यस्यां सेव । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । रणक्षितिर्युद्धभूमिर्मृत्योः पानभूमिरिव रराज ।

भावार्थ—वह युद्ध-स्थल मृत्यु के उस मदिरापान स्थल के समान मालूम पड़ रहा था जिसमें बाणों से कटे हुए सिर ही मानों फल हों, उलटे गिरे हुए मुकुट ही पान-पात्र हों, बहता हुआ रुधिर ही मानों मदिरा हो ॥ ४९ ॥

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥ ५० ॥

अन्वयः—विहङ्गैः उपान्तयोः निष्कुषितं भुजच्छेदं तेभ्यः आक्षिप्य पिशितप्रिया अपि शिवा केयूरकोटिक्षततालुदेशा सती अपाचकार ।

उपान्तयोरिति । उपान्तयोः प्रान्तयोर्विहङ्गैः पक्षिभिर्निष्कुषितं खण्डितम् । "इणिनष्टायाम्" इतीडागमः । भुजच्छेदं भुजखण्डं तेभ्यो विहङ्गेभ्य आक्षिप्याछिद्य पिशितप्रियादपि शिवा क्रोष्ट्री । 'शिवः कीलः शिवा क्रोष्ट्री' इति विश्वः । केयूर-

कोट्याऽङ्ग्राग्रेण क्षतताल्वदेशो यस्याः सा सती अपाचकारापसारयामास। किरतेः करोतेर्वा लिट्।

भावार्थ—पक्षियों से दोनों तरफ चोंच मारे गये हाथ के टुकड़े को उनसे छीन कर सियारिन ज्यों ही खाने लगी त्यों ही बाहु में बँधे हुए बिजायठ का नुकीला अग्र भाग उसके तालु में गड़ गया। जिससे मांसप्रिय होने पर भी वह उसे छोड़कर चली गई॥ ५०॥

> कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
> वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गना स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श॥ ५१॥

अन्वयः—द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः कश्चित् सद्य विमानप्रभुताम् उपेत्य वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनाः सन् समरे नृत्यत् स्व कबन्ध ददर्श।

कश्चिदिति। द्विषत. खड्गेन हृतोत्तमाङ्गश्छिन्नशिराः। 'उत्तमाङ्ग शिरः शीर्षम्' इत्यमरः। कश्चिद्वीर. सद्यो विमानप्रभुतां विमानाधिपत्यं देवत्वमित्यर्थः। उपेत्य प्राप्य वामाङ्गसंसक्ता सव्योत्सङ्गसङ्गिनी सुराङ्गना यस्य स तथोक्तः सन्। अग्निपुराणे "नाराप्सर. सहस्राणि शूरमायोधने हतम्। त्वरितान्युपधावन्ति मम भर्ता ममेति च।" इति समरे नृत्यत्स्वं निजं कबन्ध विशिरस्कं कलेवरं ददर्श। "कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः।

भावार्थ—शत्रु की तलवार से एक योद्धा का शिर कट गया। युद्ध में मृत्यु होने के कारण वह योद्धा तत्काल देवता हो गया और अपने बायें तरफ एक अप्सरा को लिए हुए विमान पर बैठकर युद्ध स्थल में नाचते हुए अपने धड़ को देखने लगा॥ ५१॥

> अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित्।
> व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ॥ ५२॥

अन्वयः—कौचित् अन्योन्यसूतोन्मथनात् तौ एव सूतौ रथिनौ च अभूताम् व्यश्वौ (सन्तौ) गदाव्यायतसम्प्रहारौ अभूताम् भग्नायुधौ (सन्तौ) बाहुविमर्दनिष्ठौ (अभूताम्)।

अन्योन्येति। कौचिद्वीरावन्योन्यस्य सूतयोः सारथ्योरुन्मथनान्निधनात्तावेव सूतौ रथिनौ योद्धारौ चाभूताम्। तावेव व्यश्वौ सन्तौ गदाभ्यां व्यायतौ दीर्घः संप्रहारो युद्ध ययोस्तावभूताम्। ततो भग्नायुधौ भग्नगदौ सन्तौ बाहुविमर्दे निष्ठा नाशो ययोस्तौ बाहुयुद्धासक्तावभूताम्। 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ता.' इत्यमरः।

भावार्थ—कोई दो योद्धा अपने २ सारथियों के मारे जाने पर स्वयं रथ को हाँकते हुए युद्ध करने लगे पर जब उनके घोड़े भी कट गये तब वे योद्धा गदा से युद्ध करने लगे, बाद गदा के भी टूट जाने पर मल्ल युद्ध करने लगे ॥ ५२ ॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—परस्परेण क्षतयोः समकालम् एव उत्क्रान्तवाय्वोः एकाप्सरःप्रार्थितयोः कयोश्चित् प्रहर्त्रोः अमर्त्यभावे अपि विवादः आसीत् ।

परस्परेणेति । परस्परेणान्योन्यं क्षतयोः क्षततन्वोः समकालमेककालं यथा तथोत्क्रान्तवाय्वोर्युगपदुद्गतप्राणयः एकैवाप्सराः प्रार्थिता याभ्यां तयोरेकाप्सरः प्रार्थितयोः प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः । "वाहिताग्न्यादिषु" इति परनिपातः । अथवा एकस्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इति बहुत्वाभिधानं प्रायिकम् । कयोश्चित्प्रहर्त्रोर्योधयोरमर्त्यभावेऽपि देवत्वेऽपि विवादः कलह आसीत् । एकामिषाभिलाषो हि महद्वैरबीजमिति भावः ।

भावार्थ—एक दूसरे के प्रहार से एक समय में ही मरे हुए दो योद्धा देवता होकर जब स्वर्ग में गये, तब वहाँ एक ही अप्सरा पर दोनों रीझ गये और वहाँ भी फिर आपस में झगड़ने लगे ॥ ५३ ॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥ ५४ ॥

अन्वयः—तौ उभौ व्यूहौ पश्चात्पुरोमारुतयोः पर्यायवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव इतरेतरस्मात् अव्यवस्थं जयं भङ्गं च आपतुः ।

व्यूहाविति । तावुभौ व्यूहौ सेनासंघातौ । 'व्यूहस्तु बलविन्यासः' इत्यमरः । पश्चात्पुरश्च यौ मारुतौ । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते । तयोः पर्यायवृत्त्या क्रमवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव इतरेतरस्मादव्यवस्थं व्यवस्थारहितमनियतं जयं भङ्गं पराजयं चापतुः प्राप्तवन्तौ ।

भावार्थ—जिस प्रकार वायु के वेग से समुद्र की तरंगें अव्यवस्थित रूप से आगे पीछे बढ़ती हटती रहती हैं उसी प्रकार वे दोनों सेनायें कभी हारती थी कभी जीतती थी ॥ ५४ ॥

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—महौजाः अजः परेण बले भग्ने अपि अरिसैन्यं प्रति एव ययौ। समीरणेन धूमः निवर्त्येत वह्निः तु यतः कक्षः भवति ततः एव प्रवर्तते।

परेणेति। बले स्वसैन्ये परेण परबलेन भग्नेऽपि महौजा महाबलोऽजोऽरिसैन्यं प्रत्येव ययौ। तथाहि समीरणेन वायुना धूमो निवर्त्येत कक्षादपसार्येत। शक्तैर्ण्यं-न्तात्कर्मणि संभावनायां लिङ्। वह्निस्तु यतो यत्र कक्षस्तृणम्। 'कक्षौ तु तृणवी-रुधौ' इत्यमरः। तत एव तत्रैव प्रवर्तत इति शेषः। सार्वविभक्तिकस्तसिः।

भावार्थ—जिस प्रकार हवा से धूआँ के इधर-उधर हो जाने पर भी आग घासफूस की तरफ ही जाती है उसी प्रकार शत्रुओं द्वारा अपनी सेना इधर-उधर हो जाने पर भी महापराक्रमी अज शत्रु की सेना में बढते ही चले गये ॥ ५५ ॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—रथी निषङ्गी धनुष्मान् दृप्तः एकवीरः सः महावराहः कल्पक्षयो-द्वृत्तम् अर्णवाम्भः इव राजन्यकं निवारयामास।

रथीति। रथी रथारूढो निषङ्गी तूणीरवान्। 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः। कवची वर्मधरो धनुष्मान्धनुर्धरो दृप्तो रणदृप्त एकवीरोऽ-सहायशूरः सोऽजो राजन्यकं राजसमूहम्। "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्स-मनुष्याजाद्वुञ्" इत्यनेन वुञ्प्रत्ययः। महावराहो वराहावतारो विष्णुः कल्पक्षये कल्पान्तकाले उद्वृत्तमुद्वेलमर्णवाम्भ इव निवारयामास।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रलय के समय वाराह रूपधारी भगवान् विष्णु समुद्र के बढ़े हुए जल को चीरते हुए आगे चलते गये उसी प्रकार रथ पर बैठे हुए कवच तथा तरकस भी धारण किये हुए वे अद्वितीय वीर अज अकेले ही शत्रुओं की सेना को चीरते चले जा रहे थे ॥ ५६ ॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—सः आजौ दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् सन् अलक्ष्यत योद्धुं अस्य सकृत् आकर्णकृष्टा मौर्वी रिपुघ्नान् बाणान् सुषुवे इव।

स इति। सोऽजः आजौ संग्रामे दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन निषङ्गविवरेण वाममतिसुन्दरम्। 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः। व्यापारयन्नलक्ष्यत। शरसंधानादयस्तु दुर्लक्ष्या इत्यर्थः। सकृदाकर्णकृष्टा योद्धुरस्याजस्य मौर्वी ज्या

रिपून्घ्नन्तीति रिपुघ्नाः तान्। "अमनुष्यकर्तृके च" इति ठक्प्रत्ययः। वाणान्सुषुव इव सुषुवे किमु इत्युत्प्रेक्षा।

भावार्थ-अज युद्ध में इतनी जल्दी वाण चला रहे थे कि यह पता नहीं चलता था कि उन्होंने कब अपना दाहिना हाथ तरकस पर रखा और कब वाण निकाल कर वायें हाथ से धनुष पर रखा किन्तु ऐसा मालूम पड़ता था कि वे जब कान तक धनुष की डोरी खींचते थे तब उसमें से शत्रुओं का नाश करने वाले वाण बराबर निकलते चले जा रहे हैं ॥ ५७ ॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सः रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैः व्यक्तोर्ध्वरेखाः भ्रुकुटीः वहद्भिः भल्लनिकृत्तकण्ठैः हुंकारगर्भैः द्विषतां शिरोभिः गां तस्तार।

स इति। सोऽजः रोषेण दष्टा अत एवाधिकलोहिता ओष्ठा येषां तानि तैः व्यक्ता ऊर्ध्वा रेखा यासां ताः भ्रुकुटीर्भ्रूभङ्गान्वहद्भिः भल्लनिकृत्ता वाणविशेषच्छिन्नाः कण्ठा येषां तैः हुँकारगर्भैः सहुंकारैः हुंकुर्वद्भिरित्यर्थः द्विषतां शिरोभिर्गां भूमिं तस्तार छादयामास।

भावार्थ—जिन राजाओं ने क्रोध से अपने ओठों को चबाकर लाल कर लिया था और जो भौंहे तान-तान कर हुंकार करते हुए आगे बढ़ रहे थे उनके मस्तकों को भाले से काट-काट कर अज ने धरातल को ढँक दिया ॥ ५८ ॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सर्वे एव भूमिपालाः द्विरदप्रधानैः सर्वैः बलाङ्गैः कङ्कटभेदिभिः सर्वायुधैः, च सर्वप्रयत्नेन च युधि तस्मिन् प्रजह्रुः।

सर्वैरिति। द्विरदप्रधानैर्गजमुख्यैः सर्वैर्बलाङ्गैः सेनाङ्गैः। 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः। कङ्कटभेदिभिः कवचभेदिभिः। 'उरच्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सर्वायुधैश्च बाह्यबलमुक्त्वान्तरमाह—सर्वप्रयत्नेन च सर्व एव भूमिपाला युधि तस्मिन्नजे प्रजह्रुः तं प्रजह्रुरित्यर्थः। सर्वत्र सर्वकारकशक्तिसम्भवात्कर्मणोऽप्याधिकरणविवक्षायां सप्तमी। तदुक्तम्—"अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः। सर्वदा सर्वथाभावात्क्वचित्किंचिद्विवक्ष्यते ॥" इति ॥

भावार्थ—सभी राजा सब प्रकार की सेनाओं से, कवच को काट देने वाले

सब प्रकार के तीक्ष्ण अस्त्रों से और सर्वप्रकार के उपायों द्वारा एक साथ अज पर प्रहार करने लगे ॥ ५९ ॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥

अन्वय.—परेषाम् अस्त्रव्रजैः छन्नरथ सः नीहारमग्नः दिनपूर्वभाग. किंचित्प्रकाशेन, विवस्वता इव ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यः बभूव ।

स इति । परेषा द्विषामस्त्रव्रजैः शस्त्रसमुदायैश्छन्नरथः सोऽजः नीहारैर्हिमैर्मग्नो दिनपूर्वभागः प्रात.काल किंचित्प्रकाशेनेषल्लक्ष्येण विवस्वतेव आच्छादितरथ. ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव । ध्वजाग्रादन्यन्न किंचिल्लक्ष्यते स्मेत्यर्थः ।

भावार्थ—इन राजाओं ने अज पर इतना बाण बरसाया कि उनके अस्त्रों से अज का रथ ढँक गया । जिस प्रकार कुहरे की दिनो में सुबह होने का ज्ञान धुंधले प्रकाश वाले सूर्य को देखकर होता है उसी प्रकार इसके रथ का ज्ञान पताका के सिरे को देखकर ही होता था ॥ ६० ॥

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥

अन्वय.—अधिराजसूनुः कुसुमास्त्रकान्तः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः असौ कुमार प्रियंवदात् प्राप्त प्रस्वपन गान्धर्वम् अस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त ।

प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्र. कुसुमास्त्रकान्तो मदनसुन्दरः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नवितृष्णः । जागरूक इत्यर्थः । असौ कुमारोऽजः प्रियंवदात्पूर्वोक्तात्गन्धर्वात्प्राप्तगान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम् । "सास्य देवता" इत्यण् । प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान् ।

भावार्थ—उसके बाद कामदेव के समान सुन्दर सदा सावधान रहने वाले उस रघुकुमार अज ने प्रियम्वद नाम के गन्धर्व से प्राप्त उस प्रस्वापन नामक गान्धर्व अस्त्र को हजारों के ऊपर चलाया जिससे उन्हें नींद आ जाती है ॥६१॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—ततः धनुष्कर्षणमूढहस्तं एकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालं ध्वजस्तंभनिषण्णदेहम्, नरदेवसैन्यं निद्राविधेयं सत् तस्थौ ।

तत इति । ततो धनुष्कर्षणे चापकर्षणे मूढहस्तमव्यापृतहस्तम् एकस्मिन्नंसे

पर्यस्तं त्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत्। ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहा यस्य तत् नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यं चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ।

भावार्थ—गान्धर्वास्त्र के छोड़ते ही राजाओं की सेना सो गई, नींद से सैनिकों के हाथ ऐसे रुक गये कि वे अपने धनुष तक को नहीं खींच पाये उनकी पगड़ियाँ गिर कर एक तरफ कन्धे पर झूलने लगीं और शरीर पताका के खम्भों के सहारे स्थित हो गया ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवावभासे ॥ ६३ ॥

अन्वयः—ततः कुमारः प्रियोपात्तरसे अधरोष्ठे जलजं निवेश्य दध्मौ तेन एकवीरः स्वहस्तार्जितं मूर्तं यशः पिबन् इव आवभासे।

तत इति। ततः कुमारोऽजः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरसे आस्वादितमाधुर्ये अतिश्लाघ्य इति भावः। अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य। 'जलजं शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः। दध्मौ मुखामारुतेन पूरयामास। तेनौष्ठनिविष्टेन शङ्खेनैवैकवीरः स स्वहस्तार्जितं मूर्तं मूर्तिमद्यशः पिबन्निवावभासे। यशसः शुभ्रत्वादिति भावः।

भावार्थ—इसके बाद अद्वितीय वीर कुमार अज ने अपनी प्रिया इन्दुमती के चुम्बन का रसास्वाद लेने वाले अधरोष्ठ पर शंख को रख कर बजाया। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने बाहुबल से उपार्जित मूर्तिमान् अपने यश को पी रहे हों ॥ ६३ ॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—स्वयोधाः शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्ताः सन्त निमीलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् इव सन्नशत्रुं तं ददृशुः।

शङ्खेति। शङ्खस्वनस्याजशङ्खध्वनेरभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञत्वान्निवृत्ताः प्राक्पलाय्य संप्रति प्रत्यागताः स्वयोधाः, सन्नशत्रुं निद्राणशत्रुं तमजं निमीलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्कं प्रतिबिम्बचन्द्रमिव ददृशुः।

भावार्थ—शंख की ध्वनि को पहचान कर लौटे हुए अज के सैनिकों ने सोते हुए शत्रुओं के बीच में अज को इस प्रकार देखा जिस प्रकार मुकुलित कमलों के बीच में चन्द्रमा चमक रहा हो ॥ ६४ ॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिता केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ ६५ ॥

अन्वयः–'सम्प्रति राघवेण वः यशः हृतं कृपया जीवितं तु न' इति वर्णाः तेन सशोणितैः शिलीमुखाग्रैः पार्थिवानां केतुषु निक्षेपिताः ।

सशोणितैरिति । सम्प्रति राघवेण रघुपुत्रेण पूर्वं रघुणेति भावः । हे राजानः ! वो युष्माकं यशो हृतम्, जीवितं तु कृपया न हृतम् । न त्वशक्त्येति भावः । इत्येवंरूपा वर्णा एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः । सशोणितैः शोणितदिग्धैः शिलीमुखाग्रैर्बाणाग्रैः साधनैस्तेनाजेन प्रयोजककर्त्रा पार्थिवानां राज्ञां केतुषु ध्वजस्तम्भेषु निक्षेपिताः प्रयोज्यैरन्यैर्निवेशिताः । लेखिता इत्यर्थः । क्षिपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः ।

भावार्थ—उन मूर्छित पड़े हुए राजाओं की पताकाओं पर रुधिर से लिप्त बाणों के अग्रभाग से अज ने यह लिखवा दिया कि हे राजाओ ! इस समय रघुपुत्र अज ने आप लोगों के यश को तो ले लिया किन्तु दया करके प्राण नहीं लिये ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

अन्वयः—चापकोटिनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुः सः भीतां प्रियाम् एत्य वचः बभाषे ।

स इति । चापकोट्यां निहित एकबाहुर्येन स शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन भिन्नमौलिः स्रस्तकेशबन्धः । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । ललाटे बद्धाः श्रमवारिबिन्दवो यस्य सः सोऽजो भीतां प्रियामिन्दुमतीमेत्यासाद्य वचो बभाषे ।

भावार्थ—धनुष के एक छोर पर हाथ रखे हुए युद्ध कालीन टोप के हटा देने से बिखरे केश वाले और ललाट पर पसीने की बूंदों से युक्त वे अज युद्ध के देखने से डरी हुई अपनी प्रिया इन्दुमती के पास आकर बोले ॥ ६६ ॥

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि ! पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हे वैदर्भि ! त्वं इतः अर्भकहार्यशस्त्रान् परान् पश्य, मया द्रष्टुम् त्वं अनुमता असि, एभिः एवंविधेन आहवचेष्टितेन मम हस्तगता त्वं प्रार्थ्यसे ।

इत इति। हे वैदर्भि इन्दुमति ! इत इदानीमर्भकहार्यशस्त्रान्वालकापहार्यायुधा-न्यपराञ्शत्रून्पश्य। मयानुमतासि द्रष्टुमिति शेषः। एभिर्नृपैरेवंविधेन निद्रारूपेणा-हवचेष्टितेन रणकर्मणा मम हस्तगता हस्तगतवद्दुर्ग्रहेत्यर्थः। त्वं प्रार्थ्यसे अपजि-हीर्ष्यस इत्यर्थः। एवंविधेनेत्यत्र स्वहस्तनिर्देशेन सोपहासमुवाचेति द्रष्टव्यम्।

भावार्थ—अयि विदर्भराजकुमारी ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ देखो तो सही युद्धस्थल में राजा लोग इस प्रकार सोये हुए हैं कि बालक भी इनके अस्त्र छीन सकते हैं। देखो, इसी बल पर ये मेरे हाथों से तुमको छीनना चाहते थे ॥६७॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमावभासे।
निश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रतिद्वन्द्विभवात् विषादात् सद्यः विमुक्तं तस्याः मुखं निःश्वासबा-ष्पापगमात् आत्मीयं प्रसादं प्रपन्नः आत्मदर्शः इव आवभासे।

तस्या इति। प्रतिद्वन्द्विभवाद्रिपुत्थाद्विषादाद्दैन्यात्सद्यो विमुक्तं तस्या मुखं निःश्वासस्य यो बाष्प ऊष्मा। 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः। तस्यापग-माद्धेतोरात्मीयं प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्न प्राप्तः आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽनेनेत्यात्मदर्श दर्पण इव आवभासे।

भावार्थ—जब इन्दुमती को यह निश्चय हो गया कि शत्रु मारे गये तब उसका मुँह उस दर्पण के समान सुशोभित हो गया जिस पर पड़ी हुई सांस की भाँप पोछ दी गई हो ॥ ६८ ॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—सा हृष्टा अपि ह्रीविजिता सती प्रियं साक्षात् स्वयं न अभ्यनन्दत् किन्तु नवाम्भः पृषताभिवृष्टा स्थली अभ्रवृन्दं मयूरकेकाभिः इव सखीनां वाग्भिः अभ्यनन्दत्।

हृष्टेति। सेन्दुमती हृष्टापि पत्युः पौरुषेण प्रमुदितापि ह्रिया विजिता यतोऽत प्रियमजं साक्षात्स्वयं नाभ्यनन्दन्न प्रशशंस। किन्तु नवैरम्भःपृषतैः पयोबिन्दुभिर-भिवृष्टाऽभिषिक्ता स्थल्यकृत्रिमा भूमिः। "जानपदकुण्डगोणस्थल०" इत्यादिना-ऽकृत्रिमार्थे ङीप्। अभ्रवृन्दं मेघसंघं मयूरकेकाभिरिव सखीनां वाग्भिरभ्यनन्दत्।

भावार्थ—जिस प्रकार नये बादलों की बूंदों से भीगी हुई वनस्थली मयूर के शब्दों से मेघों का अभिनन्दन करती है उसी प्रकार अपने पति के पराक्रम से

अत्यन्त प्रसन्न हुई इन्दुमती लज्जा के कारण स्वयं तो कुछ नहीं कह सकी किन्तु सखियों के वचनों द्वारा अज का अभिनन्दन किया ॥ ६९ ॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ॥ ७० ॥

अन्वयः—अवद्यात् अपेतः सः इति राज्ञां शिरसि वामं पादम् आधाय अनवद्यां तां उदवहत् रथतुरगरजोभिः रूक्षालकाग्रा सा एव तस्य मूर्ता समरविजयलक्ष्मीः बभूव ।

इतीति । नोद्यते नोच्यत इत्यवद्यं गर्ह्यम् । "अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इत्यनेन निपातः । "कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः" इत्यमरः। तस्मादपेतः निर्दोष इत्यर्थः सोऽज इति राज्ञां शिरसि वामं पादमाधायानवद्यामदोषां तामिन्दुमतीमुदवहदुपायत । आत्मसाच्चकारेत्यर्थः। अयमर्थः 'तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्याम्' इत्यत्र न श्लिष्टः । तस्याजस्य रथतुरगाणां रजोभी रूक्षाणि परुषाण्यलकाग्राणि यस्याः सा सेन्दुमत्येव मूर्ता मूर्तिमती समरविजयलक्ष्मीर्बभूव । एतल्लाभादन्यः को विजयलक्ष्मीलाभ इत्यर्थः ।

भावार्थ—इस प्रकार निर्दोष वे अज उन राजाओं के शिरों पर बांया पैर रख कर सर्वाङ्ग सुन्दरी उस इन्दुमती को लेकर चले । रथ के घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूलि से इन्दुमती के केश भर गये थे उस समय वह साक्षात् विजय लक्ष्मी जैसी जान पड़ती थी ॥ ७० ॥

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभू-
न्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥ ७१ ॥

अन्वयः—प्रथमपरिगतार्थः रघुः विजयिनं श्लाघ्यजायासमेतं संनिवृत्तं तम् अभिनन्द्य, तदुपहितकुटुम्बः सन् शान्तिमार्गोत्सुकः अभूत् । हि कुलधुर्ये सति सूर्यवंश्याः गृहाय न भवन्ति ।

प्रथमेति । प्रथममजागमनात्प्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाहविजयरूपो येन स प्रथमपरिगतार्थो रघुर्विजयिनं विजययुक्तं श्लाघ्यजायासमेतं संनिवृत्तं प्रत्यागतं तमजमभिनन्द्य तस्मिन्नज उपहितकुटुम्बः सन् । 'सुतविन्यस्तपत्नीकः' इति याज्ञवल्क्य-

स्मरणादिति भावः। शान्तिमार्गे मोक्षमार्गे उत्सुकोऽभूत्। तथाहि कुलधुर्ये कुलधुरंधरे सति सूर्यवंश्या गृहस्थाश्रमाय न भवन्ति।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये अजपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ।। ७ ।।

भावार्थ—महाराज रघु को यह सब समाचार अज के पहुँचने के पहले ही मिल चुका था, इसलिए उन्होंने विजयी तथा योग्य स्त्री के सहित आये हुए अज का अभिनन्दन किया और उन्हें कुटुम्ब का भार सौंप कर मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिए उत्सुक हो गये। क्योंकि सूर्य वंशी राजाओं का यह नियम है कि वे पुत्र के योग्य हो जाने पर गृहस्थाश्रम में रहना पसन्द नहीं करते ।।७१।।

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित
अन्वय और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका में
रघुवंश महाकाव्य का अजपाणिग्रहण नामक
सप्तम सर्ग समाप्त हुआ।



अष्टमः सर्गः

हेरम्बमवलम्बेऽहं यस्मिन्पातालकेलिषु।
दन्तेनोद्वस्यति क्षोणीं विश्राम्यन्ति फणीश्वराः ।।

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ पार्थिवः ललितं विवाहकौतुकम् बिभ्रतः एव अपराम् इन्दुमतीम् इव वसुधाम् अपि हस्तगामिनीम् अकरोत् ।। १ ।।

अथेति। अथ पार्थिव रघुर्ललितं सुभगं विवाहकौतुकं विवाहमङ्गलं विवाहहस्तसूत्रं वा बिभ्रत एव। 'कौतुकं मङ्गलं हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति शाश्वतः। तस्याजस्य अपरामिन्दुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत्। राज्ये तमभ्यषिञ्चदित्यर्थः अस्मिन्सर्गे वैतालीयं छन्दः।

भावार्थ—इसके बाद राजा रघु ने सुन्दर विवाह के मङ्गल सूत्र को पहने हुए अज के हाथ में दूसरी इन्दुमती के समान सारी पृथ्वी को सौंप दिया अर्थात् उनका राज्याभिषेक कर दिया ॥ १ ॥

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥

अन्वयः—नृपसूनवः यत् दुरितैः अपि आत्मसात् कर्तुम् प्रयतन्ते हि उपस्थितम् तत् अजः पितुः आज्ञा इति अग्रहीत् भोगतृष्णया न (अग्रहीत्) ।

दुरितैरिति । नृपसूनवो राजपुत्रा यद्राज्यं दुरितैरपि विषप्रयोगादिनिषिद्धोपायैरप्यात्मसात्स्वाधीनम् । "तदधीनवचने" इति सातिप्रत्ययः । कर्तुं प्रयतन्ते हि प्रवर्तन्त एवेत्यर्थः । तथाहि "राजपुत्रा मदोद्वृत्ता गजा इव निरङ्कुशाः । भ्रातरं पितरं वापि निघ्नन्त्येवाभिमानिनः ॥" हि शब्दोऽवधारणे । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । उपस्थितं स्वतः प्राप्तं तद्राज्यमजः पितुराज्ञेति हेतोरग्रहीत्स्वीचकार । भोगतृष्णया तु नाग्रहीत् ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस राज्य को पाने के लिए राजकुमार लोग विष प्रयोग आदि अनेक प्रकार के उपाय किया करते हैं उसी राज्य को अज ने केवल अपने पिता की आज्ञा मानकर ही स्वीकार किया, भोगविलास की इच्छा से नहीं ॥ २ ॥

अनुभूय वसिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥

अन्वयः—मेदिनी वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैः तेन सह अभिषेचनम् अनुभूय विशदोच्छ्वसितेन कृतार्थताम् कथयामास इव ।

अनुभूयेति । मेदिनी भूमिः महिषी च व्यज्यते । वसिष्ठेन सम्भृतैः सलिलैस्तेनाजेन सहाभिषेचनमनुभूय विशदोच्छ्वसितेन स्फुटमुद्वृहणेन आनन्दनिर्मलोच्छ्वसितेन चेति व्यज्यते । कृतार्थतां गुणवद्भर्तृलाभकृतं साफल्यं कथयामासेव । न चैतावता पूर्वेषामपकर्षः प्रशंसापरत्वात् । 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इत्यङ्गीकृतत्वाच्च ।

भावार्थ—जिस समय अज का राज्याभिषेक हुआ उस समय महर्षि वसिष्ठ ने वैदिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके जल को अज के ऊपर छोड़ा उसका कुछ अंश पृथ्वी पर गिरा जिसके कारण पृथ्वी से भाप निकलने लगी उससे

मालूम पड़ता था कि पृथ्वी अपने आनन्दोच्छ्वास से अज के राजा होने का सन्तोष व्यक्त कर रही है ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथर्वविदा गुरुणा कृतक्रियः स परैः दुरासदः बभूव, अस्त्रतेजसा सहितं यत् ब्रह्म अयम् पवनाग्निसमागमः हि ।

स इति । अथर्वविदाऽथर्ववेदाभिज्ञेन गुरुणा वसिष्ठेन कृतक्रियः अथर्वोक्तविधिना कृताभिषेकसंस्कार इत्यर्थः । सोऽजः परैः शत्रुभिर्दुरासदो दुर्धर्षो बभूव । तथाहि अस्त्रतेजसा क्षत्रतेजसा सहितं युक्तं यद्ब्रह्म ब्रह्मतेजोऽयं पवनाग्निसमागमो हि तत्कल्प इत्यर्थः । पवनाग्नीत्यत्र पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वात् "द्वन्द्वे घि" इति नाग्निशब्दस्य पूर्वनिपातः । तथा च काशिकायाम्—'अयमेकस्त लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । क्षात्रेणैवायं दुर्धर्षः किमयं पुनर्वसिष्ठ-मन्त्रप्रभावे सतीत्यर्थः । अत्र मनुः—'नाक्षत्रं ब्रह्म भवति क्षत्रं नाब्रह्म वर्धते । ब्रह्मक्षत्रे तु संयुक्ते इहामुत्र च वर्धते ॥' इति ।

भावार्थ—अथर्ववेद के ज्ञाता महर्षि वसिष्ठजी ने जब अज का अभिषेक किया तब वे ऐसे तेजस्वी हो गये जैसे वायु का सहारा पाकर अग्नि प्रदीप्त हो जाता है । ठीक है ब्रह्म तेज के साथ क्षात्र तेज के मिल जाने से अपूर्व तेज उत्पन्न हो जाता है । अर्थात् जैसे वायु का संयोग पाकर अग्नि असह्य हो जाता है वैसे ही वसिष्ठ जी के ब्राह्म तेज के संयोग से अज का क्षात्र तेज शत्रुओं के लिए असह्य हो गया ॥ ४ ॥

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यत नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान् गुणानपि ॥ ५ ॥

अन्वयः—प्रजाः नवेश्वरम् तं निवृत्तयौवनम् रघुम् इव अमन्यन्त । हि स तस्य केवलां श्रियं न प्रतिपेदे, किन्तु सकलान् गुणान् अपि प्रतिपेदे ।

रघुमिति । प्रजा नवेश्वरं तमजं निवृत्तयौवनं प्रत्यावृत्तयौवनं रघुमेवामन्यन्त । न किंचिद्भेदकमस्तीत्यर्थः । कुतः हि यस्मात्सोऽजस्तस्य रघोः केवलामेकां श्रियं न प्रतिपेदे किन्तु सकलान्गुणाञ्छौर्यदाक्षिण्यादीनपि प्रतिपेदे अतस्तद्गुणयोगात्तद् बुद्धिर्युक्तेत्यर्थः ।

भावार्थ—प्रजाओं ने उन नवीन राजा अज को ऐसा समझा कि मानों रघु ही

जवान होकर पुनः राज्य कर रहे हैं क्योंकि अज ने केवल रघु की राज्यलक्ष्मी को ही नहीं पाया था किन्तु रघु के सभी गुण भी उनमे आ गये थे ॥ ५ ॥

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—द्वय एव शुभंयुना द्वितयेन सङ्गतं सत् अधिकं शुशुभे पैतृकम् ऋद्धं पदं अजेन अस्य नवं यौवनं विनयेन च शुशुभे ।

अधिकमिति । द्वयमेव शुभंयुना शुभवता 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः । "अहंशुभमयोर्युस्" इति युस्प्रत्ययः । द्वितयेन संगतं युक्तं सदधिकं शुशुभे । किं केनेत्याह—पदमिति पैतृकं पितुरागतम् । "ऋतष्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः ऋद्धं समृद्धं पदं राज्यमजेन अस्याजस्य नवं यौवनं विनयेनेन्द्रियजयेन च (विजयो हीन्द्रियजस्तद्युक्तः शास्त्रमर्हति" इति कामन्दकः । राज्यश्रयोऽपि प्राकृतवन्न दृप्तोऽभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—उस समय केवल दो चीजें ही संसार को सुन्दर लगी, एक तो पिता का सम्मृद्ध राज्य पाकर अज और दूसरा अज की नम्रता पाकर उनका यौवन ॥ ६ ॥

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥

अन्वयः—महाभुजः स अचिरोपनतां मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूम् इव सहसा इयम् उद्वेगम् व्रजेत् इति सदयं बुभुजे ।

सदयमिति । महाभुजः सोऽजोऽचिरोपनतां नवोपगतां मेदिनीं भुवं नवं पाणिग्रहणं विवाहो यस्यास्तां नवोढां वधूमिव । उक्तं च रतिरहस्ये—'सौम्यैरालिङ्गनैर्विकारैश्चुम्बनैश्चापि सान्त्वयेत्' सहसा बलात्कारेण चेत् 'सहो बलं सहा मार्गः' इत्यमरः । इयं मेदिनी वधूर्वोद्वेगं भयं व्रजेदिति हेतोः सदयं सकृपं बुभुजे भुक्तवान् । "भुजोऽनवने" इत्यात्मनेपदम् ।

भावार्थ—जिस प्रकार नवविवाहिता वधू बलात्कार पूर्वक उपभोग करने से उद्विग्न हो जाती है इसलिए उसके साथ कोमलतापूर्वक व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार महाबाहु राजा अज ने नई मिली पृथ्वी का दयापूर्वक उपभोग किया ॥ ७ ॥

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥

अन्वयः—प्रकृतिषु सर्वः अहम् एव महीपतेः मतः इति अचिन्तयत् उदधेः निम्नगाशतेषु इव अस्य विमानना क्वचित् न अभवत् ।

अहमिति । प्रकृतिषु प्रजासु मध्ये सर्वोऽपि जनः अथवा प्रकृतिष्वित्यस्याहमित्यनेनान्वयः । व्यवधानं तु सह्यम् सर्वोऽपि जनः प्रकृतिष्वहमेव महीपतेर्मतो महीपतिना मन्यमानः । "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" इति वर्तमाने क्तः, "क्तस्य च वर्तमाने" इति षष्ठी । इत्यचिन्तयदमन्यत । उदधेर्निम्नगाशतेष्विवास्य नृपस्य कर्तुः । "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्तरि षष्ठी । क्वचिदपि जनविषये विमाननाऽवगणना तिरस्कारो नाभवत् । यतो न कंचिदवमन्यतेऽतः सर्वोऽप्यहमेवास्य मत इत्यमन्यतेत्यर्थः ।

भावार्थ—अज अपनी प्रजाओं को समान रूप से मानते थे इस कारण सभी लोग यही समझते थे कि राजासाहब हम ही को सबसे अधिक मानते हैं क्योंकि जिस तरह समुद्र सैकड़ों नदियों में से किसी का भी तिरस्कार नहीं करता और सबको समान रूप से ग्रहण करता है उसी तरह वे भी प्रजावर्ग में किसी का अपमान नहीं करते थे न किसी की बुराई करते थे ॥ ८ ॥

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥

अन्वयः—सः भूयसा खरः न मृदुः च न बभूव किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन् पवमानः पृथिवीरुहान् इव नृपान् अनुद्धरन् नमयामास ।

नेति । स नृपो भूयसा बाहुल्येन खरस्तीक्ष्णो न भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन् मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः । पवमानो वायुः पृथिवीरुहांस्तरूनिव नृपाननुद्धरन्ननुत्पाटयन्नेव नमयामास । अत्र कामन्दकः—"मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जनः । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च संमतः" इति ।

भावार्थ—अज न तो बहुत कठोर थे न अधिक कोमल ही, जिस प्रकार मध्यम वेग वाला वायु वृक्षों को बिना उखाड़े झुका देता है उसी प्रकार अज ने मध्यम मार्ग का आश्रय करके अपने शत्रुभूत राजाओं को राजगद्दी से उतारे बिना ही उनको नम्र बना दिया ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

अन्वयः—अथ रघुः आत्मजम् आत्मवत्तया प्रकृतिषु प्रतिष्ठितं वीक्ष्य विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेषु अपि विषयेषु निःस्पृहः अभवत् ।

अथेति। अथ रघुरात्मजं पुत्रमात्मवत्तया निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः। "उद॰ पादिष्वविकृतिर्मनस- सत्त्वमुच्यते। आत्मवान्सत्त्ववानुक्तः" इत्युत्पलमालायाम्। प्रकृतिष्वमात्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढमूलं वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषा तेषु विनाशधर्मसु अनित्येष्वित्यर्थः। "धर्मादनिच्केवलात्" इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः। त्रिदिवस्थेषु स्वर्गस्थेष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत्।

भावार्थ—जब महाराज रघु ने देखा कि मेरे पुत्र अज विकारहीन भाव से प्रजाओं मे स्थिर हो गये हैं तब वे विनश्वर स्वर्गीय विषयों से भी निस्पृह हो गये॥ १०॥

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥ ११॥

अन्वयः—दिलीपवंशजाः परिणामे गुणवत्सुतरोपितश्रियः प्रयताः सन्तः तरुवल्कवाससां संयमिनां पदवीं प्रपेदिरे।

गुणवदिति। दिलीपवंशजाः परिणामे वार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापितलक्ष्मीकाः प्रयताश्च सन्तः तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः।

भावार्थ—राजा दिलीप के वंशज वृद्धावस्था मे अपने योग्य पुत्र को राज्य का भार सौंप कर नियमपूर्वक वल्कल वस्त्रधारी मुनियों के मार्ग का अनुसरण करते हैं। इस लिए रघु का विषयों से निस्पृह हो जाना उचित ही था॥ ११॥

कुलधर्मश्चायमेवेत्याह—

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः॥ १२॥

अन्वय—सुतः अरण्यसमाश्रयोन्मुखं पितरं तं वेष्टनशोभिना शिरसा पादयोः प्रणिपत्य आत्मनः अपरित्यागं अयाचत।

तमिति। अरण्यसमाश्रयोन्मुखं वनवासोद्युक्तम्। अत्र मनुः "गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। सापत्यो निरपत्यो वा तदारण्यं समाश्रयेत्॥" पितरं तं रघुं सुतोऽजः वेष्टनशोभिनोष्णीषमनोहरेण शिरसा पादयोः प्रणिपत्य आत्मनोऽपरित्यागमयाचत। मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः।

भावार्थ—वन को जाने के लिये उद्यत अपने पिता रघु से पुत्र अज ने राजमुकुट से सुशोभित अपना मस्तक नवाकर प्रार्थना की कि आप मुझे छोड़ कर वन में न जाइए॥ १२॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—आत्मजप्रियः रघुः अश्रुमुखस्य तस्य तत् ईप्सितं कृतवान् तु सर्पः त्वचम् इव व्यपवर्जितां श्रियं पुनः न प्रतिपेदे ।

रघुरिति । आत्मजप्रियः पुत्रवत्सलो रघु अश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्याजस्य तदपरित्यागरूपमीप्सितमभिलषितं कृतवान् । किन्तु सर्पस्त्वचमिव व्यपवर्जितां त्यक्तां श्रियं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप ।

भावार्थ—पुत्रवत्सल रघु ने अज की आखों में आंसू देखकर वन को जाने का विचार छोड़ दिया किन्तु जिस प्रकार सांप एक बार छोड़ी हुई अपनी केंचुल को पुनः ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार उन्होंने परित्यक्त राज्यलक्ष्मी को पुनः स्वीकार नहीं किया ॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥

अन्वयः—सः अन्त्यम् आश्रमम् आश्रितः पुरात् बहिः आवसथे निवसन् अविकृतेन्द्रियः (सन्) स्नुषया इव पुत्रभोग्यया श्रिया समुपास्यत किल ।

स इति । स रघुः किलान्त्याश्रमं प्रव्रज्यामाश्रितः पुरान्नगराद्बहिरावसथे स्थाने निवसन्नविकृतेन्द्रियः जितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः । अत एव स्नुषयेव वध्वेव पुत्रभोग्यया न स्वभोग्यया श्रिया समुपास्यत शुश्रूषितः । जितेन्द्रियस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि, पुष्पफलोदकाहरणादिशुश्रूषाव्यतिरेकेण न किञ्चदपेक्षितमासीदित्यर्थः । अत्र यद्यपि 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः । 'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्' इति मनुस्मरणात् 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते ॥' इति निषेधाच्च ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्या न क्षत्रियादेरित्याहुः, तथापि 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुतेस्त्रैवर्णिकसाधारण्यात्, 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनात् । 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' इति स्मरणात् । 'मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते ॥' इति निषेधस्य त्रिदण्डविषयत्वदर्शनाच्च कुत्रचिद्ब्राह्मणपदस्योपलक्षणमाचक्षाणाः केचित् त्रैवर्णिकाधिकारं प्रतिपेदिरे तथा सति 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्रापि कविनाप्ययमेव पक्षो विवक्षित इति प्रतीमः । अन्यथा वानप्रस्थाश्रमतया व्याख्याते 'विदधे विधिमस्य

नैष्ठिकं यतिमि 'साधंमनग्निमग्निजित्' इति वक्ष्यमाणेनानग्निसंस्कारेण विरोधः स्यात्। अग्निसंस्काररहितस्य वानप्रस्थस्यैवाभावात् इत्यलं प्रासङ्गिकेन।

भावार्थ—वे महाराज रघु संन्यास आश्रम को स्वीकार कर नगर के बाहर ही कुटिया में रहने लगे। पुत्र से भोग्य राजलक्ष्मी से उनका उतना ही सम्बन्ध था जितना पुत्रवधू से किसी संयमी श्वसुर का रहता है अर्थात् जिस पृथ्वी पर अज राज्य कर रहे थे वह रघु को फल मूल देकर उनकी उस प्रकार सेवा कर रही थी मानो उनकी पतोहू हो॥ १४॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत्॥ १५॥

अन्वयः—प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवम् अभ्युद्यतनूतनेश्वरम् तत् कुलं निभृतेन्दुना उदितार्केण च नभसा तुलां समारुरोह।

प्रशमेति। प्रशमे स्थितः पूर्वपार्थिवो रघुर्यस्य तत् अभ्युद्यतोऽभ्युदितो नूतनेश्वरोऽजो यस्य तत्। प्रसिद्धं कुलं निभृतेन्दुनाऽस्तमयाभिमुखचन्द्रेणोदितार्केण प्रकटितसूर्येण च नभसा तुलां सादृश्यं समारुरोह प्राप। न च नभसा तुलामित्यत्र "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्" इत्यनेन प्रतिषेधस्तृतीयायाः। तस्य सदृशवाचितुलाशब्दविषयत्वात् 'कृष्णस्य तुला नास्ति' इति प्रयोगात् अस्य च सादृश्यवाचित्वात्।

भावार्थ—उस समय सूर्यवंश उस आकाश के समान सुशोभित हो रहा था जिसमें एक तरफ चन्द्रमा अस्त हो रहे हो और दूसरी ओर सूर्य उदय हो रहे हों। क्योंकि एक ओर राजा रघु संन्यास लेकर शान्तिमय जीवन बिता रहे थे दूसरी ओर अज राजगद्दी पर विराजमान थे॥ १५॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ॥ १६॥

अन्वयः—जनैः यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ रघुराघवौ अपवर्गमहोदयार्थयोः धर्मयोः भुवं गतौ अंशौ इव ददृशाते।

यतीति। यतिर्भिक्षुः पार्थिवो राजा तयोर्लिङ्गधारिणौ रघुराघवौ रघुतत्सुतौ अपवर्गमहोदयार्थयोर्मोक्षाभ्युदयफलयोर्धर्मयोः। निवर्तकप्रवर्तकरूपयोरित्यर्थः। भुवं गतौ भूलोकमवतीर्णावंशाविव जनैर्ददृशाते दृष्टौ।

भावार्थ—संन्यासी के चिह्न धारण करने वाले महाराजा रघु और राज-

चिह्न धारी अज को देखकर लोगों ने यह समझा कि मोक्ष एवं ऐश्वर्य देने वाला धर्म दो रूपों में पृथ्वी पर अवतीर्ण है ॥ १६ ॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ १७ ॥

अन्वयः—अजः अजिताधिगमाय नीतिविशारदैः मन्त्रिभिः युयुजे, रघुः अनपायिपदोपलब्धये आप्तैः योगिभिः समियाय ।

अजितेति । अजोऽजिताधिगमायाजितपदलाभाय नीतिविशारदैर्नीतिज्ञैर्मन्त्रिभिर्युयुजे संगतः । रघुरप्यनपायिपदस्योपलब्धये मोक्षस्य प्राप्तये यथार्थदर्शिनो यथार्थवादिनश्चाप्ताः तैर्योगिभिः समियाय संगतः । उभयत्राप्युपायचिन्तार्थमिति शेषः ।

भावार्थ—एक ओर अज जीते हुए देशों को जीतने के लिए नीति विशारद मन्त्रियों के साथ दिग्विजय का विचार करने लगे । दूसरी ओर रघु अविनश्वर मोक्षपद पाने के लिए तत्त्वदर्शी योगियों से मोक्ष मार्ग की चर्चा करने लगे ।

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—युवा नृपतिः प्रकृतिः अवेक्षितुं व्यवहारासनम् आददे प्रवयाः तु धारणां परिचेतुम् उपांशु कुशपूतम् विष्टरम् आददे ।

नृपतिरिति । युवा नृपतिरजः प्रकृतिः प्रजाः कार्यार्थिनीरवेक्षितुम् । दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थमित्यर्थः । व्यवहारासनं धर्मासनमाददे स्वीचकार । 'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । प्रवयाः स्थविरो नृपतिः रघुस्तु । 'प्रवयाः स्थविरो वृद्ध' इत्यमरः । धारणां चित्तस्यैकाग्रतां परिचेतुमभ्यसितुमुपांशु विजने । 'उपांशु विजने प्रोक्तम्' इति हलायुधः । कुशैः पूतं विष्टरमासनमाददे । 'यमादिगुणसयुक्ते मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः ॥' इति वसिष्ठः ।

भावार्थ—इधर युवक राजा अज प्रजाओं के कार्यों को देखने के लिए न्याय के आसन पर बैठे थे उधर वृद्ध रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिए एकान्त में पवित्र कुश के आसन पर बैठे थे ॥ १८ ॥

अनयत् प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥

अन्वयः—एकः अनन्तरान् नृपतीन् प्रभुशक्तिसम्पदा वशम् अनयत् अपरः शरीरगोचरान् पञ्च मरुतः प्रणिधानयोग्यया वशम् अनयत् ।

अनयदिति । एकोऽन्यतर अज इत्यर्थः । अनन्तरान्स्वभूम्यनन्तरान्नृपतीन्पार्ष्णिग्राहादीन्प्रभुशक्तिसम्पदा कोशदण्डमहिम्ना वशं स्वायत्ततामनयत् 'कोशो दण्डो बलं चैव प्रभुशक्तिः प्रकीर्तिता' इति मिताक्षरायाम् । अपरो रघुः प्रणिधानयोग्यया समाध्यभ्यासेन 'योग्यभ्यासार्कयोषितोः' इति विश्वः । शरीरगोचरान्देहाश्रयान्पञ्च मरुतः प्राणादीन्वशमनयत् । 'प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः । शरीरस्थाः' इत्यमरः ।

भावार्थ—अज ने प्रभु शक्ति से (कोशदण्ड आदि महिमा से) अपने राज्य की सीमा पर रहने वाले शत्रुओं को अपने वश में कर लिया और रघु ने योग बल से अपने शरीर के अन्दर रहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नामक पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया ॥ १९ ॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ २० ॥

अन्वयः—अचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् अकरोत् इतरः ज्ञानमयेन वह्निना स्वकर्मणाम् दहने ववृते ।

अकरोदिति । अचिरेश्वरोऽजः क्षितौ द्विषतामारम्भाः कर्माणि तेषां फलानि भस्मसादकरोत्कार्त्स्न्येन भस्मीकृतवान् । "विभाषा साति कार्त्स्न्ये" इति सातिप्रत्ययः । इतरो रघुर्ज्ञानमयेन तत्त्वज्ञानप्रचुरेण वह्निना पावकेन करणेन स्वकर्मणां भवबीजभूतानां दहने भस्मीकरणे ववृते । स्वकर्माणि दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति गीतावचनात् ।

भावार्थ—नये राजा अज ने पृथ्वी पर शत्रुओं की सभी चालों को नष्ट कर दिया और पुराने राजा रघु ने ज्ञानमय अग्नि से संसार के कारण भूत अपने कर्मों को भस्म कर डाला ॥ २० ॥

पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ २१ ॥

अन्वयः—अजः पणबन्धमुखान् षट् गुणान् तत्फलं समीक्ष्य उपायुङ्क्त समलोष्टकाञ्चनः रघुः अपि गुणत्रयं प्रकृतिस्थम् अजयत् ।

पणबन्धेति । 'पणबन्धः सन्धिः' इति कौटिल्यः । अजः पणबन्धमुखान्संध्यादीन्षड्गुणान् । 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः' इत्यमरः ।

तत्फलं तेषां गुणानां फलं समीक्ष्यालोच्योपायुङ्क्त। फलि'यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः। "प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु" इत्यात्मनेपदम्। तमस्तुल्यतया भावितो लोष्टो मृत्पिण्डः काञ्चनं सुवर्णं च यस्य स समलोष्टकाञ्चनः। निःस्पृह इत्यर्थः। 'लोष्टानि लेष्टवः पुंसि' इत्यमरः। रघुरपि गुणत्रयं सत्त्वादिकम्। 'गुणाः सत्त्वं रजस्तमः' इत्यमरः। प्रकृतौ साम्यावस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थं पुनर्विकारशून्यं यथा तथाऽजयत्।

भावार्थ—एक तरफ अज सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव इन नीतियों का देशकालानुसार परिणाम समझकर प्रयोग करते थे दूसरी ओर मिट्टी और सोने दोनों में समान दृष्टि रखनेवाले रघु ने भी, प्रकृति के त्रिगुणमयी सत्त्व रज एवं तम इन तीनों गुणों को जीत लिया॥ २१॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात्॥ २२॥

अन्वयः—स्थिरकर्मा नवः प्रभुः आफलोदयात् कर्मणः न विरराम स्थिरधीः नवेतरः च आपरमात्मदर्शनात् योगविधेः न विरराम।

नेति। स्थिरकर्मा फलोदयकर्मकारी नवः प्रभुरजः आफलोदयात्फलसिद्धिपर्यन्तं कर्मण आरम्भान्न विरराम न निवृत्तः। 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' वा० इत्यपादानात्पञ्चमी। 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। स्थिरधीर्निश्चलचित्तः। तदुक्तं गीतायां 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते॥' नवेतरो रघुश्चापरमात्मदर्शनात्परमात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं योगविधेरैक्यानुसंधानान्न विरराम।

भावार्थ—स्थिर कार्यकर्ता नये राजा अजने फल की प्राप्ति हुए बिना आरम्भ किये हुए कर्मों से विरत नहीं हुए। तथा स्थिर बुद्धिवाले प्राचीन राजा रघु परमात्मा के साक्षात्कार के बिना योगाभ्यास से विरत नहीं हुए॥ २२॥

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः॥ २३॥

अन्वयः—इति प्रतिषिद्धप्रसरेषु शत्रुषु च इन्द्रियेषु च जाग्रतौ उदयापवर्गयोः प्रसितौ उभौ उभयीं सिद्धिम् अवापतुः।

इतीति। इत्येवं प्रतिषिद्धः प्रसरः स्वार्थप्रवृत्तिर्येषां तेषु शत्रुषु चेन्द्रियेषु च जाग्रतावप्रमत्तावुदयापवर्गयोरभ्युदमोक्षयोः प्रसितावासक्तौ। 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः। उभावजरघू उभयीं द्विविधामभ्युदयमोक्षरूपाम्। "उभादुदात्तो

नित्यम्' इति तयप्प्रत्ययस्यायजादेशः। 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। सिद्धि फल-मवापतुः। उभावुभे सिद्धी यथासंख्यमवापतुरित्यर्थः।

भावार्थ—इस प्रकार निरुद्धव्यापार वाली इन्द्रियें और शत्रुओं के विषय में जागरूक और क्रमशः उन्नति एवं मोक्ष में लगे हुए अज तथा रघु उन दोनों ने अपनी २ सिद्धियों को प्राप्त कर लिया ॥ २३ ॥

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ २४ ॥

अन्वय—अथ रघुः समदर्शनः सन् अजव्यपेक्षया काश्चित् समाः गमयित्वा योगसमाधिना अव्ययं तमसः परं पुरुषं आपत्।

अथेति। अथ रघुः समदर्शनः सर्वभूतेषु समदृष्टिः, सन्नजव्यपेक्षयाऽजाकाङ्क्षानुरोधेन काश्चित्समाः कतिचिद्वर्षाणि। 'समा वर्षं समं तुल्यम्' इति विश्वः। गमयित्वा नीत्वा योगसमाधिनैवध्यानुसंधाने। 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' इति वसिष्ठः। अव्ययमविनाशिनं तमसः परमविद्यायाः परं मायातीतमित्यर्थः। 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मबुद्धिरविद्या।' इति योगशास्त्रे पुरुषं परमात्मानमापत्प्राप। सायुज्यं प्राप्त इत्यर्थः।

भावार्थ—इसके बाद सभी वस्तुओं को समान समझने वाले महाराज रघु ने अज की इच्छा से कुछ वर्ष और बिताकर फिर योगबल से अविनाशी एवं मायातीत परमात्मा में लीन हो गये अर्थात् शरीर त्याग कर दिया ॥ २४ ॥

श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ २५ ॥

अन्वयः—अग्निचित् राघवः पितुः श्रुतदेहविसर्जनः सन् चिरम् अश्रूणि विमुच्य अस्य अनग्निम् नैष्ठिकं विधिं यतिभिः सार्धं विदधे।

श्रुतेति। अग्निचिदग्निं चितवानाहितवान्। "अग्नौ चेः" इति क्विप्प्रत्ययः। राघवोऽजः श्रुतदेहविसर्जन आकर्णितपितृतनुत्यागः संश्चिरमश्रूणि बाष्पान्विमुच्य विसृज्यास्य पितुरनग्निम् अग्निसंस्काररहितमित्यर्थः। नैष्ठिकं निष्ठायामन्ते भवं विधिमाचारमन्त्येष्टिं यतिभिः संन्यासिभिः सार्धं सह विदधे चक्रे। अनग्निविधिमित्यत्र शौनकः—'सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं कार्यं नैव पिण्डोदकक्रिया ॥ निदध्यात्प्रणवेनैव बिले भिक्षोः कलेवरम्। प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत् ॥' इति।

भावार्थ—पिता के देहत्याग का समाचार सुन कर अग्निहोत्र करनेवाले अज

बहुत रोए, बाद उनके शरीर का दाह संस्कार न करके सन्यासियों के समान पृथ्वी में समाधि दे दी। क्योंकि ज्ञानियों का दाह संस्कार नहीं होता है। (महर्षि शौनक ने स्पष्ट कहा है) ॥ २५ ॥

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
नहि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

अन्वयः—पितृकार्यकल्पवित् सः पितृभक्त्या तदौर्ध्वदैहिकम् अकरोत्, हि तेन पथा तनुत्यजः तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः न भवन्ति ।

अकरोदिति । पितृकार्यस्य तातश्राद्धस्य कल्पविद्विधानज्ञः सोऽजः पितृभक्त्या पितरि प्रेम्णा करणेन । न पितुः परलोकसुखापेक्षया मुक्तत्वादिति भावः । तस्य रघोरौर्ध्वदैहिकम् देहादूर्ध्वं भवतीति तत्तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत् । ॐ ऊर्ध्वं देहाच्च ॐ इति वक्तव्याट्ठञ्प्रत्ययः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । ननु कथं भक्तिरेव श्राद्धादिफलप्रेप्साऽपि कस्मान्नाभूदित्याशङ्क्याह—नहीति । तेन पथा योगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः शरीरत्यागिनः पुरुषास्तनयेनावर्जितं दत्तं पिण्डं काङ्क्षन्तीति तथोक्ता नहि भवन्ति ।

भावार्थ—यद्यपि योगमार्ग से शरीर त्याग करने वाले योगियों को अपने पुत्रों से पिण्डदान की आवश्यकता नहीं रहती तथापि पितृकार्य के विधान को जानने वाले अज ने पितृभक्ति से पिण्डदान पूर्वक श्राद्ध-कर्म किया ॥ २६ ॥

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥

अन्वयः—परार्ध्यगतेः पितुः अशोच्यताम् उद्दिश्य सदर्थवेदिभिः शमिताधिः सः अधिज्य कार्मुकः सन् जगत् अप्रतिशासनम् कृतवान् ।

स इति । परार्ध्यगतेः प्रशस्तगतेः प्राप्तमोक्षस्य पितुरशोच्यतामशोचनीयत्वमुद्दिश्याभिसंधाय शोको न कर्तव्य इत्युपदिश्येत्यर्थः । "परिव्राजि विपन्ने तु पतिते चात्मवेश्मनि । कार्यो न शोको ज्ञातीनामन्यथा दोषभागिनः ॥" इति सुमन्तुस्मरणात् । सदर्थवेदिभिः परमार्थज्ञैर्विद्वद्भिः शमिताधिर्निवारितमनोव्यथः । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । सोऽजोऽधिज्यकार्मुकः अधिज्यमारोपितमौर्वीकं कार्मुकं यस्य स तथोक्तः सन् जगत्कर्मभूतमप्रतिशासनं द्वितीयाज्ञारहितम् आत्माज्ञाविधेयमित्यर्थः । कृतवांश्चकार ।

भावार्थ—जब तत्वज्ञानी विद्वानों ने अज को समझाया कि, आपके पिता रघु ने मोक्ष पा लिया है उनके विषय में शोक करना उचित नहीं है, तब उन्हें धैर्य

हुआ और शोक रहित होकर उन्होंने धनुष को चढ़ाकर सारे संसार पर एक छत्र राज्य कर लिया ॥ २७ ॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनि पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—क्षितिः भामिनी इन्दुमती च अग्र्यपौरुषम् तं पतिम् आसाद्य प्रथमा बहुरत्नसूः अभूत् अपरा वीरं सुतम् अजीजनत् ।

क्षितिरिति । क्षितिर्मही भामिनी कामिनीन्दुमती च । 'भामिनी कामिनी च' इति हलायुधः । अग्र्यपौरुषं महापराक्रममुत्कृष्टभोगशक्तिं च तमजं पतिमासाद्य प्राप्य तत्र प्रथमा क्षितिः बहूनि रत्नानि श्रेष्ठानि वस्तूनि सूत इति बहुरत्नसूरभूत् । 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः । अपरेन्दुमती वीरं विशेषेण शत्रून् ईरयति कम्पयतीति वीरस्तं सुतमजीजनज्जनयति स्म । जायतेर्णौ लुङि रूपम् । सहोक्त्या सादृश्यमुच्यते ।

भावार्थ—पृथ्वी और इन्दुमती दोनों महापराक्रमशाली उस अज को पति के रूप में पाकर परमप्रसन्न हुई और पृथ्वी ने अनेक प्रकार के रत्नों को उत्पन्न किया एवं इन्दुमती ने वीर पुत्र को पैदा किया ॥ २८ ॥

किंनामकोऽसावत आह—

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

अन्वयः—बुधाः दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दशसु अपि दिक्षु श्रुतं दशकण्ठारिगुरुं यम् आख्यया दशपूर्वरथं विदुः ।

दशेति । दश रश्मिशतानि यस्य स दशरश्मिशतः सूर्यः स उपमा यस्याः सा दशरश्मिशतोपमा द्युतिर्यस्य तम् । यशसा करणेन दशस्वपि दिक्ष्वाशासु श्रुतं प्रसिद्धम् । दशकण्ठारेः रावणारेः रामस्य गुरुं पितरं यं सुतम् आख्यया नाम्ना दशपूर्वो दशशब्दपूर्वो रथो रथशब्दस्तम् दशरथमित्यर्थः । बुधा विद्वांसो विदुर्वदन्ति । "विदो लटो वा" इति झेर्जुसादेशः ।

भावार्थ—विद्वान् लोग जिन्हें दस सौ किरणवाले सूर्य के समान तेजस्वी यश से दसों दिशाओं में प्रसिद्ध और दशमुख रावण के शत्रु राम के पिता दशरथ कहते हैं ॥ २९ ॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—श्रुतयागप्रसवैः ऋषिदेवगणस्वधाभुजाम् अनृणत्वम् उपेयिवान् सः पार्थिवः परिधेः मुक्तः उष्णदीधितिः इव बभौ ।

ऋषीति । श्रुतयागप्रसवैरध्ययनयज्ञसन्तानैः करणैः यथासंख्यमृषीणां देवगणानामिन्द्रादीनां स्वधाभुजां पितॄणामनृणात्वमृणविमुक्तत्वमुपेयिवान्प्राप्तवान् । 'ऋणं देवस्य यज्ञेन पितॄणां दानकर्मणा । संतत्या पितृलोकानां धारयित्वा परिव्रजेत् ॥' 'एष वा अनृणी यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा' इति श्रुतेः । स पार्थिवोऽज परिधेः परिवेशात् । 'परिवेशस्तु परिधिः' इत्यमरः । मुक्तो निर्गतः कर्मकर्ता उष्णदीधितिः सूर्य इव बभौ दिदीपे । इत्युपमा ।

भावार्थ—इस प्रकार वेदादिशास्त्रों का अध्ययन करके ऋषिऋण से यज्ञ करके देवऋण से और पुत्र उत्पन्न करके पितृऋण से मुक्त होकर वे राजा अज परिधि से मुक्त सूर्य के समान सुशोभित हुए ॥ ३० ॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तस्य विभोः बलम् आर्त्तभयोपशान्तये श्रुतं विदुषां सत्कृतये अभूत् (अतः) केवलं वसु न किन्तु गुणवत्ता अपि परप्रयोजना अभूत् ।

बलमिति । तस्य विभोरजस्य केवलं वसु धनमेव परप्रयोजनं परोपकारकं नाभूत् । किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजनं यस्यां सा । विधेयांशत्वेन प्राधान्याद्गुणवत्तायाविशेषणं वस्वित्यत्र तूहनीयम् । तथाहि बलं पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निषेधाय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा । बहु भूरि श्रुतं विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय न तूत्सेकाय बभूव । तस्य धनं परोपयोगीति किं वक्तव्यम् । बहुश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः ।

भावार्थ—राजा अज का बल दुखियों के भय दूर करने के लिए और शास्त्राध्ययन विद्वानों के सत्कार के लिए हुआ । इस प्रकार उस रज का केवल धन ही परोपकार के लिए नहीं था किन्तु उसके गुण भी परोपकार के लिए ही थे ।

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः ।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अवेक्षितप्रजः सुप्रजा सः कदाचित् देव्या सह नगरोपवने नन्दने शचीसखः मरुतां पालयिता इव विजहार ।

स इति । अवेक्षितप्रजोऽकुतोभयत्वेनानुसंहितप्रजः । 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः । न केवलं स्त्रैण इति भावः । शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः

सुपुत्रवान्। पुत्रान्यस्तभार इति भावः। सोऽजः कदाचिद्देव्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरोपवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावत्युपकण्ठवने शचीसख.। शच्या सहेत्यर्थः मरुतां देवाना पालयितेन्द्र इव विजहार चिक्रीड।

भावार्थ—एक दिन उत्तमसन्तान वाले प्रजापालक राजा अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ नगर के उपवन मे उसी प्रकार विहार कर रहे थे जिस प्रकार देवताओ के पालक इन्द्र नन्दन वन मे इन्द्राणी के साथ विहार करते हैं।

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥ ३३॥

अन्वय—अथ दक्षिणोदधे. रोधसि श्रितगोकर्णनिकेतम् ईश्वरम् उपवीणयितुं नारद रवेः उदयावृत्तिपथेन ययौ।

अथेति। अथ दक्षिणस्योदधेः समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठितगोकर्णाख्यस्थानमीश्वरं शिवमुपवीणयितु वीणयोपसमीपे गन्तुम्। "सत्यापपाशरूपवीणतूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मचूर्णचुरादिभ्यो णिच्" इत्यनेन वीणाशब्दादुपमानार्थे णिच्प्रत्ययः तनस्तुमुन्। नारदः नराणा समूहः नारं तद्द्यति खण्डयति कलहदानात् इति नारदः। देवर्षी रवेः सूर्यस्य सम्बन्धिनोदयावृत्तिपथेनाकाशमार्गेण ययौ जगाम। सूर्योपमानेनास्यातितेजस्त्वमुच्यते।

भावार्थ—उसी समय दक्षिण समुद्र के तट पर गोकर्ण नामक स्थान स्थित शंकर जी को वीणा बजाकर गाना सुनाने के लिए नारद जी आकाश मार्ग मे चले जा रहे थे॥ ३३॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः॥ ३४॥

अन्वयः—अपार्थिवैः कुसुमैः ग्रथितां तस्य आतोद्यशिरोनिवेशितां स्रजं वेगवान् मारुतः अधिवासस्पृहया इव अहरत् किल।

कुसुमैरिति। अपार्थिवैरभौमैः दिव्यैरित्यर्थः। कुसुमैर्ग्रथिता रचितां तस्य नारदस्यातोद्यस्य वाद्यस्य वीणाया. शिरस्यग्रे निवेशिताम्। 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः। स्रजं मालां वेगवान्मारुतः अधिवासे वासनायां स्पृहयेव स्रजा स्वाङ्गं संस्कर्तुमित्यर्थः। 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः। अहरदिति किलेत्यैतिह्ये।

भावार्थ—स्वर्गीय पुष्पों से गुँथी हुई और वीणा के सिरे पर लपेटी हुई माला को वेगवान् वायु ने मानों अपने को उन पुष्पों से सुगन्धित करने की

इच्छा से वहाँ से उतार लिया हो। अर्थात् उस समय वेग से चलने वाले वायु के कारण वह माला उड़ गई ॥ ३४ ॥

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—जनैः कुसुमानुसारिभिः भ्रमरैः परिकीर्णा मुनेः परिवादिनी पवनावलेपजम् अञ्जनाविलम् बाष्पं सृजती इव ददृशे ।

भ्रमरैरिति। कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुयायिभिर्भ्रमरैरलिभिः परिकीर्णा व्याप्ता मुनेर्नारदस्य परिवादिनी वीणा। 'वीणा तु वल्लकी। विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी ॥' इत्यमरः। पवनस्य वायोरवलेपोऽधिक्षेपस्तमञ्जनेन कज्जलेनाविलं कलुषं बाष्पमश्रु सृजति मुञ्चतीव ददृशे दृष्टा। भ्रमराणां साञ्जनबाष्पबिन्दुसादृश्यं विवक्षितम्। "वा नपुंसकस्य" इति वर्तमाने "आच्छीनद्योर्नुम्" इति नुम्विकल्पः।

भाषार्थ—माला तो वीणा से गिर गई पर पुष्पों के रस के लोभ से फूलों के पीछे २ उड़ने वाले भ्रमर नारदजी की वीणाके चारों ओर मडरा रहे थे उन्हें देख कर मालूम पड़ता था कि मानो वायु से अपमानित होकर वह वीणा काजल से मिले हुए आंसू बहा रही हो ॥ ३५ ॥

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सा अमरस्रक् मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् आर्तवी विभूतिम् अभिभूय नृपतेः दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् आप ।

अभिभूयेति। साऽमरस्रग्दिव्यामाला मधुगन्धयोर्मकरन्दसौरभयोरतिशयेनाधिक्येन वीरुधां लतानाम्। 'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः। ऋतोः प्राप्तामार्तवीमृतुसम्बन्धिनीं विभूतिसमृद्धिमभिभूय तिरस्कृत्य नृपतेरजस्य दयिताया इन्दुमत्या ऊर्वोर्विशालयोः स्तनयोर्या कोटी चूचुकौ तयोः सुस्थिति गोप्यस्थाने पतितत्वात्प्रशस्तां स्थितिं स्थानमाप प्राप्ता।

भावार्थ—अन्य लताओं की अपेक्षा अत्यधिक मकरन्द तथा सुगन्धवाली वह दिव्यमाला राजा अज की प्रिया इन्दुमती के बड़े-बड़े स्तनों के अग्रभाग पर जाकर गिरी ॥ ३६ ॥

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुजातयोः स्तनयोः क्षणमात्रसखीं ताम् अवलोक्य विह्वला नरोत्तमप्रिया तमसा हृतचन्द्रा कौमुदी इव निमिमील।

क्षणमिति। सुजातयोः सुजन्मनोः। सुन्दरयोरित्यर्थः। स्तनयोः क्षणमात्रं सखीं सखीमिव स्थितां सुजातत्वसाधर्म्यात्स्रजः स्तनसखीत्वमिति भावः। तां स्रजमवलोक्यापद्दृष्ट्वा विह्वला परवशा नरोत्तमप्रियेन्दुमती तमसा राहुणा। 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इत्यमरः। हृतचन्द्रा कौमुदी चन्द्रिकेव निमिमील मुमोह। 'निमीलो दीर्घनिद्रा च' इति हलायुधः। कौमुद्या निमीलनं प्रतिसंहारः।

भावार्थ—अज की प्रिया इन्दुमती ने अपने सुन्दर स्तनों पर क्षण मात्र पड़ी हुई उस माला को देखा और व्याकुल होकर आँखें बन्द कर लीं मानो राहु ने चन्द्रमा को ग्रस कर उसकी चांदनी नष्ट कर दिया अर्थात् जैसे राहु से ग्रस्त होने पर चन्द्रमा की चांदनी नष्ट हो जाती है वैसे ही उस माला के आघात से इन्दुमती मर गई॥ ३७॥

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥ ३८॥

अन्वयः—करणोज्झितेन वपुषा निपतन्ती सा पतिम् अपि अपातयत् दीपार्चिः तैलनिषेकबिन्दुना सह मेदनीम् उपैति ननु।

वपुषेति। करणैरिन्द्रियैरुज्झितेन मुक्तेन। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः। वपुषा निपतन्ती सेन्दुमती पतिमजमप्यपातयत्पातयति स्म। तथाहि निषिच्यते इति निषेकः तैलस्य निषेकस्तैलनिषेकः। क्षरत्तैलमित्यर्थः। तस्य बिन्दुना सह दीपार्चिर्दीपज्वाला मेदिनीं भुवमुपैत्येव। नन्वत्रावधारणे। 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। इन्दुमत्या दीपार्चिरुपमानम्। अजस्य तैलबिन्दुः तत एव तस्या जीवितसमाप्तिस्तस्य जीवितशेषश्च सूच्यते।

भावार्थ—प्राणहीन होकर शरीर से गिरती हुई उस इन्दुमती ने अपने पति अज को भी गिरा दिया अर्थात् इन्दुमती के गिरते ही अज भी बेहोश होकर गिर गये। क्योंकि गिरते हुए तेल की बूंदों के साथ क्या दीपक की लौ पृथ्वी पर नहीं गिर पड़ती है॥ ३८॥

उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः॥ ३९॥

अन्वय.—उभयोः पार्श्ववर्तिनाम् तुमुलेन आर्तरवेण वेजिताः कमलाकरालयाः विहगाः अपि तत्र समदुःखा इव चुक्रुशुः।

उभयोरिति । उभयोर्दम्पत्योः पार्श्ववर्तिनां परिजनानां तुमुलेन संकुलेनार्तरवेण करुणस्वनेन वेजिता भीताः कमलाकरालयाः । सरःस्थिता विहगा हंसादयोऽपि तत्रोपवने समदुःखा इव तत्पार्श्ववर्तिनां समानशोका इव । चुक्रुशुः क्रोशन्ति स्म ।

भावार्थ—अज और इन्दुमती के पास मे वर्तमान सेवकों के रोने और चिल्लाने से उस उपवन के पक्षी भी उद्विग्न होकर चिल्लाने लगे, मानो उनके समान दुखी होकर वे समवेदना प्रकट कर रहे थे ॥ ३९ ॥

> नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
> प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥

अन्वयः—सेवकैः नृपतेः तमः व्यजनादिभिः नुनुदे । सा तु तथा एव संस्थिता हि प्रतिकारविधानम् आयुषः शेषे सति फलाय कल्पते ।

नृपतेरिति । नृपतेरजस्य तमोऽज्ञानं व्यजनादिभिः साधनैर्नुनुदेऽपसारितम् । आदिशब्देन जलसेककर्पूरक्षोदादयो गृह्यन्ते । सा त्विन्दुमती तथैव संस्थिता मृता । तथाहि प्रतिकारविधानं चिकित्साकरणमायुषो जीवितकालस्य शेषे सति विद्यमाने । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । फलाय सिद्धये कल्पते आरोग्याय भवति । "क्लृपि संपद्यमाने च" इति चतुर्थी । नान्यथा । नृपतेरायुः शेषसद्भावात्प्रतीकारस्य साफल्यं तस्यास्तु तदभावाद्वैफल्यमित्यर्थः ।

भावार्थ—पंखा डुलवाना चन्दनमिश्रित जलप्रक्षेप आदि ठण्डे उपचारों से किसी प्रकार अज की मूर्च्छा तो दूर हो गई, किन्तु इन्दुमती ज्यों की त्यों पडी रही क्योंकि दवा आयुशेष रहने पर ही काम करती है ॥ ४० ॥

> प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
> स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अथ नितान्तवत्सलः सः सत्त्वविप्लवात् प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थाम् अङ्गनां परिगृह्य अङ्कं निनाय ।

प्रतीति । अथ सत्त्वस्य चैतन्यस्य विप्लवाद्विनाशाद्धेतोः । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वम्' इत्यमरः । प्रतियोजयितव्या तन्त्रीभिर्योजनीया । न तु योजिततन्त्रीरित्यर्थः । या वल्लकी वीणा तस्याः समावस्था दशा यस्यास्तामङ्गनां वनितां नितान्तवत्सलोऽतिप्रेमवान्सोऽजः परिगृह्य हस्ताभ्यां गृहीत्वोचितं परिचितमङ्कमुत्सङ्गं निनाय नीतवान् । वल्लकीपक्षे तु सत्त्वं तन्त्रीणामवष्टम्भकः शलाकाविशेषः ।

भावार्थ—तब प्रिया के अत्यन्त प्रेमी उस अज ने चेतनाशून्य अपनी प्रियपत्नी

इन्दुमती को उठाकर उसी प्रकार अपनी गोदमें रख लिया जिस प्रकार गायक तार मिलाने के लिए वीणा को अपनी गोद मे रख लेते हैं ॥ ४१ ॥

पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पतिः अङ्कनिषण्णया करणापायविभिन्नवर्णया तया उषसि आविलां मृगलेखां बिभ्रत् इव समलक्ष्यत ।

पतिरिति । पतिरजोऽङ्कनिषण्णयोत्सङ्गस्थितया करणानामिन्द्रियाणां तदुपलक्षितस्य चैतन्यस्य वा अपायेनापगमेन हेतुना विभिन्नवर्णया विच्छायया तया "इत्थंभूतलक्षणे" इत्यनेन तृतीया । उषसि प्रातःकाले आविलां मलिनां मृगलेखां लाञ्छनं मृगरेखारूपं बिभ्रद्धारयंश्चन्द्रमा इव समलक्ष्यतादृश्यत । इत्युपमा ।

भावार्थ—प्राण निकल जाने से शोभाहीन इन्दुमती को अपनी गोद मे लिए हुए राजा अज उस प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान दिखाई दे रहे थे जिसकी गोद मे मलिन मृग की छाया हो ॥ ४२ ॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सः सहजाम् अपि धीरताम् अपहाय बाष्पगद्गदं विललाप अभितप्तम् अयः अपि मार्दवं भजते शरीरिषु कथैव का अस्ति ।

विललापेति । सोऽजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्य बाष्पेण कण्ठगतेन गद्गदं विशीर्णाक्षरं तथा ध्वनिमात्रानुसारिगद्गदशब्दं विललाप परिदेवितवान् । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । धीरस्य कुतः शोक इति चेदत आह—अभितप्तमग्निना संतप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरस्यं च भजते प्राप्नोति । शरीरिषु अभिसन्तप्तेष्विति शेषः । विषये कैव कथा वार्ता अनुक्तसिद्धमित्यर्थः ।

भावार्थ—वे अज अपने स्वाभाविक धैर्य को छोडकर आँसू से गद्गद होकर विलाप करने लगे, जब अचेतन लोहा भी अग्नि में तपाये जाने पर पिघल जाता है तब शोक से सन्तप्त प्राणियों का क्या कहना है ? ॥ ४३ ॥

कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त ! साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—कुसुमानि अपि गात्रसङ्गमात् आयुः अपोहितुं प्रभवन्ति यदि हन्त, प्रहरिष्यतः विधेः अन्यत् किम् इव साधनं न भविष्यति ।

कुसुमानीति। कुसुमानि पुष्पाण्यपि। अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः। गात्रसंगमाद्देहसंसर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि। हन्त विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः'। प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतो विधेर्दैव स्यान्यत्कुसुमातिरिक्तं किमिव वस्तु। इवशब्दो वाक्यालंकारे कीदृशमित्यर्थः। साधनं प्रहरणं न भविष्यति न भवेत् सर्वमपि साधनं भविष्यत्येवेत्यर्थः।

भावार्थ—अज विलाप करते हुए कहते जा रहे हैं कि यदि फूल भी शरीर-पर गिरने से प्राण लेने मे समर्थ हो सकते हैं तो, हाय! मारने की इच्छा करने वाले दैव का साधन दूसरी कौन वस्तु नहीं हो सकती है? अर्थात् सभी वस्तुयें प्राण-घातक हो सकती हैं॥ ४४॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता॥ ४५॥

अन्वयः—अथवा प्रजाऽन्तकः मृदु वस्तु मृदुना एव हिंसितुम् आरभते अत्र हिमसेकविपत्तिः नलिनी मे पूर्वनिदर्शनं मता अस्ति।

अथवेति। अथवा पक्षान्तरे प्रजान्तकः कालो मृदु कोमलं वस्तु मृदुनैव हिंसितुं हन्तुमारभत उपक्रमते। अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याः सा तथा। नलिनी पद्मिनी मे पूर्वं प्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मता। द्वितीयं निदर्शनं पुष्पमृत्युरिन्दुमतीति भावः।

भावार्थ—अथवा काल कोमल वस्तुओं को मारने के लिये कोमल पदार्थों का प्रयोग करता है। इस विषय मे तुषार के गिरने से नष्ट होने वाली नलिनी ही प्रत्यक्ष प्रमाण है॥ ४५॥

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥ ४६॥

अन्वयः—इयं स्रक् यदि जीवितापहा अस्ति हृदये निहिता सती मां किं न हन्ति, ईश्वरेच्छया क्वचित् विषम् अपि अमृतं भवेत् क्वचित् अमृतं वा विषं भवेत्।

स्रगिति। इयं स्रग्जीवितमपहन्तीति जीवितापहा यदि हृदये वक्षसि। 'हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। निहिता सती मां किं न हन्ति। ईश्वरेच्छया क्वचित्प्रदेशे विषमप्यमृतं भवेत्क्वचिदमृतं वा विषं भवेत्। दैवमेवात्र कारणमित्यर्थः।

भावार्थ—यदि यह माला मारनेवाली है तो हृदय पर रखी हुई मुझको क्यों नही मारती? ठीक ही है, ईश्वर की इच्छा से ही विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष हो जाता है॥ ४६॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एव वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥

अन्वय.—अथवा मम भाग्यविप्लवात् वेधसा एषः अशनिः कल्पितः यत् अनेन तरुः न पातितः किन्तु तद्विटपाश्रिता लता क्षपिता।

अथवेति। अथवा मम भाग्यस्य विप्लवाद्विपर्ययादेव स्रगित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात्पुंलिङ्गनिर्देशः। वेधसाऽशनिर्वज्रतोऽग्निः कल्पितः। 'दम्भोलिरशनिर्द्वयो' इत्यमरः। यद्यस्मादनेनाप्यशनिना प्रसिद्धाशनिनेव तरुस्तरुस्थानीयः स्वयमेव न पतितः। किन्तु तरोर्विटपाश्रिता लता वल्ली क्षपिता नाशिता।

भावार्थ—अथवा मेरे दुर्भाग्य से विधाता ने इस पुष्पमाला को वज्र बना दिया है जिसने वृक्षरूपी मुझ अजको तो नहीं गिराया किन्तु मेरे सहारे रहनेवाली लता रूपी इन्दुमती को नष्ट कर डाला ॥ ४७ ॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मयि चिरम् अपराद्धे अपि यदा त्वम् अवधीरणां न कृतवती असि, तत् कथम् एकपदे निरागसम् इमं जनं आभाष्यं न मन्यसे।

कृतवतीति। मयि चिरं भूरिशोऽपराद्धेऽप्यपराधं कृतवत्यपि। राधेः कर्तरि क्तः। यदा यस्माद्धेतो यदेति हेत्वर्थः। 'स्वरादौ पठ्यते यदेति हेतौ' इति गणव्याख्यानात्। अवधीरणामवज्ञां न कृतवत्यसि नाकार्षीः। तत्कथमेकपदे तत्क्षणे। 'स्यात्तत्क्षण एकपदम्' इति विश्वः। निरागसं निरपराधमिमं जनम्। इममिति स्वात्मनिर्देशः। मामित्यर्थः। आभाष्यं सम्भाष्यं न मन्यसे न चिन्तयसि।

भावार्थ—(अब इन्दुमती के प्रति अज कहते हैं) हे प्रिये ! जब कई बार अपराध करने पर भी तुमने कभी मेरा अपमान नहीं किया, तब आज एकाएक अपराधी के समान मुझसे बोलना तुमने क्यों बन्द कर दिया ॥ ४८ ॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते ! विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे शुचिस्मिते ! शठः कैतववत्सलः इति ध्रुवं तव विदितः अस्मि यत् मां अनापृच्छ्य असन्निवृत्तये इतः परलोकं गता असि।

ध्रुवमिति। हे शुचिस्मिते मन्दस्मिते ! गूढविप्रियकारी कैतवेन कपटेन वत्सलः कैतवस्निग्ध इति ध्रुवं सत्यं तव विदितस्त्वया विज्ञातोऽस्मि। "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" इत्यनेन वर्तमाने क्तः। "क्तस्य च वर्तमाने" इति कर्तरि षष्ठी। कुतः यद्यस्मान्मामनापृच्छ्यानामन्त्र्येतोऽस्माल्लोकात्परलोकमसंनिवृत्तये गतासि।

भावार्थ—हे मधुर हँसी हँसने वाली प्रिये ! तुमने मुझे सचमुच झूठा प्रेम करने वाला कपटी समझ लिया है तभी तो मुझसे विना पूछे सदा के लिए परलोक चल वसी हो ॥ ४९ ॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—इदं मम हतजीवितं तावत् दयिताम् अन्वगात् यदि, तर्हि तया विना किं विनिवृत्तम् अत एव आत्मकृतेन प्रबलां वेदनां सहताम् ।

दयितामिति । इदं मम हतजीवितं कुत्सितं जीवितं तावदादौ दयितामिन्दुमतीमन्वगादन्वगच्छद्यदि अन्वगादेव । यद्यत्रावधारणे, पूर्वं मूर्च्छितत्वादिति भावः। तर्हि तया दयितया विना किं किमर्थं विनिवृत्तं प्रत्यागतम् । प्रत्यागमनं न युक्तमित्यर्थः । अत एवात्मकृतेन स्वदुश्चेष्टितेन निवृत्तिरूपेण प्रबलामधिकां वेदनां दुःखं सहतां क्षमताम् । स्वयंकृतापराधेषु सहिष्णुतैव शरणमिति भावः ।

भावार्थ—यदि ये मेरे अभागे प्राण प्यारी इन्दुमती के पीछे चले गये थे तब उसके विना लौट क्यों आये ? जब इनकी करनी ही ऐसी है तो अपने किये हुए का फल भोगें और अधिक दुःख सहन करें मैं क्या कर सकता हूँ ॥ ५० ॥

सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सुरतश्रमसम्भृतः स्वेदलवोद्गमः अपि ते मुखे ध्रियते, अथ च त्वम् आत्मना अस्तम् इता (असि) अतः देहभृतां असारताम् धिक् ।

सुरतेति । सुरतश्रमेण सम्भृतो जनितः स्वेदलवोद्गमोऽपि ते तव मुखे ध्रियते वर्तते । अथ च त्वमात्मना स्वरूपेणास्तं नाशमिता प्राप्ता । अतः कारणाद्देहभृतां, प्राणिनामिमां प्रत्यक्षामसारतामस्थिरतां धिक् ।

भावार्थ—सुरत के परिश्रम से उत्पन्न पसीने की बूँदें तुम्हारे मुख पर अभी मौजूद हैं पर तुम चल वसी, देहधारियों की इस निःसारता को धिक्कार है ॥ ५१ ॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—मया मनसा अपि तव विप्रियं न कृतपूर्वं, त्वम् मां किं जहासि । ननु अहं क्षितेः शब्दपतिः अस्मि भावनिबन्धना मे रतिः त्वयि एव अस्ति ।

मनसेति । मया मनसापि तव विप्रियं न कृतपूर्वम् पूर्वं न कृतमित्यर्थः । सुप्सुपेति समासः । किं केन निमित्तेन मा जहासि त्यजसि । नन्वहं क्षितेः शब्दपतिः शब्दत एव पतिः । न त्वर्थत इत्यर्थः । भावनिबन्धासाभिप्रायनिबन्धना स्वभावहेतुका मे रतिः प्रेम तु त्वय्येव अस्तीति शेषः ।

भावार्थ—मैंने पहले कभी मन से भी तुम्हारा अप्रिय नहीं किया है तो मुझे क्यों छोड़ रही हो ? सत्य पूछो तो मैं नाम मात्र से पृथ्वी का पति हूँ, मेरा स्वाभाविक प्रेम तो तुम्हारे में ही है ॥ ५२ ॥

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु ! करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—कुसुमोत्खचितान् वलीभृतः भृङ्गरुचः तव अलकान् चलयन् मारुतः हे करभोरु मे मनः त्वदुपावर्तनशङ्कि करोति ।

कुसुमेति । कुसुमैरुत्खचितानुत्कर्षेण रचितान्वलीभृतोभङ्गीयुक्तान् । कुटिलानित्यर्थः । भृङ्गरुचो नीलांस्तवालकाश्चलयन्कम्पयन्मारुतः हे करभोरु करभसदृशोरु ! 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । मे मनस्त्वदुपावर्तनशङ्कि तव पुनरागमने शङ्कावत्करोति । त्वदुज्जीवने शङ्कां कारयतीत्यर्थः ।

भावार्थ—हे करभोरु ! वायु से हिलती हुई, फूलों से गूँथी, भौंरों के समान काली और घुँघराली तुम्हारी लटों को देखकर मेरे मन में यह आशा होने लगती है कि अब तुम अवश्य जी उठोगी ॥ ५३ ॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे प्रिये ! त्वम् तत् आशु मे विषादं नक्तम् ओषधिः ज्वलितेन तुहिनाद्रेः गुहागतं तमः इव प्रतिबोधेन अपोहितुम् अर्हसि ।

तदिति । हे प्रिये ! तत्तस्मात्कारणदाशु मे विषादं दुःखं नक्तं रात्रावोषधिस्तृणज्योतिराख्या लता ज्वलितेन प्रकाशेन तुहिनाद्रेर्हिमाचलस्य गुहागतं तमोऽन्धकारमिव प्रतिबोधेन ज्ञानेनापोहितुं निरसितुमर्हसि ।

भावार्थ—इसलिए हे प्रिये ! जिस प्रकार रात में चमकने वाली जड़ी बूटियाँ अपने प्रकाश से हिमालय की कन्दराओं का अन्धकार दूर कर देती हैं उसी प्रकार तुम भी जीवन धारण करके मेरे हृदय के विषाद को दूर करो ॥ ५४ ॥

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इदम् उच्छ्वसितालकं विश्रान्तकथं तव मुखं निशि सुप्तं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् एकपङ्कजम् इव मां दुनोति ।

इदमिति । इदमुच्छ्वसितालकं चलितचूर्णकुन्तलं विश्रान्तकथं विवृत्तसंलापं तव मुखं निशि रात्रौ सुप्तं निमीलितं विरतोऽभ्यन्तराणामन्तर्वर्तिनां षट्पदानां स्वनो यत्र तत् । निःशब्दभृङ्गमित्यर्थः । एकपङ्कजमद्वितीयं पद्ममिव मां दुनोति परितापयति ।

भावार्थ—वायु में हिलते हुए घुँघुराले केशों वाला यह तुम्हारा मुख रात्रि के समय मुकुलित अन्दर भौंरों के गुञ्जार से रहित एक कमल के समान मुझे पीड़ित कर रहा है ॥ ५५ ॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—शर्वरी शशिनं पुनः एति द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणं दयिता पुनः एति इति तौ विरहान्तराक्षमौ स्तः, अत्यन्तगता त्वं तु मां कथं न दहेः ।

शशिनमिति । शर्वरी रात्रिः शशिनं चन्द्रं पुनरेति प्राप्नोति । द्वन्द्वीभूय चरतीति द्वन्द्वचरः तं पतत्त्रिणं चक्रवाकं दयिता चक्रवाकी पुनरेति । इति हेतोस्तौ चन्द्रचक्रवाकौ विरहान्तरक्षमौ विरहावधिसहौ । 'अन्तरमवकाशावधिनान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । अत्यन्तगता पुनरावृत्तिरहिता त्वं तु कथं न मां दहेः । दहेरेवेत्यर्थः ।

भावार्थ—हे प्रिये ! रात्रि चन्द्रमा को पुनः प्राप्त हो जाती है और चकवा चकवी का संयोग प्रातः काल में पुनः हो जाता है इसलिए ये दोनों अपनी प्रिया का वियोग सहन कर सकते हैं परन्तु तुम तो सदा के लिए सो गई हो फिर बताओ मैं विरह की आग में जलकर भस्म क्यों न हो जाऊँ ॥ ५६ ॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु ! चिताधिरोहणम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे वामोरु ! नवपल्लवसंस्तरे अपि मृदु ते यत् अङ्गं दूयेत तत् इदं चिताऽधिरोहणं कथं विषहिष्यते वद ।

नवेति । नवपल्लवसंस्तरे नूतनप्रवालास्तरणेऽप्यर्पितं स्थापितं मृदु ते तव यदङ्गं शरीरं दूयेत परितप्तं भवेत् । वामौ सुन्दरौ उरू यस्याः सा हे वामोरु ! 'वामं स्यात्सुन्दरे सव्ये' इति केशवः । "संहितशफलक्षणवामादेश्च" इत्यादिनोङ्प्रत्ययः । तदिदमङ्गं चितायाः काष्ठसञ्चयस्याधिरोहणं कथं विषहिष्यते वद ।

भावार्थ—हे सुन्दर जंघेवाली प्रिये ! जो तेरा अत्यन्त सुकुमार शरीर नये कोमल पल्लवों की शय्या पर भी कष्ट पाता था, भला वही शरीर अब कठोर चिता के स्पर्श को कैसे सहन कर सकेगा ॥ ५७ ॥

इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—इयम् प्रथमा रहःसखी गतिविभ्रमसादनीरवा रशना अप्रतिबोधशायिनी त्वां अनु शुचा मृता इव मया न लक्ष्यते इति न ।

इयमिति । इयं प्रथमाऽऽद्या रहःसखी सुरतसमयेऽप्यनुयानादिति भावः । गतिभ्रमसादेन नीरवा विलासोपरमेण निःशब्दा रशना मेखला अप्रतिबोधमपुनरुद्बोधं यथा तथा शायिनी । मृतामित्यर्थः । त्वामनु त्वया सह । "तृतीयार्थे" इत्यनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वात् "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इत्यनेन द्वितीया। शुचा शोकेन मृतेव न लक्ष्यत इति न । लक्ष्यत एवेत्यर्थः । संभाव्यनिषेधनिवर्तनाय द्वौ प्रतिषेधौ ।

भावार्थ—तुमारी हावभावभरी चाल के बन्द हो जाने से शब्दरहित तुम्हारी एकान्तसखी यह करधनी भी तुम्हें सदा के लिए सोती देखकर तुम्हारे शोक में मरी हुई सी दिखाई दे रही है ॥ ५८ ॥

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥
त्रिदिवोत्सुकयाऽप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ ६० ॥

अन्वयः—अन्यभृतासु कलं भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतं पृषतीषु विलोलम् ईक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः इति 'अमी गुणाः त्रिदिवोत्सुकया अपि त्वया माम् अवेक्ष्य सत्यं निहिताः तव विरहे गुरुव्यथं मे हृदयम् अवलम्बितुं न क्षमाः सन्ति' ।

कलमिति । त्रिदिवेति । युग्मम् । उभयोरेकान्वयः । अन्यभृतासु कोकिलासु कलं मधुरं भाषितं भाषणं कलहंसीषु विशिष्टहंसीषु मदालसं मन्थरं गतं गमनम्। पृषतीषु हरिणीषु विलोलमीक्षितं चञ्चला दृष्टिः । पवनेन वायुनाधूतलतास्वीषत्कम्पितलतासु विभ्रमा विलासाः । इत्यमी पूर्वोक्ताः कलभाषणादयो गुणाः एषु कोकिलादिस्थानेष्विति शेषः । त्रिदिवोत्सुकयापीह जीवन्त्येव स्वर्गं प्रति प्रस्थितयापि त्वया मामवेक्ष्य विरहासहं विचार्य सत्यं निहिताः मत्प्राणधारणोपायतया

स्थापिता इत्यर्थः। तव विरहे गुरुव्यथमतिदुःखं मे हृदयं मनोऽवलम्बितुं न क्षमा न शक्ताः। ते तु तत्संगम एव सुखकारिणः। नान्यथा प्रत्युत प्राणानपहरन्तीति भावः।

भाषार्थ—हे प्रिये ! स्वर्ग में जाते समय तुम मुझे आश्वासन देने के लिए कोकिलाओं में मधुर भाषण, राजहंसियों में अपनी धीमी चाल, हरिणियों में चञ्चल चितवन, वायु में धीरे-धीरे हिलनेवाली लताओं में विलास आदि गुण तुम छोड़ गई हो परन्तु वे तुम्हारे विरह में अत्यन्त दुःखी मेरे हृदय को किसी प्रकार शान्ति देने में समर्थ नहीं हैं ॥ ५९-६० ॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—ननु हे प्रिये ! सहकारः फलिनी च इमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितम् अनयोः विवाहसत्क्रियाम् अविधाय गम्यते इति असाम्प्रतम् (अस्ति)।

मिथुनमिति। ननु हे प्रिये ! सहकारश्चूतविशेषः फलिनी प्रियङ्गुलता चेमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितं मिथुनत्वेनाभ्यमानि। अनयोः फलिनीसहकारयोर्विवाह-सत्क्रियां विवाहमङ्गलमविधाय अकृत्वा गम्यत इत्यसांप्रतमयुक्तम्। मातृहीनानां न किंचित्सुखमस्तीति भावः।

भाषार्थ—हे प्रिये ! तुमने इस आम्रवृक्ष और प्रियंगुलता की जोड़ी माना था इन दोनों का विवाह संस्कार किये विना जा रही हो, यह अत्यन्त अनुचित है ॥ ६१ ॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—त्वया कृतदोहदः अयम् अशोकः यत् कुसुमम् उदीरयिष्यति तव अलकाभरणं तत् (अहम्) कथं नु निवापमाल्यतां नेष्यामि।

कुसुममिति। वृक्षादिपोषकं दोहदम् त्वया कृतं दोहदं पादताडनरूपं यस्य सोऽयमशोको यत्कुसुममुदीरयिष्यति प्रसाविष्यसे तवालकानामाभरणमाभरणभूतं तत्कुसुमं कथं नु केन प्रकारेण निवापमाल्यतां दाहाञ्जलेरर्घ्यतां नेष्यामि। 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः।

भाषार्थ—हे प्रिये ! जिस अशोक वृक्ष को तुमने अपने चरणों से स्पर्श किया है जब वह आगे चलकर फूलेगा, तब तुम्हारे केशों को सजाने के योग्य उन फूलों को मैं किस प्रकार दाह संस्कार के बाद दी जाने वाली तिलाञ्जलि में उपयोग करूँगा ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि ! शोच्यसे ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे सुगात्रि ! अन्यदुर्लभं सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहं स्मरता इव कुसुमाश्रुवर्षिणा अमुना अशोकेन त्वम् शोच्यसे ।

स्मरतेति । अन्यदुर्लभम् किन्तु स्मर्तव्यमेवेत्यर्थः । सशब्दं ध्वनियुक्तं नूपुरं मञ्जीरं यस्य तं चरणेनानुग्रहं पादेन ताडनरूपं स्मरतेव चिन्तयतेव कुसुमान्येवाश्रूणि तद्वर्षिणाऽमुना पुरोवर्तिनाऽशोकेन हे सुगात्रि ! "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इति ङीप् । त्वं शोच्यसे ।

भावार्थ—हे शोभनाङ्गी प्रिये ! तुम्हारे झंकार करते हुए नूपुर वाले चरणों की ठोकर किसी को नहीं मिलती किन्तु तुमने बड़ी कृपा करके इस अशोक को ठोकर लगा दी थी । अब उन तुम्हारे चरणों की कृपा का स्मरण करके यह अशोक वृक्ष पुष्प रूपी आँसू बरसाते हुए तुम्हारे लिए रो रहा है ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे किन्नरकण्ठि ! तव निःश्वसितानुकारिभिः बकुलैः मया समं अर्धचितां विलासमेखलाम् असमाप्य (त्वया) किमिदं सुप्यते ।

तवेति । तव निश्वसितानुकारिभिर्बकुलकुसुमैर्मया समं सार्धमर्धचितामर्धं यथा तथा रचितां विलासमेखलामसमाप्यापूरयित्वा किन्नरस्य देवयोनिविशेषस्य कण्ठ इव कण्ठो यस्यास्तत्संबुद्धिर्हे किन्नरकण्ठि ! "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इति ङीप् । किमिदं सुप्यते निद्रा क्रियते । "वचिस्वपियजादीनां किति" इत्यनेन सम्प्रसारणम् । अनुचितमिदं स्वपनमित्यर्थः ।

भावार्थ—हे किन्नरों के समान मधुर कण्ठवाली प्रिये ! अपने श्वास के समान सुगन्धित मौलसरी के पुष्पों की जो सुन्दर करधनी तुम मेरे साथ गूँथ रही थीं उसे पूरा किये बिना क्यों सो रही हो ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सखीजनः समदुःखसुखः अयम् आत्मजः प्रतिपच्चन्द्रनिभः अहम् एकरसः तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः अस्ति ।

समेति । सखीजनः समदुःखसुखः त्वद्दुःखेन दुःखी । त्वत्सुखेन सुखीत्यर्थः ।

अयमात्मजो बालः। प्रतिपच्चन्द्रनिभः दर्शनीयो वर्धिष्णुश्चेत्यर्थः। प्रतिपच्छब्देन द्वितीया लक्ष्यते। प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात्। अहमेकरसाऽभिन्नरागः। 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः। तथापि जीवितसामग्रीसत्त्वेऽपीत्यर्थः। ते तव व्यवसायोऽस्मत्परित्यागरूपो व्यापारः प्रतिपत्त्या निश्चयेन निष्ठुर क्रूरः। 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च। प्रागल्भ्ये च प्रबोधे च' इति विश्वः। स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुमिति भावः।

भावार्थ—हे प्रिये! सुख-दुःख में समान रहनेवाली सखियां खड़ी हैं, प्रतिपद के चन्द्रमा के समान सुन्दर और माता द्वारा पालन की अपेक्षा रखनेवाला छोटा-सा अबोध बालक भी यही है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे साथ हूँ। तथापि हम लोगों को छोड़ कर स्वर्ग चले जाने का यह तुम्हार व्यवहार अत्यन्त निष्ठुर मालूम पड़ता है॥ ६५॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥ ६६॥

अन्वयः—अद्य मे धृतिः अस्तम् इता रतिः च्युता गेयं विरतम् ऋतुः निरुत्सवः आभरणप्रयोजनं गतं शयनीयं परिशून्यम् अभूत्।

धृतिरिति। अद्य मे धृतिर्धैर्यं प्रतीतिर्वास्तं नाशमिता। रतिः क्रीडा च्युता गता। गेयं गानं विरतम्। ऋतुर्वसन्तादिर्निरुत्सवः। आभरणानां प्रयोजनं गतमपगतम्। शेतेऽस्मिन्निति शयनीयं तल्पम्। "कृत्यल्युटो बहुलम्" इत्यधिकरणार्थेऽनीयर् प्रत्ययः। परिशून्यं त्वां विना सर्वमपि निष्फलमिति भावः।

भावार्थ—हे प्रिये! आज तेरे बिना मैं अधीर हो रहा हूँ, मेरा आनन्द जाता रहा, गाना बजाना बन्द हो गया भूषण पहनने का प्रयोजन समाप्त हो गया और मेरी सेज सूनी हो गई; अधिक क्या कहूँ तेरे बिना सभी व्यर्थ हैं।

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ ६७॥

अन्वयः—त्वं एव गृहिणी सचिवः मिथः सखी ललिते कलाविधौ प्रियशिष्या असि। अतः त्वां हरता करुणाविमुखेन मृत्युना मे किं न हृतं त्वं वद।

गृहिणीति। त्वमेव गृहिणी दाराः। अनेन सर्वं कुटुम्बं त्वदाश्रयमिति भावः। सचिवो बुद्धिसहायो मन्त्री हितोपदेशस्त्वदायत्त इत्यनेनोच्यते। मिथो रहसि सखी नर्मसचिवः। सर्वोपभोगस्त्वदाश्रय इत्यमुना प्रकटितम्। ललिते मनोहरे कलाविधौ वादित्रादिचतुःषष्टिकलाप्रयोगे प्रियशिष्या प्रियत्वं प्राशस्त्यादि-

त्यभिसन्धिः सर्वानन्दोऽनेन त्वन्निबन्धन इत्युद्घाटितम्। अतस्त्वां समष्टिरूपां हरता अत एव अकरुणाविमुखेन कृपाशून्येन मृत्युना मे मत्सम्बन्धि किं वस्तु न हृतं वद। सर्वमपि हृतमित्यर्थः।

भावार्थ—हे प्रिये! तुम्हीं मेरी धर्मपत्नी सम्मति देने वाला मंत्री एकान्त की सखी और गान आदि ललित कलाओं के प्रयोग में प्रिय शिष्या थी। तुम्हीं कहो तुमको हरण करते हुए निर्दय मृत्यु ने मेरा क्या नहीं छीन लिया? अर्थात् मृत्यु ने आज मेरा सर्वस्व हरण कर लिया॥ ६७॥

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम्॥ ६८॥

अन्वयः—हे मदिराक्षि! मदाननार्पितं रसवत् मधु पीत्वा त्वं परलोकोपनतं मे बाष्पदूषितं जलाञ्जलिं कथं नु अनुपास्यसि।

मदिरेति। मादयत्यनयेति मदिरा लोकप्रसिद्धा। तथापि नार्यो मदिरलोचनाः इत्यादिप्रयोगदर्शनान्मादयत्यामिति मदिरे अक्षिणी अस्यास्तत्संबुद्धिर्हे मदिराक्षि मत्तलोचने! मदाननेनार्पितं रसवत्स्वादुतरं मधु मद्यं पीत्वा बाष्पदूषितमश्रुत्रस्तं परलोकोपनतं परलोकप्राप्तं मे जलाञ्जलिं तिलोदकाञ्जलिं कथं त्वमनन्तरं पास्यसि। तदनन्तरमिदमयुक्तमित्यर्थः। यथाह भट्टल्लः—'अनुपानं हिमजलं यवगोधूमनिर्मिते। दध्नि मद्ये द्राक्षे पिष्टे पिष्टमयेऽपि च।' इति तच्चेहैव इदं लोकान्तरोपयोगि चेत्यायुर्वेदविरोध तत्कथमनुपास्यसीति भावः।

भावार्थ—हे मदिराक्षि प्रिये! पहले मेरे मुख से प्रेम पूर्वक दिये हुए स्वादिष्टमद्यको पीकर बाद में अब तुम मेरी आँसुओं से दूषित परलोक में प्राप्त तिलाञ्जलि को कैसे पीओगी॥ ६८॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम्।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः॥ ६९॥

अन्वयः—विभवे सति अपि त्वया विना अजस्य एतावत् एव सुखं जनैः गण्यतां विलोभनान्तरैः अहृतस्य मम सर्वे विषयाः त्वदाश्रयाः सन्ति।

विभव इति। विभवे ऐश्वर्ये सत्यपि त्वया विनाऽजस्यैतावदेव सुखं गण्यताम् यावत्त्वया सह भुक्तं ततोऽधिकं किंचिद्भविष्यतीत्यर्थः। कुतः विलोभनान्तरैर्विषयान्तरैरहृतस्यानाकृष्टस्य मम सर्वे विषया भोगादयस्त्वदाश्रयास्त्वदधीनाः। त्वां विना मे न किंचिद्भोक्तव्य इत्यर्थः।

भावार्थ—हे प्रिये! इतना ऐश्वर्य होने पर भी तुम्हारे बिना अज का सारा

सुख मिट्टी में मिल गया, क्योंकि मुझे और किसी वस्तु से तो प्रेम है नहीं। मेरे सभी सुखों का केन्द्र तो तुम्हीं थी ॥ ६९ ॥

विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥

अन्वयः—कोसलाधिपः प्रियां प्रति इति करुणार्थग्रथितं विलपन् पृथिवीरुहान् अपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् अकरोत्।

विलपन्निति। कोसलाधिपोऽज इति करुणाः शोकरसः स एवार्थस्तेन ग्रथितं सम्बद्धं यथा प्रियां प्रतीन्दुमतीमुद्दिश्य विलपन्पृथिवीरुहान्वृक्षानपि स्रुताः शाखारसा मकरन्दा एव बाष्पास्तैर्दूषितानकरोत्। अचेतनानप्यरोदयदित्यर्थः।

भावार्थ—इस प्रकार प्रिया इन्दुमती के लिए सकरुण विलाप करते हुए कोशलनरेश अज ने वृक्षों को भी गिरते हुए गोंद रूपी आँसुओं से दूषित कर दिया। अर्थात् अज के रोते हुए देखकर वृक्षों को भी रस रूपी आँसू बहा कर रोने लगे ॥ ७० ॥

अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—अथ स्वजनः तस्य अङ्कतः कथंचित् अपनीय तदन्त्यमण्डनां तां सुन्दरीम् अगुरुचन्दनैधसे अनलाय विससर्ज।

अथेति। अथ स्वजनो बन्धुवर्गस्तस्याऽजस्याङ्कत उत्सङ्गात्कथंचिदपनीय तद्दिव्यकुसुममेवान्त्यं मण्डनमलंकारो यस्यास्तां तां सुन्दरीमगुरूणि चन्दनान्येधांसीन्धनानि यस्य तस्मै अनलायाग्नये विससर्ज विसृष्टवान्। * क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् * इति क्रियामात्रप्रयोगे संप्रदानत्वाच्चतुर्थी।

भावार्थ—इसके बाद आत्मीय जनों ने किसी प्रकार अज की गोद से उस सुन्दरी इन्दुमती को अलग करके उसी पुष्पमाला से उसका अन्तिम शृङ्गार करके और चन्दन की लकड़ियों से उसका दाह संस्कार कर दिया ॥ ७१ ॥

प्रमदामनुसंस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात्।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥

अन्वयः—नृपतिः सन् अपि शुचा प्रमदाम् अनुसंस्थितः इति वाच्यदर्शनात् देव्या सह शरीरम् अग्निसात् न चकार जीविताशया तु न।

प्रमदामिति—नृपतिरजः सन्नपि विद्वानपि शुचा शोकेन प्रमदामनु प्रमदया सह संस्थितो मृत इति वाच्यदर्शनान्निन्दादर्शनाद्देव्येन्दुपत्न्या सह शरीरमग्निसा-

दग्न्यधीनं न चकार । "तदधीनवचने" इति सातिप्रत्ययः । जीविताशया प्राणेच्छया तु नेति ।

भावार्थ—'राजा अज विद्वान् होते हुए भी शोक में प्रिया के पीछे मर गये' इस लोकनिन्दा के भय से ही इन्दुमती के साथ अपने शरीर को अग्नि में नहीं जलाया किन्तु जीने की आशा से नहीं ॥ ७२ ॥

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अथ विदुषा तेन गुणशेषां भामिनीम् उपदिश्य, दशाहतः परे महर्धयः विधयः पुरः उपवने एव समापिताः ।

अथेति । अथ विदुषा शास्त्रज्ञेन तेनाजेन गुणा एव शेषः रूपाद्यो यस्यास्तां गुणशेषां भामिनीमिन्दुमतीमुपदिश्योद्दिश्य दशानामह्नां समाहारो दशाहः । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेन समासः । समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच् । "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंस्त्वम् ततस्तसिल् । तस्माद्दशाहतः परं ऊर्ध्वं कर्तव्या महर्धयो महासमृद्धयो विधयः क्रियाः पुरः पुर्या उपवने उद्याने एव समापिताः सम्पूर्णमनुष्ठिताः । 'दशाहतः' इत्यत्र "विप्रः शुध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः" इति मनुवचनविरोधो नाशङ्कनीयः । तस्य निर्गुणक्षत्रियविषयत्वात् । गुणवत्क्षत्रियस्य तु दशाहेन शुद्धिमाह पराशरः—"क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिः ।" इति सूच्यतेऽस्यापि गुणवत्त्वं विदुषेत्यनेन ।

भावार्थ—इसके बाद शास्त्रज्ञ उस राजा ने गुणमात्र शेष से (मरी हुई) इन्दुमती के उद्देश्य से दशाह के बाद की सारी उत्तर क्रियाओं को विस्तार के साथ उसी उपवन में पूरा किया ॥ ७३ ॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥

अन्वयः—तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः सः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः परिवाहम् इव अवलोकयन् पुरीं विवेश ।

स इति । तयेन्दुमत्या विना क्षणदाया रात्रेरपायेऽपगमे यः शशाङ्कश्चन्द्रः स इव दृश्यत इति क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः । प्रातःकालिकचन्द्र एव दृश्यमान इत्यर्थः । दर्शन इति कर्मणि ल्युट् । सोऽजः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः स्वशोकस्य परिवाहं जलोद्गारमिवावलोकयन् । 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः । स्वशुचः

पूरातिशयमिव पश्यन् पुरीं विवेश। वधूग्रहणात्तस्यामिन्दुमत्यां सख्याभिमानादजसमानदुःखसूचकपरीवाहोक्तिर्निर्वहति।

भावार्थ—उस इन्दुमती के बिना रात बीतने पर चन्द्रमा के समान प्रभाहीन वे अज, नागरिक स्त्रियों के मुखपर आसुओं में अपने शोक के प्रवाह को देखते हुए राजधानी में प्रवेश किये (अर्थात् इन्दुमती के विना अज को निष्प्रभ देख कर नगर की स्त्रियाँ रोने लगीं) ॥ ७४ ॥

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्ववोधयत् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अथ सवनाय दीक्षितः गुरुः आश्रमस्थितः 'सन्' यम् अभिषङ्गजडं प्रणिधानात् विजज्ञिवान् इति शिष्येण अन्ववोधयत् किल।

अथेति। अथ सवनाय यागाय दीक्षितो गुरुर्वसिष्ठ आश्रमे स्वकीयाश्रमे स्थितः सन् तमजमभिषङ्गजडं दुःखमोहितं प्रणिधानाच्चित्तैकाग्र्याद्विजज्ञिवाञ्ज्ञातवान्। "क्वसुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण शिष्येणान्ववोधयत्किल। बुधेर्ण्यन्ताण्णिचि लङ्।

भावार्थ—उन दिनों वसिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे इस लिये अज के यहाँ स्वयं नहीं आ सकते थे। उन्होंने आश्रम में ही योगवल के प्रभाव से राजा अज के शोक का कारण जान लिया और एक शिष्य से अज के पास सन्देश भेजा ॥ ७५ ॥

वसिष्ठशिष्य आह—

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम्।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—यतः मुनिः असमाप्तविधिः सन् तव तापकारणं विद्वान् अपि पथः च्युतम् भवन्तं प्रकृतौ स्थापयितुं स्वयम् न उपस्थितः।

असमाप्तेति। यतो हेतोर्मुनिरसमाप्तविधिरसमाप्तक्रतुस्ततस्तव तापकारणं दुःखहेतुं कलत्रनाशरूपं विद्वाञ्जानन्नपि। "विदेः शतुर्वसुः" इति वस्वादेशः। "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः। पथश्च्युतं स्वभावाद्भ्रष्टं भवन्तं प्रकृतौ स्वभावे स्थापयितुं समाश्वासयितुमित्यर्थः। नोपस्थितः स्वयं नागत।

भावार्थ—(शिष्य ने आकर कहा) वसिष्ठ मुनि का यज्ञ अभी समाप्त नहीं हुआ है इसलिए आपके दुःख को जानते हुए भी न तो वे आ ही सके हैं और न

आपको इस शोक में धीरज ही बंधा सकें हैं अतः मेरे द्वारा आपके पास यह सन्देश भेजा है ॥ ७६ ॥

मयि तस्य सुवृत्त ! वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार ! तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥

अन्वयः—हे सुवृत्त ! लघुसन्देशपदा तस्य सरस्वती मयि वर्तते विश्रुत सत्त्वसार ! ता शृणु एनां च त्वम् हृदि उपधातुम् अर्हसि ।

मयीति । हे सुवृत्त सदाचार ! संदिश्यत इति संदेशः संदेष्टव्यार्थः तस्य पदानि वाचकानि लघूनि संक्षिप्तानि यस्या सा लघुसन्देशपदा । तस्य मुने सरस्वती वाङ्मयि वर्तते । हे विश्रुतसत्त्वसार प्रख्यातधैर्यातिशय ! ता सरस्वतीं शृणु एनां वाचं हृद्युपधातुं धर्तुं चार्हसि ।

भावार्थ—हे सदाचारसम्पन्न प्रसिद्ध पराक्रमशाली महाराज अज ! उन्होंने मेरे द्वारा थोड़े शब्दों मे जो सन्देश भेजा है उसे आप सुनें और हृदय मे धारण करें ॥ ७७ ॥

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥

अन्वयः—हि अजन्मनः पुरुषस्य पदेषु समतीतं च भवत च भावि च इति त्रितयं सः निष्प्रतिघेन चक्षुषा पश्यति ।

पुरुषस्येति । अजन्मनः पुरुषस्य पुराणपुरुषस्य भगवतस्त्रिविक्रमस्य पदेषु विक्रमेषु त्रिभुवनेष्वपीत्यर्थः । समतीतं भूतं च भवद्वर्तमानं च भावि भविष्यच्चेति त्रितयं स मुनिर्निष्प्रतिघेनाप्रतिबन्धेन ज्ञानमयेन चक्षुषा ज्ञानदृष्ट्या पश्यति हि अतस्तद्वाक्येषु न संशयितव्यमित्यर्थः । (लोकत्रये कालत्रयस्य वार्ता गुरुर्वसिष्ठो जानातीति भावः) ।

भावार्थ—अजन्मा पुराणपुरुष वामन भगवान् के तीन पैरों से नपे त्रिलोक में स्थित भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातों को वे प्रतिबन्धरहित ज्ञान के नेत्रों से देखते हैं । इसलिए विश्वास करके उनके सन्देश को आप सुनें ॥७८॥

चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—पुरा किल दुश्चरं तपः चरत तृणबिन्दोः परिशङ्कितः हरिः समाधिभेदिनीं हरिं सुराङ्गनाम् अस्मै प्रजिघाय ।

चरत इति । पुरा किल दुश्चरं तीव्रम् तपश्चरतस्तृणबिन्दोस्तृणबिन्दुनामर्षे-

त्कस्माच्चिदृषेः परिशङ्कितो भीतः। कर्तरि क्तः "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानात्पञ्चमी। हरिरिन्द्रः समाधिभेदिनीं तपोविघातिनीं हरणीं नाम सुरांगनामस्मै तृणविन्दवे प्रजिघाय प्रेरितवान्।

भावार्थ—एक बार तृणविन्दु नामक ऋषि अतिकठोर तपस्या कर रहे थे, उनकी उग्र तपस्या से डरकर इन्द्र ने उनकी तपस्या भंग करने के लिए हरिणी नाम की अप्सरा को भेजा ॥ ७९ ॥

स तपःप्रतिवन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम्।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रळयोर्मिणा भुवि ॥ ८० ॥

अन्वयः—सः शमवेलाप्रलयोर्मिणा तपः प्रतिवन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमां तां भुवि मानुषी भव इति अशपत्।

स इति। स मुनिः शमः शान्तिरेव वेला मर्यादा तस्याः प्रलयोर्मिणा प्रलयकालतरङ्गेण शमविघातकेनेत्यर्थः। 'अब्ध्यम्बुधिकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि' इत्यमरः। तपसः प्रतिवन्धेन विघ्नेन यो मन्युः क्रोधस्तेन हेतुना प्रमुखेऽग्रे आविष्कृतचारुविभ्रमां प्रकाशितमनोहरविलासां तां हरिणीं भुवि भूलोके मानुषी मनुष्यस्त्री भवेत्यशपच्छशाप।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रलय काल की लहर समुद्र के तट को गिरा देती है उसी प्रकार ऋषि को तपस्या से डिगाने के लिए वह अप्सरा वहाँ जा पहुँची और अनेक प्रकार का शृङ्गारमय हाव भाव दिखाने लगी। उसे देखते ही मुनि ने तपस्या में बाधा उपस्थित होने के कारण क्रोध से उसको शाप दे दिया कि तू मनुष्य की स्त्री हो जा ॥ ८० ॥

भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—हे भगवान्! अयं जनः परवान् (अस्ति) मे प्रतिकूलाचतिं क्षमस्व इति उपनतां ऋषिः आसुरपुष्पदर्शनात् क्षितिस्पृशम् कृतवान्।

भगवन्निति। हे भगवन्महर्षे! अयं जनः परोऽस्यास्तीति स्वामित्वेन परवान्पराधीनः। इन्द्राधीन इत्यर्थः। अयमित्यात्मनिर्देशः अहं पराधीनेत्यर्थः। मे मम प्रतिकूलाचरितमपराधं क्षमस्वेत्यनेन प्रकारेणोपनतां शरणागतां च हरिणीमासुरपुष्पदर्शनात्सुरपुष्पदर्शनपर्यन्तं क्षितिं स्पृशतीति क्षितिस्पृक् तां क्षितिस्पृशां मानषीं कृतवानकरोत्। दिव्यपुष्पदर्शनं शापावधिरित्यनुगृहीतवानित्यर्थः।

भावार्थ—(शाप सुनते ही वह अप्सरा घबड़ा उठी और हाथ जोड़कर

कहने लगी—) हे भगवन् ! मैंने इन्द्र के कहने से यह काम किया है, इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है, इस विपरीत व्यवहार को आप क्षमा कीजिए। इस प्रकार उस अप्सरा की प्रार्थना सुनकर ऋषि ने जब तक तुम्हें स्वर्गीय पुष्प नहीं दिखाई पड़ेगा, तब तक तुम्हें पृथ्वी पर रहना ही पड़ेगा ऐसा कह कर उस अप्सरा पर अनुग्रह किया ॥ ८१ ॥

क्रथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—क्रथकैशिकवंशसंभवा सा तव महिषी भूत्वा चिराय दिवः च्युतं शापनिवृत्तिकारणम् उपलब्धवती सा विवशा अभूत्।

क्रथेति। क्रथकैशिकानां राज्ञां वंशे संभवो यस्याः सा हरिणी तव महिष्यभिषिक्ता स्त्री। 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः। भूत्वा चिराय दिवः स्वर्गच्युतं पतितं शापनिवृत्तिकारणं सुरपुष्परूपमुपलब्धवती। विवशा अभूदिति शेषः। मृतेत्यर्थः।

भावार्थ— वही अप्सरा विदर्भवंश में उत्पन्न होकर बहुत दिनों तक तुम्हारी पटरानी बनी रही। अब स्वर्ग से गिरे हुए शाप की निवृत्ति के कारण स्वर्गीय पुष्पमाला को देख कर वह शाप से मुक्त होकर स्वर्ग चली गई ॥ ८२ ॥

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—तत् तदपायचिन्तया अलम् उत्पत्तिमतां विपद् उपस्थिता (अतः) त्वया इयं वसुधा अवेक्ष्यताम्। हि नृपाः वसुमत्या कलत्रिणः भवन्ति।

तदिति। तत्तस्मात्तस्या अपायचिन्तयालं तस्या मरणं न चिन्त्यमित्यर्थः। निषेधक्रियां प्रति करणत्वाच्चिन्तयेति तृतीया। कुतो न चिन्त्यमत आह—उत्पत्तिमतां जन्मवतां विपद्विपत्तिरुपस्थिता सिद्धा। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यर्थः। तथापि कलत्ररहितस्य किं जीवितेन तत्राह—त्वयेयं वसुधा भूमिरवेक्ष्यतां पाल्यताम्। हि यस्मान्नृपा वसुमत्या पृथिव्या कलत्रिणः कलत्रवन्तः अतो न शोचितव्यमित्यर्थः।

भावार्थ—इस कारण उसकी मृत्यु की चिन्ता करना व्यर्थ है क्योंकि जो जन्म लेता है वह एक न एक दिन मरता ही है। अतः आप शोक छोड़ कर सावधान हो पृथ्वी का पालन कीजिए, क्योंकि राजाओं की सच्ची सहधर्मिणी तो पृथ्वी ही है ॥ ८३ ॥

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—उदये सति मदवाच्यम् उज्झता त्वया यत् आत्मवत् श्रुतम् आविष्कृतं, तत् मनसः ज्वरे उपस्थिते सति अक्लीबतया पुनः प्रकाश्यताम् ।

उदय इति । उदयेऽभ्युदये सति मदेन यद्वाच्यं निन्दादुःखं तदुज्झता परिहरता सत्यपि मदहेतावमाद्यता त्वया यदात्मवदध्यात्मप्रचुरं श्रुतं शास्त्रं तज्जनितं ज्ञानमिति यावत् । आविष्कृतं प्रकाशितं तच्छ्रुतं मनसो ज्वरे सन्ताप उपस्थिते प्राप्तेऽक्लमतया धैर्येण लिङ्गेन पुनः प्रकाश्यताम् । विदुषा सर्वास्ववस्थास्वपि धीरेण भवितव्यमित्यर्थः ।

भावार्थ—ऐश्वर्य पाकर राजा लोग मतवाले हो जाते हैं किन्तु आप सुख के दिनों में भी इस अपयश से बचे रहे और अभिमान छोड़कर आपने अपने जिस प्रकार अध्यात्म ज्ञान का परिचय दिया है उसी प्रकार इस दुःख के समय में भी धीरज धर कर आप मन को शान्त करने के लिए पुनः उसी अध्यात्मज्ञान का प्रकाश कीजिए ॥ ८४ ॥

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—रुदता भवता सा कुतः एव लभ्यते, अनुमृता अपि पुनः न लभ्यते । हि परलोकजुषां देहिनां गतयः सुकर्मभिः भिन्नपथा भवन्ति ।

रुदतेति । रुदता भवता सा कुत एव लभ्यते न लभ्यत एव । अनुम्रियत इत्यनुमृत् । क्विप् । तेनानुमृताऽनुभवतापि भवता पुनर्न लभ्यते । कथं न लभ्यत इत्याह–परलोकजुषां लोकान्तरभाजां देहिनां इति गतयो गम्यस्थानानि स्वकर्मभिः पूर्वाचरितपुण्यपापैर्भिन्नपथाः पृथक्कृतमार्गा हि । परत्रापि स्वस्वधर्मानुरूपफलभोगाय भिन्नदेहगमनान्न मृतेनापि लभ्यत इत्यर्थः ।

भावार्थ—रोने की तो बात ही क्या ! यदि आप रोते रोते मर भी जाय तो अब उस इन्दुमती को नहीं पा सकते है क्योंकि मरने पर सब प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग से जाते हैं ॥ ८५ ॥

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

अन्वयः—अपशोकमनः सन् कुटुम्बिनीं, निवापदत्तिभिः स्वम् अनुगृह्णीष्व अतिसन्ततं स्वजनाश्रु प्रेतं दहति इति प्रचक्षते किल ।

अपेति । किंत्वपशोकमना निर्दुःखचित्तः सन्कुटुम्बिनीं पत्नीं निवापदत्तिभिः

पिण्डोदकादिदानैरनुगृह्णीष्व तर्पयेत्यर्थः। अन्यथा दोषमाह—अविसंततमविच्छिन्नं स्वजनानां बन्धूनाम्। 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। अश्रु कर्तृ प्रेतं मृतं दहतीति प्रचक्षते मन्वादयः किल। अत्र याज्ञवल्क्यः—"श्लेष्माश्रु बन्धुनिर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः। अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः"।

भावार्थ—हे राजन्! अब आप मन से शोक त्याग कर पिण्डदान आदि करके अपनी पत्नी इन्दुमती का परलोक सुधारिये क्योंकि निरन्तर बहने वाले कुटुम्बियों के आँसू मृतात्मा को जलाते हैं, ऐसा शास्त्रों का सिद्धान्त है। अर्थात् कुटुम्बी जितने रोते हैं उतना ही प्रेतात्मा को कष्ट मिलता है॥ ८६॥

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥ ८७॥

अन्वयः—शरीरिणां मरणं प्रकृतिः जीवितं विकृतिः इति बुधैः उच्यते। जन्तुः क्षणम् अपि श्वसन् अवतिष्ठते यदि असौ लाभवान् अस्ति ननु।

मरणमिति। शरीरिणां मरणं प्रकृतिः स्वभावः ध्रुवमित्यर्थः। जीवितं विकृतिर्यादृच्छिकं बुधैरुच्यते। एवं स्थिते जन्तुः प्राणी क्षणमपि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। श्वसञ्जीवन्नवतिष्ठते यद्यसौ क्षणजीवी लाभवान्ननु। जीवने यथालाभं संतोष्टव्यम्। अलभ्यलाभात् मरणे तु न शोचितव्यम्। तस्य स्वाभाव्यादिति भावः। अत्र मरणशब्देन स्थूलशरीरत्यागोऽवगन्तव्यः।

भावार्थ—शरीर धारियों का मरना स्वभाव और जीना विकार कहा जाता है इसलिए प्राणी जितने क्षण भी जी पाय, उतने से ही उसे सन्तोष करना चाहिए॥ ८७॥

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्॥ ८८॥

अन्वयः— मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि अर्पितं शल्यम् अवगच्छति, तु स्थिरधीः तत् एव कुशलद्वारतया समुद्धृतं मन्यते।

अवेति। मूढचेतनो भ्रान्तबुद्धिः प्रियनाशमिष्टनाशं हृद्यर्पितं निखातं शल्यं शङ्कुमवगच्छति मन्यते। स्थिरधीर्विद्वांस्तु तदेव शल्यं समुद्धृतमुत्खातं मन्यते। प्रियनाशे सतीति शेषः। कुतः कुशलद्वारतया प्रियनाशस्य मोक्षोपायत्वेनेत्यर्थः। विषयलाभविनाशयोर्यथाक्रमं हिताहितसाधनत्वाभिमानः पामराणां विपरीतं तु विपश्चितामिति भावः।

भावार्थ—भ्रान्त बुद्धिवाले प्रियजन के नाश को हृदय में गड़ा हुआ कील

समझते हैं किन्तु विद्वान् उसी को खुला हुआ मोक्ष का द्वार मानते हैं। उनकी समझ में मृत्यु वैसा ही सुख देती है जैसे हृदय में गड़ी हुई कील के निकल जाने पर होता है ॥ ८८ ॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्वशरीरशरीरिणौ अपि यदा श्रुतसंयोगविपर्ययौ स्तः तदा बाह्यैः विषयैः विरहः विपश्चितं किम् इव अनुतापयेत् त्वम् वद ।

स्वेति । स्वस्य शरीरशरीरिणौ देहात्मानावपि यदा यतः श्रुतौ श्रुत्यवगतौ संयोगविपर्ययौ संयोगवियोगौ ययोस्तौ तथोक्तौ तदा बाह्यैर्विषयैः पुत्रमित्रकलत्रादिभिर्विरहो विपश्चितं विद्वांसं किमिवानुतापयेत्त्वं वद । न किंचिदित्यर्थः । अथवा स्वशब्दस्य शरीरेणैव संबन्धः ।

भावार्थ—आप ही बताइए जब शरीर और आत्मा भी आपस में बिछुड़ने वाले हैं तब क्या पुत्र स्त्री आदि बाहरी सम्बन्धियों के बिछोह से विद्वानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिए ? ॥ ८९ ॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम! गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे वशिनाम् उत्तम ! त्वम् पृथग्जनवत् शुचः वशं गन्तुं न अर्हसि द्रुमसानुमतां किम् अन्तरं यदि वायौ सति द्वितये अपि ते चलाः स्युः ।

नेति । हे वशिनामुत्तम जितेन्द्रियवर्य ! पृथग्जनवत्पामरजनवच्छुचः शोकस्य वशं गन्तुं नार्हसि । तथाहि द्रुमसानुमतां तरुशिलोच्चयिणो किमन्तरं को विशेषः । वायौ सति द्वितयेऽपि द्विप्रकारेऽपि 'प्रथमचरम०' इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा । ते द्रुमसानुमन्तश्चेच्चला यदि सानुमतामपि चलने द्रुमवत्तेषामप्यचलसंज्ञा न स्यादित्यर्थः ।

भावार्थ—हे जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ अज ! साधारण मनुष्यों के समान आपको इन्दुमती के लिए शोक के वश में होना उचित नहीं क्योंकि वायु के बहने पर यदि वृक्ष और पर्वत दोनों चञ्चल हो उठें तो उन दोनों में अन्तर ही क्या रह जायेगा ? अतः शोक के कारण उपस्थित होने पर भी वायु के बहने पर पर्वत के समान आपको स्थिर रहना चाहिए ॥ ९० ॥

१८ र० सम्पू०

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—स उदारमतेः विनेतुः गुरोः वचः तथा इति प्रतिगृह्य मुनिं विससर्ज 'किन्तु, तत् शोकघने अस्य हृदि अलब्धपदं सद् गुरोः अन्तिकं प्रतियातम् इव बभूव ।

स इति । सोऽज उदारमतेर्विनेतुर्गुरोर्वसिष्ठस्य वचस्तच्छिष्यमुखेरितं तथेति प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य मुनिं वसिष्ठं शिष्यं विससर्ज प्रेषयामास । किंतु तद्वचः शोकघने दुःखसान्द्रेऽस्याजस्य हृद्यलब्धपदमप्राप्तावकाशं सद्गुरोर्वसिष्ठस्यान्तिकं प्रतियातमिव प्रतिनिवृत्तं किमु इत्युत्प्रेक्षा । तोटकवृत्तमेतत्—'इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम्' इति तल्लक्षणम् ।

भावार्थ—उस अज ने विद्वान् शिक्षक और उदारहृदय गुरु वसिष्ठजी के भेजे हुए सन्देश को ठीक है ऐसा कहकर उनके शिष्य को इस प्रकार विदा कर दिया मानो अपने शोक भरे हृदय में स्थान न दे सकने से उनका उपदेश ही लौटा दिया हो । अर्थात् अत्यन्त शोकाकुल अज पर वसिष्ठजी के वचनों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा ॥ ९१ ॥

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अवितथसूनृतेन तेन सूनोः बालत्वात् प्रियायाः सादृश्यप्रतिकृति-दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैः च कथंचित् अष्टौ समाः परिगमिताः ।

तेनेति । अवितथं यथार्थं सूनृतं प्रियवचनं यस्य तेनाजेन सूनोः पुत्रस्य बालत्वात् राज्याक्षमत्वादित्यर्थः। प्रियाया इन्दुमत्याः सादृश्यं वस्त्वंतरगतमाकारसाम्यं प्रतिकृतिश्चित्रं तयोर्दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकाः क्षणभङ्गुरा ये समागमोत्सवास्तैश्च कथंचित्कृच्छ्रेण अष्टौ समा वत्सराः । 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः । परिगमिता अतिवाहिताः । उक्तं च—"वियोगावस्थासु प्रियजन-सदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः ॥" इति । प्रकृते सादृश्यादित्रितयाभिधानं तदङ्गस्पृष्टपदार्थस्पृष्टेरप्युपलक्षणम् । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् ।

भावार्थ—सत्यभाषी अज ने पुत्र दशरथ के बालक होने के कारण, प्रिया इन्दुमती के समान चित्र आदि देखने और स्वप्नों में प्रिया के क्षणिक समागम के आनन्दों से किसी प्रकार आठ वर्ष बिताये ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं विभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभ प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ९३ ॥

अन्वयः—शोकशंकुः तस्य हृदयं प्लक्षप्ररोहः सौधतलम् इव, प्रसह्य विभेद किल सः प्राणान्तहेतुम् अपि भिषजाम् असाध्यं तं प्रियानुगमने त्वरया लाभं मेने ।

तस्येति । शोक एव शङ्कुः कीलः 'शङ्कुः कीले शिवेऽस्त्रे च' इति विश्वः । तस्याजस्य हृदयं प्लक्षप्ररोहः सौधतलमिव प्रसह्य बलात्किल विभेद । सोऽजः प्राणान्तहेतुं मरणकारणमपि भिषजामसाध्यमप्रतिसमाधेयं तं शोकशङ्कुं' रोगपर्यवसितं प्रियाया अनुगमने त्वरयोत्कण्ठया लाभं मेने । तद्विरहस्यातिदुःसहत्वात्तत्प्राप्तिकारणं मरणमेव वरमित्यमन्यतेत्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्ष की जड़ बड़े-बड़े मकानों की छतों को भेदकर फाड़ देती है उसी प्रकार इन्दुमती के वियोग रूप शल्य ने राजा अज के हृदय को विदीर्ण कर डाला, अज अपनी प्रिया के पीछे प्राण देने को उतावला हो गये थे कि उन्होंने प्राण हर लेने और वैद्यों से असाध्य उस शोक शंकु को भी प्रिया के अनुगमन मे सहायक ही समझा ॥ ९३ ॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमार-
मादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अथ नृपतिः सम्यग् विनीतं वर्महरं कुमारं प्रजानाम् रक्षणविधौ विधिवत् आदिश्य रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः सन् प्रायोपवेशनमतिः बभूव ।

सम्यगिति । अथ नृपतिरजः सम्यग्विनीतं निसर्गसंस्काराभ्यां विनयवन्तं वर्म हरतीति वर्महरः कवचधारणार्हवयस्कः । "वयसि च" इत्यच्प्रत्ययः । तं कुमारं दशरथं प्रजानां रक्षणविधौ राज्ये विधिवद्विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः ।"तदर्हम्" इति वतिप्रत्ययः । आदिश्य नियुज्य रोगेणोपसृष्टाया व्याप्तायास्तनोः शरीरस्य दुर्वसतिं दुःखावस्थितिं मुमुक्षुर्जिहासुः सन् प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने मतिर्यस्य स बभूव । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इति विश्वः । अत्र पुराणवचनम्—"समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः । दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो वा भवेत्तु यः ॥ स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः । आब्रह्माणं वा स्वर्गादिमहा-

फलजिगीषया ॥ प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा। एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु ॥ नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा" इति। अनयोर्वसन्ततिलकाच्छन्दः। तल्लक्षणम्—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति।

भावार्थ—इसके बाद राजा अज स्वभाव और संस्कार से विनीत कवचधारी कुमार दशरथ को शास्त्रों के अनुसार प्रजा का पालन करने का उपदेश देकर अपने रोगी शरीर से छुटकारा पाने के लिए अनशन करने लगे ॥ ९४ ॥

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

अन्वयः—असौ जह्नुकन्यासरय्वोः तोयव्यतिकरभवे तीर्थे देहत्यागात् सद्यः अमरगणना आसाद्य पूर्वाकाराधिकतररुचा कान्तया संगतः 'सन्' नन्दनाभ्यन्तरेषु लीलागारेषु पुनः अरमत।

तीर्थ इति। असावजो जह्नुकन्यासरय्वोस्तोयानां जलानां व्यतिकरेण सभेदेन भवे तीर्थे गङ्गासरयूसंगमे देहत्यागात्सद्य एवामरगणनाया लेख्यं लेखनम्। "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" इति भावार्थे ण्यत्प्रत्ययः। आसाद्य प्राप्य पूर्वस्मादाकारादधिकतरा रुग्यस्यास्तया कान्तया रमण्या सङ्गतः सन् नन्दनस्येन्द्रोद्यानस्याभ्यन्तरेष्वन्तर्वर्तिषु लीलागारेषु क्रीडाभवनेषु पुनररमत। "यथाकथञ्चित्तीर्थेऽस्मिन्देहत्यागं करोति यः तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि॥" इति स्कान्दे। मन्दाक्रान्ताच्छन्दः। तल्लक्षणम्—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" इति।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजविलापो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

भावार्थ—वे राजा अज गंगा और सरयू के पवित्र संगम तीर्थ में अपना शरीर छोड़ दिये और तत्काल देवता बनकर पहले शरीर से भी अधिक सुन्दर शरीरवाली स्त्री के साथ नन्दन वन के विलास भवनों में विहार करने लगे ॥ ९५ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा
अन्वय और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका से
रघुवंशमहाकाव्य का अज विलाप नामक
अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यतः ।
नीलार्धं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्महे ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

अन्वयः—समाधिजितेन्द्रियः यमवताम् च अवताम् धुरि स्थितः महारथः दशरथः पितुः अनन्तरम् उत्तरकोसलाम् समधिगम्य प्रशशास ।

पितुरिति । समाधिना संयमेन जितेन्द्रियः । 'समाधिर्नियमे ध्याने' इति केशवः । यमवतां संयमिनामवताम् "ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्मषता । अहिंसास्तेय-माधुर्यंदमश्चेति यमाः स्मृताः ॥" इति याज्ञवल्क्यः रक्षतां राज्ञां धुर्यग्रे स्थितो महारथः "एको दश सहस्राणिः योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्र-प्रवीणश्च स महारथ उच्यते ॥" इति दशरथः पितुरनन्तरमुत्तरकोसलाञ्जन-पदानसमधिगम्य प्रशशास । अत्र मनुः'—क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम्' इति द्रुतविलम्बितमेतद्वृत्तम् । तल्लक्षणम्—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ।

भावार्थ—संयम से अपनी इन्द्रियों को जीत लेने वाले संयमियों और प्रजा-पालक राजाओं में सर्वश्रेष्ट महारथी दशरथ जी अपने पिता के बाद उत्तर कोशल के राज्य का शासन करने लगे ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

अन्वयः—अधिगतम् आत्मकुलोचितम् सनगरम् प्रकृतिमण्डलम् यत् विधिवत् ततः नगरन्ध्रकरौजसः अस्य (प्रकृतिमण्डलम्), गुणवत्तरम् अभवत् ।

अधिगतमिति । अधिगतं प्राप्तमात्मकुलोचितं स्वकुलागतं सनगरं नगरजन-सहितं प्रकृतिमण्डलं जनपदमण्डलम् । अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगर-शब्दयोगाद्गोबलीवर्दन्यायेन जानपदमात्रमुच्यते । यद्यस्माद्विधिवद्यथाशास्त्रमपा-लयत् ततो हेतोः रन्ध्रं करोतीति रन्ध्रहेतुरित्यर्थः । 'कृञो हेतुताच्छिल्या नुलोम्येषु" इति टप्रत्ययः । नगरस्य रन्ध्रकरो नगरन्ध्रकरः कुमारः । 'कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । तदोजसस्तत्तुल्यबलस्यास्य दशरथस्य गुणवत्तरमभवत् । तत्पौरजानपदमण्डलं तस्मिन्नतीवासक्तमभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—क्रौञ्च पर्वत को भेदन करने वाले कार्तिकेय के समान बलवान

राजा दशरथ ने अपने पूर्वजों से पाये हुए प्रजा मण्डल को ऐसे सुन्दर ढङ्ग से पालन किया कि सारी प्रजायें उन्हें पहले के सभी राजाओं से बढ़कर मानने लगीं ॥ २ ॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—मनीषिणः बलनिषूदनम् च मनुदण्डधरान्वयम् तम् अर्थपतिम् उभयम् एव समयवर्षितया कृतकर्मणाम् श्रमनुदम् वदन्ति ।

उभयमिति । मनस ईषिणो मनीषिणो विद्वांसः। पृषोदरादित्वात्साधुः बलनिषूदनमिन्द्रं दण्डस्य धरो राजा मनुरिति यो दण्डधरः स एवान्वयः कूटस्थो यस्य तमर्थपतिं दशरथं चेत्युभयमेव समयेऽवसरे जलं धनं च वर्षतीति समयवर्षी, तस्य भावः समयवर्षिता तया हेतुना । कृतकर्मणां स्वकर्मकारिणां नुदतीति नुत् । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः । श्रमस्य नुदं श्रमनुदम् । क्विबन्तत्वे नपुंसकलिङ्गेनोभयशब्देन सामानाधिकरण्यं न स्यात् इति वदन्ति ।

भावार्थ—विद्वान् लोग कहते हैं कि संसार में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने कर्तव्य पालन करने वाले लोगों को उनके परिश्रम का ठीक-ठीक मूल्य समझा है । उनमें से एक तो हैं इन्द्र जिन्होंने समय पर वृष्टि करके कृषकों का श्रम सफल किया है और दूसरे हैं मनुवंश में उत्पन्न राजा दशरथ जिन्होंने सुकर्मियों को धन देकर उनका पालन-पोषण किया ॥ ३ ॥

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

अन्वयः—शमरते अमरतेजसि, अजनन्दने पार्थिवे (सति) गदः, जनपदे, पदं न आदधौ सपत्नजः अभिभवः कुतः? (च) क्षितिः फलवती अभूत् ।

जनपद इति । शमरते शान्तिपरेऽमरतेजस्यजनन्दने दशरथे पार्थिवे पृथिव्या ईश्वरे सति । 'तस्येश्वरः" इत्यणप्रत्ययः । जनपदे देशे गदो व्याधिः । 'उपतापरोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । पदं नादधौ नाचक्रामेत्यर्थः । सपत्नजः शत्रुजन्योऽभिभवः कुत एव । असंभावित एवेत्यर्थः । क्षितिः फलवत्यभूच्च इति दैवानुकूल्यमभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—शान्ति प्रधान और देवताओं के समान तेजस्वी अजकुमार दशरथके राजा होने पर उनका देश धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया और रोग उनके राज्य सीमा में पैर न रख सके फिर शत्रुओं के आक्रमण की सम्भावना कहाँ से हो सकती है ? ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—मही दशदिगन्तजिता रघुणा ततः परम् अजेन यथा श्रियम् अपुष्यत् तथा एव अहीनपराक्रमम् तम् अधिगम्य पुनः न बभौ (इति) न ।

दशेति । मही दशदिगन्ताञ्जितवानिति दशदिगन्तजित् "चतस्रः कीर्तये वाष्टौ दश वा ककुभः क्वचित्" इति वाग्भट्टः । तेन रघुणा यथा श्रियं कान्तिमपुष्यत् । ततः परं रघोरनन्तरमजेन च यथा श्रियमपुष्यत् तथैवाहीनपराक्रमं न हीनः पराक्रमो यस्य तमन्यूनपराक्रमं तं दशरथमिनं स्वामिनमधिगम्य पुनर्न बभाविति न बभावेवेत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ।

भावार्थ—दशों दिशाओं के जीतने वाले रघु ने और उनके बाद उनके पुत्र अज ने जिस प्रकार पृथ्वी की शोभा बढ़ायी थी उसी प्रकार उन्हीं दोनों के समान शक्तिशाली पूर्णपराक्रमी उस महामति दशरथ को राजा पाकर पृथ्वी की शोभा नहीं बढ़ी, यह बात नहीं है किन्तु रघु और अज के समान ही शोभा हुई ।

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

अन्वयः—नराधिपः समतया वसुवृद्धिविसर्जनैः च असतां नियमनात् सवरुणौ यमपुण्यजनेश्वरौ अनुययौ (च) रुचा, अरुणाग्रसरम् (अनुययौ) ।

समतयेति । नराधिपो दशरथः समतयाः समवर्तित्वेन मध्यस्थत्वेनेत्यर्थः । वसुवृष्टेर्धनवृष्टेर्विसर्जनैः असतां दुष्टानां नियमनान्निग्रहाच्च सवरुणौ वरुणसहितौ यमपुण्यजनेश्वरौ यमकुबेरौ यमकुबेरवरुणान्यथासंख्यमनुययावनुचकार । रुचा तेजसाऽरुणाग्रसरमरुणसारथिं सूर्यमनुययौ ।

भावार्थ—जिस प्रकार यमराज सबको एक समान समझते हैं, कुबेर धन बरसाते हैं, वरुण दण्ड देते हैं और सूर्य का बड़ा तेज है, उसी प्रकार राजा दशरथ भी सबको समान देखते थे, धन बाँटते थे, दुष्टों को दण्ड देते थे और तेजस्वी थे । अर्थात् वे यम, कुबेर, वरुण और सूर्य के समान प्रजाओं का पालन करते थे ॥ ६ ॥

तस्य व्यसनासक्तिर्नासीदित्याह—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—उदयाय यतमानं तं मृगयाभिरतिः अपाहरत् दुरोदरं (अपाहरत्) च शशिप्रतिमाभरणं मधु न (अपाहरत्) वा नवयौवना प्रियतमा न (अपाहरत्) ।

नेति । उदयाय यतमानमभ्युदयार्थं व्याप्रियमाणं तं दशरथं मृगयाभिरतिरा-खेटव्यसनं नापाहरद्वशीचकार । 'आखेटनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इत्यमरः । दुष्टमाममन्ताद्दुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतं च नापाहरत् । 'दुरोदरो द्यूत-कारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । शशिनः प्रतिमा प्रतिबिम्बमाभरणं यस्य तन्मधु नापाहरत् । न वेति पदच्छेदः । वा शब्दः समुच्चये । नवयौवना नवं नूतनं यौवनं तारुण्यं यस्यास्तादृशी प्रियतमा वा स्त्री नापाहरत् । जातावेकवचनम् । अत्र मनुः—'पानमक्षाः स्त्रियश्चेतिमृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्च-तुष्कं कामजे गणे ॥' इति ।

भावार्थ—उदय के लिए प्रयत्नशील उस राजा दशरथ को शिकार का अनुराग, जुआ का व्यसन, चन्द्रमा की परछाईं पड़ी हुई मदिरा और नवयौवना स्त्रियाँ कोई भी अपनी ओर आकृष्ट न कर सकीं ॥ ७ ॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥

अन्वयः—तेन प्रभवति (सति) वासवे अपि कृपणा वाक् न ईरिता न परिहासकथासु अपि वितथा (वाक्) न (ईरिता) च अपरुषा (तेन) सपत्न-जनेषु अपि परुषाक्षरं (यथा तथा वाक्) न ईरिता ।

नेति । तेन राज्ञा प्रभवति प्रभौ सति वासवेऽपि कृपणा दीना वाङ् नेरिता नोक्ता । परिहासकथास्वपि वितथाऽनृता वाङ् नेरिता । किंचापरुषा रोषशून्येन तेन सपत्नजनेष्वपि शत्रुजनेष्वपि परुषाक्षरं यथा तथा वाङ् नेरिता । किमुतान्य-त्रेति सर्वत्रापिशब्दार्थः । किंत्वदीना सत्या मधुरैव वागुक्तेति फलितार्थः ।

भावार्थ—राजा दशरथ इतने मनस्वी थे कि इन्द्र के आगे दीनता नहीं दिखाये, मित्र-मण्डली में हँसी-परिहास के अवसर पर कभी झूठ नहीं बोले, और क्रोधी न होने के कारण शत्रुओं को भी कोई कठोर शब्द नहीं कहे । अर्थात् वे सर्वदा अदीन, सत्य एवं मधुर वचन बोलते थे ॥ ८ ॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—वसुधाधिपाः रघूद्वहात् उदयम् च अस्तमयम् आनशिरे हि सः निदेशम् अलङ्घयताम् सुहृद् (च) प्रतिगर्जताम् अयोहृदयः अभूत् ।

उदयमिति । वसुधाधिपा राजानः उद्वहतीत्युद्वहो नायकः । पचाद्यच् । रघूणा-मुद्वहो रघुनायकः तस्माद्रघुनायकादुदयं वृद्धिम् अस्तमयं नाशं च इत्युभयमानशिरे

लेभिरे। कुतः। हि यस्मात्स दशरथो निदेशमाज्ञामलङ्घयतां शोभनं हृदयमस्येति सुहृन्मित्रमभूत् "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" इयि निपात। प्रतिगर्जतां प्रतिस्पर्धिनाम् अय इव हृदयं यस्येत्ययोहृदयः कठिनचित्तोऽभूत्। आज्ञाकारिणो रक्षति अन्यान्मारयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भावार्थ—दूसरे राजा लोग रघुकुल के श्रेष्ठ उस दशरथ से उन्नति एवं अवनति दोनों प्राप्त किये, क्योंकि जो उनकी आज्ञा मानते थे उन्हें तो वे दया करके छोड़ देते थे पर जो ऐंठकर उनसे टक्कर लेने लग जाते थे उन्हें वे मिटाकर ही छोड़ते थे। अर्थात् आज्ञा पालक राजाओं के लिए वे मित्र थे और प्रतिस्पर्धी राजाओं के लिए वे लोहहृदय थे ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥

अन्वयः—अधिज्यशरासनः सः उदधिनेमिं मेदिनीम् एकरथेन, अजयत् गजवती जवतीव्रहया चमू अस्य केवलं जयम् अघोषयत् हि।

अजयदिति। अधिज्यशरासनः ज्यामधिरूढम् अधिज्यं शरासनं यस्य स दशरथ उदधिनेमिं समुद्रवेष्टनां मेदिनीमेकरथेनाजयत् स्वयमेकरथेनाजैषीदित्यर्थः। गजवती गजयुक्ता जवेन तीव्रा जवाधिका हया यस्यां सा चमूस्त्वस्य नृपस्य केवलं जयमघोषयदप्रथयत्। स्वयमेकवीरस्य चमूरुपकरणमात्रमिति भावः।

भावार्थ—धनुष को चढ़ाये हुए उस दशरथ ने अकेले एक रथ पर चढ़कर समुद्र तक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली। वेग से चलने वाले हाथी और घोड़ों वाली उनकी सेना तो केवल जय-जयकार भर करती थी ॥ १० ॥

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥

अन्वयः—वरूथिना एकरथेन अवनिं जितवतः धनुर्भृतः नरवाहनसंपदः तस्य घनरवाः अर्णवाः विजयदुन्दुभितां ययुः।

अवनिमिति। वरूथिना गुप्तिमता। 'वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्' इति सज्जनः। एकरथेनाद्वितीयरतेनावनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्पदः कुबेरतुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल ययुः। अर्णवान्तविजयीत्यर्थः।

भावार्थ—सुरक्षित एक रथ से समस्त पृथ्वी को विजय करने वाले कुबेर के समान सम्पत्तिशाली धनुर्धारी उस राजा दशरथ के दुन्दुभि के स्थान को मेघ

के समान शब्द करने वाले समुद्रों ने ग्रहण किया, अर्थात् मेघ के समान गरजते हुए समुद्रों ने दशरथ की विजय दुन्दुभी बजाई ॥ ११ ॥

शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥

अन्वयः—पुरन्दरः शतकोटिना कुलिशेन शिखरिणा शमितपक्षबलः नवतामरसाननः सः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां (शमितपक्षबलः) ।

शमितेति । पुरन्दर इन्द्र शतकोटिना शताश्रिणा कुलिशेन वज्रेण शिखरिणां पर्वतानां शमितपक्षबलो विनाशितपक्षसारः नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमर । स दशरथः शरवृष्टिमुचा इषुवर्षमुचा स्वनवता धनुषा द्विषा शमितो नाशितः पक्षः सहायो बलं च येन स तथोक्तः । 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः ।

भावार्थ—जिस प्रकार इन्द्र ने अपने सौ नोक वाले वज्र से पर्वतों के पखों को काटकर उनकी शक्ति को नष्ट कर दिया उसी प्रकार नये कमल के समान सुन्दर मुख वाले राजा दशरथ ने अपने बाणवर्षी ध्वनियुक्त धनुष से शत्रुओं के पक्ष में रहने वालों को नष्ट कर दिया ॥ १२ ॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥

अन्वय—शतशः नृपतयः अखण्डितपौरुषम् तम् मरुतः शतमखम् यथा नखरागसमृद्धिभिः मुकुटरत्नमरीचिभिः चरणयोः अस्पृशन् ।

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुषं तं दशरथं मरुतो देवा. शतमखं यथा शतक्रतुमिव नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचीभिश्चरणयोरस्पृशन् । तं प्रणेमुरित्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार देवता लोग इन्द्र के चरण को छूकर प्रणाम करते हैं उसी प्रकार सैकड़ों राजा उस महा पराक्रमशाली दशरथजी के चरणों पर अपने रत्नजटित मुकुटवाले शिर रखकर प्रणाम करते थे जिनके मणि दशरथजी के पैरों के नखों की लालिमा से दमक उठते थे ॥ ११ ॥

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

अन्वय—सः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् अनलकान् सपत्नपरिग्रहान् समनुकम्प्य महार्णवरोधसः अलकानवमां पुरीं निववृते ।

निववृत इति। स दशरथः सचिवैः सम्प्रयोजितैः कारिता बालसुतानामञ्जलयो यैस्तान् स्वयमसम्मुखागतानित्यर्थः। अनलकान्हतभर्तृकतयालकसंस्कारशून्यान्सपत्नपरिग्रहाञ्छत्रुपत्नीः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। समनुकम्प्यानुगृह्यालकानवमामलंकानगरादन्यूनां। अलति भूषयति स्वस्थानमित्यलकां पुरीमयोध्यां प्रति महार्णवानां रोधसः पर्यन्तान्निववृते। शरणागतवत्सल इति भावः।

भावार्थ—वे राजा दशरथ कृपा करके इस समुद्र के किनारे से अपनी उस अयोध्या पुरी को लौट आये जो कुवेर की राजधानी अलका पुरी से किसी प्रकार कम न थी। क्योंकि मृतपतिका, संस्कारशून्य केशों वाली शत्रु राजाओं की रानियों ने अपने मन्त्रियों के साथ हाथ जोड़े हुए अपने बच्चों को भेजकर अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करवाई थी ॥ १४ ॥

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अनुदितान्यसितातपवारणः अनलसोमसमद्युतिः सः श्रियम् रन्ध्रचलाम् अवेक्ष्य च मण्डलनाभितां उपगतः अपि अनलसः अभूत्।

उपगत इति। अनुदितमनुच्छ्रितमन्यस्वच्छत्रातिरिक्तं सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं यस्य सः अनलसोमयोरग्निचन्द्रयोः समे श्रुती तेजःकान्ती यस्य स तथोक्तः। श्रियं लक्ष्मीं रन्ध्रेऽन्यायालस्यादिरूपे छले चलां चञ्चलामवेक्ष्यावलोक्य श्रीर्हि केनचिन्मिषेण पुमांसं परिहरति स दशरथो मण्डलस्य नाभितां द्वादशराजमण्डलस्य प्रधानमहीपतित्वमुपगतोऽपि चक्रवर्ती सन्नपीत्यर्थः। 'अथ नाभिस्तु जन्त्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका। रथचक्रस्य मध्यस्थपिण्डिकायां च ना पुनः॥ आद्यक्षत्रियभेदे तु मनो मुख्यमहीपतौ॥' इति केशवः। अनलसोऽप्रमत्तोऽभूत्। 'अजितमस्ति नृपास्पद'मिति पाठान्तरेऽजितं नृपास्पदस्तीति बुद्ध्यानलसोऽप्रमत्तोऽभूत्। विजितनिखिलजेतव्योऽपि पुनर्जेतव्यान्तरवानिव जागरूक एवावतिष्ठतेत्यर्थः। द्वादशराजमण्डलं तु कामन्दकेनोक्तम्—'अरेर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम्। तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरः सराः॥ पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः। 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुग्रहे संवतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः॥' इति। 'अरिमित्रादयः पञ्च विजिगीषोः पुरःसराः॥ पार्ष्णिग्राहाक्रन्दपार्ष्णिग्राहासाराक्रन्द्रासाराः॥' इति पृष्ठतश्चत्वारः मध्यमोदासीनौ द्वौ विजिगीषुरेक इत्येवं द्वादशराजमण्डलम्। तत्रोदासीनमध्यमोत्तरश्चक्रवर्ती दशरथश्चैतादृगिति तात्पर्यार्थः।

भावार्थ—चारो ओर के राजाओं का मण्डल दशरथ के हाथ मे आ गया जिससे वे अग्नि के समान तेजस्वी और चन्द्रमा के समान सर्वप्रिय हो गये। और उनका प्रताप इतना बढ़ गया कि उनके आगे कोई भी दूसरा राजश्वेत छत्र नहीं लगा सकता था। फिर भी वे बडे सावधान थे, आलस उनके पास नहीं था क्योंकि वे जानते थे कि जहाँ एक दोष भी मेरे पास आया तहाँ लक्ष्मी मुझे छोड़कर चली जायेंगी ॥ १५ ॥

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥ १६ ॥

अन्वयः—पतिव्रता सकमला देवता अर्थिषु अलाघवम् ककुत्स्थकुलोद्भवं तम् आत्मभवं पुरुषं च अपहाय अन्यं कं नृपतिम् असेवत।

तमिति। पत्यौ व्रतं नियमो यस्याः सा पतिव्रता सकमला कमलहस्ता देवता लक्ष्मीरर्थिषु विषयेऽलाघवं लघुत्वरहितम् अपराङ्मुखमित्यर्थः। ककुत्स्थकुलोद्भवं तं दशरथमात्मभवं पुरुषं पुरि शरीरे उपतीति पुरुषः। तं विष्णुं चापहाय त्यक्त्वा अन्यं कं नृपतिमसेवत कमपि नासेवतेत्यर्थः। विष्णाविव विष्णुतुल्ये तस्मिन्नपि श्रीः स्थिराभूदित्यर्थः।

भावार्थ—पतिव्रता कमलासना लक्ष्मी अतिथियों के विषय में अपराङ्मुख एवं ककुस्थ कुल मे उत्पन्न उस राजा दशरथ और भगवान् विष्णु को छोडकर दूसरे किस राजा या देवता की सेवा की ? अर्थात् किसी की भी नहीं ॥ १६ ॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—पतिदेवताः मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरः अहितरोपितमार्गणं तं शिखरिणां दुहितरः आपगाः सागरम् इव पतिम् अलभन्त।

तमिति। पतिरेव देवता यासां ताः पतिदेवताः पतिव्रताः मगधाश्च कोसलाश्च केकयाश्च ताञ्जनपदाञ्छासतीति तच्छासिनः तेषां राज्ञां दुहितरः पुत्र्यः सुमित्राकौसल्याकैकेय्य इत्यर्थः। अत्र क्रमो न विवक्षितः। अहितरोपितमार्गणं शत्रुनिखातशरम्। 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः। तं दशरथं शिखरिणां क्ष्माभृतां दुहितरः आ समन्तादपगच्छन्तीति अथवा 'आपेनाप्संबन्धिना वेगेन गच्छन्तीत्यापगाः' इति क्षीरस्वामी। नद्यः सागरमिव पतिं भर्तारमलभन्त प्रापुः।

भावार्थ—जिस प्रकार पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ समुद्र को पा लेती

हैं उसी प्रकार कोशल मगध और कैकेय देश के राजाओं की कौशल्या सुमित्रा एवं कैकेयी नामक पतिव्रता कन्याओं ने शत्रुओं पर बाण बरसानेवाले उस राजा दशरथ को पति के रूप में पा लिया ॥ १७ ॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥

अन्वयः—अरिहयोगविचक्षणः असौ तिसृभिः प्रियतमाभिः सह प्रजा विनिनीषुः शक्तिभिः सह भुवम् उपगतः हरिहयः इव बभौ ।

प्रियतमाभिरिति । अरीन्घ्नन्तीत्यहरिहणो रिपुघ्नाः । हन्तेः क्विप् । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इति नियमस्य प्रायिकत्वात् । यथाह न्यासकारः—प्रायिकश्चायं नियमः क्वचिदन्यस्मिन्नप्युपपदे दृश्यते मधुहा प्रायिकत्वं च वक्ष्यमाणस्य बहुलग्रहणस्य पुरस्तादपकर्षाल्लभ्यते' इति । तेषु योगेषूपायेषु विचक्षणो दक्षः । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यमरः । इन्द्रेऽपि योज्यमेतत् । असौ दशरथस्तिसृभिः प्रियतमाभिः सह प्रजा विनिनीषुर्विनेतुमिच्छुस्तिसृभिः शक्तिभिः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिभिरेव सह भुवमुपगतो हरिहय इन्द्र इव बभौ ।

भावार्थ—शत्रुओं के नाश करने में निपुण राजा दशरथ अपनी तीनों रानियों के साथ ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथ्वी पर राज्य करने की इच्छा से स्वयं इन्द्र ही अपनी प्रभुशक्ति और उत्साह शक्तियों के साथ अवतार लेकर चले आये हैं ॥ १८ ॥

स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥ १९ ॥

अन्वयः—महारथः सः संयुगमूर्ध्नि मघवतः सहायतां प्रतिपद्य शरैः अवधूतभयाः सुरवधूः उच्छ्रितं स्वभुजवीर्यम् अगापयत् किल ।

स इति । महारथः स दशरथः संयुगमूर्ध्नि रणाङ्गणे मघवत इन्द्रस्य सहायतां प्रतिपद्य प्राप्य शरैरवधूतभया निवर्तितत्रासाः सुरवधूरुच्छ्रितं स्वभुजवीर्यमगापयत्किल खलु । गायतेः शब्दकर्मत्वात् "गतिबुद्धि०" इत्यादिना सुरवधूनामपि कर्मत्वम् ।

भावार्थ—महारथी दशरथ ने समराङ्गण में इन्द्र की सहायता करके अपने बाणों से उनके शत्रुओं का नाश कर दिया जिससे देवताओं की स्त्रियों का भय दूर हो गया, वे निर्भय होकर दशरथ के बाहुबल का गीत गाने लगीं ॥ १९ ॥

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥ २० ॥

अन्वयः—क्रतुषु विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना वितमसा तेन तमसासरयूतटाः कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनः कृताः ।

क्रतुष्विति । क्रतुष्वश्वमेधेषु विसर्जितमौलिनाऽवरोपितकिरीटेन दीक्षितेन मुण्डितेन भाव्यं त्यक्तमुकुटेन वा भूपा हि यज्ञेषु वपनस्थाने मौलिं विसर्जयन्ति । 'यावद्यज्ञमध्वर्युरेव राजा भवति' इति राजश्रिहृत्यागविधान'दित्यभिप्रायः । 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले' इति विश्वः । भुजसमाहृतदिग्वसुना भुजार्जितदिगन्तसम्पदा । अनेन क्षत्रियस्य विजितत्वमुक्तम् । नियमार्जितधनत्वं सद्विनियोगकारित्वं च सूच्यते वितमसा तमोगुणरहितेन तेन दशरथेन तमसा च सरयू नद्यौ तयोस्तटः कनकयूपानां समुच्छ्रयेण समुन्नमनेन शोभितः कृताः कनकमयत्वं च यूपानां शोभार्थं विध्यभावात् । 'हेमयूपस्तु शोभिकः' इति यादवः ।

भावार्थ—अपने बाहुबल से चारों ओर से धन लाकर इकट्ठा करनेवाले तथा तमोगुण से रहित उस राजा दशरथ ने अपना मुकुट उतारकर यज्ञ करते समय तमसा और सरयू के किनारे को सुवर्ण के यज्ञ स्तम्भों से सुशोभित कर दिया ॥ २० ॥

अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥

अन्वयः—ईश्वरः अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् अध्वरदीक्षितां तनुम् अधिवसन् सन् असमभासम् अभासयत् ।

अजिनेति । ईश्वरो भगवानष्टमूर्तिरजिनं कृष्णाजिनं दण्डमौदुम्बरं बिभर्तीति तमजिनदण्डभृतम् । 'कृष्णाजिनं दीक्षयति औदुम्बरं दीक्षितदण्डं यजमानाय प्रयच्छति' इति वचनात् । कुशमयी मेखला यस्यास्ता कुशमेखलाम् । 'शरमयी मौञ्जी वा मेखला तया यजमानं दीक्षयती'ति विधानात् प्रकृते कुशग्रहणं क्वचित्प्रतिनिधिदर्शनात्कृतम् । यतगिरं वाचंयमम् । 'वाचं यच्छति' इति श्रुतेः । मृगशृङ्गं परिग्रहः कण्डूयनसाधनं यस्यास्ताम् । 'कृष्णविषाणेन कण्डूयते' इति श्रुतेः । अध्वरदीक्षितां संस्कारविशेषयुक्तां तनुं दाशरथीमधिवसन्नधितिष्ठन्सन् असमा भासो दीप्तयो यस्मिन्कर्मणि तथा तथा अभासयद्भासयति स्म ।

भावार्थ—जिस समय राजा दशरथ मृगछाला पहनकर हाथ में दण्ड लेकर, कुश की करधनी बाँधकर और मौनधारण करके मृग की सींग लिये हुए यज्ञ की

दीक्षा लेकर बैठे। उस समय भगवान् शिव उनके शरीर में प्रविष्ट हुए जिससे
उनकी शोभा और भी अधिक बढ गई। (यज्ञ मे दीक्षित होने पर यदि शरीर
खुजलाता है तो अंगुलियों से न खुजलाकर सींग से खुजलाया जाता है) ॥ २१ ॥

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः।
'नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अवभृथप्रयतः नितयेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः स उन्नतं
शिरं वनमुचेः अरये केवलं नमयतिस्म।

अवभृथेति। अवभृथेन प्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमेणोचितो देव-
समाजाधिष्ठानार्हः स दशरथ उन्नतं शिरो वनमुचे जलवर्षिणे। 'जलं नीरं वनं
सत्त्वम्' इति शाश्वतः। नमुचेररये केवलमिन्द्रायैव नमयति स्म। लोकरक्षार्थं
वृष्टेरपेक्षितत्वादिन्द्रमेवानमच्छिरः। कस्मैचिदन्यस्मै मानुपायेत्यर्थः।

भावार्थ—यज्ञ समाप्त हो जाने पर अवभृथ स्नान से पवित्र जितेन्द्रिय और
देवताओं के साथ बैठने योग्य राजा दशरथ ने केवल नमुचिराक्षस को मारनेवाले
और जल बरसाने वाले इन्द्र के आगे ही अपना उन्नत मस्तक झुकाया, दूसरों
के लिए नहीं, क्योंकि अन्य राजाओं को पराजित कर देने के कारण वे स्वयं
प्रणम्य थे ॥ २२ ॥

असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—एकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता दिनकराभिमुखाः
रणरेणवः सुरद्विषां रुधिरेण असकृत् रुरुधिरे।

असकृदिति। एकरथेनाद्वितीयरथेन तरस्विना बलवता हरिहयस्येन्द्रस्याग्रस-
रेण धनुर्भृता दशरथेनासकृद्बहुशः दिनकरस्याभिमुखाः अभिमुखस्थिता इत्यर्थः।
रणरेणव सुरद्विषां दैत्यानां रुधिरेण रुरुधिरे निवारिताः।

भावार्थ—धनुर्धारी और महापराक्रमी राजा दशरथने अकेले ही अनेकों
वार समराङ्गण में इन्द्र का अग्रेसर होकर राक्षसों के रुधिर से आकाश मे
उड़ती हुई धूलि को शान्त किया था ॥ २३ ॥

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणां समधुर मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—अथ मधुर यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरम् अञ्चितविक्रमं
एकनराधिपं तं सेवितुं इव नवैः कुसुमैः उपलक्षितः सन् समाववृते।

अथेति। अथ यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणा धर्मराजधनदवरुणामरेन्द्राणां समः धूर्भारो यस्य स समधुरः माध्यस्थ्यवितरणसंनियमनैश्वर्यैस्तुल्यकक्ष इत्यर्थः। "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इत्यनेन समासान्तोऽच्प्रत्ययः। तं समधुरम् अस्खलितविक्रमं पूजितपराक्रममेकनराधिपं तं दशरथं सेवितुमिव मधुर्वसन्तः। मधे पुष्परसे। मधुर्वसन्तः। 'मद्ये पुष्परसे मधुः। दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे।' इति विश्वः। कुसुमैरुपलक्षितः सन्नभ्यावृते समागत 'रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं देवता गुरुम्' इति वचनात्पुष्पसमेतो राजानं सेवितुमागत इत्यर्थः।

भावार्थ—यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र के समान पराक्रमी उस एकच्छत्र राजा दशरथ का अभिनन्दन करने के लिए वसन्त ऋतु भी नये-नये पुष्पों की भेंट लेकर आ पहुँची ॥ २४ ॥

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥ २५ ॥

अन्वयः—धनदाध्युषितां दिशं जिगमिषुः रथयुजा परिवर्तितवाहनः रविः हिमनिग्रहैः दिनमुखानि विमलयन् सन् मलयं नगम् अत्यजत्।

जिगमिषुरिति। धनदाध्युषितां कुबेराधिष्ठितां दिशं जिगमिषुर्गन्तुमिच्छु रथयुजा सारथिनाऽरुणेन परिवर्तितवाहनो निवर्तिताश्वो रविः हिमस्य निग्रहैर्निराकरणैर्दिनमुखानि प्रभातानि विमलयन्विपदयन् मलयं नगं मलयाचलमत्यजत्। दक्षिणां दिशमत्याक्षीदित्यर्थः।

भावार्थ—कुबेर पालित उत्तर दिशा में जाने के इच्छुक और सारथि अरुण द्वारा घुमाए गए घोड़ों वाले सूर्य ने पाला हटा करके प्रातःकाल को स्वच्छ बनाते हुए मलय पर्वत को छोड़ दिया ॥ २५ ॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—आदौ कुसुमजन्मः ततः, नवपल्लवाः तदनु। षट्पदकोकिलकूजितम् इति यथाक्रम द्रुमवती वनस्थलीम् अवतीर्य मधुः आविरभूत्।

कुसुमेति। आदौ कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः तदनु। "अनुर्लक्षणे" इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया। यथासंख्यं तदुभयानन्तरं षट्पदानां कोकिलानां च कूजितम्। इत्येवंप्रकारेण यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य पुष्पप्रियो भृङ्गः पल्लवप्रियः कोकिल इति क्रमोक्तैरयमाशयः। द्रुमवतीं द्रुमभूयिष्ठां वनस्थलीमवतीर्य मधुर्वसन्त

आविरभूत। केषांचिद्द्रुमाणां पल्लवप्राथम्यात्केषांचित्कुसुमप्राथम्यान्नोक्तक्रमस्य दृष्टविरोधः।

भावार्थ—सर्वप्रथम फूल खिले, फिर नए-नए कोमल पल्लव निकलने लगे तव भ्रमर गूँजने लगे, उसके वाद कषाय कण्ठ कोकिलायें कूजने लगीं, इस प्रकार क्रमशः विभिन्न वृक्षवाली उस वनस्थली में वसन्त ऋतु प्रगट होने लगी ॥ २६॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः॥ २७॥

अन्वयः—नयगुणोपचितां सदुपकारफलां भूपतेः श्रियम् अर्थिनः इव मधुसम्भृतां सरसः कमलिनीम् अलिनीरपतत्रिणः अभिययुः।

नयेति। नयो नीतिरेव गुणः तेन अथवा नयेन गुणैः शौर्यादिभिश्चोपचितां सतामुपकारः फलं यस्यास्तां सदुपकारफलां भूपतेर्दशरथस्य श्रियमर्थिन इव मधुना वसन्तेन सम्भृतां सम्यक्पुष्टां सरसः सम्बन्धिनीं कमलिनीं पद्मिनीमलिनीरपतत्रिणः अलयो भृङ्गाः नीरपतत्रिणो जलपक्षिणो हंसादयश्च अभिययुः।

भावार्थ—जिस प्रकार नीति पूर्वक पराक्रमादि गुणों से वढ़ी हुई और सज्जनों की उपकारिका राजा दशरथ की लक्ष्मी के आगे से वहुत से मंगन हाथ फैलाया करते थे उसी प्रकार पराग से भरी हुई तालाव की कमलिनी के आस-पास भ्रमर और हंस मंडारने लगे॥ २७॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः॥ २८॥

अन्वयः—आर्तवं, नवम् अशोकतरोः केवलं कुसुमम् एव स्मरदीपनं न अभूत् किन्तु विलासिनां मदयिता दयिता श्रवणार्पितः किसलयप्रसवः अपि स्मरदीपनः (अभूत्)।

कुसुमिति। ऋतुरस्य प्राप्तं आर्तवम्। "ऋतोरण्" इत्यण्। नवं प्रत्यग्रमशोकतरोः केवलं कुसुममेव स्मरदीपनमुद्दीपनं न। किन्तु विलासिनां मदयिता मदजनको दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोऽपि पल्लवसन्तानोऽपि स्मरदीपनोऽभवत्।

भावार्थ—वसन्त में फूले हुए केवल अशोक के नए २ फूलों को देखकर ही कामोद्दीपन नहीं होता था किन्तु कामिनियों के कानों में सुशोभित विलासी एवं विलासिनियों को उन्मत करने वाले पल्लव भी कामोद्दीपक हुए॥ २८॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः॥ २९॥

१९ र० सम्पू०

अन्वयः—मधुना विरचिताः उपवनश्रियाम् अभिनवाः पत्रविशेषकाः इव स्थिताः मधुदानविशारदाः कुरबकाः मधुलिहां रवकारतां ययुः ।

विरचिता इति । मधुना वसन्तेन विरचिता उपवनश्रियामभिनवाः पत्रविशेषकाः पत्ररचना इव स्थिता मधूना मकरन्दाना दाने विशारदाश्चतुराः कुरबकास्तरवो मधुलिहां मधुपानां रवकारणतां ययुः । भृङ्गाः कुरबकाणां मधूनि पीत्वा जगुरित्यर्थः । दानशौण्डमर्थिजनाः स्तुवन्तीति भावः ।

भावार्थ—वसन्त के द्वारा वनलक्ष्मी के लिए बनाए गए नूतन वन रचना के समान स्थित मधु बहाने वाले कुरबक वृक्ष भ्रमरों के गुञ्जार का कारण बन गये । अर्थात् कटसरैया के लाल पुष्पों के रस को पीकर भ्रमर वैसे ही गुंजार करने लगे जैसे दाता से दान पाकर याचक उसका गुणगान करते हैं या कटसरैया से इतना मधु बह रहा था कि भौंरे उसे पीकर मस्त हो उसके चारों ओर गुन-गुना रहे थे ॥ २९ ॥

सुवदनावदनासवसम्भृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सुवदनावदनासवसम्भृतः तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः मधुलोलुपैः आयतपङ्क्तिभिः मधुकरैः बकुलम् आकुलम् अकरोत् ।

सुवदनेति । सुवदनावदनासवेन कान्तामुखमद्येन सम्भृतः जनितः तत्तस्य दोहदमिति प्रसिद्धिः । तस्यासवस्यानुवादी सदृशो गुणो यस्य तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः कर्ता मधुलोलुपैरायतपङ्क्तिभिर्मधुकरैर्मधुपैः करणैः । बकुलो स्त्रीनाना मद्यगण्डूषेण पुष्यतीति प्रसिद्धिः । बकुलं बकुलवृक्षमाकुलमकरोत् ।

भावार्थ—(यह कवि समय प्रसिद्धि है कि जब तरुणी स्त्रियाँ मुख में मदिरा लेकर बकुल वृक्ष पर कुल्ला कर देती हैं तब वह शीघ्र विकसित हो जाता है।) सुमुखी स्त्रियों के मुख की मदिरा से उत्पन्न और उसी के समान गन्धवाले बकुल पुष्पों ने झुण्ड बनाकर उड़ते हुए मकरन्द-लोलुप भ्रमरों से मौलसरी के वृक्ष को सब से व्याप्त कर दिया ॥ ३० ॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥ ३१ ॥

अन्वयः—शिशिरापगमश्रिया किंशुके उपहितं मुकुलजालं मदयापितलज्जया प्रमदया प्रणयिनि उपहितं नखक्षतमण्डनं इव अशोभत ।

उपहितमिति । शिशिरापगमश्रिया वसन्तलक्ष्म्या किंशुके पलाशवृक्षे 'पलाशः

किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । उपहितं दत्तं मुकुलं जालं कुड्मलसंहतिः मदेन यापितलज्जयाऽप्रसारित्रपया प्रमदया प्रणयिनि प्रियतमं उपहितं नखक्षतमेव मण्डनं तदिव अशोभत ।

भावार्थ—वसन्त के आने से पलाश के वृक्षों में कलियाँ निकल आयीं, वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों काम के आवेश में लाज को छोड़कर किसी कामिनी ने अपने प्रियतम के शरीर पर नखक्षत कर दिये हों ॥ ३१ ॥

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—रविः व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलं हिमं तावत् अशेषं अपोहितं अलं न खलु (किन्तु) विरलं कृतवान् ।

व्रणेति । व्रणैर्दन्तक्षतैर्गुरुभिर्दुर्धरैः प्रमदानामधरैरधरोष्ठैर्दुःसहं हिमस्याव्रणाकरत्वादसह्यं जघनेषु निर्विषयीकृता निरवकाशीकृता मेखला येन तत् शैत्यात्याजितमेखलमित्यर्थः । एवंभूतं हिमं रविस्तावदावसन्तादशेषं निःशेषं यथा तथाऽपोहितुं निरसितुं नालं खलु न शक्तो हि किंतु विरलं कृतवांस्तनूचकार ।

भावार्थ—जिसकी शीतलता के कारण स्त्रियों ने अपनी कमर से करधनियों को उतार दिया था और जिसमें पतियों के दन्तक्षत से स्त्रियों के ओठ दुखा रहे थे, ऐसे हिम को यद्यपि सूर्य बिल्कुल नहीं हटा सके किन्तु कम अवश्य कर दिये ॥ ३२ ॥

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अभिनयान् परिचेतुम् उद्यता इव स्थिता मलयमारुतकम्पितपल्लवा सकलिका ये सहकारलता कलिकामजिताम् अपि मनः अमदयत् ।

अभिनयानिति । अत्र चूतलताया नर्तकीसमाधिरभिधीयते । अभिनयानर्थव्यञ्जकान्व्यापारान् । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । परिचेतुमभ्यसितुमुद्यतेव कृतः मलयमारुतेन कम्पितपल्लवा पल्लवशब्देन हस्तो गम्यते । सकलिका सकोरका । 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः । सहकारलता कलिः कलहो द्वेष उच्यते । 'काल स्यात्कलहे शूरे कलिरन्त्ययुगे युधि' इति विश्वः । कामो रागः तज्जितामपि जितरागद्वेषाणामपीत्यर्थः । मनोऽमदयत् ।

भावार्थ—नयी मञ्जरी से युक्त आम की डालियाँ मलयाचल की वायु से काँप उठीं, मानों उन्होंने अभिनय सीखना आरम्भ कर दिया हो, उन्हें देखकर

राग द्वेष और काम को जीतनेवाले योगियो का मन भी मचल उठा। अर्थात् जिस प्रकार नर्तकी नाच के द्वारा सभासदो का मनोरंजन करती है उसी प्रकार हिलती हुई आम्रलता ने भी योगियो के मन को मुग्ध कर दिया ॥ ३३ ॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥

अन्वयः— सुरभिगन्धिषु कुसुमितासु वनराजिषु अन्यभृताभिः प्रथमम् उदीरिताः मिताः गिरः प्रविरलाः मुग्धवधूकथा इव शुश्रुविरे ।

प्रथममिति । सुरभिर्गन्धो यासां तासु सुरभिगन्धिषु । 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यदिनेकारः । कुसुमान्यासां सजातानि कुसुमिताः । तासु वनराजिषु वनपङ्क्तिषु अन्यभृताभिः कोकिलाभिः प्रथमं प्रारम्भेषूदीरिता उक्ता अत एव मिताः परिमिता गिरः आलापाः प्रविरला मौग्ध्यात्स्तोकोक्ता मुग्धवधूनां कथा वाच इव शुश्रुविरे श्रुताः

भावार्थ—मनोहर गन्धवाली प्रफुल्लित वनराजियो मे बैठकर कुहकने वाली कोयलों की परिमित वाणी ऐसी मालूम पड़ती थी मानो मुग्ध स्त्रियों के मधुर आलाप हो । अर्थात्—जिस प्रकार रतिकाल मे नववधुएँ लज्जा से कम बोलती हैं उसी प्रकार गन्धयुक्त पुष्पित उपवन मे कोयलो का कुहकना कही २ सुनाई पड़ने लगा ॥ ३४ ॥

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहृतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ३५ ॥

अन्वय —श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचः उपवनान्तलताः पवनाहृतैः किसलयैः सलयैः पाणिभिः इव बभुः ।

श्रुतीति । श्रुतिसुखाः कर्णमधुरा भ्रमरस्वना एव गीतयो यासां ताः । कुसुमान्येव कोमला दन्तरुचो दन्तकान्तयो यासां ताः । अनेक सस्मितत्वं विवक्षितम् । उपवनान्तलताः आराममध्यवल्ल्यः पवनेनाहृतैः कम्पितैः किसलयैः सलयैः साभिनयैः लयशब्देन-लयानुगताभिनयो लक्ष्यते । उपवनान्ते पवनाहृतैरिति सक्रियत्वाभिधानात् । पाणिभिरिव बभुः । अनेन लतानां नर्तकीसाम्यं गम्यते ।

भावार्थ—उपवन में खड़ी हुई लतायें नर्तकी के समान ऐसी सजीव जान पड़ती थीं मानों कानों को सुख देनेवाले भ्रमरो की गुंजार ही उनकी गीत हो, खिले हुए कोमल फूल ही उनके हंसी के दांत हों और वायु से हिलाई गई शाखाओं वाले हाथों से अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखा रही हों ॥ ३५ ॥

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अङ्गनाः ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेशरं स्मरसखं मधुं पतिषु रसखण्डनवर्जितम् निर्विविशुः ।

ललितेति । अङ्गना ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं मधुरविलासघटनापटुतरं सुरभिणा मनोहरेण गन्धेन पराजितकेसरं निर्जितवकुलपुष्पम् । 'अथ केसरे वकुलः' इत्यमरः । स्मरस्य सखायं स्मरसखं स्मरोद्दीपकमित्यर्थः मधुं मद्यम् । 'मधुं मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । "अर्धर्चा पुंसि च" इति पुंल्लिगता । उक्तं च—'मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधुः ॥' इति । पतिषु विषये रसखण्डनवर्जितमनुरागभङ्गरहितं यथा तथा निर्विविशुः । परस्परानुरागपूर्वकं पतिभिः सह पपुरित्यर्थः ।

भावार्थ—विलास के उत्पादन में कुशल अपनी सुगन्ध से मौलेसरी को भी मात करने वाले कामवर्द्धक मद्य, को स्त्रियों ने अपने पतियों के विषय में अखण्डित प्रेम के साथ पान किया ॥ ३६ ॥

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—विकचतामरसाः मदकलोदकलोलविहङ्गमाः गृहदीर्घिकाः स्मितचारुतराननाः श्लथशिञ्जितमेखलाः स्त्रियः इव शुशुभिरे ।

शुशुभिर इति । विकचतामरसा विकसितकमलाः । मदेन कला अव्यक्तमधुरं ध्वनन्त उदकलोलविहङ्गमा जलप्रियपक्षिणो हंसादयो यासु ता मदकलोदकलोलविहङ्गमाः । गृहेषु दीर्घिका वाप्यः स्मितेन चारुतराण्याननानि यासां ताः "इषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवोचितैः ॥ अलक्षितं द्विजद्वारे सूत्तमानां स्मितं भवेत् ॥" इति नाट्यलोचने । श्लथा शिञ्जिता मुखरा मेखला यासां ताः । शिञ्जितेति कर्तरि क्तः । स्त्रिय इव शुशुभिरे ।

भावार्थ—घरों के अन्दर बनी हुई बावलियों में जो कमल खिले हुए थे और मधुर शब्द करते हुए हंसादि जल पक्षी तैर रहे थे, उनसे वे ऐसी सुन्दर जान पड़ती थी मानों उनमें मुस्कराती हुई सुन्दर मुखवाली और ढीली होने के कारण बहती हुई करधनी वाली स्त्रियां जल-विहार रही हों ॥ ३७ ॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयाऽनितया रजनीवधूः ॥ ३८ ॥

अन्वयः-मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः रजनीवधूः इष्टसमागमनिर्वृतिम् अनितया वनितया सदृशं तनुताम् उपययौ ।

उपययाविति । मधुना मधुसमयेन खण्डिता ह्रासं गमिता । क्षीयन्ते खलूत्तरायणे रात्रयः खण्डिताख्या च नायिका ध्वन्यते हिमकरोदयेन पाण्डुर्मुखस्य प्रदोषस्य वक्त्रस्य च छविर्यस्याः सा । रजन्येव वधूः इष्टसमागमनिर्वृतिं प्रियसङ्गमसुखमनितयाऽप्राप्तया । 'इणगतौ' इति धातोः कर्तरि क्तः । वनितया सदृशं तुल्यं तनुतां न्यूनतां कार्श्यं चोपययौ ।

भावार्थ—जिस प्रकार अपने प्रियतम से समागम न होने के कारण खण्डिता नायिका दुर्बल होती जाती है उसी प्रकार रात्रि रूपी नायिका भी वसन्त ऋतु के आने से छोटी होती गई और उसका मुखचन्द्र भी पीला पड़ता गया ॥ ३८ ॥

अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः-हिमकरः अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः अंशुभिः मकरोर्जितकेतनं कुसुमचापम् अतेजयत् ।

अपेति । हिमकरश्चन्द्रः अपतुषारतयाऽपगतनीहारतया विशदप्रभैर्निर्मलकान्तिभिः सुरतसङ्गपरिश्रमादिभिः सुरतसङ्गखेदहारिभिरंशुभिः किरणैः "चन्दनं मृदुनालानि हरन्ति सुरतश्रमम्" इति रतिरहस्यम् । मकरोर्जितकेतनं मकरेणोर्जितं केतनं ध्वजो यस्य तम् । लब्धावकाशत्वादुच्छ्रितध्वजमित्यर्थः । कुसुमचापं काममतेजयदशानयत् । 'तिज निशाने' इति धातोर्ण्यन्ताल्लिङ् । सहकारीलाभात्कामोऽपि तीक्ष्णोऽभूदित्यर्थः ।

भावार्थ-पाला के दूर हो जाने से चन्द्रमा निर्मल हो गया, उसने अपने सुरतश्रम को नष्ट करनेवाली किरणों से कामदेव के पुष्पों के धनुष को और भी तेज कर दिया ॥ ३९ ॥

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥

अन्वयः-हुतहुताशनदीप्ति यत् कुसुमं वनश्रियः कनकाभरणस्य प्रतिनिधिः अभूत् दलकेसरपेशलं प्रियैः आहितं तत् युवतयः अलके दधुः ।

हुतेति । हुतहुताशनदीप्त्याज्यादिप्रज्वलिताग्निप्रभं यत्कुसुमं कर्णिकारमित्यर्थः । वनश्रियः वनलक्ष्म्याः कनकाभरणस्य प्रतिनिधिः । अभूदिति शेषः । दलेषु केसरेषु

च पेशलं सुकुमारपत्रकिञ्जल्कमित्यर्थः। आहितं प्रियैरिति शेषः। तत्कुसुमं युवतयोऽलके कुन्तले दधुः।

भावार्थ—प्रज्वलित अग्नि के समान कान्तिवाले जो पुष्प वनलक्ष्मी के कानों के कर्णफूल जैसे लगते थे, अपने प्रियतमों द्वारा लाये गये सुन्दर पंखुड़ी और परागवाले उन फूलों को स्त्रियों ने बालों में धारण किया ॥ ४० ॥

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिः अलिभिः अङ्कितः तिलकः वनस्थलीं तिलकः प्रमदाम् इव न शोभयति स्म इति न खलु।

अलिभिरिति। अञ्जनबिन्दुमनोहरैः कज्जलकणसुन्दरैः कुसुमपङ्क्तिषु निपतन्ति ये तैः अलिभिरङ्कितश्चिह्नितस्तिलकः श्रीमान्नाम वृक्षः। 'तिलकः क्षुरकः श्रीमान्' इत्यमरः। वनस्थलीं तिलको विशेषकः। 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्। द्वितीयं च तुरीयं च नहि स्त्रियाम्' इत्यमरः। प्रमदामिव न शोभयति स्मेति न खलु अपि त्वशोभयदेवेत्यर्थः। "लट्स्मे" इति स्मशब्दयोगाद्भूतार्थे लट्। तिलकेष्वञ्जनबिन्दवः शोभार्थं क्रियन्ते।

भावार्थ—कज्जल बिन्दु के समान, पुष्प समूह पर बैठते हुए भ्रमरों से चिह्नित तिलक वृक्ष वनस्थली को ललाट में टीका किये हुए स्त्री की तरह सुशोभित नहीं किया था ऐसा नहीं किन्तु सुशोभित किया ही था ॥ ४१ ॥

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मनः।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तरुचारुविलासिनी नवमल्लिका मधुरागसनाथया किसलयाधरसंगतया कुसुमसम्भृतया स्मितरुचा पश्यतां मनः अमदयत्।

अमदयदिति। तरुचारुविलासिनी तरोः पुंसश्च चारुविलासिनी नवमल्लिका सप्तलाख्या लता। 'सप्तला नवमल्लिका' इत्यमरः। मधुनो मकरन्दस्य मद्यस्य च गन्धेन सनाथया गन्धप्रधानयेत्यर्थः। किसलयमेवाधरस्तत्र सङ्गतया प्रसृतरागयेत्यर्थः। कुसुमैः सम्भृतया सम्पादितया कुसुमरूपयेत्यर्थः। स्मितरुचा हासकान्त्या मनः पश्यतामिति शेषः। अमदयत्।

भावार्थ—जैसे कोई विलासिनी स्त्री अपने मद्यगन्धयुक्त हास्य से दर्शकों को मदोन्मत्त करती है वैसे ही नवमल्लिका लता भी अपने मकरन्द रूपी गन्ध से भरी

लाल पत्तारूपी के ओठों पर फूलों की मुस्कान लेकर देखने वालों के मन को मतवाला बनाए डालती थी॥ ४२ ॥

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः॥ ४३ ॥

अन्वयः—विलासिनः अरुणरागनिषेधिभिः अंशुकैः श्रवणलब्धपदैः यवाङ्कुरैः च परभृताविरुतैः च इत्येतैः स्मरबलैः अबलैकरसाः कृताः।

अरुणेति। विलासिनो विलसनशीलाः पुरुषाः। "वौ कषलसकत्थस्रम्भ" इत्यनेन घिनुण्प्रत्ययः। अरुणस्यानूरो रागमारुण्यं निषेधन्ति तिरस्कुर्वन्तीत्यरुणरागनिषेधिनस्तैः कुसुम्भादिरञ्जनात्तत्सदृशैरित्यर्थः। तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति। "तस्येवानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः।" इति दण्डी। अंशुकैरम्बरैः श्रवणेषु कर्णेषु लब्धपदैः निवेशितैरित्यर्थः। यवाङ्कुरैश्च परभृताविरुतैः कोकिलाकूजितैश्च इत्येतैः स्मरबलैः कामसैन्यैः अबलास्वेक एव रसो रागो येषां तेऽबलैकरसाः स्त्रीपरतन्त्राः कृताः।

भावार्थ—प्रातःकाल की लालिमा से भी अधिक लाल वस्त्रों ने, कर्ण भूषण बनाये गये यव के अंकुरों ने और कूहकनेवाली कोयलों की सेना लेकर चलने वाले कामदेव ने ऐसा जाल बिछाया कि सभी विलासी पुरुष, युवती स्त्रियों के प्रेम में सुध बुध खो बैठे॥ ४३ ॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः॥ ४४ ॥

अन्वय—शुचिभिः कणैः उपचितावयवा अलिकदम्बकयोगम् उपेयुषी तिलकजा मञ्जरी अलकजालकमौक्तिकैः सदृशकान्तिः अलक्ष्यत्।

उपचितेति। शुचिभिः शुभ्रैः कणैः रजोभिरुपचितावयवा पुष्टावयवा अलिकदम्बकयोगमुपेयुषी प्राप्ता तिलकजा तिलकवृक्षोत्था मञ्जरी अलकेषु यज्जालकमाभरणविशेषस्तस्मिन्। मौक्तिकैः सदृशकान्तिः अलक्ष्यत। भृङ्गसङ्गिनी शुभ्रा तिलकमञ्जरी नीलालकसक्तं जालमिवालक्ष्यतेति वाक्यार्थः।

भावार्थ—लोगों ने श्वेत परागों से भरे हुए अवयव वाली और भ्रमर समूह से व्याप्त तिलक वृक्ष की मञ्जरी को ऐसा देखा मानो किसी स्त्री ने अपने सिर पर मोतियों की जाली पहन लिया हो॥ ४४ ॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः॥ ४५ ॥

अन्वयः—अलिव्रजाः धनुर्भृतः मदनस्य ध्वजपटम् ऋतुश्रियः छविकरं मुखचूर्णं सपवनोपवनोत्थितम् कुसुमकेसररेणुम् अन्वयुः।

ध्वजेति। अलिव्रजाः षट्पदनिवहा धनुर्भृतो धानुष्कस्य मदनस्य कामस्य ध्वजपटं पताकाभूतम् ऋतुश्रियो वसन्तलक्ष्म्याश्छविकरं शोभाकारं मुखचूर्णं मुखालंकारचूर्णभूतम्। 'चूर्णानि वासयोगाः स्युः' इत्यमरः। सपवनोपवनोत्थितं सपवनं पवनेन सहितं यदुपवनं यस्मिन्नुत्थितं कुसुमानां केसरेषु किञ्जल्केषु यो रेणुस्ताम्। अन्वयुरन्वगच्छन्। यातेर्लङ्।

भावार्थ—भ्रमरों के झुण्ड उपवन में हवा से उड़नेवाले कुसुम पराग के पीछे-पीछे उनके गन्ध से लुब्ध होकर उड़ चले, हवा से उड़ता हुआ वह पराग ऐसा मालूम पड़ता था मानो धनुर्धारी कामदेव का झण्डा हो या वसन्त लक्ष्मी के मुख पर लगाने का अंगार चूर्ण हो ॥ ४५ ॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—नवदोलम् ऋतूत्सवम् अनुभवन् अबलाजनः पटुः अपि प्रियकण्ठजिघृक्षया, आसनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलताम् अनयत्।

अनुभवन्निति। नवा दोला प्रेङ्खा यस्मिंस्तं नवदोलमृतूत्सवं वसन्तोत्सवमनुभवन्नबलाजनः पटुरपि निपुणोऽपि प्रियकण्ठस्य जिघृक्षया गृहीतुमालिङ्गितुमिच्छयाऽऽसनरज्जुपरिग्रहे पीठरज्जुग्रहणे भुजलतां बाहुलतां जलतां शैथिल्यं डलयोरभेदः "यमकश्लेषचित्रे तु बवयोर्डलयोर्न भित्" इति। अनयत्। दोलाक्रीडासु पतनभयनाटितकेन प्रियकण्ठमाश्लिष्यदित्यर्थः।

भावार्थ—वसन्तऋतु में नये फूलों के आनन्द का अनुभव करने वाली स्त्रियों ने चतुर होते हुए भी अपने प्रियतमों के आलिंगन की इच्छासे झूले की डोरी पकड़ने वाले हाथों को ढीला कर दिया ताकि हाथ छूटने पर हमारे प्रियतम हमें थाम ही लेंगे। इस प्रकार उनके गले लग जायेंगी। या गिरने के बहाने झूले की रस्सी को पकड़ने को ढीलाकर पति के गले का स्वयं आलिंगन कर लिया। ४६ ॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—बत 'अङ्गनाः मानं त्यजत, विग्रहैः अलं, गतं चतुरं वयः पुनः न एति' इति स्मरमते परभृताभिः निवेदिते सति इव वधूजनः रमतेस्म।

त्यजतेति। बतेत्यामन्त्रणे 'खेदानुकम्पासंतोषविस्मयामन्त्रणे बत' इत्यमरः।

वत अङ्गना मानं कोप त्यजत । तदुक्तम् "स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपः मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये" इति । विग्रहे विरोधैरलं । विग्रहो न कार्य इत्यर्थः । गतमतीतं चतुरमुपभोगक्षमं वयो यौवन पुनर्नैति इत्येवंरूपे स्मरमते स्मराभिप्राये । नपुंसके भावः क्तः । परभृताभि. कोकिलाभिर्निवेदिते सतीव वधूजनो रमते स्म रेमे । कोकिलाकूजितोद्दीपितस्मरः स्त्रीजन. कामशासनभयादिवोच्छृङ्खलमखेलदित्यर्थः।

भावार्थ—उन दिनो कोयलायें मानो कामदेव का यह आदेश सुना रही थी कि हे स्त्रियो ! मानको छोड दो, लडाई झगडा न करो, बीती हुई नवजवानी फिर नही लौटती। इस प्रकार कोयलों के कामोद्दीपन वचन सुनते पर मानिनी स्त्रियाँ मान छोड़कर अपने २ पतियो के साथ फिर रमण करने लगी ॥ ४७ ॥

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः सः नरपतिः विलासवतीसखः सन् आर्तवम् उत्सवं, यथासुखं समनुभूय मृगयारतिं चकमे ।

अथेति । अथानन्तरं मधु मथ्नातीति मधुमद्विष्णु संपदादित्वात्क्विप् । मधुर्वसन्तः मथ्नातीति मथः पचाद्यच् । मनसो मथो मन्मथः। काम येषा सन्निभः सदृशो मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः नरपतिर्दशरथो विलासवतीसखः स्त्री सहचरः सन् ऋतुः प्राप्तोऽस्यार्तवः तमुत्सवं यथासुखं समनुभूय मृगयारतिं मृगयाविहारं चकम आचकाङ्क्ष ।

भावार्थ—इसके बाद विष्णु के समान पराक्रमी, वसन्त के समान प्रसन्न और कामदेव के समान सुन्दर दशरथ जी ने विलासिनी स्त्रियो के साथ वसन्त ऋतु का आनन्द अनुभव कर शिकार खेलने की इच्छा प्रगट की ॥ ४८ ॥

व्यसनासङ्गदोष परिहरन्नाह—

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥४९॥

अन्वयः—असौ चललक्ष्यनिपातने परिचयं करोति, भयरुषोः तदिङ्गितबोधनं च करोति श्रमजयात् तनुं प्रगुणां च करोति अतः दशरथः सचिवैः अनुमतः सन् ययौ ।

परिचयमिति । असौ मृगया चललक्ष्याणि मृगगवयादीनि तेषां निपातने परिचयमभ्यासं करोति भयरुषोर्भयक्रोधयोस्तदिङ्गितबोधनं तेषां चललक्ष्याणामिङ्गितस्य चेष्टितस्य भयादिलिङ्गभूतस्य बोधनं ज्ञानं च करोति। तनुं शरीरं श्रमस्य जयाज्जिराभारप्रगुणां प्रकृष्टलाघवादिगुणवतीं च करोति । अतो हेतो सचिवैरनुमतोऽ

मोदितः सन्ययौ । सर्वं चैतद्युद्धोपयोगीत्यतस्तदपेक्षया मृगयाप्रवृत्तिः । न तु व्यसनितयेति भावः ।

भावार्थ—शिकार खेलने से अनेक लाभ होते हैं पहली बात तो यह होती है कि उससे चलते हुए लक्ष्य को वेधने का अभ्यास हो जाता है, फिर उससे जीवों के भय और क्रोध आदि विविध भावों की पहचान हो जाती है और परिश्रम करने से शरीर भी भली प्रकार दृढ़ हो जाता है इसलिए मन्त्रियों से राय लेकर राजा दशरथ शिकार के लिए निकल पड़े ॥ ४९ ॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥

अन्वयः—मृगवनोपगमक्षमवेशभृत् विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः नृसविता सः अश्वखुरोद्धतरेणुभिः गगनं वितानम् इव अकरोत् ।

मृगेति । मृगाणां वनं तस्योपगमः प्राप्तिः तस्य क्षममर्हं वेषं बिभर्तीति स तथोक्तः । मृगयाविहारानुगुणवेषधारीत्यर्थः विपुलकण्ठे निषक्तशरासनो लग्नधन्वा ना सवितेव नृसविता पुरुषश्रेष्ठः । उपमितसमासः । स राजाऽश्वखुरोद्धतरेणुभिर्गगनं वितानं तुच्छमसदिवाकरोत् । गगनं नालक्ष्यतेत्यर्थः । वितानं तुच्छमन्दयः इति विश्वः । अथवा सवितानमित्येकं पदम् । सवितानमुल्लोचनसहितमिवाकरोत् । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः ।

भावार्थ—मृगों से परिपूर्ण वन के योग्य वेष बनाकर विशाल कण्ठ में धनुष को रखे हुए और राजाओं में सूर्य के समान तेजस्वी वे राजा दशरथ घोड़े पर चढ़कर चले, तब उनके घोड़ों की टापों से इतनी धूलि उठी कि आकाश में चंदोवा-सा बन गया ॥ ५० ॥

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥

अन्वयः—वनमालया ग्रथितमौलिः तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलः सः रुरुचेष्टितभूमिषु विरुरुचे ।

ग्रथितेति । वनमालया वनपुष्पस्रजा ग्रथितमौलिर्बद्धधम्मिल्लः "पत्रपुष्पमयी माला वनमाला प्रकीर्तिता" इति । तरूणां पलाशैः पत्रैः सवर्णः समानस्तनुच्छदो वर्म यस्य स तथोक्तः । इदं च वर्मणः पलाशसावर्ण्याभिधानं मृगादीनां विश्वासार्थम् । तुरगस्य वल्गनेन गतिविशेषेण चञ्चलकुण्डलोऽसौ दशरथो रुरुभिर्मृगविशेषैश्चेष्टिताश्चरिता या भूमयस्तासु विरुरुचे विदिद्युते ।

भावार्थ—राजा दशरथ के केशों में वनमाला गूंथी हुई थी और वे वृक्षों के पत्तों के समान गहरे रंग का कवच पहने हुए थे घोड़ों के वेग से चलने के कारण उनके कानों के कुण्डल भी हिल रहे थे, इस वेष में चलते-चलते वे उस वनस्थली में जा पहुँचे जहाँ रुरु जाति के मृग घूमा करते थे ॥ ५१ ॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसङ्क्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तनुलताविनिवेशितविग्रहाः भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलं तम् अध्वनि ददृशुः ।

तन्विति । तनुषु लतासु विनिवेशितविग्रहाः सङ्क्रमितदेहाः भ्रमरेषु संक्रमिता ईक्षणवृत्तयो दृग्व्यापारा यासां ता वनदेवताः सुनयनं सुलोचनं नयेन नीत्यानन्दितास्तोषिताः कोसला येन तं दशरथमध्वनि ददृशुः। प्रसन्नपावनतया तं देवता अपि गूढवृत्त्या ददृशुरित्यर्थः ।

भावार्थ—सूक्ष्म लताओं में शरीर को और भ्रमरों में नेत्र व्यापार को संक्रमित करनेवाली वनदेवताओं ने भी उन सुन्दर नेत्रवाले कोसल की प्रजाओं को सदा सुख पहुँचाने वाले राजा दशरथ को मार्ग में देखा ॥ ५२ ॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरङ्गमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—सः श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्युः स्थिरतुरङ्गभूमिः निपानवत् मृगवयोगवयोपचितं वनं विवेश ।

श्वगणीति । स दशरथः शुनां गणः स एषामस्तीति श्वगणिनः श्वग्राहिणः तैः वागुरा मृगबन्धनरज्जुः । 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः तया चरन्तीति वागुरिका जालिकाः । "चरति" इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वौ वागुरिकजालिकौ' इत्यमरः । तैश्च प्रथममास्थितमधिष्ठितं व्यपगता अनला दवाग्नयो दस्यवस्तस्कराश्च यस्मात्तथोक्तम् । 'दस्युतस्करमोषकः' इत्यमरः । "कारयेद्वनशोधनमादौ मातुरन्तिकमपि प्रविविक्षुः । आप्तशस्त्रधनुगतः प्रविशेद्वा संकटे च गहने च तिष्ठेत्" इति कामन्दकः । स्थिरा दृढा. पङ्कादिरहिता तुरङ्गमयोग्या भूमिर्यस्य तत् । निपानैः जलाहावयुक्तम् । 'आहावस्तु निपानं स्याद्रुपकूपजलाशये' इत्यमरः । मृगैर्हरिणादिभिः वयोभिः पक्षिभिर्गवयैर्गोसदृशैरारण्यपशुविशेषैश्चोपचितं समृद्धं वनं विवेश प्रविष्टवान् ।

भावार्थ—वे राजा दशरथ उस वन में पहुँचे जहाँ पहले से ही जाल और शिकारी कुत्ते लेकर उनके सेवक पहुँच चुके थे, वहाँ न तो अग्नि का भय था न

चोरों का। घोड़ों के चलने योग्य वहाँ की जमीन सूखी हुई थी, कुओं का पास पशुओं के पानी पीने योग्य हौजें बनी हुईं थीं और हरिण पक्षी एवं गवय प्रचुर मात्रा में वर्तमान थे ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोपितकेसरी ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ अनाधिः रवरोपितकेसरी नरवरः कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतं त्रिदशायुधं नभस्य इव अधिज्यं धनुः उपाददे ।

अथेति। अथानाधिर्मनोव्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठः रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिताः केसरिणः सिंहा येन स राजा। कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन संयुतं त्रिदशायुधमिन्द्रचापं नभस्यो भाद्रपदमास इव। 'स्युर्नभस्यः प्रोष्ठपदभाद्रपदाः समाः' इत्यमरः। अधिज्यमधिगतमौर्विकं धनुरुपाददे जग्राह ।

भावार्थ—तब वे नरश्रेष्ठ राजा दशरथ अपना वह धनुष चढ़ाये। जिसके टंकार से सिंह गरज उठे। वे उस समय उस भादो महीना के समान लग रहे थे जिसमें इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और उसमें सुवर्ण के रङ्ग की पीली बिजली की डोरी बँधी हो ॥ ५४ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—स्तनप्रणयिभिः एणशावैः मुहुः व्याहन्यमानहरिणीगमनं कुशगर्भमुखं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारं मृगाणां यूथं तस्य पुरस्तात् आविर्बभूव ।

तस्येति । स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिरेणशावैर्हरिणशिशुभिः। 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। व्याहन्यमानं तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिषिध्यमानं हरिणीनां गमनं गतिर्यस्य तत्। कुशा गर्भे येषां तानि मुखानि यस्य तत्कुशगर्भमुखं। तस्य यूथस्याग्रेसरः पुरःसरो गर्वितो दृप्तश्च कृष्णसारो यस्य तत्। मृगाणां यूथं कुलम्। 'सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्र आविर्बभूव। वसन्ततिलका वृत्तम् ।

भावार्थ—उन्होंने देखा कि आगे मृगों का झुण्ड चला आ रहा है जिसमें हरिणियाँ भी हैं जो उन बच्चों के कारण रुकती चलती हैं जो कुश चरते-चरते अपनी माँ के स्तनों से दूध पीने के लिए बीच-बीच में खड़े हो जाते हैं इस झुण्ड के आगे-आगे मुख में कुश लिए एक गर्वीला काला हरिण भी चल रहा है ॥५५॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्तिः ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—जवनवाजिगतेन, तूणीमुखोद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितं विशीर्णपङ्क्तिः तत् आर्द्रैः आकुलदृष्टिपातैः वातेरितोत्पलदलप्रकरैः इव वनं श्यामीचकार ।

तदिति । जवनो जवशीलः । "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः" इत्यनेन युच्प्रत्ययः । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः' इत्यमरः । तं वाजिनमश्वं गतेनारूढेन तूणीपुषि । "षद्गौरादिभ्यश्च" इति स्त्रियां ङीष् । तस्या मुखाद्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम् । 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । अत एव विशीर्णा पङ्क्तिः संघीभावो यस्य तत् । मृगयूथं कर्तृ आर्द्रैर्भयादश्रुसिक्तैराकुला भयचकिता ये दृष्टिपातास्तैः वातेरितोत्पलदलप्रकरैः पवनकम्पितेन्दीवरदलवृन्दैरिव वनं श्यामीचकार ।

भावार्थ—अपने वेगगामी घोड़े पर चढ़े हुए राजा दशरथ ने ज्यों ही अपने तरकस से बाण निकालकर उस झुण्ड का पीछा किया, त्यों ही वह तितर-बितर हो गया और हरिणों की घबड़ाई हुई आँखों से व्याप्त वह सारा वन ऐसा मालूम पड़ने लगा मानो वायु ने काले कमलों की पंखुड़ियाँ उड़ाकर वहाँ बिखेर दी हों ॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हरिप्रभावः धन्वी सः लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य देहं व्यवधाय स्थितां सहचरीं प्रेक्ष्य कामितया कृपामृदुमनाः सन् आकर्णकृष्टम् अपि बाणं प्रतिसंजहार ।

लक्ष्यीकृतेति । हरिरिन्द्रो विष्णुर्वा तस्येव प्रभावः सामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः । धन्वी धनुष्मान्स नृपः लक्ष्यीकृतस्य वेद्धुमिष्टस्य हरिणस्य स्वप्रेयसो देहं व्यवधायानुरागादन्तर्धाय स्थिताम् । सह चरतीति सहचरी । पचादिषु चरतेष्टित्करणान्ङीप् । तथाह वामनः—'अनुचरीति चरेष्टित्त्वात्' इति । तां सहचरीं हरिणीं प्रेक्ष्य कामितया स्वयं कामुकत्वात्, कृपामृदुमनाः करुणार्द्रचित्तः । सन् आकर्णकृष्टमपि दुष्प्रतिसंहरमपीत्यर्थः । बाणं प्रतिसंजहार । नैपुण्यादित्यर्थः । नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते ।

भावार्थ—इन्द्र के समान शक्तिशाली धनुर्धारी उस राजा दशरथ ने देखा कि

जिस हरिण को वे मारना चाहते थे उसकी स्त्री हरिणी उसके शरीर को व्यवहित करके बीच में आकर खड़ी हो गई। अपने प्रियतम हरिण के लिए हरिणी का यह प्रेम देखकर दशरथ का हृदय दया से भर आया और उन्होंने कान तक खींचा हुआ भी बाण उतार लिया ॥ ५७ ॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥

अन्वयः—त्रासातिमात्रचटुलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि स्मरतः अपरेषु अपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः तस्य निविडः अपि मुष्टिः कर्णान्तम् एत्य बिभिदे ।

तस्येति । त्रासाद्भयादतिमात्रचटुलैरत्यन्तचञ्चलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि प्रगल्भकान्तविलोचनविलासव्यापारान्साहश्यात्स्मरतः अपरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोर्मोक्तुमिच्छोस्तस्य नृपस्य निविडो दृढोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेत्य प्राप्य बिभिदे स्वयमेव भिद्यते स्म। भिदेः कर्मकर्तरि लिट्। कामिनस्तस्य प्रियाविभ्रमस्मृतिजनितकृपातिरेकान्मुष्टिभेदः। न त्वनैपुण्यादिति तात्पर्यार्थः।

भावार्थ—वे दूसरे मृगों पर बाण छोड़ने की इच्छा से बाण को कान तक खीच भी लिये थे किन्तु उन्होंने जब अत्यन्त भय से व्याकुल उनके सुन्दर नेत्रों को देखा तब उन्हें अपनी युवती प्रियतमाओं के चञ्चल नेत्रों का स्मरण हो आया, इससे करुणार्द्र हृदय होकर उन्होंने किसी हरिण को भी नही मारा ॥ ५८ ॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्या-
न्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं
सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सः मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् आयताभिः आर्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तं सपदि पल्वलपङ्कमध्यात् उत्तस्थुषः द्रुतवराहकुलस्य मार्गं जग्राह ।

उत्तस्थुष इति । स नृपः मुस्ताप्ररोहाणां मुस्ताङ्कुराणां कवला ग्रासाः तेषामवयवैः भ्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः शकलैरनाकीर्णं व्याप्तम् । आयताभिर्दीर्घाभिरार्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तं सपदि पल्वलपङ्कमध्यादुत्तस्थुष उत्थितस्य द्रुतवराहकुलस्य पलायितवराहयूथस्य मार्गं जग्राहानुससार । जिघांसया तदीयपदवीमनुययावित्यर्थः।

भावार्थ—उन हरिणों को छोड़कर राजा दशरथ उधर घूम पड़े जिधर

आधा चबाये हुए मोथा के टुकड़े स्थान-स्थान पर बिखरे हुए थे और दूर तक पैरों के गीले पदचिह्नों को देखकर मालुम पड़ता था कि तालों के कीचड़ से निकल-निकल कर जंगली सूअरों का समूह उधर को ही गया है ॥ ५९ ॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीष-
द्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा
वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ ६० ॥

अन्वयः—वराहा वाहनात् ईषत् अवनतोत्तरकायम् विध्यन्तं तम् उद्धृतसटाः सन्तः प्रतिहन्तुम् अस्य इषुभिः सहसा जघनाश्रयेषु वृक्षेषु विद्धम् आत्मानं न विविदुः ।

तमिति । वराहाः वाहनादश्वादीषदवनतोत्तरकायं किंचिदानतपूर्वकायं विध्यन्तं प्रहरन्तं नृपम् उद्धृतसटा ऊर्ध्वकेसराः सन्तः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति केशवः । प्रतिहन्तुमीषुः प्रतिहन्तुमैच्छन् । अस्य नृपस्येषुभिः सहसा जघनानामाश्रयेष्ववष्टम्भेषु वृक्षेषु विद्धमात्मानं न विविदुः । एतेन वराहाणां मनस्वित्वं नृपस्य हस्तलाघवं चोक्तम् ।

भावार्थ—घोड़े पर चढ़े हुए राजा दशरथ ने अपने शरीर को आगे झुका कर ज्यों ही उन सूअरों पर बाण चलाया त्यों ही वे अपने गर्दनों के बालों को खड़ा करके उन पर झपटे किन्तु उन्होंने तत्काल ऐसे कसकर बाण मारे कि सूअरों को पता नहीं चला कि वे उन पेड़ों में बाणों साथ कसकर चिपक गये जिनके सहारे वे खड़े थे ॥६० ॥

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्ख-
स्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अभिघातरभसस्य वन्यस्य महिषस्य नेत्रविवरे तेन विकृष्य मुक्तः पत्री विग्रहं निर्भिद्य अशोणितलिप्तपुङ्खः (सन्) तं प्रथमं पातयामास स्वयं पश्चात् पपात ।

तेनेति । अभिघाते रभस औत्सुक्यं यस्य तस्य अभिहन्तुमुद्यतस्येत्यर्थः । वनस्य वने भवस्य महिषस्य नेत्रविवरे नेत्रमध्ये तेन नृपेण विकृष्याकृष्य मुक्तः पत्री शरो विग्रहं महिषदेहं निर्भिद्य विदार्य शोणितलिप्तो न भवतीत्यशोणितलिप्त

पुङ्खो यस्य स तथोक्तः सन् । तं महिषं प्रथमं पातयामास स्वयं पश्चात्पपात । "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यत्रानुशब्दस्य व्यवहितविपर्यस्तप्रयोगनिवृत्त्यर्थत्वात् 'पातयां प्रथममास' इत्यार्षप्रयोग इति पाणिनीयाः । यथाह वार्तिककारः—'विपर्यासनिवृत्त्यर्थं व्यवहितवृत्त्यर्थं च' इति ।

भावार्थ—इतने में ही उन्होंने देखा कि एक वनैला भैंसा उनकी ओर झपटा चला आ रहा है उन्होंने उसकी आंख में एक ऐसा वाण मारा कि वह भैंसे के शरीर में से इतनी जल्दी पार हो गया कि वाण के पंख में थोड़ा सा भी रक्त नहीं लगा और विशेषता यह थी कि भैंसे के शरीर को विदीर्ण कर वाण तो देर से गिरा किन्तु भैंसा पहले ही पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ६१ ॥

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गा-
न्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषा-
मत्युच्छ्रितं ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—नृपतिः निशितैः क्षुरप्रैः खड्गान् प्रायः विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान् चकार, दृप्तविनयाधिकृतः सः परेषाम् अत्युच्छ्रितं शृङ्गं न ममृषे दीर्घम् आयुः तु (न ममृषे) इति न ।

प्राय इति । नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः शरविशेषैः चन्द्रार्द्धवाणैरित्यर्थः । खड्गान् खड्गाख्यान्मृगान् 'गण्डके खड्गखड्गिनौ' इत्यमरः । प्रायो बाहुल्येन विषाणपरिमोक्षेण शृङ्गभङ्गेन लघून्यगुरूण्युत्तमाङ्गानि शिरांसि येषां तांश्चकार । न त्ववधीदित्यर्थः । कुतः दृप्तविनयाधिकृतो दुष्टनिग्रहनियुक्तः स राजा परेषां प्रतिकूलानामत्युच्छ्रितमुन्नतं शृङ्गं विषाणं प्राधान्यं च । 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः । न ममृषे न सेहे । दीर्घमायुर्जीवितकालम् । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । न ममृष इति न किन्तु ममृष एवेत्यर्थः ।

भावार्थ—इतने में उन्हें गैंडों का झुण्ड दिखाई पड़ा। राजा दशरथ ने अर्द्धचन्द्राकार तेज वाणों से उनके सींगों को काटकर उनके शिर का बोझ हल्का कर दिया । अभिमानियों के शासक वे राजा शिर उठाकर चलने वालों का दमन अवश्य करते थे इसीलिए उन्होंने उनके उन्नत सींग को नहीं सहन किया उनके प्राण से उनको वैर नहीं था । अर्थात्, राजा दशरथ ने दया करके उनके प्राण नहीं लिए, किन्तु उनके मान को नष्ट कर दिया ॥ ६२ ॥

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥

अन्वय—अभी स गुहाभ्य अभिमुखोत्पतितान् वायुरुग्णान् फुल्लासनाग्रविटपान् इव स्थितान् शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् व्याघ्रान् शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात् तूणीचकार ।

व्याघ्रानिति । अभीर्निर्भीक धन्वी गुहाभ्योऽभिमुखमुत्पतितान् वायुना रुग्णान्भग्नान् । फुल्ला विकसिता । "अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः" इति निष्ठातकारस्य लत्वनिपात । येऽसनस्य सर्जवृक्षस्य । 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवका' इत्यमर । अग्रविटपास्तानिव स्थितान् इषुभिर्भृतानित्यर्थः । व्याघ्राणा चित्ररूपत्वादुपमाने फुल्लविशेषणम् । शरैः पूरितानि वक्त्ररन्ध्राणि येषा तान्व्याघ्रान् शिक्षाविशेषेणाभ्यासातिशयेन लघुहस्ततया क्षिप्रहस्ततया निमेषात्तूणीचकार । तूणं शरैःपूरितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—जब सैनिकों के कोलाहल से सिंह अपनी-अपनी गुफाओं से निकलकर राजा दशरथ पर टूट पड़े तब राजा दशरथ ने धनुर्विद्या में सिद्धहस्त होने के कारण इतनी शीघ्रता से उन पर बाण बरसाये कि उन सिंहों के खुले मुँह बाणों से ऐसे भर गये मानों बाणों से भरे हुए तरकस हों अर्थात् गुफा से उछलकर सामने आते ही उनके मुखों को बाणों से भर दिया ॥ ६३ ॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दो मृगेषु ॥ ६४ ॥

अन्वय—कुञ्जलीनान् सिंहान् जिघांसुः निर्घातोग्रैः ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास, तेषा वीर्योदग्रे मृगेषु राजशब्दे अभ्यसूयापरः नूनम् अभूत् ।

निर्घेति । कुञ्जेषु लीनान् । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । सिंहाञ्जिघांसुर्हन्तुमिच्छु निर्घातो व्योमोत्थित औत्पातिकः शब्दविशेषः । तदुक्तं नारदीयसंहितायां 'वायुनाभिहतो वायुर्गगनात्पतितः क्षितौ । यदा दीप्तः खगरवः स निर्घातोऽतिदोषकृत् ॥' इति तद्वदुग्रैः रौद्रैर्ज्यानिर्घोषैर्मौर्वीशब्दैः क्षोभयामास । अत्रोत्प्रेक्षते—तेषा सिंहानां सम्बन्धिनि वीर्येणोदग्र उन्नते मृगेषु विषये यो राजशब्दस्तस्मिन्नभ्यसूयापरोऽभून्नूनम् । अन्यथा कथमेतानन्विष्य हन्यादित्यर्थः । 'मृगाणाम्' इति पाठे समासे गुणभूतत्वाद्राजशब्देन सम्बन्धो दुर्घटः । शालिनीवृत्तम्—'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् ।

भावार्थ—कुञ्जों में छिपे हुए सिंहों को मारने लिए राजा दशरथ ने बिजली की कड़क के समान तीव्र धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकारों से व्याकुल कर दिया, मानों अपने आधिपत्य के सामने सिंहों का आधिपत्य वे सहन कर सके ॥ ६४ ॥

तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥ ६५ ॥

अन्वयः—काकुत्स्थः गजकुलबद्धतीव्रवैरान् कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् तान् हत्वा आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानाम् आनृण्यं मार्गणैः गतम् इव अमंस्त ।

तानिति । काकुत्स्थो दशरथः राजकुलेषु बद्धं तीव्रं वैरं यैस्तान् कुटिलेषु नखाग्रेषु लग्ना मुक्तगजकुम्भमौक्तिकानि येषां तान्सिंहान्हत्वा आत्मानं रणेषु कृतकर्मणां कृतोपकाराणां गजानामानृणत्वं मार्गणैः शरैः । 'मार्गणो याचके शरे' इति विश्वः । गतं प्राप्तवन्तमिवामंस्त मेने ।

भावार्थ—हाथियों ने संग्राम में राजा दशरथ के बहुत उपकार किये थे इसलिए उन्होंने बाणों से उनके रिपुभूत उन सिंहों को मारकर हाथियों का ऋण चुका दिया जिनके नुकीले टेढ़े अगले पञ्जों में तब गजमुक्तायें उलझी हुई थीं ॥ ६५ ॥

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितवालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—क्वचित् चमरान् परितः प्रवर्तिताश्वः आकर्णविकृष्टभल्लवर्षी सः नृपतीन् इव तान् सितवालव्यजनैः वियोज्य सद्यः शान्तिं जगाम ।

चमरानीति । क्वचिच्चमरान्परितः । "अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इत्यनेन द्वितीया । प्रवर्तिताश्वः प्रधाविताश्वः आकर्णविकृष्टभल्लानिषुविशेषान्वर्षतीति तथोक्तः स नृपतीनिव तांश्चमरान्सितवालव्यजनैः शुभ्रचामरैर्वियोज्य विरहय्य सद्यः शान्तिं जगाम । शूराणां परकीयमैश्वर्यमेवासह्यं न तु जीवितमिति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

भावार्थ—चामर मृगों के चारों ओर घोड़ों को दौड़ाते हुए और कान तक खींचकर भालाओं को बरसाने वाले राजा दशरथ ने उन मृगों की चंवरवाली पूछें काट लीं, इससे उनको ऐसा सन्तोष हुआ मानों चंवरधारी राजाओं के चंवर ही उन्होंने छीन लिए हों । दशरथ को इस बात का बड़ा क्रोध था कि मेरे एक छत्र राज्य करते हुए राजचिह्न चंवर को कैसे धारण कर सकते हैं ॥ ६६ ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाण लक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—स तुरगसमीपात् उत्पतन्तम् अपि रुचिरकलापं मयूरं चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः न बाणलक्ष्यीचकार।

अपीति। स नृपस्तुरगसमीपादुत्पतन्तमपि सुप्रहारमपीत्यर्थः। रुचिरकलापं भासुरबर्हं मह्यामतिशयेन रौतीति मयूरो बर्ही। पृषोदरादित्वात्साधुः। चं चित्रेण माल्येनानुकीर्णे रतौ विगलितबन्धे प्रियायाः। केशपाशे सपदि गतमनस्कः प्रवृत्तचित्तः। "उरः प्रभृतिभ्यः कप्" इति कप्प्रत्ययः। न बाणलक्ष्यीचकार न प्रजहारेत्यर्थः।

भावार्थ—कभी-कभी राजा दशरथ के घोड़े के पास रंग-बिरंगी चमकीली पूंछों वाले मयूर भी उड़ जाया करते थे पर वे उन पर बाण नहीं चलाते थे क्योंकि उन्हें देखकर दशरथ जी विविध प्रकार के सुन्दर पुष्पों से सुशोभित और सम्भोग काल में खुले हुए अपनी प्रियाओं के केशपाशों स्मरण हो आता था, इसलिये उन्हें उनको मारने का ध्यान ही नहीं रहता था ॥ ६७ ॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननविलग्नजालकम्।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—सतुषारशीकरः भिन्नपल्लवपुटः वनानिलः कर्कशविहारसम्भवम्, आननविलग्नजालकं तस्य स्वेदम् आचचाम।

तस्येति। कर्कशविहारादतिव्यायामात्संभवो यस्य तम्। आनने विलग्नजालकं बद्धकदम्बकं तस्य नृपस्य स्वेदं सतुषारशीकरः शिशिराम्बुकणसहितः भिन्ना निर्दलिताः पल्लवानां पुटाः कोशा येन सः वनानिल आचचाम। जहारेत्यर्थः। रथोद्धतावृत्तमेतत्।

भावार्थ—कठिन परिश्रम से राजा दशरथ के मुँह पर जो पसीना छा गया था उसे वन के उस वायु ने सुखा दिया, जो ठण्डे जलकणों से युक्त और पल्लवों के बन्द कोशों को स्फुटित करने वाला था ॥ ६८ ॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इति आत्मनः विस्मृतान्यकरणीयं सचिवावलम्बितधुरम् अनुबन्ध-सेवया परिवृद्धिरागं धराधिपं मृगया चतुरा कामिनी इव जहार।

इतीति। इति पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनो विस्मृतमन्यत्करणीयं कार्यं येन तम्। विस्मृतात्मकार्यान्तरमित्यर्थः। सचिवैरवलम्बिता धृता धूर्यस्य तम्। "ऋक्पूरब्धूः-पथामानक्षे" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। अनुबन्धसेवया संततसेवया परिवृद्धो रागो यस्य तं धराधिपं मृग्यन्ते यस्यां मृगा इति मृगया। *परिचर्यापरिसर्या-मृगयाटाट्यादानामुपसंख्यानम्* इति शप्रत्ययान्तो निपातः। चतुरा विदग्धा कामिनीव जहाराचकर्ष। 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविशा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' इति भावः।

भावार्थ—इस प्रकार अपने दूसरे कर्तव्यों को भूले हुए, राज्य का भार मन्त्रियों पर छोड़ कर वन में आये हुए और निरन्तर सेवन करने से अधिक आसक्ति युक्त राजा दशरथ को शिकार के व्यसन ने वैसे ही लुभा लिया जैसे कोई चतुर स्त्री अपने पति की सेवा करके उसे अपने वश में कर लेती है। अर्थात् सब कार्य भूल कर राजा दशरथ शिकार में आसक्त हो गये॥ ६९॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम्॥ ७०॥

अन्वयः—स नरपतिः ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिका-सनाथां त्रियामां क्वचित् असमेतपरिच्छदः सन् अतिवाहयाम्बभूव।

स इति। स नरपतिः ललितानि कुसुमानि प्रवालानि पल्लवानि शय्या यस्यां तां ज्वलिताभिर्महौषधीभिरेव दीपिकाभिः सनाथां तत्प्रधानामित्यर्थः। त्रियामां त्रयो यामा यस्याः सा ताम् रात्रि क्वचिदसमेतपरिच्छदः परिहृत-परिजनः सन्नित्यर्थः। अतिवाहयाम्बभूव गमयामास। पुष्पिताग्रावृत्तम्।

भावार्थ—शिकार के वशीभूत राजा दशरथ ने राजाओं के योग्य सामग्री की परवाह न करके कभी २ परिजनों के बिना अकेले ही कोमल-कोमल पुष्पों और नवपल्लवों की शय्या बनाकर तथा जंगल की जलती हुई महौषधियों को दीपक का प्रकाश समझकर रात बिताई॥ ७०॥

उपसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितवन्दिमङ्गलानि॥ ७१॥

अन्वयः—उपसि पटुपटहध्वनिभिः गजयूथकर्णतालैः, विनीतनिद्रः सः तत्र मधुराणि, विहगविकूजितवन्दिमंगलानि शृण्वन् अरमत।

उपसीति। उपसि प्रातः पटूनां पटहानामिव ध्वनिर्येषां तैर्गजयूथानां हस्तिसमूहानां कर्णैरेव तालैर्वाद्यप्रभेदैर्विनीतनिद्रः स नृपस्तत्र वने मधुराणि विहगानां विहङ्गानां विकूजितान्येव वन्दिनां मङ्गलानि मङ्गलगीतानि शृण्वन्नरमत।

भावार्थ—वन में रहते हुए भी राजा दशरथ के सभी व्यवहार राजाओं के समान हुआ करते थे। प्रातःकाल जब बड़े-बड़े नगाड़ों के समान शब्द करने वाले हाथियों के कानों की फट-फट होती थी तब आँखें खुलती थीं और उस समय वन के पक्षी चारणों के समान जो मंगल गीत गाते थे उन्हें सुन कर वे परम प्रसन्न होते थे॥ ७१॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण॥ ७२॥

अन्वयः—अथ जातु रुरोः गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैः अलक्ष्यमाणः, श्रमफेनमुचा तुरङ्गमेण तपस्विगाढां तमसां नदीं प्राप।

अथेति। अथ जातु कदाचिद्रुरोर्मृगस्य गृहीतवर्त्मा स्वीकृतरुरुमार्गो विपिने वनेपार्श्वचरैरनुचरैरलक्ष्यमाणः। तुरगवेगादित्यर्थः। श्रमेण फेनमुचा सफेनं स्विद्यतेत्यर्थः। तुरङ्गमेण तपस्विभिर्गाढामवगाढां सेवितां तमसां नाम नदीं सरितं प्राप।

भावार्थ—इसके बाद एक दिन रुरुमृग का पीछा करते हुए राजा दशरथ को साथियों से साथ छूट गया, थकावट के कारण उनका घोड़ा मुँह से फेन फेंकने लगा उसी पर चढ़े हुए वे तमसा नदी के उस तीर पर पहुँच गये जहाँ तपस्वि लोग स्नान करते थे॥ ७२॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज॥ ७३॥

अन्वयः—तस्याः अम्भसि कुम्भपूरणभवः पटुः उच्चैः निनदः उच्चचार, तत्र सः द्विरदबृंहितशङ्की सन् शब्दपातिनम् इषुं विससर्ज।

कुम्भेति। तस्यास्तमसाया अम्भसि कुम्भपूरणेन भव उत्पन्नः। पचाद्यच्। पटुर्मधुरः उच्चैर्गम्भीरो निनदो ध्वनिरुच्चचारोदियाय। तत्र निनदे स नृपः द्विरदबृंहितं गजध्वनिरिति द्विरदबृंहितशङ्की सन् शब्देन शब्दानुसारेण पततीति शब्दपातिनमिषुं विससर्ज। स्वागतावृत्तम्।

भावार्थ—उस तमसा नदी में श्रवण कुमार अपने अन्धे माता-पिता के लिए घड़े में पानी भर रहा था, घड़ा भरते समय जो गम्भीर शब्द उत्पन्न हुआ

उसको राजा दशरथ ने हाथी का शब्द समझकर झट शब्दवेधी वाण उसपर चला ही दिया ॥ ७३ ॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—पङ्क्तिरथः यत् नृपतेः प्रतिषिद्धम् एव, तत् विलङ्घ्य कृतवान् श्रुतवन्तः अपि रजोनिमीलिताः (सन्तः) अपथे पदम् अर्पयन्ति हि ।

नृपतेरिति । तत्कर्म नृपतेः क्षत्रियस्य प्रतिषिद्धमेव निषिद्धमेव यदेतत्कर्म गजवधरूपं पङ्क्तिरथो दशरथो विलङ्घ्य 'लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्' इति शास्त्रमुल्लंघ्य कृतवान् । ननु विदुषस्तस्य कथमीदृग्विचेष्टितमत आह—अपथ इति । श्रुतवन्तोऽपि विद्वांसोऽपि रजोनिमीलिता रजोगुणावृताः सन्तः न पन्था इत्यपथम् । "पथो विभाषा" इति वा समासान्तः । "अपथं नपुंसकम्" इति नपुंसकम् । 'अपन्थास्त्वपथं तुल्यम्' इत्यमरः । तस्मिन्नपथेऽमार्गे पदमर्पयन्ति हि निक्षिपन्ति हि । प्रवर्तन्त इत्यर्थः । वैतालीयं वृत्तम् ।

भावार्थ—युद्ध स्थल से अन्यत्र कहीं भी राजा को हाथी का वध नहीं करना चाहिए, इस लिए राजा दशरथ ने जो किया, वह राजा के लिए उचित नहीं था । कभी-कभी विद्वान् लोग भी जब रजो गुण के आवेश में अन्धे हो जाते हैं तब वे अयोग्य कार्य कर बैठते हैं ॥ ७४ ॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्ण-
स्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं
तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥ ७५ ॥

अन्वयः—हा तात इति क्रन्दितम् आकर्ण्य विषण्णः सः तस्य वेतसगूढम् प्रभवम् अन्विष्यन् शल्यप्रोतम् सकुम्भम् मुनिपुत्रम् प्रेक्ष्य क्षितिपः अपि तापात् अन्तःशल्यः इव आसीत् ।

हा तातेति । हेत्यार्तौ तातो जनकः । 'हा विषादशुगर्तिषु' इति 'तातस्तु जनकः पिता' इति चामरः । हा तातेति क्रन्दितं क्रोशनमाकर्ण्य विषण्णो भग्नोत्साहः सन् तस्य क्रन्दितस्य वेतसैर्गूढं छन्नं प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणं तमन्विष्यञ्छल्येन शरेण प्रोतं स्यूतम् । 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः । सकुम्भं मुनिपुत्रं प्रेक्ष्य स क्षितिपोऽपि तापाद्दुःखादन्तःशल्यं यस्य सोऽन्तःशल्य इवासीत् । मत्तमयूरं वृत्तम् ।

भावार्थ—हा पिताजी ! इस प्रकार श्रवणकुमार का करुण क्रन्दन सुनकर दुःखी होकर वेतों के कुञ्जो मे छिपे हुए उस करुण ध्वनि के उत्पत्ति स्थान को ढूँढते हुए राजा दशरथ ने देखा कि वेंत की झाडियों मे बाणों से विद्ध घडे पर झुका हुआ कोई मुनिकुमार पडा हुआ है उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ मानों इन्हें ही बाण लग गया हो ॥ ७५ ॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन
पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भि-
रात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥

अन्वय—प्रथितान्वयेन तेन तुरगात् अवतीर्य पृष्टान्वयः जलकुम्भनिषण्णदेहः स तस्मै स्खलद्भि अक्षरपदैः आत्मानं द्विजेतरतपस्विसुतम् कथयाम्बभूव ।

तेनेति । प्रथितान्वयेन प्रख्यातवंशेन । एतेन पापभीरुत्वं सूचितं । तेन राज्ञा तुरगादवतीर्य पृष्टान्वयो ब्रह्महत्याशङ्कया पृष्टकुलः जलकुम्भनिषण्णदेहः स मुनिपुत्रस्तस्मै राज्ञे स्खलद्भिः अशक्तिवशादर्धोच्चारितैरित्यर्थः । अक्षरप्रायैः पदैरक्षरपदैरात्मानं द्विजेतरश्चासौ तपस्विसुतश्च तं द्विजेतरतपस्विसुतं कथयाम्बभूव । न तावत्त्रैवर्णिक एवाहमस्मि किन्तु करणः 'वैश्यात्तु करणः शूद्रायाम्' इति याज्ञवल्क्य. कुतो ब्रह्महत्येत्यर्थः । तथा च रामायणे—"ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ॥ न द्विजातिरहं राजन्मा भूत्ते मनसो व्यथा । शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप ॥"

भावार्थ—राजा दशरथ अत्यन्त पापभीरु थे इस लिए घोड़े से शीघ्र उतर कर उन्होंने ब्रह्महत्या की आशंका से घड़े पर झुके हुए उस मुनिकुमार से पहले उसकी जाति और नाम पूछा, उसने भी उनका आशय समझ कर लड़खड़ाती वाणी से बताया कि मैं द्विज से भिन्न वैश्य पिता से शूद्रा माता से उत्पन्न करण संज्ञक मुनि कुमार हूँ । इसलिए राजा दशरथ अपने को ब्रह्महत्या से मुक्त समझे ॥ ७६ ॥

तच्चोदितः स तमनुद्धृतशल्यमेव
पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्र-
मज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तच्चोदितं नृपतिः अनुद्धतशल्यम् एव तम् अवसन्नदृशोः पित्रोः सकाशं निनाय च, समागतम् एकपुत्रम् तम् उपेत्य अज्ञानतः स्वचरितं ताभ्यां शशंस ।

तदिति । तच्चोदितस्तेन पुत्रेण चोदितः प्रेरितः पितृसमीपं प्रापयेत्युक्तः स नृपतिरनुद्धृतशल्यमनुत्पाटितशरमेव तं मुनिपुत्रम् अवसन्नदृशोर्नष्टचक्षुषोः अन्धयोरित्यर्थः । पित्रोर्मातापित्रोः । "पिता माता" इत्येकशेषः । सकाशं समीपं निनाय । इदं च रामायणविरुद्धम् तत्र—'अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशःदुःखितौ । अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥' इति नदीतीर एव मृतं पुत्रं प्रति पित्रोरानयनाभिधानात् । तथागतं वेतसगूढम् एकश्चासौ पुत्रश्चैकपुत्रस्तम् । एकग्रहणं पित्रोरनन्यगतिकत्वसूचनार्थं तं मुनिपुत्रमुपेत्य संन्निकृष्टं गत्वाज्ञानतः करिभ्रान्त्या स्वचरितं स्वकृतं ताभ्यां मातापितृभ्यां । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । शशंस कथितवान् ।

भावार्थ—उस श्रवणकुमार ने राजा दशरथ से कहा कि मुझे मेरे अन्धे माता-पिता के पास पहुँचा दीजिए । यह सुनकर उन्होंने उस बाण से विधे हुए मुनिकुमार को उठाकर उसके माता-पिता के पास ले जाकर उनसे सारी कथा बता दी कि मैंने भूल से आपके एकलौते पुत्र पर किस प्रकार बाण चला दिया ॥ ७७ ॥

तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा
शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप
हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः उरस्तः निखातम् शल्यम् प्रहर्त्रा उदहारयताम् सः गतासुः अभूत् अथ वृद्धः हस्तार्पितैः नयनवारिभिः एव भूमिपतिं शशाप ।

ताविति । तौ जाया च पतिश्च दम्पती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च विकल्पेन निपातितः । 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः । बहु विलप्य भूरि परिदेव्य । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । शिशोरुरस्तो वक्षसः । "पञ्चम्यास्तसिल्" । निखातं शल्यं शरं प्रहर्त्रा राज्ञोदाहारयतामुद्धारयामासतुः । स शिशुः परासुर्गतप्राणोऽभूत् । अथ वृद्धो हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव शापदानस्य जलपूर्वकत्वात्तैरेव भूमिपतिं शशाप ।

भावार्थ—यह सुनते ही उन दोनों स्त्री पुरुषों ने बहुत विलाप कर अपने पुत्र के मारने वाले राजा दशरथ को आज्ञा दी कि छाती से बाण निकाल लो,

बाण निकालते ही श्रवणकुमार के प्राण निकल गये इस पर बूढे तपस्वी ने चुल्लू मे आँसू का जल लेकर राजा को ऐसा शाप दिया कि ॥ ७८ ॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—हे राजन् भवान् अपि अन्त्ये वयसि अहम् इव पुत्रशोकात् दिष्टान्तम् आप्स्यति इति उक्तवन्तं आक्रान्तपूर्वं मुक्तविषम् भुजगं इव तम् प्रथमापराद्धः कोशलपतिः प्रोवाच ।

दिष्टान्तमिति । हे राजन् ! भवानप्यन्त्ये वयस्यहमिव पुत्रशोकाद्दिष्टान्तं कालावसानं मरणमित्यर्थः 'दिष्टः काले च दैवे स्याद्दिष्टम्' इति विश्वः । आप्स्यति प्राप्स्यति प्राप्स्यसि इत्युक्तवन्तम् आक्रान्तः पादाहतः पूर्वमाक्रान्तपूर्वः । सुप्सुपेति समासः । "राजदन्तादिषु परम्" इत्यनेन परनिपातः । तं प्रथममपकृतमित्यर्थः । मुक्तविषमपकारात्पश्चादुत्सृष्टविषं भुजङ्गमिव स्थितं तं वृद्धं प्रति प्रथमापराद्धः प्रथमापराधी । कर्तरि क्तः । इदं च सहने कारणमुक्तम् । कोसलपतिर्दशरथः शापदानात्पश्चादप्येनं मुनिः प्रोवाच ।

भावार्थ—हे राजन् ! जाओ तुम भी वृद्धावस्था में मेरे ही समान पुत्र शोक मे मरोगे । जिस प्रकार पैर से दबने पर साँप विष उगल कर शान्त हो जाता है उसी प्रकार शाप देकर जब वृद्ध मुनि शान्त हो हुये । तब पहले पहल अपराध करने वाले राजा दशरथ उनसे बोले ॥ ७९ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ ८० ॥

अन्वय—अदृष्टतनयाननपद्मशोभे मयि भगवता पतितः अयं शापः अपि सानुग्रहः (एव) इन्धनेद्धः ज्वलनः कृष्याम् क्षितिम् दहन् अपि खलु बीजप्ररोहजननी करोति ।

शाप इति । अदृष्टा तनयाननपद्मशोभा पुत्रमुखकमलश्रीर्येन तस्मिन्नपुत्रके मयि भगवता पातितः वज्रप्रायत्वादित इत्युक्तम् । अयं पुत्रशोकान्म्रियस्वेत्येवंरूपः शापोऽपि सानुग्रहः वृद्धकुमारीवरन्यायेनेष्टावाप्तेरान्तरीयकत्वात्सोपकार एव । निग्राहकस्याप्यनुग्राहकत्वमर्थान्तरन्यासेनाह—कृष्यामिति । इन्धनैः काष्ठैरिद्धः प्रज्वलितो ज्वलनोऽग्निः कृष्यां कर्षणार्हाम् । "ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः" इति क्यप् । क्षितिं दहन्नपि बीजप्ररोहाणां बीजांकुराणां जननीमुत्पादनक्षमां करोति ।

भावार्थ—हे मुने ! मुझे आज तक पुत्र के मुखकमल का दर्शन तक नहीं हुआ है इसलिए मैं आपके इस शाप को वरदान ही समझता हूँ क्योंकि इसी व्याज से मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा। घास फूस इन्धन आदि से प्रदीप्त अग्नि जिस प्रकार भूमि को जलाता हुआ भी बीज अंकुरित होने के योग्य बनाकर भूमिका उपकार ही करता है उसी प्रकार आपका शाप भी सफल होने के लिए मुझे पुत्र उत्पन्न करके मेरा उपकारक ही होगा ॥ ८० ॥

इत्थं गते गतघृणः किमयं विधत्तां
वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे
पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—इत्थम् गते, (सति) वसुधाधिपेन गतघृणः तव वध्यः अयम् किं विधत्ताम् ? इति अभिहितः सदारः सः मुनिः परासुम् पुत्रम् अनुगन्तुमनाः (सन्) हुताशनवतः एधान् ययाचे ।

इत्थमिति । इत्थं गते प्रवृत्ते सति वसुधाधिपेन राज्ञा गतघृणो निष्करुणः। हन्तृत्वान्निष्कृप इत्यर्थः। अत एव तव वध्यो वधार्होऽयं जनः अयमिति राज्ञो निर्वेदादनादरेण स्वात्मनिर्देशः। किं विधत्तामित्यभिहित उक्तः। मया किं विधेयमिति विज्ञापित इत्यर्थः। स मुनिः सदारः सभार्यः परासुं पुत्रमनुगन्तुं मनो यस्य सोऽनुगन्तुमनाः सन्। "तुं काममनसोरपि:" इति मकारलोपः। हुताशनवतः साग्नीनेधान्काष्ठानि ययाचे। न चात्रात्मघातदोषः। 'अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः। भृग्वग्निजलसंपातं मरणं प्रविधीयते) इत्युक्तेः।

भावार्थ—यह कहकर राजा दशरथ ने पुनः उनसे कहा—मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध कर दें, अब आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं? यह सुनकर उस मुनि ने कहा कि अब मैं और मेरी स्त्री दोनों अपने प्रिय पुत्र के साथ ही मर जायेंगे, अतः हमारे लिए अग्नि और ईंधन जुटा दो ॥ ८१ ॥

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा
सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुम्
शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—प्राप्तानुगः, राजा सपदि अस्य शासनम् सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिः (सन्) अन्तर्निविष्टपदम् आत्मविनाशहेतुम् अम्बुराशिः और्वम् ज्वलनम् इव दधत् (वनात्) निवृत्तः ।

प्राप्तेति । प्राप्तानुगः प्राप्तानुचरो राजा सपद्यस्य मुनेः शासनं काष्ठसम्पादनरूपं प्राणिकोऽपि सम्प्रति प्राप्तानुचरत्वात्तत्सम्पाद्य पातकेन मुनिवधरूपेण विलुप्तम् धृतिर्निश्चोत्साहः सन् अन्तर्निविष्टपदमन्तर्लब्धस्थानमात्मविनाशहेतुं शापम् अम्बुराशिरौर्वं ज्वलनं वडवानलमिव। 'और्वस्तु वाडवो वडवानलः' इत्यमरः। दधद्धृतवान् निवृत्तः। वनादिति शेषः ।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये मृगयावर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

भावार्थ—इतने में राजा दशरथ के अनुचर भी तब तक वहाँ पहुँच गये, तत्काल इन्धन और अग्नि जुटा दी गई। जिस प्रकार समुद्र के अन्दर वडवाग्नि जला करता है उसी प्रकार अपने पाप से अधीर हृदय में अपने विनाश का कारण मुनि का शाप लिए हुए राजा दशरथ अपने घर लौट आये ॥ ८२ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित अन्वय और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका में रघुवंश महाकाव्य का मृगयावर्णन नामक नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

आशंसे नित्यमानन्दं रामनामकथामृतम् ।
सद्भिः स्वश्रवणैर्नित्यं पेयं पापं प्रणोदितुम् ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥

अन्वयः—पृथिवीं शासतः पाकशासनतेजसः अनूनर्द्धेः तस्य किञ्चित् ऊनम् अयुतम् शरदम् ययौ ।

पृथिवीमिति । पृथिवीं शासतः पालयतः पाकशासनतेजस इन्द्रवर्चसः अनूनर्द्धे-

महासमृद्धैस्तस्य दशरथस्य किञ्चिदूनमीषन्न्यूनं शरदां वत्सराणाम्। 'स्याद्दतौ वत्सरे शरत्' इत्यमरः। अयुतं दशसहस्रं ययौ 'एकदशशतसहस्राण्ययुतं लक्षं तथा प्रयुतम्। कोट्यर्बुदं च पद्मं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात्॥' इत्यार्यभट्टः। इदं च मुनिशापात्परं वेदितव्यं न तु जननात्। 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक। दुःखेनोत्पादितश्रमं न रामं नेतुमर्हसि॥' इति रामायणविरोधात्। नाप्यभिषेकात्परं तस्यापि 'सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्' इति कौमारानुष्ठितत्वाभिधानात्स एव विरोध इति।

भावार्थ—महासमृद्धिशाली और इन्द्र के समान तेजस्वी राजा दशरथ को पृथ्वी का पालन करते हुए लगभग दस हजार वर्ष बीत गये॥ १॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्॥ २॥

अन्वयः—सः पूर्वेषाम् ऋणनिर्मोक्षसाधनम् सद्यः शोकतमोपहम् सुताभिधानम्, ज्योतिः न च उपलेभे।

न चेति। स दशरथः पूर्वेषां पितॄणामृणनिर्मोक्षसाधनम् 'एष वा अनृणो यः पुत्री' इति श्रुतेः। पितॄणामृणविमुक्तिकारणं सद्यः शोक एव तमस्तमपहन्तीति शोकतमोपहम्। अत्राभयंकर इतिवदुपपदेऽपि तदन्तविधिमाश्रित्य। "अपेक्लेशतमसः" इति डप्रत्ययः। सुताभिधानं सुताख्यं ज्योतिर्नोपलेभे न प्राप।

भावार्थ—किन्तु अभी तक पितरों का ऋण से मुक्त करने का साधन और शोकरूपी अन्धकार को दूर करने वाली वह ज्योति उन्हें नहीं मिली, जिसे पुत्र कहते हैं। अर्थात् अभी तक राजा को पुत्र नहीं हुआ॥ २॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरं नृपः।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः॥ ३॥

अन्वयः—प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स नृपः मन्थात् प्राक् अनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिः अर्णवः इव चिरम् अतिष्ठत्।

अतिष्ठदिति। प्रत्ययं हेतुमपेक्षत इतिप्रत्ययापेक्षा सन्ततिर्यस्य स तथोक्तः। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। स नृपः मन्थात्प्राङ्मन्थनात्पूर्वमनभिव्यक्ताऽदृष्टा रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव चिरमतिष्ठत्। सामग्र्यभावाद्विलम्बो न तु वन्ध्यत्वादिति भावः।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्रों में रत्नों के रहते हुए भी मन्थन के पहले वे

प्रकट नहीं होते, उसी प्रकार दशरथ के भाग्य में पुत्रों के रहते हुए भी पुत्रेष्टि यज्ञ रूप कारण की अपेक्षा करने वाले पुत्र भी दशरथ को नहीं उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

अन्वयः—ऋष्यशृङ्गादयः जितात्मानः ऋत्विजः सन्तानकाङ्क्षिणः तस्य पुत्रीयाम् इष्टिम् आरेभिरे ।

ऋष्यशृङ्गेति । ऋष्यशृङ्गादयः ऋष्यशृङ्गो नाम कश्चिदृषिः, तदादयः ऋतभृतो वा यजन्तीत्यृत्विजो याज्ञिकाः । 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इत्यनेन क्विन्नन्तो निपातः । जितात्मानः जितान्तःकरणाः सन्तः संतानकाङ्क्षिणः पुत्रार्थिनस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताम् । "पुत्राच्छ च" इति छप्रत्ययः । इष्टिं यागमारेभिरे प्रचक्रमिरे ।

भावार्थ—तब ऋष्यशृङ्गादि जितेन्द्रिय और अन्य ऋत्विजों ने सन्तान चाहने वाले राजा दशरथ के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तस्मिन् अवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुताः, (सन्तः) निदाघार्ताः अध्वगाः छायावृक्षम् इव हरिं अभिजग्मुः ।

तस्मिन्निति । तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्पौलस्त्यो रावणः तेनोपप्लुताः पीडिताः सन्तः निदाघार्ता घर्मातुराः । अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पन्थाः । "अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः" इति डप्रत्ययः । छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव । शाकपार्थिवादित्वात्समासः । हरिं विष्णुमभिजग्मुः ।

भावार्थ—उसी समय रावण के अत्याचार से घबड़ाकर देवता लोग उसी प्रकार भगवान् विष्णु के शरण में गये, जिस प्रकार धूप से व्याकुल होकर पथिक छायादार वृक्ष के नीचे जाते हैं ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—ते च उदन्वन्तं प्रापुः च आदिपूरुषः बुबुधे, हि अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेः लक्षणम् ।

त इति । ते देवाश्चोदन्वन्तं समुद्रम् । "उदन्वानुदधौ च" इति निपातः । प्रापुः । आदिपुरुषो विष्णुश्च बुबुधे योगनिद्रां जहावित्यर्थः । गमनप्रतिबोधयोरविलम्बायौ

चकारौ। तथा हि अव्याक्षेपो गम्यस्याव्यासङ्ग अविलम्ब इति यावत्। भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि। उक्तं च —"अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम् ॥" इति।

भावार्थ—देवता लोग ज्यों ही क्षीरसागर में पहुँचे त्यों ही भगवान् विष्णु भी योगनिद्रा से जग उठे। किसी कार्य में विलम्ब न होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धि का शुभ लक्षण है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः।
तत्फणामण्डलार्दार्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—दिवौकसः भोगिभोगासनासीनम् तत्फणामण्डलादर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् तम् (विष्णुम्) ददृशुः।

भोगीति। द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः। पृषोदरादित्वात्साधुः। यद्वा दिवशब्दन्तोऽप्यस्ति। तथा च बुद्धचरिते—"न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्।" इति 'दिवु क्रीडादौ' इति धातोः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कः। दिवमोक एषामिति विग्रहः। भोगिनः शेषस्य भोगः शरीरम्। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। स एवासनं सिंहासनं तत्रासीनमुपविष्टम्। आते शानच् 'ईदासः' इतीकारादेशः। तस्य भोगिनः फणमण्डले य उदर्चिष उद्रश्मयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रहं विष्णुं ददृशुः ॥ ७ ॥

भावार्थ—देवताओं ने देखा कि भगवान् विष्णु शेष शय्या पर लेटे हुए हैं और शेष के फणों की किरण मणियों से उनका शरीर और भी अधिक चमक उठा है ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

अन्वयः—(दिवौकसः कथंभूतं विष्णुं ददृशुः) पद्मनिषण्णायाः श्रियः क्षौमान्तरितमेखले आस्तीर्णकरपल्लवे अङ्के निक्षिप्तचरणम्।

श्रिय इति। कीदृशं विष्णुं पद्मे निषण्णाया उपविष्टाया श्रियं क्षौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन्। आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ तस्मिन्। विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासिहत्वं सूच्यते। तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम्।

भावार्थ—देवताओं ने देखा कि कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी विष्णु के चरण

को अपनी गोद में रखकर दबा रही हैं, विष्णु के चरणों में करधनी न चुभे इसलिए करधनी पर अपनी साडी का अंचला बिछाया है। इसपर जब लक्ष्मी जी को सन्तोष न हुआ तब उन्होंने अंचला पर अपना कर पल्लव रख दिया ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं　बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव　प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

अन्वय —(पुन कथंभूतम्) प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षम् बालातपनिभांशुकम् प्रारम्भसुखदर्शनम् शारदम् दिवसम् इव (स्थितम्) ।

प्रबुद्धेति । पुन कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी यस्य तम्। दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रहः । बालातपनिभमंशुकं यस्य त पिताम्बरधरमित्यर्थं । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः । 'निभो व्याजसदृशयो' इति विश्वः । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषा ते प्रारम्भाः योगिन' तेषां सुखदर्शनम् । अन्यत्र प्रारम्भ आदौ सुखदर्शनं शारदं शरत्सम्बन्धिनं दिवसमिव स्थितम् ।

भावार्थ--खिले हुए श्वेत कमल के समान नेत्रवाले, प्रात.काल की धूप के समान सुनहले पीताम्बर वस्त्र पहने हुए, आरम्भ सुख देने वाले और देखने में सुन्दर शरद् ऋतु के दिन के समान आनन्द पहले देनेवाले भगवान् विष्णु को देखा ॥ ९ ॥

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं　लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं　बिभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥

अन्वय.—(पुनः कीदृशम् ?) प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं　लक्ष्मीविभ्रमदर्पणं कौस्तुभाख्यम् अपाम् सारम् बृहता उरसा बिभ्राणम् ।

प्रभेति । पुनः किंविधं प्रभयाऽलिप्तमनुरंजितं श्रीवत्सं नाम लाञ्छनं येन तं । लक्ष्म्या विभ्रमदर्पणः । कौस्तुभ इत्याख्या यस्य तम् । अपां समुद्राणां सारं स्थिरांशम् । अम्मयमणिमित्यर्थ. । बृहतोरसा विशालवक्षः स्थलेन बिभ्राणम् ।

भावार्थ—विष्णु भगवान् के विशाल वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि चमक रहा था जिसमें लक्ष्मी जी कभी-कभी शृंगार के समय अपना मुंह देख लिया करती और जिसकी प्रभाव से भृगु के चरण के प्रहार से बना हुआ श्रीवत्स चिह्न भी चमक उठता था ॥ १० ॥

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—(पुनः किंविधम् ?) विटपाकारैः दिव्याभरणभूषितैः बाहुभिः अपां मध्ये अपरं परिजातम् इव आविर्भूतम्।

बाहुभिरिति। विटपाकारैः शाखाकारैः दीर्घपीवरैरित्यर्थः। दिव्याभरणभूषितैर्बाहुभिरुपलक्षितं अत एवापां सैन्धवानां मध्य आविर्भूतमपरं द्वितीयं पारिजातमिव स्थितम्।

भावार्थ—दिव्य आभरणों से अलंकृत भगवान् विष्णु की बड़ी-बड़ी भुजायें वृक्ष की शाखा के समान थी और उनसे वे ऐसे लगते थे मानो समुद्र में एक दूसरा कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥ ११ ॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—(पुनः कथंभूतम् ?) दैत्यस्त्रीगण्डलेखानाम् मदरागविलोपिभिः चेतनावद्भिः, हेतिभिः उदीरितजयस्वनम्।

दैत्येति। दैत्यस्त्रीगण्डलेखानामसुराङ्गनागण्डस्थलीनां यो मदरागस्तं विलुम्पन्ति हरन्तीति मदरागविलोपिनः। तैश्चेतनावद्भिः सजीवैर्हेतिभिः सुदर्शनादिभिः शस्त्रैः। 'रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः' इत्यमरः। उदीरितजयस्वनं जयशब्दमुद्घोषयन्तीभिर्मूर्तिमतीभिरस्त्रदेवताभिरुपास्यमानमित्यर्थः।

भावार्थ—असुरों को मारकर उनकी स्त्रियों के गले से मद की लाली मिटाने वाले उनके चक्र गदा आदि अस्त्र सजीव होकर उनकी जय-जयकार कर रहे थे ॥ १२ ॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥

अन्वयः—(पुनश्च कथंभूतम् ?) मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता उपस्थितम्।

मुक्तेति। मुक्तो भगवत्सन्निधानात्त्यक्तः शेषेणाहीश्वरेण सह विरोधः सहजमपि वैरं येन तेन कुलिशव्रणा वज्रव्रणा अमृताहरणकाल इन्द्रयुद्धे ये वज्रप्रहारास्त एव लक्ष्माणि यस्य स तेन प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तेन प्राञ्जलिना। प्रबद्धाञ्जलिनेत्यर्थः। विनीतेनानुद्धतेन गरुत्मतोपस्थितमुपासितम्। पुरा किल मातलिप्रार्थितेन भगवता तद्दुहितुर्गुणकेश्याः पत्युः कस्यचित्सर्पस्य गरुडादभयदाने कृते स्वविपक्षरक्षणक्षुभितं पक्षिराजं त्वद्वोढाहं त्वत्तो बलाढ्य इति गर्वितं स्ववामतर्जनीभारेणैव भङ्क्त्वा भगवान्विनिनायेति महाभारतीयां कथां सूचयति विनीतेनेत्यनेन।

भावार्थ—शेषनाग से स्वाभाविक विरोध छोड़कर इन्द्र के वज्र की चोट का चिह्न धारण किए हुए गरुड़जी बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर उनकी सेवा में खड़े थे ॥ १३ ॥

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥

अन्वय—(पुनः कथम्भूतम् ?) योगनिद्रान्तविशदैः पावनैः अवलोकनैः सौखशायनिकान् भृग्वादीन् ऋषीन् अनुगृह्णन्तम् ।

योगेति । योगो मनसो विषयान्तरव्यावृत्तिः । तद्रूपा या निद्रा यस्य अन्तेऽवसाने विशदैः प्रसन्नैः पावनैः शोभनैरवलोकनैः सुखशयनं पृच्छन्तीति सौखशायनिकास्तान् * पृच्छन्तौ सुस्नातादिभ्यः * इत्युपसंख्यानाट्ठक्प्रत्ययः । भृग्वादीनृषीननुगृह्णन्तम् ।

भावार्थ—योगनिद्रा से उठने के कारण निर्मल और पवित्र दृष्टि से सुखपूर्वक सोने का कुशल पूछने के लिए आये हुए भृगु आदि ऋषियों को अनुगृहीत करते हुए ॥ १४ ॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अथ सुराः सुरद्विषाम् शमयित्रे तस्मै प्रणिपत्य स्तुत्यम् अवाङ्मनसगोचरम् एनं तुष्टुवुः ।

प्रणिपत्येति । अथ दर्शनानन्तरं सुराः सुरद्विषामसुराणां शमयित्रे विनाशकाय तस्मै विष्णवे प्रणिपत्य स्तुत्यं स्तोत्रार्हम् "एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" इति क्यप्प्रत्ययः । वाक्च मनश्च वाङ्मनसे । "अचतुर०" इत्यच्प्रत्ययान्तो निपातः । तयोर्गोचरो विषयो न भवतीत्यवाङ्मनसगोचरः यदा "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतेः । तमेनं विष्णुं तुष्टुवुरस्तुवन् ।

भावार्थ—इसके बाद देवता लोग असुरों को मारने वाले, नमस्कार करने योग्य और अवाङ्मनसगोचर विष्णु की स्तुति करने लगे ॥ १५ ॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ १६ ॥

अन्वय.—पूर्वम् विश्वसृजे तदनु विश्वं बिभ्रते अथ विश्वस्य संहर्त्रे (एवं) त्रेधास्थितात्मने तुभ्यं नमः ।

नम इति । पूर्वमादौ विश्वसृजे विश्वस्रष्ट्रे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतेः । तदनु सर्गानन्तरं विश्वं बिभ्रते पुष्णते अथ विश्वस्य संहर्त्रे एवं त्रेधा

सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन स्थित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै ब्रह्मविष्णुहरात्मने तुभ्यं नमः ।

भावार्थ—पहले संसार की सृष्टि करने वाले, उसके बाद विश्व का पालन करने वाले और अन्त में उनका संहार करने वाले, इस प्रकार तीन रूपों में स्थित आपको प्रणाम है ॥ १६ ॥

ननु कूटस्थस्य कथं त्रैरूप्यमित्याशङ्क्यौपाधिकमित्याह—

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ १७ ॥

अन्वयः—यथा एकरसं दिव्यं पयः देशे देशे रसान्तराणि अश्नुते एवम् अविक्रियः त्वं गुणेषु अवस्थाः (अश्नुषे) ।

रसान्तराणीति । एकरसं मधुरैकरसं दिवि भवं दिव्यं पयो वर्षोदकं देशे देशे ऊषरादिदेशेऽन्यान्रसान्रसान्तराणि लवणादीनि यथाश्नुते प्राप्नोति एवमविक्रयी निर्विकारः एकरूप इत्यर्थः । त्वं गुणेषु सत्त्वादिष्ववस्थाः स्रष्टृत्वादिरूपा अश्नुते ।

भावार्थ—जिस प्रकार एक रस वर्षा का जल भिन्न-भिन्न स्थानों में गिरकर अनेक रसवाला हो जाता है उसी प्रकार सब प्रकार के विकारों से दूर होते हुए भी आप सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों के सम्बन्ध से अनेक रूप धारण कर लेते हैं ॥ १७ ॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—(हे देव ?) त्वम् अमेयः (सन्) मितलोकः, अनर्थी (सन्) प्रार्थनावहः, अजितः (सन्) जिष्णुः, अत्यन्तम् अव्यक्तः (सन्) व्यक्तकारणम् (असि) ।

अमेय इति । हे देव ! त्वममेयो लोकैरियत्तया न परिच्छेद्यः मितलोकः परिच्छिन्नलोकः अनर्थी निस्पृहः । आवहतीत्यावहः । पचाद्यच् । प्रार्थनानामावहः कामदः अजितोऽन्यैर्न जितः जिष्णुर्जयशीलः अत्यन्तमव्यक्तोऽतिसूक्ष्मरूपः व्यक्तस्य स्थूलरूपस्य कारणम् ।

भावार्थ—हे विष्णो ! आप अपरिमेय होते हुए भी संसार को मापने वाले हैं, आप स्वयं निस्पृह होते हुए भी दूसरों की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं, आपको कोई नहीं जीत सकता, पर आपने सबको जीत लिया है और आप स्वयं सूक्ष्म होने पर भी स्थूल रूप के कारण हैं ॥ १८ ॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे देव !) त्वा हृदयस्थ (सन्तम्) अनासन्नम्, अकामम् (सन्तम्) तपस्विनम्, दयालु (सन्तम्) अनघस्पृष्टम्, पुण्यं (सन्तम्) अजरं विदुः।

हृदयेति। हे देव ! त्वा हृदयस्थं सर्वान्तर्यामितया नित्यमन्निहितं तथाप्यनासन्नमगम्यरूपत्वादिप्रकृष्टं च विदु । सन्निकृष्टस्यापि विप्रकृष्टत्वमिति विरोधः। तथाऽकाम न कामोऽभिलाषोऽस्य तं परिपूर्णत्वान्निस्पृहत्वाच्च। निष्कामम्। तथापि तपस्विन प्रशस्ततपोयुक्तं विदु । यो निष्कामः स कथं तपः कुर्त इति विरोध। परिहारस्तु ऋषिरूपेण दुस्तरं तपस्तप्यते। दयालुं परदुःखप्रहरणपरं तथाप्यनघस्पृष्ट नित्यानन्दस्वरूपत्वाददुःखिनं विदुः। "अघं दुरितदुःखयोः" इति विश्व.। दयालुरदुःखी चेति विरोध "इर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कित.। परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः।" इति महाभारते। पुराणमनादिमजरं निर्विकारत्वादक्षरं विदुः। चिरन्तनं न जीर्यत इति विरोधालंकार.। उक्तं च—"आभासत्वे विरोधस्य विरोधालंकृतिर्मता" इति। विरोधेन चालौकिकमहिमत्वं व्यज्यते।

भावार्थ—हे भगवन् ! ऋषि लोग आपको हृदयस्थ होने पर भी दूरवर्ती, निष्काम होने पर भी सकाम तपस्वी, दयालु होने पर भी दुःख से वर्जित पुण्यपुरुष होने पर भी जरारहित जानते हैं ॥ १९ ॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ २० ॥

अन्वयः—त्वं सर्वज्ञः (सन्) अविज्ञातः, त्वं सर्वयोनिः (सन्) आत्मभूः, त्वं सर्वप्रभुः (सन्) अनीशः, त्वम् एकः (सन्) सर्वरूपभाक् ।

सर्वज्ञ इति। त्वं सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्यय.। अविज्ञातः न केनापि विज्ञात इत्यर्थ.। त्वं सर्वस्य योनिः कारणं। त्वमात्मन एव भवतीत्यात्मभूः स्वयंभूः। न ते किंचित्कारणमस्तीत्यर्थः। त्वं सर्वस्य प्रभुः त्वमनीशः त्वमेकः सर्वरूपभाक्। त्वमेक एव सर्वात्मना वर्तस इत्यर्थः।

भावार्थ—आप सबको जानते हैं पर आपको कोई भी नहीं जानता, आप सबके कारण हैं पर आपका कोई कारण नहीं है, आप सबके स्वामी हैं पर आपका कोई भी स्वामी नहीं है और आप एक होते हुए भी संसार के सब रूप धारण किये हुए हैं ॥ २० ॥

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—(हे देव !) त्वां सप्तसामोपगीतं सप्तार्णवजलेशयं सप्तार्चिमुखं सप्तलोकैकसंश्रयम् आचख्युः ।

सप्तेति । हे देव ! त्वां सप्तभिः सामभी रथन्तरबृहद्रथन्तरवामदेव्यवैरूप्यपावमान्यवैराजचान्द्रमसैरुपनीतम् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्युत्तरपदसमासः । सप्तानामर्णवानां जलं सप्तार्णवजलं । पूर्ववत्समासः । तत्र शेते यः स सप्तार्णवजलेशयः तम् । "शयवासवासिष्वकालात्" इत्युलुक् । सप्तार्चिर्मुखं यस्य तम् "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः । सप्तानां लोकानां भूर्भुवःस्वरादीनामेकसंश्रयम् । एवंभूतमाचख्युः ।

भावार्थ—हे देव ! विद्वान् लोग आपको ही सामवेद के सात प्रकार के गीतों में स्तुत्य सातों समुद्रों में शयन करने वाले, सात ज्वालावाली अग्नि मुखवाले तथा सातों लोकों का आश्रय स्थान बतलाते हैं ॥ २१ ॥

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥ २२ ॥

अन्वयः—चतुर्वर्गफलं ज्ञानं चतुर्युगाः कालावस्थाः चतुर्वर्णमयः लोकः (एतत्) सर्वं चतुर्मुखात् त्वत्तः (जातम्) ।

चतुरिति । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गश्चतुर्वर्गः 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । तत्फलकं यज्ज्ञानम् । चत्वारि युगानि कृतत्रेतादीनि यासु ताश्चतुर्युगाः कालावस्थाः कालपरिमाणम् । चत्वारो वर्णा प्रकृता उच्यन्ते यस्मिन्निति चतुर्वर्णमयः । चतुर्वर्ण्यप्रकार इत्यर्थः । तत्प्रकृतवचने मयट् "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेन तद्धितार्थे विषये तत्पुरुषः । स लोकः इत्येवंरूपं सर्वं चतुर्मुखाच्चतुर्मुखरूपिणस्त्वत्तः जातमिति शेषः । "इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच" इति श्रुतेः ।

भावार्थ—हे भगवन् ! धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय का फल ज्ञान, चारों युगों के समय का परिणाम और चार वर्ण वाला यह संसार सब आपके ही चारों मुखों से उत्पन्न हुए हैं ॥ २२ ॥

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥ २३ ॥

अन्वयः—योगिनः अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयं ज्योतिर्मयं त्वां विमुक्तये विचिन्वन्ति ।

अभ्यासेति । अभ्यासेन निगृहीतं विषयान्तरेभ्यो निवर्तितं तेन । मनसा योगिनो हृदयाश्रयं हृत्पद्मस्थं ज्योतिर्मयं त्वा विमुक्तये मोक्षार्थं विचिन्वन्त्यन्विष्यन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः ।

भावार्थ—योगी लोग अभ्यास के द्वारा वश मे किये गये मन से अपने हृदय मे स्थित ज्योतिःस्वरूप आपको ही मुक्ति के लिए ध्यान करते हैं ॥ २३ ॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥

अन्वय—अजस्य (अपि) जन्मगृह्णतः निरीहस्य (अपि) हतद्विषः जागरूकस्य (अपि) स्वपतः (इत्थम्) तव याथार्थ्यं कः वेद ।

अजस्येति । न जायत इत्यजः । "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डप्रत्ययः । तस्याजस्य जन्मशून्यस्यापि जन्म गृह्णतः मत्स्यादिरूपेण जायमानस्य चेष्टारहितस्यापि हतद्विषः शत्रुघातिनो जागरूकस्य सर्वसाक्षितया नित्यप्रबुद्धस्यापि स्वपतो योगनिद्रामनुभवतः इत्थं विरुद्धचेष्टस्य तव याथार्थ्यं को वेद वेत्ति । "विदो लटो वा" इति णलादेशः ।

भावार्थ—हे भगवन् ! अजन्मा होने पर भी मत्स्य, वाराह आदि रूप से जन्म लेने वाले, इच्छारहित होने पर भी शत्रुओं का संहार करने वाले, योगनिद्रा में सोते हुए भी सदा जागरूक आपको यथार्थ रूप से कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २४ ॥

शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—(किञ्च) शब्दादीन् विषयान् भोक्तुं दुश्चरं तपः चरितुं प्रजाः पातुं (च) औदासीन्येन वर्तितुं पर्याप्तः असि ।

शब्देति । किञ्च कृष्णादिरूपेण शब्दादिरूपेण शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं नरनारायणादिरूपेण दुश्चरं तपश्चरितुं तथा दैत्यमर्दनेन प्रजा पातुम् । औदासीन्येन ताटस्थ्येन वर्तितु च पर्याप्तः समर्थोऽसि । भोगतपसोः पालनौदासीन्ययोश्चपरस्परविरुद्धयोराचरणे त्वदन्यः कः समर्थ इत्यर्थः ।

भावार्थ—आप ही कृष्ण आदि रूपों मे शब्दादि विषयों का भोग करते हैं, नरनारायण रूप में कठोर तपस्या करते हैं, रामादि रूप धारणकर प्रजा का पालन करते हैं और बुद्ध आदि शान्त रूप धारण करके उदासीन भी बन जाते हैं ॥ २५ ॥

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।। २६ ।।

अन्वयः—आगमैः बहुधा भिन्नाः अपि सिद्धिहेतवः पन्थानः जाह्नवीयाः ओघाः (आगमैः बहुधाभिन्नाः अपि) अर्णवे इव त्वयि एव निपतन्ति ।

बहुधेति—आगमैस्त्रयीसांख्यादिभिदर्शनैर्बहुधा भिन्ना अपि सिद्धिहेतवः पुरुषार्थसाधकाः पन्थान उपायाः । जाह्नव्या इमे जाह्नवीया गाङ्गाः । "वृद्धाच्छः" इति छप्रत्ययः । ओघाः प्रवाहाः तेऽप्यागमैरागतिभिर्बहुधा भिन्नाः सिद्धिहेतवश्च अर्णव इव त्वय्येव निपतन्ति प्रविशन्ति । । येन केनापि रूपेण त्वामेवोपयान्तीत्यर्थः । यथाहुराचार्याः—"किं बहुना कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते" इति ।

भावार्थ— हे प्रभो ! जिस प्रकार गंगाजी की सभी धारायें समुद्र में ही गिरती हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से कहे हुए पुरुपार्थ प्राप्ति के उपाय आपसे ही सम्बन्ध रखते हैं ।। २६ ।।

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः सन्निवृत्तये ।। २७ ।।

अन्वयः—त्वयि आवेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणां वीतरागाणां अभूयः सन्निवृत्तये त्वम् (एव) गतिः (असि) ।

त्वयीति । त्वय्यावेशितं निवेशितं चित्तं यैस्तेपां । तुभ्यं समर्पितानि कर्माणि यैस्तेपां "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।" इति भगवद्वचनात् । वीतरागाणां विरक्तानामभूयः सन्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये मोक्षायेत्यर्थः । त्वमेव गति साधनम् । "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतेरित्यर्थः ।

भावार्थ—आपका ही सदा ध्यान करने वाले और आपको ही सब कर्म समर्पित करने वाले राग द्वेष शून्य योगियों को आप जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा देते हैं ।। २७ ।।

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ।। २८ ।।

अन्वयः—तव मह्यादिः महिमा प्रत्यक्षः अपि अपरिच्छेद्यः आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वं प्रति का कथा ? ।

प्रत्यक्ष इति । प्रत्यक्षः प्रमाणगम्योऽपि तव मह्यादिः पृथिव्यादिर्महिमैश्वर्यम-

परिच्छेद्य इयत्तया नावधार्यं आस्तामेव । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतेः । अनुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवदित्यादिकं ताभ्यां साध्यं गम्यं त्वां प्रति का कथा । प्रत्यक्षमपि त्वत्कृतं जगदपरिच्छेद्यं तत्कारण-मप्रत्यक्षस्त्वमपरिच्छेद्य इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

भावार्थ—हे भगवन् ! प्रत्यक्ष दृश्यमान आपसे उत्पन्न समस्त पृथ्वी आदि ऐश्वर्यों से आपकी महिमा नहीं जानी जा सकती, तब केवल वेद और अनुमान से किसी तरह जानने योग्य आपका ज्ञान कैसे हो सकता है ॥ २८ ॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥

अन्वय—यतः स्मरणेन केवलं पुरुषं पुनासि अनेन एव त्वयि शेषाः वृत्तयः निवेदितफलाः ।

केवलमिति । स्मरणेन केवलं कृत्स्नं । 'केवलं कृत्स्नमेकं च' इति शाश्वतः । पुरुषं स्मर्तारं जनं पुनासि यतः यदित्यर्थः । अनेन स्मृतिमार्गेणैव त्वयि त्वद्विषये याः शेषाः अवशिष्टा वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विज्ञापित कार्या. । तव स्मरणस्यैतत्फलं दर्शनादीनां तु कियदिति नावधारयाम इति भावः

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आप केवल अपने स्मरण करने वालों को पवि कर देते हैं तो फिर आपके दर्शन, और स्पर्श आदि व्यापार की क्या कथा है ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

अन्वयः—उदधेः रत्नानि इव विवस्वतः तेजांसि इव दूराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यः व्यतिरिच्यन्ते ।

उदधेरिति । उदधेरुदकं धीयते उदधिस्तस्य रत्नानीव विवस्वतस्तेजांसीव दूराण्यवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि व्यतिरिच्यन्ते । निःशेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थः ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार समुद्र के रत्नों को और सूर्य की किरणों को कोई गिन नहीं सकता, उसी प्रकार अवाङ्मनस गोचर आपके चरित्रों का वर्णन नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अनवाप्तम् (च) अवाप्तव्यम् ते किञ्चन न विद्यते, एकः लोकानुग्रहः एव ते जन्मकर्मणोः हेतुः ।

अनवाप्तमिति । अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं ते तव किंचन किञ्चिदपि न विद्यते नित्यपरिपूर्णत्वादिति भावः । तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—लोकेति । एको लोकानुग्रह एव ते तव जन्मकर्मणोर्हेतुः । परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिः । न स्वार्थेत्यर्थः ।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए आप जन्म लेते हैं और मनुष्यों सा व्यवहार करते हैं, आपके जन्म-कर्म का एक मात्र यही उद्देश्य है कि आप संसार पर अनुग्रह करना चाहते हैं ॥ ३१ ॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तव महिमानं संकीर्त्य वचः संह्रियते यत् तत् श्रमेण अशक्त्या वा, गुणानाम् इयत्तया न ।

महिमानमिति । तव महिमानमनुकीर्त्य वचः संह्रियते इति यत् तद्वचः संहरणं श्रमेण वाग्व्यापारश्रान्त्या अशक्त्या कार्त्स्न्येन वक्तुमशक्यत्वाद्वा गुणानामियत्तया इदं परिमाणं अस्य इयान् तस्य भावः इयत्ता तया एतावन्मात्रतया न । तेषामानन्त्यादिति भावः ।

भावार्थ—आपकी महिमा का वर्णन कर/जो हम लोग चुप हो रहे हैं इसका मतलब यह नहीं कि हम लोगों ने आपके सब गुण बखान डाले, किन्तु आपके गुण अनन्त हैं उन्हें सम्पूर्ण कोई जान नहीं सकता आपके गुणगान करते-करते हम थक गये हैं और आगे बोलने की शक्ति हममे नहीं रह गई है ॥ ३२ ॥

इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—ते सुरा अधोक्षजम् तं प्रसादयामासुः । हि परमेष्ठिनः भूतार्थव्याहृतिः न स्तुतिः ।

इतीति । इति ते सुरास्तमधोभूतमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं यस्मिंस्तमधोक्षजं विष्णुं प्रसादयामासुः प्रसन्नं चक्रुः । हि यस्मात्परमेष्ठिनः सर्वोत्तमस्य तस्य देवस्य सा देवैः कृता भूतार्थव्याहृतिर्भूतस्य सत्यस्यार्थस्य व्याहृतिरुक्तिः । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः । न स्तुतिर्न प्रशंसामात्रं महान्तो हि यथाकथंचिन्न सुलभा इति भावः । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । "परमे कित्" इत्युणादि-

सूत्रेण णिनिः। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्। *स्थास्नि-न्स्थूणाम्* इति वक्तव्यात्षत्वम्।

भावार्थ—इस प्रकार उन देवताओं ने विष्णु की स्तुति करके उन्हें प्रसन्न कर लिया। वह स्तुति भी उनकी झूठी प्रशंसा नहीं थी किन्तु भगवान् के गुणों का यथार्थ वर्णन था॥ ३३॥

तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः॥ ३४॥

अन्वयः—सुराः कुशलप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये तस्मै अप्रलयोद्वेलात् नैर्ऋतोदधेः भयम् आचख्युः।

तस्मा इति। सुरा देवाः कुशलस्य संप्रश्नेन व्यञ्जिता प्रकटीकृता प्रीतिर्यस्य तस्मै। लक्षितप्रसादायेत्यर्थः। अन्यथा अनवसरविज्ञप्तिर्मुखराणामिव निष्फला स्यादिति भावः। तस्मै विष्णवेऽप्रलये प्रलयाभावेऽप्युद्वेलादुन्मर्यादात् नैर्ऋतो राक्षसः स एवोदधिः तस्माद्भयमाचख्युः कथितवन्तः।

भावार्थ—भगवान् विष्णु ने प्रसन्न होकर देवताओं से कुशल मंगल पूछा, इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि आजकल ऐसे राक्षस उत्पन्न हो गये हैं जिन्होंने बिना प्रलयकाल के आये ही समस्त संसार की मर्यादाओं को भंग करके सर्वत्र हाहाकार मचा दिया है। अर्थात् मर्यादा भंग करने वाले रावणादि राक्षसों से हमें बहुत बड़ा कष्ट हो रहा है॥ ३४॥

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः॥ ३५॥

अन्वयः—अथ परिभूतार्णवध्वनिः भगवान् वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना स्वरेण उवाच।

अथेति। अथ वेलायामब्धिकूले समासन्नानां सन्निकृष्टानां शैलानां रन्ध्रेषु गह्वरेष्वनुनादिना प्रतिध्वनिवता स्वरेण परिभूतार्णवध्वनिस्तिरस्कृतसमुद्रघोषो भगवानुवाच।

भावार्थ—इसके बाद समुद्र से भी गम्भीर स्वर में जब भगवान् विष्णु उत्तर देने लगे, तब क्षीर समुद्र तट के निकटवर्ती पहाड़ों की कन्दरायें गूँज उठीं॥ ३५॥

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती॥ ३६॥

अन्वयः—पुराणस्य कवेः तस्य वर्णस्थानसमीरिता कृतसंस्कारा भारती चरितार्था एव बभूव ।

पुराणस्येति । पुराणस्य चिरन्तनस्य कवेस्तस्य भगवतो वर्णस्थानेपूरःकण्ठादिपु समीरिता सम्यगुच्चारिता अत एव कृताः संवादितः संस्कारः साधुत्वस्पृष्टतादिप्रयत्नो यस्याः सा भारती वाणी चरितार्था कृतार्था बभूवैव । एवकारस्त्वसंभावना विपरीतभावनाव्युदासार्थः ।

भावार्थ—सबसे पुराने कवि उस विष्णु भगवान् के कण्ठतालु दन्त ओष्ठ आदि अक्षरों के उच्चारण स्थानों से जब संस्कारयुक्त वाणी निकली, तब मानों सरस्वती ने अपने जन्म लेने का फल पा लिया ॥ ३६ ॥

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता ।
निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ३७ ॥

अन्वयः—विभोः वदनोद्गता सदशनज्योत्स्ना सा चरणात् निर्यातशेषा उर्ध्वप्रवर्तिनी गङ्गा इव बभौ ।

बभाविति । विभोर्विष्णोर्वदनादुद्गता । निःसृता सदशनज्योत्स्ना दन्तकान्तिसहिता इदं च विशेपणं धावल्यातिशयार्थम् । अत एव सा भारती चरणादङ्घ्रेर्नियाता चासौ शेषा च निर्यातशेषा निःसृतावशिष्टेत्यर्थः । "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" इत्यनुवर्त्य "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इति पुंवद्भावः । निर्यातशब्दस्य या निर्याता सावशेषा सा गङ्गेवेति सामानाधिकरण्यनिर्वाहः । निर्यातायाः शेषेति विग्रहे पुंवद्भावो दुर्घट एव । ऊर्ध्वप्रवर्तिन्यूर्ध्ववाहिनी गङ्गेव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ।

भावार्थ—सर्वसमर्थ भगवान् विष्णु के मुखारविन्दु से निकली एवं उनके दांतों की चमक से जगमगाती हुई विशुद्ध वाणी ऐसी मालूम पड़ने लगी मानों उनके चरण से निकलने वाली गंगा जी अब ऊपर की ओर बह रही हैं ॥ ३७ ॥

यदाह भगवांस्तदाह—

जाने वो रक्षसाऽऽक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ ३८ ॥

अन्वयः—(हे देवाः !) वः अनुभावपराक्रमौ रक्षसा अङ्गिनां प्रथममध्यमौ उभौगुणौ तमसा इव आक्रान्तौ जाने ।

जाने इति। हे देवाः वो युष्माकमनुभावपराक्रमो महिमपुरुषकारौ रक्षसा रावणेन अङ्गिनां शरीरिणां प्रथममध्यमावुभौ गुणौ सत्त्वरजसी तमसेव तमो-गुणेनेव। 'राहौ ध्वान्ते गुणे तमः' इत्यमरः। आक्रान्तौ इति जाने। वाक्यार्थः कर्म।

भावार्थ—हे देवताओं ! यह मैं जानता हूँ कि आप लोगों के तेज और बल को राक्षसराज रावण ने उसी प्रकार दबा दिया है जिस प्रकार संसारी जीवों के सतोगुण और रजोगुण को उनका तमोगुण दबा देता है॥ ३८॥

विदितं तप्यमानञ्च तेन मे भुवनत्रयम्।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा॥ ३९॥

अन्वय.—अकामोपहृतेन एनसा साधो. हृदयम् इव तेन तप्यमान भुवनत्रयम् च मे विदितम् (अस्ति)।

विदितमिति। किंच अकामेनानिच्छयोपनतेन प्रमादादागतेनैनसा पापेन साधोः सज्जनस्य हृदयमिव तेन रक्षसा तप्यमानं सन्तप्यमानं। तपेर्भौवादिकात्क-र्मणि शानच्। भुवनत्रयं च मे विदितं मया ज्ञायत इत्यर्थः। "मतिबुद्धिपूजार्थ-भ्यश्च" इत्यनेन वर्तमाने क्तः। "क्तस्य च वर्तमाने" इति षष्ठी।

भावार्थ—और मैं यह भी जानता हूँ कि जिस प्रकार अनजान में किये हुए पाप से सज्जन का मन घबरा जाता है उसी प्रकार सारा संसार रावण के अत्याचार से घबरा उठा है॥ ३९॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते॥ ४०॥

अन्वय:—एककार्यत्वात् कार्येषु वज्रिणा अभ्यर्थ्यः न अस्मि। हि वातः स्वय-मेव अग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते।

कार्येष्विति। किंच एककार्यत्वात् एकं कार्यं ययोस्तौ तयोर्भावः एककार्यत्वं तस्मादावयोरेककार्यत्वाद्धेतोः कार्येषु कर्तव्यार्थेषु विषयेषु वज्रिणेन्द्रेणाभ्यर्थ्यं एवं कुर्विति प्रार्थनीयो नास्मि। तथाहि वातः स्वयमेवाग्नेः सारथ्यं साहाय्यं प्रतिपद्यते प्राप्नोति। न तु वह्निप्रार्थनया इत्येवकारार्थः प्रेक्षावतां हि स्वार्थेषु स्वत एव प्रवृत्तिः न तु परप्रार्थनया। स्वार्थश्चायं ममापीत्यर्थः।

भावार्थ—मेरा और इन्द्र का एकमात्र कार्य असुर संहार एवं शिष्टों की रक्षा करना है। अतः इस कार्य के लिए इन्द्र को मुझसे प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आग की सहायता करने के लिए वायु से कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, वह तो स्वयं उसका सहायक बन जाता है॥४०॥

पुरा किल त्रिपुरारिप्रीणनाय स्वशिरांसि छिन्दता दशकन्धरेण यद्दशमं शिरोऽवशेषितं तन्मच्चक्रार्थमित्याह—

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा॥ ४१॥

अन्वयः—स्वासिधारा परिहृतः दशमः मूर्धा मे चक्रस्य कामं लभ्यांश इव तेन रक्षसा स्थापितः।

स्वेति। स्वासिधारया स्वखङ्गधारया परिहृतः अच्छिन्न इत्यर्थः। दशमो-मूर्धा मे मम चक्रस्य कामं पर्याप्त लभ्यांशः प्राप्तव्यभाग इव तेन रक्षसा स्थापितः। तत्सर्वथा तमहं हनिष्यामीत्यर्थः।

भावार्थ—भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करने के लिए रावण ने पहले यज्ञों में तलवार से अपने ९ शिरों को काटकर हवन कर दिया है, अब मालूम पड़ता है कि उसने अपना दशवाँ शिर मेरे चक्र से कटने के लिए ही रख छोड़ा है। अर्थात् अब मैं उसको अवश्य मारूँगा॥ ४१॥

तर्हि किं प्रागुपेक्षितमत आह—

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः॥ ४२॥

अन्वयः—तु मया स्रष्टुः वरातिसर्गात् तस्य दुरात्मनः रिपोः अत्यारूढं चन्दनेन भोगिनः (अत्यारूढम्) इव सोढम्।

स्रष्टुरिति। किन्तु स्रष्टुर्ब्रह्मणो वरातिसर्गाद्वरदानाद्धेतोः मया तस्य दुरात्मनो रिपोः रावणस्यात्यारूढमत्यारोहणम् अतिवृद्धिरित्यर्थः। नपुंसके भावे क्तः। भोगिनः सर्पस्यात्यारूढं चन्दनेनेव सोढुम्। चन्दनद्रुमस्यापि तया सहनं स्रष्टुर्नियतेरिति द्रष्टव्यम्।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्दनवृक्ष अपने ऊपर चढ़ते हुए सर्प को सह लेता है उसी प्रकार ब्रह्माजी के वरदान देने के कारण मैंने भी इस दुष्ट रावण की वृद्धि को सहन किया है॥ ४२॥

सम्प्रति वरस्वरूपमाह—

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः।
दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः॥ ४३॥

अन्वयः—हि सः राक्षसः तपसा प्रीतं धातारं मर्त्येषु आस्थापराङ्मुखः (सन्) दैवात् सर्गात् अवध्यत्वं ययाचे।

धातारमिति। स राक्षसस्तपसा प्रीतं सन्तुष्टं धातारं ब्रह्माणं मर्त्येषु विषय

आस्थापराङ्मुख आदरविमुखः सन् मत्यानिनाहत्येत्यर्थः दैवदृष्टविधारसर्गाद्दैव-सृष्टेरवध्यत्वं ययाचे हि ।

भावार्थ—अपनी तपस्या से प्रसन्न ब्रह्माजी से उसने यह वरदान माँगा था कि मैं देवताओं के हाथ से न मारा जा सकूँ क्योंकि वह मनुष्यों को तो तृण के समान अति तुच्छ समझता था ॥ ४३ ॥

तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य मनुष्यावतारेण हनिष्यामीत्याह—

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—स. अहं दाशरथिः भूत्वा तच्छिरः कमलोच्चयं तीक्ष्णैः शरैः रण-भूमेः बलिक्षमं करिष्यामि ।

सोऽहमिति—सोऽहं दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः। "अत इञ्" इति इञ्प्र-त्ययः । रामो भूत्वा तीक्ष्णैः शरैस्तस्य रावणस्य शिरांस्येव कमलानि तेषामुच्चयं राशिं रणभूमेर्बलिक्षमं पूजार्हं करिष्यामि । पुष्पविशदा हि पूजेति भावः ।

भावार्थ—इसलिए मैं राजा दशरथ के यहाँ जन्म लेकर अपने तीखे बाणों से उसके सिरों को कमल के समान रणभूमि को भेंट चढ़ा दूँगा अर्थात् युद्धस्थल में अपने बाणों से रावण को अवश्य मारूँगा ॥ ४४ ॥

अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः ।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—(यूयम्) यज्वभिः विधिवत् कल्पितं भागं मायाविभिः निशाचरैः अनालीढम् अचिरात् पुनः आदास्यध्वे ।

अचिरादिति— हे देवाः ! यज्वभिर्याज्ञिकैर्विधिवत्कल्पितमुपहृतं भागं हवि-र्भागं मायाविभिर्मायावद्भिः । "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति विनिप्रत्ययः । निशाचरैः रक्षोभिरनालीढमनास्वादितं यथा तथाचिरात्पुनरादास्यध्वे ।

भावार्थ—हे देवताओ ! याज्ञिकों द्वारा विधिपूर्वक आप लोगों को दिया गया यज्ञभाग अब राक्षस नहीं छीन सकेंगे, शीघ्र ही आप अपने भाग को प्राप्त कर सकेंगे ॥ ४५ ॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
पुष्पकालोकसङ्क्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—मरुतां पथि वैमानिकाः मेघावरणतत्पराः पुण्यकृतः (भवन्तः) पुष्पकालोकसङ्क्षोभं त्यजन्तु ।

वैमानिका इति । मरुतां देवानां यद्वा वायूनां पथि व्योम्नि वैमानिका विमानैश्चरन्तः। "चरति" इति ठक्प्रत्ययः । मेघावरणतत्परा रावणभयान्मेघेष्वन्तर्धानतत्पराः पुण्यकृतः सुकृतिनः पुष्पकालोकेन यदृच्छया रावणविमानदर्शनेन यः सङ्क्षोभो भयचकितं तं त्यजन्तु । 'संक्षोभो भयचकितम्' इति शब्दार्णवः ।

भावार्थ—अब आप लोग निर्भय होकर अपने-अपने विमानों पर चढ़कर आकाश में घूमिये और रावण के पुष्पक विमान को देखकर डर के मारे बादलों में छिपना छोड़ दीजिए ॥ ४६ ॥

मोक्ष्यध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् ।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(यूयम्) शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः, अदूषितान् स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धान् मोक्ष्यध्वे ।

मोक्ष्यध्व इति । हे देवाः ! यूयं शापेन नलकूबरशापेन यन्त्रिताः प्रतिबद्धाः पौलस्त्यस्य रावणस्य बलात्कारेण ये कचग्रहाः केशाकर्षास्तैरदूषिताननुपहतान्स्वर्गबन्दीनां हृतस्वर्गाङ्गनानां वेणीबन्धान्मोक्ष्यध्वे । पुरा किला नलकूबरेणात्मानमभिसरन्त्या रम्भया बलात्कारेण संभोगात्क्रुद्धेन दुरात्मा रावणः शप्तः स्त्रीणां बलाद्ग्रहणे मूर्धा ते शतधा भविष्यतीति भारतीया कथानुसंधेया ।

भावार्थ—रावण ने स्वर्ग की जिन स्त्रियों को अपने यहाँ बन्दी बना लिया है उनके जूड़ों को नलकूबर के शाप के डर से उसने अभी हाथ से भी तो नहीं स्पर्श किया है, अब आपलोग ही उन बन्दी स्त्रियों के जूड़े अपने हाथों से खोलेंगे ।।४७।।

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सः कृष्णमेघः रावणग्रहक्लान्तं मरुत्सस्यम् इति वागमृतेन अभिवृष्य तिरोदधे ।

रावणेति । स कृष्णो विष्णुः स एव मेघो नीलमेघश्च विश्रवसोऽपत्यं पुमानिति विग्रहे रावणो । विश्रवःशब्दः छिवादित्वादण् 'विश्रवसः विश्रवणरवणौ' इत्यन्तर्गणसूत्रेण विश्रवःशब्दस्य वृत्तिविषये रवणादेशे रावण इति सिद्धम् । स एवावग्रहो वर्षप्रतिबन्धः तेन क्लान्तं म्लानं मरुतो देवा एव सस्यं तत् इत्येवंरूपेण वागमृतेन वाक्सलिलेन । 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिलेऽमृतम्' इति विश्वः । अभिवृष्याभिषिच्य तिरोदधेऽन्तर्दधे ।

भावार्थ—इस प्रकार भगवान् विष्णुरूपी नील मेघ रावणरूपी वृष्टि के

प्रतिबन्धक से दुःखी देवता रूप सस्य को वागमृत से सींचकर अन्तर्हित हो गये। अर्थात् जिस प्रकार सूखे खेत पर पानी बरसाकर बादल निकल जाता है उसी प्रकार रावण के डर से भयभीत देवताओं को अपने मधुर वचनामृत से तृप्तकर विष्णु अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥

पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—पुरुहूतप्रभृतयः सुराः अंशैः सुरकार्योद्यतं विष्णुं द्रुमाः पुष्पैः वायुः इव अनुययुः।

पुरुहूतेति—पुरुहूतप्रभृतयः इन्द्राद्याः सुराः सुरकार्ये रावणवधरूपे उद्यतं विष्णुमंशैर्मागैः द्रुमाः पुष्पैः स्वांशैर्वायुमिव अनुययुः। सुग्रीवादिरूपेण वानरयोनिषु जाता इत्यभिप्रायः।

भावार्थ—जिस प्रकार वृक्ष अपने अंश पुष्पों से वायु का अनुगमन करते हैं उसी प्रकार इन्द्रादि से देवताओं ने रावण-वधरूप देवकार्य करने के लिए उद्यत भगवान् विष्णु का अपने-अपने अंशों से अनुगमन किया। अर्थात् सुग्रीवादि रूप से वानर जन्म लेने लगे ॥ ४९ ॥

अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—अथ तस्य विशांपत्युः काम्यस्य कर्मणः अन्ते अग्नेः पुरुषः ऋत्विजां विस्मयेन सह प्रबभूव।

अथेति। अथ तस्य विशांपत्युर्दशरथस्य संबन्धिनः काम्यस्य कामयितुमर्हस्यार्थान्पुत्रार्थं वाञ्छितस्य कर्मणः पुत्रकामेष्टेरन्तेऽवसाने पावकात्पुरुषः कश्चिद्दिव्यः पुमानृत्विजां विस्मयेन सह प्रबभूव प्रादुर्बभूव। तदाविर्भावात्तेषामपि विस्मयोऽभूदित्यर्थः।

भावार्थ—इसके बाद ज्यों ही राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ त्यों ही यज्ञ की अग्नि में से एक दिव्य पुरुष प्रगट हुआ जिसे देखकर सभी याज्ञिक आश्चर्यान्वित हो गये ॥ ५० ॥

तमेव पुरुषं विशिनष्टि—

हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम्।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—आद्यस्य पुंसः अनुप्रवेशात् तेन अपि दुर्वहं हेमपात्रगतं पयश्चरुं दोर्भ्याम् आदधानः (प्रबभूव)।

हेमपात्रेति । आद्यस्य पुंसो विष्णोरनुप्रवेशादधिष्ठानाद्धेतोस्तेन दिव्यपुरुषेणापि दुर्वहम् चतुर्दशभुवनोदरस्य भगवतो हरेरतिगरीयस्त्वाद्वोढुमशक्यम् । हेमपात्रगतं पयसि पक्वं चरुं पयश्चरुं पायसान्नं दोर्भ्यामादधानो वहन् । अनत्पाग्निभिरूष्मपक्व ओदनश्चरुः' इति याज्ञिकाः ।

भावार्थ—उस पुरुष के हाथ में खीर से भरी हुई सोने की थाल थी, उस खीर में भगवान् विष्णु स्वयं अनुप्रविष्ट थे, इसलिए उसको धारण करने में उसे बहुत कष्ट हो रहा था ॥ ५१ ॥

प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः ।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥

अन्वयः—नृपः प्राजापत्योपनीतं तत् अन्नम् उदन्वता आविष्कृतं पयसां सारं वृषा इव प्रत्यग्रहीत् ।

प्राजापत्येति । नृपो दशरथः प्राजापत्येन प्रजापतिसंबन्धिना पुरुषेणोपनीतं न तु वसिष्ठेन । 'प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप ।' इति रामायणात् । तदन्नं पायसान्नम् । अद्यते इत्यन्नं । उदन्वतोदधिनाविष्कृतं प्रकाशितं पयसां सारममृतं वृषा वासव इव । 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः प्रत्यग्रहीत स्वीचकार ।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र द्वारा दिये गये अमृत के कलश को इन्द्र ने स्वीकार किया था, उसी प्रकार प्रजापति सम्बन्धी उस पुरुष के द्वारा दिये गये उस खीर को राजा दशरथ ने स्वीकार किया ॥ ५२ ॥

अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—तस्य राज्ञः अन्यदुर्लभाः गुणाः अनेन कथिताः यत् त्रैलोक्यप्रभवः अपि तस्मिन् प्रसूतिं चकमे ।

अनेनेति । तस्य राज्ञो दशरथस्यान्यैर्दुर्लभा असाधारणा गुणा अनेन कथिता व्याख्याताः । यद्यस्मात्त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । तस्य प्रभवः कारणं विष्णुरपि तस्मिन्राज्ञि प्रसूतिमुत्पत्तिं चकमे कामितवान् । त्रिभुवनकारणस्यापि कारणमिति परमावधिर्गुणसमाश्रय इत्यर्थः ।

भावार्थ—उस दिव्य पुरुष ने राजा दशरथ के असाधारण गुणों की इतनी प्रशंसा की कि भगवान् विष्णु को भी उनके वहाँ जन्म लेने की इच्छा होने लगी ॥ ५३ ॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—सः चरुसंज्ञितं वैष्णवं तेजः पत्न्योः द्यावापृथिव्योः अहर्पतिः प्रत्यग्रम् इव विभेजे ।

स इति । स नृपः चरुसंज्ञाऽस्य संजाता चरुसंज्ञितं वैष्णवं तेजः पत्न्योः कौसल्याकैकेय्योः द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । "दिवसश्च पृथिव्याम्" इति चकाराद्दिवशब्दस्य द्यावादेशः । तयोर्द्यावापृथिव्योः । अह्नः पतिरहर्पतिः । सूर्यः "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इत्युपसंख्यानाद्वैकल्पिको रेफस्य रेफादेशो विसर्गापवादः । प्रत्यग्रमातपं बालातपमिव विभेजे विभज्य ददावित्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य अपने प्रातःकाल के धूप को आकाश और पृथ्वी दोनों के लिए विभक्त कर देते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ ने खीर के रूप में पाये हुए उस वैष्णव तेज को कौशल्या और कैकेयी नामक अपनी दोनों रानियों को बराबर-बराबर बांट दिया ॥ ५४ ॥

पत्नीत्रये सति द्वयोरेव विभागे कारणमाह—

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—तस्य कौसल्या अर्चिता (आसीत्) केकयवंशजा प्रिया (आसीत्) अतः ईश्वरः सुमित्रां ताभ्यां सम्भाविताम् ऐच्छत् ।

अर्चितेति । तस्य राज्ञः कौ पृथिव्यां सलति गच्छतीति कोसलः । 'सल गतौ' पचाद्यच् । कुशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्गुणः । कोसलस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कौसल्या । "वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्" इति ञ्यङ् "यङश्चाप्" इति चाप् । अतएव सूत्रे निर्देशात्कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यमः । अर्चिता ज्येष्ठा मान्या । केकयवंशजा कैकेयी प्रियेष्टा अतो हेतोरीश्वरो भर्ता नृपः सुमित्रां ताभ्यां कौसल्याकैकेयीभ्यां संभाविता भागदानेन मानितामैच्छदिच्छति स्म । एवं च सामान्यं तिसृणां च भागप्रापणमिति राज्युचितज्ञता कौशलं च लभ्यते ।

भावार्थ—कौशल्या उस राजा दशरथ की बड़ी रानी थीं और कैकेयी उनकी प्यारी रानी थीं । इसलिए राजा दशरथ ने अपने हाथ से उन्हीं दोनों को वह खीर दी, पर उनकी यह स्वाभाविक इच्छा थी कि ये दोनों अपने-अपने हाथ से सुमित्रा को भी इसका भाग दे दें ॥ ५५ ॥

ते बहुज्ञस्य चितज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥

अन्वयः—बहुज्ञस्य महीक्षितः चित्तज्ञे ते उभे पत्न्यौ चरोः अर्धार्धभागाभ्यां ताम् अयोजयताम्।

ते इति। बहुज्ञस्य सर्वज्ञस्य उचितज्ञस्येत्यर्थः। पत्युर्महीक्षितः क्षितीश्वरस्य विशेषणत्रयेण राज्ञोऽनुसरणीयतामाह—चितज्ञे अभिप्रायज्ञे ते उभे पत्न्यौ कौसल्या-कैकेय्यौ चरोर्यावर्धभागौ समभागौ तयोर्यावर्धौ तौ च तौ भागौ चेत्यर्ध-भागावेकदेशौ ताभ्यामर्धार्धभागाभ्याम्। 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इत्यमरः। तां सुमित्रामयोजयतां युक्तां चक्रतुः। अयं च विभागो न रामायणसंवादी तत्र चरोरर्धं कौसल्यायै अवशिष्टार्धं कैकेय्यै शिष्टं सुमित्रायै इत्यभिधानात् किंतु पुराणान्तरसंवादो द्रष्टव्यः। उक्तं च नारसिंहे—'ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महीपतेः। पिण्डाभ्यामल्पमल्पं तु स्वभगिन्यै प्रयच्छतः॥' इति एवमन्यत्रापि विरोधे पुराणान्तरात्समाधातव्यम्।

भावार्थ—सर्वज्ञ राजा दशरथ के मनोभाव को जाननेवाली उन दोनों रानियों ने *अपनी-अपनी खीर का आधा-आधा भाग सुमित्रा को दे दिया* ॥५६॥

सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हि सा उभयोः अपि सपत्न्योः भ्रमरी वारणस्य मदनिस्यन्दरेखयोः इव प्रणयवती आसीत्।

सेति। सा सुमित्रा उभयोरपि। समान एकः पतिर्ययोस्तयोः सपत्न्योः। "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारादेशश्च भ्रमरी भृङ्गाङ्गना वारणस्य गजस्य मदनिस्यन्दरेखयोरिव गण्डद्वयगतयोरिति भावः। प्रणयवती प्रेमवत्यासीत्। सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरुपमानं वारणस्येति।

भावार्थ—जिस प्रकार भ्रमरी हाथी के दोनों कपोलों से निकलनेवाली मद की दोनों धाराओं से बराबर प्रेम करती है, उसी प्रकार सुमित्रा भी अपनी दोनों सौतों से बराबर प्रेम करती थी ॥ ५७ ॥

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—ताभिः प्रजाभूत्यै देवांशसम्भवः गर्भः सौरीभिः अमृताख्याभिः नाडीभिः अम्मयः इव दध्रे।

ताभिरिति। ताभिः कौसल्यादिभिः प्रजानां भूत्यै अभ्युदयाय देवस्य विष्णोरंशः

संभवः कारणं यस्य स गर्भः। सूर्यस्येमाः सौर्यः, ताभिः सौरीभिः। "सूर्यतिष्या-गस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः" इत्युपधायकारस्य लोपः। अमृता इत्याख्या यासां ताभिः जलवहनसाम्यान्नाडीभिरिव नाडिभिर्वृष्टिविसर्जनीभिर्दीधितिभिः। अपां विकारोऽम्मयो जलमयो गर्भ इव दध्रे धृत जातावेकवचनम्। गर्भा दधिर इत्यर्थः। अत्र यादव —'तासां शतानि चत्वारि रश्मीनां वृष्टिसर्जने। शतत्रयं हिमोत्सर्गे तावद्गर्भस्य सर्जने॥ आनन्दाश्च हि मेध्याश्च नूतना' पूतना इति। चतुःशतं वृष्टिवाहास्ता सर्वा अमृतः स्मिय॥' इति।

भावार्थ—जिस प्रकार जल बरसानेवाली अमृता नामक सूर्य की किरणें प्रजाओं के कल्याण के लिए जल रूप गर्भ को धारण करती हैं, उसी प्रकार उन तीनों रानियों ने लोककल्याण के लिए विष्णु के अंश से परिपूर्ण गर्भ को धारण किया॥ ५८॥

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः॥ ५९॥

अन्वयः—समम् आपन्नसत्वाः आपाण्डुरत्विषः ताः अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानां सम्पदः इव रेजुः।

सममिति। समं युगपदापन्ना गृहीताः सत्त्वाः प्राणिनो याभिस्ता आपन्नसत्त्वा गर्भिण्यः। 'आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। अत एव-आपाण्डुरत्विष ईषत्पाण्डुरवर्णास्ताः राजपत्न्यः अन्तर्गता गुप्ताः फलारम्भाः फल-प्रादुर्भावा यासां ताः सस्यानां सम्पद इव रेजुर्बभुः।

भावार्थ—ये तीनों रानियाँ एक साथ गर्भवती हुई और इनकी शरीर की कान्ति धीरे-धीरे पीली पड़ने लगी, उस समय ये उस अनाज की बालों के समान पीली लगती थीं, जिनके अन्दर अंकुर (दाने) पड़ गये हैं॥ ५९॥

संप्रति तासां स्वप्नदर्शनान्याह—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः॥ ६०॥

अन्वयः—सर्वाः स्वप्नेषु जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः वामनैः गुप्तम् आत्मानं ददृशुः।

गुप्तमिति। सर्वास्ताः स्वप्नेषु जलजः शङ्खः। जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रैर्लाञ्छिता मूर्तयो येषां तैर्वामनैर्ह्रस्वैः पुरुषैर्गुप्तं रक्षितमात्मानं स्वरूपजातावेकवचनं ददृशुः इत्यन्वयः।

भावार्थ—उन तीनों रानियों ने रात में स्वप्न देखा कि शंख, खड्ग, गदा, शार्ङ्ग नामक धनुष और चक्र लिये हुए कोई बौना पुरुष हमारी रक्षा कर रहा है ॥ ६० ॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥

अन्वयः—हेमपक्षप्रभाजालं वितन्वता वेगाकृष्टपयोमुचा सुपर्णेन गगने 'ताः' उह्यन्ते स्म ।

हेमेति । किंचेति चार्थः । हेम्नः सुवर्णस्य पक्षाणां प्रभाजालं कान्तिपुञ्जं वितन्वता विस्तारयता वेगेनाकृष्टाः पयोमुचा मेघा येन तेन । सुपर्णेन गरुत्मता गरुडेन गगने ता उह्यन्ते स्मोढाः ।

भावार्थ—और यह भी देखा कि आकाश में सुनहले पंखों के प्रभाजाल को फैलाते हुए और अपने वेग से बादलों को भी खींचकर ले जाते हुए गरुड़ हमें आकाश में उड़ाकर ले जा रहे हैं ॥ ६१ ॥

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

अन्वयः—स्तनान्तरविलम्बिनं कौस्तुभन्यासं बिभ्रत्या पद्मव्यजनहस्तया लक्ष्म्या च 'ताः' पर्युपास्यन्त ।

बिभ्रत्येति । किंच स्तनयोरन्तरे मध्ये विलम्बिनं लम्बमानम् । न्यस्यत इति न्यासः । कौस्तुभ एव न्यासस्तम् । पत्या कौतुकान्यस्तम् । कौस्तुभमित्यर्थः । बिभ्रत्या पद्ममेव व्यजनं हस्ते यस्यास्तया लक्ष्म्या पर्युपास्यन्तोपासिताः ।

भावार्थ—भगवान् ने धरोहर के रूप में प्राप्त स्तनों के बीच में लटकते हुए कौस्तुभमणि को धारण करती हुई लक्ष्मी हाथ में कमल रूप पंखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं, यह भी देखा ॥ ६२ ॥

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥ ६३ ॥

अन्वयः—दिव्यायां त्रिस्रोतसि कृताभिषेकैः परं ब्रह्म गृणद्भिः सप्तभिः ब्रह्मर्षिभिः 'ता' उपतस्थिरे ।

कृतेति । किंच । दिवि भवायां दिव्यायां त्रिस्रोतस्याकाशगंगायां कृताभिषेकैः कृतावगाहैः परं ब्रह्म वेदरहस्यं गृणद्भिः पठद्भिः सप्तभिर्ब्रह्मर्षिभिः कश्यपप्रभृतिभिरुपतस्थिरे उपासाञ्चक्रिरे ।

भावार्थ—इतना ही नहीं आकाश गंगा में स्नान करके कश्यपादि सप्तर्षि वेदपाठ करते हुए हम लोगो की ही स्तुति करते है—इस प्रकार के स्वप्नो को देखकर रानियों ने राजा से कहा ॥ ६३ ॥

ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—पार्थिव. ताभ्य तथाविधान् स्वप्नान् श्रुत्वा प्रीत 'सन्' जगद्-गुरो: गुरुत्वेन आत्मानं परार्ध्यं मेने हि ।

ताभ्य इति । पार्थिवो दशरथस्ताभ्यः पत्नीभ्यः । "आख्यातोपयोगे" इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । तथाविधानुक्तप्रकारान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद् गुरोर्विष्णोरपि गुरुत्वेन पितृत्वेन हेतुना परार्ध्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि ।

भावार्थ—रानियों से इस प्रकार के स्वप्नो को सुनकर राजा दशरथ अति-प्रसन्न हुए और उन्होने समझ लिया कि अब संसार मे मेरे समान कोई सौभाग्य-शाली नही है क्योंकि मैं अब संसार के गुरु विष्णु का भी पिता बन रहा हूँ ॥ ६४ ॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥ ६५ ॥

अन्वयः—एकः विभुः तासां कुक्षिषु प्रसन्नानां अपां 'कुक्षिषु' प्रतिमाचन्द्रः इव अनेकधा विभक्तात्मा 'सन्' उवास ।

विभक्तेति । एक एकरूपो विभुर्विष्णुस्तासां राजपत्नीनां कुक्षिषु गर्भेषु प्रसन्नानां निर्मलानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः प्रतिबिम्बचन्द्र इव । अनेकधा विभक्तात्मा सन् उवास ।

भावार्थ—यद्यपि भगवान् विष्णु का एक ही रूप है, फिर भी निर्मल जल के भीतर प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान अनेक रूप में विभक्त होकर उन रानियों के गर्भ मे निवास करने लगे ॥ ६५ ॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अथ राज्ञ. सती अग्र्यमहिषी प्रसूतिसमये औषधिः नक्तं तमोपहं ज्योतिः इव 'तमोपहं' पुत्रं लेभे ।

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता । अग्र्या चासौ महिषी चाग्र्य-महिषी कौसल्या । प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले ओषधीर्नक्तम् रात्रिसमये तमोऽपहन्तीति

तमोपहम्। "अपे क्लेशतमसोः" इति डप्रत्ययः। ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकरं पुत्रं लेभे प्राप।

भावार्थ—इसके बाद साध्वी राजा दशरथ की पटरानी कौशल्या, प्रसव-काल पूर्ण होने पर दशवें मास में जिस प्रकार रात में दिव्य औषधि अन्धकार को नाश करनेवाले प्रकाश को प्राप्त करती है, उसी प्रकार तमोगुण को दूर करने वाला पुत्र प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अभिरामेण वपुषा चोदितः गुरुः यस्य जगत्प्रथममंगलं राम इति नामधेयं चक्रे।

राम इति। अभिरमन्तेऽत्रेत्यभिरामं मनोहरम्। अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः। तेन वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथस्तस्य पुत्रस्य जगतां प्रथमं मङ्गलं सुलक्षणं राम इति नामधेयं चक्रे। अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः।

भावार्थ—उस बाल के मनोहर शरीर को देखकर पिता दशरथ ने संसार में सबसे अधिक मंगलकारी यह नाम रखा ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—रघुवंशप्रदीपेन अप्रतिमतेजसा तेन रक्षागृहगताः दीपाः प्रत्यादिष्टाः इव अभवन्।

रघिवति। रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षा-गृहगताः सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिषिद्धा इवाभवन्। महादीपसमीपे नाल्पाः स्फुरन्तीति भावः।

भावार्थ—रघुवंश में दीपक के समान प्रकाशमान अपरिमित तेजस्वी उस राम से प्रसूति गृह में रखे हुए दीपक मानों फीके पड़ गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

अन्वयः—शातोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकताम्भोजबलिना शरत्कृशा जाह्नवी इव बभौ।

शय्येति। शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण। सैकते पुलिने योऽम्भोजबलिः पद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव। बभौ।

भावार्थ—बालक को उत्पन्न करने के कारण कृश उदरवाली माता कौशल्या नन्हें से राम को लेकर पलंग पर लेटी हुई ऐसी सुन्दर लगती थीं, मानों शरद ऋतु में पतली धार वाली गङ्गा के तट पर चढ़ाया हुआ नीला कमल हो ॥ ६९ ॥

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान्।
जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—कैकेय्याः भरतः नाम शीलवान् तनयः जज्ञे यः प्रश्रयः श्रियम् इव जनयित्रीम् अलञ्चक्रे।

कैकेय्या इति। कैकेयस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कैकेयी। "तस्यापत्यम्" इत्यणि कृते 'कैकेयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' इतीयादेशः। तस्या भरतो नाम शीलवांस्तनयो जज्ञे जातः। यस्तनयः प्रश्रयो विनयः श्रियमिव। जनयित्रीं मातरमलञ्चक्रे।

भावार्थ—कैकेयी को भरत नामक शीलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने लक्ष्मी को विनय के समान माता को सुशोभित किया ॥ ७० ॥

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सुमित्रा लक्ष्मणशत्रुघ्नौ यमौ सुतौ सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयौ इव सुषुवे।

सुताविति। सुमित्रा लक्ष्मणशत्रुघ्नौ नाम यमौ युग्मजातौ सुतौ पुत्रौ। सम्यगाराधिता स्वभ्यस्ता विद्या प्रबोधविनयौ तत्त्वज्ञानेन्द्रियजयाविव सुषुवे।

भावार्थ—जिस प्रकार अच्छी तरह अभ्यास की हुई विद्या तत्त्वज्ञान और नम्रभाव को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो पुत्रों को एक साथ उत्पन्न किया ॥ ७१ ॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत्।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—सर्वं जगत् निर्दोषम् आविष्कृतगुणं च अभवत् स्वर्गः हि गां गतं पुरुषोत्तमम् अन्वगात्।

निर्दोषमिति। सर्वं जगद्भूलोको निर्दोषं दुर्भिक्षादिदोषरहितम् आविष्कृतगुणं प्रकटीकृतारोग्यादिगुणं चाभवत्। अत्रोत्प्रेक्षते—गां भुवं गतमवतीर्णं पुरुषोत्तमं विष्णुं स्वर्गोऽप्यन्वगादिव। स्वर्गो हि गुणवान्निर्दोषश्चेत्यागमः। स्वर्गतुल्यमभूदित्यर्थः।

भावार्थ—उन लोगों के जन्म से संसार के समस्त दोष दूर हो गये और गुणों का प्रादुर्भाव हो गया। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था, मानों अवतार लेकर पृथ्वी पर आते हुए भगवान् विष्णु के पीछे-पीछे स्वर्ग भी उतर आया हो, अर्थात् भूलोक स्वर्ग के समान दोषवर्जित और समृद्धिसम्पन्न हो गया ॥ ७२ ॥

तस्योदये चतुर्मूर्त्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ ७३ ॥

अन्वयः—चतुर्मूर्तेः तस्य उदये सति पौलस्त्यचकितेश्वराः दिशः विरजस्कैः नभस्वद्भिः उच्छ्वसिताः इव ।

तस्येति। चतुर्मूर्ते रामादिरूपेण चतूरूपस्य सतस्तस्य हरेरुदये सति। पौलस्त्याद्रावणच्चकिता भीता ईश्वरा नाथा इन्द्रादयो यासां ता दिशश्चतस्रो विरजस्कैरपधूलिभिर्नभस्वद्भिर्वायुभिः। मिषेण। उच्छ्वसिता इव इत्युत्प्रेक्षा। श्वसेः कर्तरि क्तः। स्वनाथशरणलाभसंतुष्टानां दिशामुच्छ्वासवाता इव वाता ववुरित्यर्थः। चतुर्दिगीशरक्षणं मूर्तिचतुष्टयप्रयोजनमिति भावः।

भावार्थ—सर्वत्र धूलि के बिना निर्मल हवा बहने लगी, वह ऐसी लगती थी मानों रावण से डरे हुए कुबेर आदि दिक्पालों ने पृथ्वी पर चार रूपों में आते हुए भगवान् विष्णु को पाकर सन्तोष की साँस ली हो ॥ ७३ ॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥ ७४ ॥

अन्वयः—रक्षोविप्रकृतौ कृशानुः प्रभाकरः अपधूमत्वात् प्रसन्नत्वात् च अपविद्धशुचौ इव आस्ताम् ।

कृशानुरिति। रक्षसा रावणेन विप्रकृतावपकृतौ पीडितावित्यर्थः। कृशानुरग्निः प्रभाकरः सूर्यश्च यथासंख्यमपधूमत्वात्प्रसन्नत्वाच्चापविद्धशुचौ निरस्तदुःखाविवास्तामभवताम्।

भावार्थ—रावण से पीडित अग्नि तथा सूर्य सदा दुखी रहते थे, किन्तु भगवान् के जन्म लेने पर अग्नि निर्धूम होकर और सूर्य ने प्रकाश करके अपनी प्रसन्नता प्रकट की ॥ ७४ ॥

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेनपर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तत्क्षणं राक्षसश्रियः अश्रुबिन्दवः दशाननकिरीटेभ्यः मणिव्याजेन पृथिव्यां पर्यस्ताः ।

दशाननेति। तत्क्षणं तस्मिन्क्षणे रामोत्पत्तिसमये राक्षसश्रियोऽश्रुबिन्दवो दशाननकिरीटेभ्यो मणीनां व्याजेन मिषेण पृथिव्यां पर्यस्ताः पतिताः। रामोदये सति तद्वध्यस्य रावणस्य किरीटमणिभ्रंशलक्षणं दुर्निमित्तमभूदित्यर्थः।

भावार्थ—उसी समय रावण के मुकुट से कुछ मणि पृथ्वी पर गिर पड़े, वे ऐसे मालूम पड़े, मानो राक्षसों की लक्ष्मी के आंसू ही बह रहे हो ॥ ७५ ॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ ७६ ॥

अन्वय—पुत्रिणः तस्य पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणाम् आरम्भं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयः चक्रुः।

पुत्रेति। पुत्रिणो जातपुत्रस्य तस्य दशरथस्य पुत्रजन्मनि प्रवेश्यानां प्रवेशयितव्यानाम्। वादनीयानामित्यर्थः। तूर्याणां वाद्यानामारम्भमुपक्रमं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयश्चक्रुः। साक्षात्पितुर्दशरथादपि देवा अधिकं प्रहृष्टा इत्यर्थः।

भावार्थ—पुत्रवान् उस राजा दशरथ के पुत्रजन्म से बजाने योग्य बाजाओं का आरम्भ पहले स्वर्ग में देवताओं की दुन्दुभियों ने किया अर्थात् राजा दशरथ से अधिक प्रसन्नता देवताओं को हुई ॥ ७६ ॥

सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—अस्य भवने सन्तानकमयी वृष्टिः च पेतुषी सा एव सन्मङ्गलोपचाराणां आदिरचना अभवत्।

सन्तानकेति। अस्य राज्ञः भवने सन्तानकानां कल्पवृक्षकुसुमानां विकारः सन्तानकमयी वृष्टिश्च पेतुषी पतिता। "क्वसुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः। "उगितश्च" इति ङीप्। सा वृष्टिरेव सन्तः पुत्रजन्मन्यावश्यका ये मङ्गलोपचारास्तेषामादिरचना प्रथमक्रियाऽभवत्।

भावार्थ—राजा दशरथ के राजभवन में आकाश से कल्पवृक्ष के फूलों की जो वर्षा हुई, उसी से उनके मांगलिक कार्यों का आरम्भ हुआ ॥ ७७ ॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—कृतसंस्काराः धात्रीस्तन्यपायिनः ते कुमाराः अग्रजेन इव पितुः आनन्देन समं ववृधिरे।

कुमारा इति। कृताः संस्कारा जातकर्मादयो येषां ते। धात्रीणामुपमातॄणां स्तन्यानि पयांसि पिबन्तीति तथोक्ताः। ते कुमारा अग्रे जातेनाग्रजेन ज्येष्ठेनेव स्थितेन पितुरानन्देन समं ववृधिरे। कुमारवृद्धया पितामहान्तमानन्दमवापेत्यर्थः। कुमारजन्मनः प्रागेव जातत्वादग्रजत्वोक्तिरानन्दस्य।

भावार्थ—इन पुत्रों के उत्पन्न होने से पहले राजा दशरथ के हृदय में बड़ा आनन्द उत्पन्न हुआ। उस प्रथम उत्पन्न पिता के आनन्द के साथ जातकर्मादि संस्कारों से संस्कृत तथा धाई के दूध पीने वाले कुमार भी बढ़ने लगे॥ ७८॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं विनयकर्मणा।
मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥ ७९॥

अन्वयः—तेषां स्वाभाविकं विनितत्वं विनयकर्मणा हविर्भुजां सहजं तेजः हविषा इव मुमूर्छ।

स्वाभाविकमिति। तेषां कुमाराणां संबन्धि स्वाभाविकं सहजं विनीतत्वं विनयकर्मणा शिक्षया हविर्भुजामग्नीनां सहजं तेजो हविषाऽऽज्यादिकेनेव। मुमूर्छ ववृधे। निःसर्गसंस्काराभ्यां विनीता इत्यर्थः।

भावार्थ—जिस प्रकार घी आदि पड़ने से अग्नि का स्वाभाविक तेज बढ़ जाता है, उसी प्रकार राम आदि का स्वाभाविक विनय आदि उत्तमशिक्षा से और भी अधिक बढ़ गया॥ ७९॥

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम्।
अलमुद्द्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः॥ ८०॥

अन्वयः—परस्पराविरुद्धाः ते तत् अनघं रघोः कुलम् ऋतवः देवारण्यम् इव अलम् उद्द्योतयामासुः।

परस्परेति। परस्परविरुद्धा अविद्विष्टाः। सौभ्रात्रगुणवन्त इत्यर्थः। ते कुमाराः तत्प्रसिद्धमनघं निष्पापं रघोः कुलम्। ऋतवो वसन्तादयो देवारण्यं नन्दनमिव। सहजविरोधानामप्यृतूनां सहावस्थानसंभावनार्थं देवविशेषणम्। अलमत्यन्तमुद्द्योतयामासुः प्रकाशयामासुः सौभ्रात्रवन्तः कुलभूषणायन्त इति भावः।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्वदा सब प्रकार के पुष्पों की सम्पत्ति से परस्पर अविरोधी ऋतुओं ने नन्दन वन की शोभा बढ़ाई, उसी प्रकार परस्पर प्रेम से उन चारों राजकुमारों ने रघुकुल की शोभा बढ़ाई॥ ८०॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः॥ ८१॥

अन्वय:—सौभ्रात्रे समाने अपि हि यथा उभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः तथा भरतशत्रुघ्नौ 'प्रीत्या' द्वन्द्वं बभूवतुः।

समान इति। शोभना स्निग्धा भ्रातरो येषां ते सुभ्रातरः। "नद्यृतश्च" इति कप् न भवति "वन्दिते भ्रातुः" इति निषेधात्। तेषा भावः सौभ्रात्रम्। युवादित्वादण्। तस्मिन्समाने चतुर्णां तुल्येऽपि यथोभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः। तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं द्वौ द्वौ साहचर्येणाभिव्यक्तौ बभूवतुः। "द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु" इत्यभिव्यक्तार्थे निपातः। क्वचित्कस्यचित्स्नेहो नातिरिच्यत इति भावः।

भावार्थ—यद्यपि चारों भाइयों में परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेम के कारण जैसे राम और लक्ष्मण की एक जोड़ी थी, वैसे ही भरत और शत्रुघ्न ने भी अपनी जोड़ी बना ली ॥ ८१ ॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥

अन्वय:—तेषां 'मध्ये' द्वयोः द्वयोः चन्द्रसमुद्रयोः यथा वायुविभावस्वोर्यथा ऐक्यं कदाचन बिभिदे।

तेषामिति। तेषां चतुर्णां मध्ये द्वयोर्द्वयोः रामलक्ष्मणयोर्भरतशत्रुघ्नयोश्चेत्यर्थः। यथा वायुविभावस्वोर्वातवह्न्योरिव। चन्द्रसमुद्रयोरिव च। ऐक्यमैकमत्यं कदाचन न बिभिदे। एककार्यत्वं समानसुखदुःखत्वं च क्रमादुपमाद्वयाल्लभ्यते। सहनः सहकारी हि वह्नेर्वायुः चन्द्रवृद्धौ हि वर्धते सिन्धुः, तत्क्षये च क्षीयत इति।

भावार्थ—जिस प्रकार वायु और अग्नि की तथा समुद्र एवं चन्द्रमा की जोड़ी कभी अलग नहीं होती, उसी प्रकार राम और लक्ष्मण तथा भरत और शत्रुघ्न का साथ कभी नहीं छूटा ॥ ८२ ॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥

अन्वय:—प्रजानाथाः ते तेजसा प्रश्रयेण च निदाघान्ते श्यामाभ्राः दिवसा इव प्रजानां मनः जह्रुः।

त इति। प्रजानाथास्ते कुमारास्तेजसा प्रभावेण प्रश्रयेण विनयेन च निदाघान्ते ग्रीष्मान्ते श्यामान्यभ्राणि मेघा येषां ते श्यामाभ्राः। नातिशीतोष्णा इत्यर्थः। दिवसा इव प्रजानां लोकानां मनश्चित्तं जह्रुः हरन्ति स्म।

भावार्थ—जिस प्रकार गर्मी के अन्त में नीले रंग के सुहावने बादल वाले

दिन प्रजाओं के मन को हरण कर लेते हैं, उसी प्रकार प्रजाओं के स्वामी उस चारों राजकुमारों ने अपने तेज और नम्र व्यवहार से प्रजाओं के मन को हर लिया ॥ ८३ ॥

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—चतुर्धा व्यस्तः सः पृथिवीपतेः प्रसवः अङ्गवान् धर्मार्थकाममोक्षाणाम् अवतारः इव बभौ ।

स इति । स चतुर्धा । "संख्याया विधार्थे धा" इत्यनेन धाप्रत्ययः । व्यस्तो विभक्तः पृथिवीपतेर्दशरथस्य प्रसवः संतानः चतुर्धाङ्गवान्मूर्तिमान्धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इव बभौ ।

भावार्थ—चार प्रकार से विभक्त राजा दशरथ के वे चारों पुत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों ने अवतार लिया हो ॥ ८४ ॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः ।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—गुरुवत्सलाः ते गुणैः गुरुं चतुरन्तेशं तम् एव महार्णवाः रत्नैः इव आराधयामासुः ।

गुणैरिति । गुरुवत्सलाः पितृभक्तास्ते कुमारा गुणैर्विनयादिभिर्गुरुं पितरं चतुर्णामन्तानां दिगन्तानामीशं चतुरन्तेशम् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तं दशरथमेव महार्णवाश्चत्वारो रत्नैरिव । आराधयामासुरानन्दयामासुः ।

भावार्थ—जिस प्रकार चारों समुद्रों ने अपने रत्नों से चारों दिशाओं के स्वामी दशरथ की सेवा की, उसी प्रकार उन चारों ने अपने विनय आदि गुणों से पिता दशरथ को प्रसन्न कर लिया था ॥ ८५ ॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारै-
र्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः
पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—भग्नदैत्यासिधारैः चतुर्भिः दन्तैः सुरगज इव पणबन्धव्यक्तयोगैः चतुर्भिः उपायैः नयः इव युगदीर्घैः चतुर्भिः दोर्भिः हरिः इव तदीयैः अंशैः चतुर्भिः तैः अवनिपतीनां पतिः चकाशे ।

सुरगज इति । भग्ना दैत्यानामसिधारा यैस्तैश्चतुर्भिर्दन्तैः सुरगज ऐरावत इव ।

पणबन्धेन फलसिद्धया व्यक्तयोगैरनुमितप्रयोगैरुपायैश्चतुर्भिः सामादिभिर्नयो नीतिरिव। युगवद्दीर्घैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्भुजैर्हरिर्विष्णुरिव। 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि' इत्यमरः। तदीयैर्हरिमन्वंशिभिरंशैरंशभूतैश्चतुर्भिस्तैः पुत्रैरवनिपतीनां पती राजराजो दशरथश्चकाशे दिदीपे।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार असुरों की तलवार की धार को कुण्ठित करनेवाले अपने चार दाँतों से ऐरावत शोभा देता है, उसी प्रकार साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायों से राजनीति शोभा देती है और जिस प्रकार रथ के जुवे के समान लम्बी-लम्बी भुजाओं से विष्णु भगवान् शोभा देते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ भी अपने चार सुयोग्य पुत्रों से सुशोभित हुए ॥ ८६ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित अन्वय और 'चन्द्रकला' नाम की हिन्दी टीका में रघुवंशमहाकाव्य का रामावतार नामक दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

रामचन्द्रचरणारविन्दयोरन्तरङ्गचरभृङ्गलीलया।
तत्र सन्ति हि रसाश्चतुर्विधास्तान्यथारुचि सदैव निविश ॥

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥

अन्वयः—कौशिकेन एत्य सः क्षितीश्वरः अध्वरविघातशान्तये काकपक्षधरं रामं याचितः किल हि तेजस्विनां वयः न समीक्ष्यते।

कौशिकेनेति। कौशिकेन कुशिकापत्येन विश्वामित्रेणैत्याभ्यागत्य स क्षितीश्वरो दशरथः अध्वरविघातशान्तये यज्ञविघ्नविध्वंसाय काकपक्षधरं बालकोचितशिखाधरम्। 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः। रामं

याचितः किल प्रार्थितः खलु। याचेर्द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः। 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति वचनात्। नायं बालाधिकार इत्याशङ्क्याह—तेजसां तेजस्विनां वयो बाल्यादि न समीक्ष्यते हि अप्रयोजकमित्यर्थः। अत्र सर्गे रथोद्धतावृत्तम्। उक्तं च—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति।

भावार्थ—विश्वामित्रजी उस राजा दशरथ के पास आकर यज्ञ के विघ्न को शान्त करने के लिये काकपक्षधारी राम को माँगा। ठीक है, तेजस्वियों की अवस्था नहीं देखी जाती ॥ १ ॥

कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम्।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥

अन्वयः—लब्धवर्णभाक् कृच्छ्रलब्धम् अपि सलक्षणं तं मुनये दिदेश। असुप्रणयिनां अर्थिता रघोः कुले कदाचित् न व्यहन्यत।

कृच्छ्रलब्धमिति। लब्धा वर्णाः प्रसिद्धयो यैस्ते लब्धवर्णा विचक्षणाः। 'लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः। तान्भजत इति लब्धवर्णभाक्। विद्वत्सेवीत्यर्थः। स राजा कृच्छ्रलब्धमपि सलक्ष्मणं तं रामं मुनये दिदेशातिसृष्टवान्। तथाहि असुप्रणयिनां प्राणार्थिनामप्यर्थिता याच्ञा रघोः कुले कदाचिदपि न व्यहन्यत न विहता। न विफलीकृतेत्यर्थः। यैरर्थिभ्यः प्राणा अपि समर्प्यन्ते तेषां पुत्रादित्यागो न विस्मयावह इति भावः।

भावार्थ—यद्यपि राजा दशरथ ने बड़ी तपस्या से राम और लक्ष्मण को पाया था, तथापि वे विद्वानों के बड़े भक्त थे, इसलिए लक्ष्मण सहित राम को विश्वामित्र मुनि के लिए दे दिया; क्योंकि रघुवंशियों की सदा से यह रीति चली आती है कि यदि कोई उनसे प्राण भी मांगे, तो याचक को विमुख नहीं लौटाते ॥ २ ॥

यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥

अन्वयः—पार्थिवः तयोः निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियां यावत् आदिशति तावत् मरुत्सखैः सपुष्पजलवर्षिभिः घनैः सा आशु विदधे।

यावदिति। पार्थिवः पृथिवीश्वरस्तयो रामलक्ष्मणयोर्निर्गमाय निष्क्रमणाय पुरमार्गसंस्क्रियां धूलिसम्मार्जनगन्धोदकसेचनपुष्पोपहाररूपसंस्कारं यावदादिशत्याज्ञापयति तावन्मरुत्सखैर्वायुसखैः। अनेन धूलिसम्मार्जनं गम्यते।

सपुष्पजलवर्षिभिः पुष्पसहितजलवर्षिभिर्घनैः सा मार्गसंस्क्रिया आशु विदधे विहिता। एतेन देवकार्यप्रवृत्तयोर्दैवानुकूल्यं सूचितम्।

भावार्थ—राजा दशरथ ने जब तक उन दोनों को नगर से बाहर जाने के लिए मार्ग सजाने की आज्ञा दी, तब तक वायु ने धूलि साफ कर दी, मेघों ने जल को छिड़कने का कार्य कर दिया और देवताओं ने आकाश से पुष्प वर्षा कर मार्ग की सजावट कर दी॥ ३॥

तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः॥ ४॥

अन्वय—निदेशकारणोद्यतौ धन्विनौ तौ पितुः चरणयोः निपेततुः भूपतेः अपि बाष्पबिन्दवः प्रवस्यतोः तयोः उपरि (निपेतुः)।

ताविति। निदेशकरणोद्यतौ पित्राज्ञाकरणोद्युक्तौ धन्विनौ धनुष्मन्तौ तौ कुमारौ पितुश्चरणयोर्निपेततुः। प्रणतावित्यर्थः। भूपतेरपि बाष्पबिन्दवः प्रवत्स्यतोः प्रवासं करिष्यतोः अत एव नम्रयोः प्रणतयोः। "नमिकम्पि०" इति रप्रत्ययः। तयोरुपरि निपेततुः पतिताः।

भावार्थ—पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए प्रस्तुत और धनुष लिये हुए उन दोनों राजकुमारों ने अपने पिता के चरणों पर झुक कर प्रणाम किया और बाहर जाने के लिए उद्यत एवं अपने चरणों पर झुके हुए उन दोनों के उपर दशरथ जी की आंखों से आंसू के बूंद टपक पड़े॥ ४॥

तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावुभौ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ॥ ५॥

अन्वयः—पितुः नयनजेन वारिणा किञ्चित् उक्षितशिखण्डकौ तौ उभौ पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ तं ऋषिं अन्वगच्छताम्।

ताविति। पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावीषत्सिक्तचूडौ। 'शिखा चूडा शिखण्डः स्यात्' इत्यमरः। "शेषाद्विभाषा" इति कप्प्रत्ययः। धन्विनौ तावुभौ पौरदृष्टिभिः कृतानि मार्गतोरणानि सम्पाद्यानि कुवलयानि ययोस्तौ तथोक्तौ। सद्भ्रुवो निरीक्ष्यमाणावित्यर्थः। तमृषिमन्वगच्छताम्।

भावार्थ—राजा दशरथ के नेत्र से निःसृत जलबिन्दुओं से कुछ भीगे हुए काकपक्ष वाले धनुर्धारी वे दोनों राजकुमार विश्वामित्रजी के पीछे चले जा रहे थे, उस समय उठे हुए पुरवासियों की आंखें ऐसी दीखती थीं, मानों नेत्रों का तोरण मार्ग में सजाया गया हो॥ ५॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

अन्वयः—ऋषिः लक्ष्मणानुचरं एवं नेतुं ऐच्छत् इति असौ नृपः आशिषं प्रयुयुजे वाहिनीं न हि सा एव तयोः रक्षणविधौ क्षमा (आसीत्) ।

लक्ष्मणेति । ऋषिर्लक्ष्मणानुचरमेव लक्ष्मणमात्रानुगं तं राघवं नेतुमैच्छदिति हेतोः, असौ नृप आशिषं प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् । वाहिनीं सेनां न प्रयुयुजे न प्रेषितवान् । हि यस्मात्साऽऽशीरेव तयोः कुमारयोः रक्षणविधौ क्षमा शक्ता ।

भावार्थ—विश्वामित्र जी लक्ष्मण के साथ राम को ले जाना चाहते थे, इस लिए राजा दशरथ ने उनकी सहायता के लिए अपनी सेना नहीं भेजी, केवल आशीर्वाद दिया, क्योंकि उनका आशीर्वाद ही रक्षा के लिए पर्याप्त था ॥ ६ ॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

अन्वयः—मातृवर्गचरणस्पृशौ तौ महौजसः मुनेः पदवीं प्रपद्य भास्करस्य गतिवशात्प्रवर्तिनौ मधुमाधवौ इव रेजतुः ।

मातृवर्गेति । मातृवर्गस्य चरणान्स्पृशत इति मातृवर्गचरणस्पृशौ कृतमातृवर्ग-नमस्कारावित्यर्थः । "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इति क्विन्प्रत्ययः । तौ महौजसौ मुनेः पदवीं प्रपद्य महौजसो भास्करस्य गतिवशान्मेषादिराशिसंक्रान्त्यनुसारात्प्रवर्तिनौ मधुमाधवाविव चैत्रवैशाखाविव रेजतुः । "फणां च सप्तानाम्" इति वैकल्पिकावेत्वा-भ्यासलोपौ । 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इति 'वैशाखे माधवो राधः' इति चामरः ।

भावार्थ—माताओं के चरणों को छूकर वे दोनों राजकुमार उस महातेजस्वी मुनि के पीछे-पीछे चलते हुए ऐसे सुशोभित होते थे, मानों सूर्य के पीछे-पीछे चैत्र और वैशाख मास चले जा रहे हों ॥ ७ ॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत ।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—वीचिलोलभुजयोः तयोः शैशवात् चपलं अपि गतम् अशोभत किमिव तोयदागमे उद्ध्यभिद्ययोः नामधेयसदृशम् विचेष्टितम् इव ।

वीचीति । वीचिलोलभुजयोस्तरङ्गचञ्चलबाह्वोः । इदं विशेषणं नदोपमान-सिद्धयर्थं वेदितव्यम् । तयोश्चपलं चञ्चलमपि गतं गतिः शैशवाद्धेतोरशोभत । किमिव ? तोयदागमे वर्षासमये उज्झत्युदकमित्युद्ध्यः । भिनत्ति कूलमिति भिद्यः । "भिद्योद्ध्यौ नदे" इति क्यबन्तौ निपातितौ । उद्ध्यभिद्ययोर्नदविशेष-

योर्नामधेयसदृशं नामानुरूपं विचेष्टितमिव उदकोज्झन कूलभेदनरूपव्यापार इव । समयोत्पन्नं चापलमपि शोभत इति भावः ।

भावार्थ—बचपन के कारण लहरों के समान चंचलबाहु वाले उन दोनों राजकुमारों का चलना ऐसा सुन्दर लग रहा था, मानो वर्षाऋतु में उद्धय और भिद्य नामक दो नद लहराते इठलाते और तटों को तोड़ते हुए चले जा रहे हों ॥ ८ ॥

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥

अन्वय—मणिकुट्टिमोचितौ तौ पथि मुनिप्रदिष्टयोः बलातिबलयोः विद्ययोः प्रभावतः सामर्थ्यान्मातृपार्श्वपरिवर्तिनौ इव न मम्लतुः ।

ताविति । मणिकुट्टिमोचितौ मणिबद्धभूमिसंचारोचितौ तौ मुनिप्रदिष्टयोः कौशिकेनोपदिष्टयोर्बलातिबलयोर्विद्ययोर्बलातिबलाख्ययोर्मन्त्रयोः प्रभावतः सामर्थ्यान्मातृपार्श्वपरिवर्तिनौ मातृसमीपवर्तिनाविव पथि न मम्लतुः । न ग्लानावित्यर्थः । अत्र रामायणश्लोकः—'क्षुत्पिपासे न ते राम ! भविष्येते नरोत्तम ! बलामतिबला चैव पठतः पथि राघव !' इति ।

भावार्थ—मार्ग में विश्वामित्र जी ने उन्हें बला और अतिबला नाम की दो विद्यायें सिखा दीं, जिससे मार्ग में चलते हुए उन दोनों राजकुमारों को न तो थकान मालूम हो रही थी, न भूख प्यास ही लगती थी। उन्हें ऐसा सुख हो रहा था, मानों मणियों से जड़े हुए अपने भवनों में अपनी माताओं के आस-पास घूम रहे हों ॥ ९ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥

अन्वय—वाहनोचितः सानुजः राघवः पुराविदः पितृसखस्य पूर्ववृत्तकथितैः उह्यमानः इव पादचारम् अपि न व्यभावयत् ।

पूर्वेति । वाहनोचितः सानुजो राघवः पुराविदः पूर्ववृत्ताभिज्ञस्य पितृसखस्य मुनेः पूर्ववृत्तकथितैः पुरावृत्तकथाभिरुह्यमान इव वाहनेन प्राप्यमाण इव । वहेर्धातोः कर्मणि शानच् । 'उह्यमानः' इत्यत्र दीर्घादिरपपाठः दीर्घप्राप्त्यभावात् । पादचारमपि न व्यभावयन्न ज्ञातवान् ।

भावार्थ—जो राम और लक्ष्मण हाथी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों पर चढ़ कर चलते थे, उन्हें पैदल चलते हुए तनिक भी थकावट नहीं हुई, क्योंकि उनके पिता

के मित्र पुराने और इतिहास के ज्ञाता विश्वामित्रजी उन्हें पुरानी कथायें सुनाते चले जा रहे थे। अर्थात् पुराने इतिहासों को सुनते हुए चलने के कारण पैदल चलने पर भी उन्हें कष्ट नहीं हुआ ॥ १० ॥

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्रिणः।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥

अन्वयः—सरांसि रसवद्भिः अम्बुभिः पतत्रिणः श्रुतिसुखैः कूजितैः वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः जलदाः छायया च तौ सिषेविरे।

ताविति। तौ राघवौ कर्मभूतौ सरांसि कर्तृणि रसवद्भिर्मधुरैरम्बुभिः सिषेविरे। पतत्रिणः पक्षिणः सुखयन्तीति सुखानि पचाद्यच्। श्रुतीनां सुखानि तैः कुजितैः वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः सुगन्धिपरागैः जलदाश्छायया च सिषेविरे इति सर्वत्र संबध्यते।

भावार्थ—सरोवरों ने मधुर जल से, पक्षियों ने कानों को सुखप्रद कलरवों से, वायु ने सुगन्धित पुष्प परागों से, मेघों ने शीतल छाया से उन दोनों राजकुमारों की सेवा की ॥ ११ ॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम्।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥

अन्वयः—तपस्विनः कमलशोभिनां अम्भसां तथा न परिश्रमच्छिदाम् शाखिनाम् च न यथा उभयोः तयोः लघुना दर्शनेन प्रीतिम् आपुः।

नेति। तप एषामस्तीति तपस्विनः। "तपःसहस्राभ्यां विनीनौ" इति विनिप्रत्ययः। लघुनेष्टेन। 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इत्यमरः। तयोरुभयोः कर्मभूतयोः दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनामम्भसां दर्शनेन नापुः। परिश्रमच्छिदां शाखिनां दर्शनेन च नापुः।

भावार्थ—कमलों से शोभायमान जल के दर्शन से परिश्रम को दूर करने वाले वृक्षों की छाया को देखकर भी आश्रमवासी तपस्वी इतना प्रसन्न नहीं हुए थे, जितना इन दोनों राजकुमारों को देखकर वे प्रसन्न हुए ॥ १२ ॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥

अन्वयः—स आत्तकार्मुकः दाशरथिः स्थाणुदग्धवपुषः तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण मदनस्य प्रतिनिधिः अभवत् कर्मणा न।

स्थाण्विति। स आत्तकार्मुकः दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथी रामः। "अत

इञ्" इतीञ्प्रत्ययः। स्थाणुर्हरः। 'स्थाणुः कीले हरे स्थिरे' इति विश्वः। तेन दग्धवपुषो मदनस्य तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण कायेन 'विग्रहः समरे काये' इति विश्वः। प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः सदृशोऽभवत्कर्मणा न पुनः देहेन मदनसुन्दर इति भावः।

भावार्थ—जिस तपोवन में भगवान् शंकर ने काम को जलाया था, वहीं जब दशरथनन्दन राम धनुष लिये हुए पहुँचे, तब मालूम पड़ा कि मानों वे वहाँ अपने शरीर की सुन्दरता से कामदेव के प्रतिनिधि बनकर आये हों, किन्तु कार्य से (कामदेव के प्रतिनिधि) नहीं ॥ १३ ॥

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—कौशिकात् विदितशापया सुकेतुसुतया खिलीकृते पथि तौ स्थलनिवेशिताटनी लीलया एव धनुषी अधिज्यतां निन्यतुः।

ताविति। रामायणवचनम्—"अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताडकामभिशप्तवान्। पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना। इदं रूपमपहाय दारुणं रूपमस्तु ते॥" इति। तदेतदाह—विदितशापयेति। कौशिकादाख्यातुः। "आख्यातोपयोगे" इत्यपादानात्पञ्चमी। विदितशापया सुकेतुसुतया ताडकया खिलीकृते पथि। 'खिलमप्रहतं स्थानम्' इति हलायुधः। तौ रामलक्ष्मणौ स्थले निवेशिते अटनी धनुःकोटी याभ्यां तौ तथोक्तौ। 'कोटिरस्याटनिः' इत्यमरः। लीलयैव धनुषी अधिकृते। ज्ये मौर्व्यौ ययोस्ते अधिज्ये। 'ज्या मौर्वीमातृभूमिषु' इति विश्वः। तयोर्भावस्तत्तामधिज्यतां निन्यतुर्नीतवन्तौ नयतिर्द्विकर्मकः।

भावार्थ—मार्ग में उन्हें वह सुकेतु की कन्या ताड़का नामक राक्षसी मिली। जिसने सारे वन को उजाड़ बना दिया था और जिसके शाप की कथा विश्वामित्र जी ने राम को पहले ही सुना दी। उसे देखते-देखते ही उन दोनों भाइयों ने अपने धनुष को पृथ्वी पर टेककर डोरी चढ़ा ली ॥ १४ ॥

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निविडा बलाकिनी ॥ १५ ॥

अन्वयः—अथ तयोः ज्यानिनादं गृह्णती बहुलक्षपाछविः चलकपालकुण्डला ताडका निविडा बलाकिनी कालिका इव प्रादुः आस।

ज्येति। अथ तयोर्ज्यानिनादं गृह्णती जानती। शृण्वतीत्यर्थः बहुलक्षपाछविः कृष्णपक्षरात्रिवर्णा। 'बहुलः कृष्णपक्षे च' इति विश्वः। चले कपाले एव कुण्डले

यस्याः सा तथोक्ता ताडका निविडा सान्द्रा वलाकिनी वलाकावती। "व्रीह्यादिभ्यश्च" इतीनिः। कालिकेव घनावलीव। 'कालिका योगिनीभेदे कार्ष्ण्ये गौर्यां घनावलौ' इति विश्वः। प्रादुरास प्रादुर्बभूव।

भावार्थ—इसके वाद उन दोनों के द्वारा किये गये धनुष टंकार को सुनते ही कानों में लटकी हुई मनुष्यों की खोपड़ियों को हिलाती हुई, अमावस्या की रात्रि के समान, काली कलूटी ताडका उनके आगे आकर इस प्रकार खड़ी हो गई, मानों बागुलों की पंक्ति में काली बदली हो ॥ १५ ॥

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ १६ ॥

अन्वयः—तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया तया पितृकाननोत्थया वात्यया इव भरताग्रजः अभ्यभावि।

तीव्रेति। तीव्रवेगेन धुताः कम्पिता मार्गवृक्षा यया तयोक्तया। प्रेतचीवराणि वस्त इति प्रेतचीवरवाः तया प्रेतचीवरवसा। वसतेराच्छादनार्थात्क्विप्। स्वनेन सिंहनादेनोग्रया तया ताडकया पितृकानने श्मशान उत्थोत्पन्ना। "आतश्चोपसर्गे" इत्युत्पूर्वात्तिष्ठतेः कर्तरि कप्रत्ययः। तया वात्ययेव वातसमूहेनेव। "पाशादिभ्यो यः"। भरताग्रजो रामोऽभ्यभाव्यभिभूतः। कर्मणि लुङ्। तीव्रवेगेत्यादिविशेषणानि वात्यायामपि योज्यानि।

भावार्थ—बड़े वेग से मार्ग के वृक्षों को कंपाती हुई, प्रेतों का कफन पहनी हुई, भयंकर गर्जनेवाली और श्मशान से उठे बवंडर के समान आकृति वाली वह ताड़का राम के ऊपर टूट पड़ी ॥ १६ ॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम्।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥

अन्वयः—उद्यतैकभुजयष्टिं आयतीं, श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलां तां विलोक्य राघवः वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच।

उद्यतेति। उद्यतोन्नमितैको भुज एव यष्टिर्यस्यास्ताम्। आयतीमायान्तीम् इण् धातोः शतरि "उगितश्च" इति ङीप्। श्रोणिलम्बीनि पुरुषाणामन्त्राण्येव मेखला यस्यास्ताम् इति विशेषणद्वयेनाप्याततायित्वं सूचितम्। अतएव तां विलोक्य राघवो वनितावधे स्त्रीवधनिमित्ते घृणां जुगुप्सां करुणां वा। 'जुगुप्सा करुणे घृणे' इत्यमरः। पत्रिणेषुणा सह। 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। मुमोच मुक्तवान्। आततायिवधे मनुः—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥" इति।

भावार्थ—लाठी के समान एक भुजा को ऊपर उठाई हुई और मनुष्यों की आँतों की करधनी बनाकर कमर में पहनी हुई उस ताडका को आती हुई देखकर राम ने स्त्रीवध करने की घृणा और बाण दोनों एक साथ छोड़े ॥ १७ ॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥

अन्वय—स रामसायकः शिलाघने ताडकोरसि यत् विवरं चकार तत् रक्षसां अप्रविष्टविषयस्य अन्तकस्य द्वारतां अगमात् ।

यदिति । स रामसायकः शिलावद्घने सान्द्रे ताडकोरसि यद्विवरं रन्ध्रं चकार, तद्विवरं रक्षसामप्रविष्टविषयस्य । अप्रविष्टरक्षोदेशस्येत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । अन्तकस्य यमस्य द्वारतामगमत् । इयं प्रथमा रक्षोमृतिरिति भावः ।

भावार्थ—रामचन्द्रजी के उस बाण ने पत्थर की चट्टान के समान अति कठोर ताड़का की छाती में जो छिद्र किया, वह ऐसा लगा मानो राक्षसों के देश में नहीं पहुँचे हुए यमराज को प्रवेश करने के लिए द्वार खोल दिया हो ॥ १८ ॥

बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥

अन्वयः—बाणभिन्नहृदया निपेतुषी (सती) सा केवलां स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत् (किन्तु) विष्टपत्रयं पराजयस्थिरां रावणश्रियं अपि व्यकम्पयत् ।

बाणेति । बाणभिन्नहृदया निपेतुषी निपतिता सती "क्वसुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः । "उगितश्च" इति ङीप् । सा केवलामेकाम् । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः । स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत् किंतु विष्टपत्रयस्य लोकत्रयस्य पराजयेन स्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् । ताडकावधश्रवणेन रावणस्यापि भयमुत्पन्नमिति भावः ।

भावार्थ—राम के बाण से ताड़का की छाती फट गई और वह नीचे गिर गई, उसके गिरने से केवल उस जंगल की भूमि ही नहीं काँप उठी किन्तु तीनों लोकों को जीतने में पाई हुई रावण की राजलक्ष्मी भी काँप उठी ॥ १९ ॥

अत्र ताडकाया अभिसारिकायाः समाधिरभिधीयते—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २० ॥

अन्वयः—सा निशाचरी दुःसहेन राममन्मथशरेण हृदये ताडिता गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम।

रामेति। सा निशासु चरतीति निशाचरी राक्षसी अभिसारिका च। दुःसहेन सोढुमशक्येन राम एव मन्मथः। अन्यत्राभिरामो मन्मथः तस्य। शरेण हृदय उरसि मनसि च। 'हृदयं मनउरसोः' इति विश्वः। ताडिता विद्धाङ्गी गन्धवद्दुर्गन्धि यद्रुधिरमसृक्तदेव चन्दनं तेनोक्षिता लिप्ता। अपरत्र गन्धवती सुगन्धिनी ये रुधिरचन्दने कुङ्कुमचन्दने ताभ्यामुक्षिता। यद्वा गन्धवत् रुधिरमिव चन्दनं। हरिचन्दनमित्यर्थः। 'रुधिरं कुङ्कुमासृजोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। जीवितेशस्यान्तकस्य प्राणेश्वरस्य च वसतिं जगाम।

भावार्थ—कामदेव के समान सुन्दर राम के दुःसह बाण से हृदय में विद्ध और दुर्गन्ध रुधिर से लथपथ हुई ताड़का, इस प्रकार यमराज की पुरी में चली गई, मानो दुःसह काम के बाण से घायल हुई कोई अभिसारिका नायिका चन्दन का लेप करके अपने प्रिय के घर जा रही हो॥ २०॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः॥ २१॥

अन्वयः—अथ ताडकान्तकः अवदानतोषितात् मुनेः नैर्ऋतघ्नं मन्त्रवत् अस्त्रं सूर्यकान्तः भास्करात् इन्धननिपाति, ज्योतिः इव प्रापत्।

नैर्ऋतेति। अथानन्तरं ताडकान्तको रामः अवदानं पराक्रमः। 'पराक्रमोऽवदानं स्यात्' इति भागुरिः। तेन तोषितान्मुनेः नैर्ऋतान्राक्षसान्हन्तीति नैर्ऋतघ्नम्। "अमनुष्यकर्तृके च" इति ठक्। मन्त्रवन्मन्त्रयुक्तमस्त्रं सूर्यकान्तो मणिविशेषो भास्करादिन्धनानि निपातयतीतीन्धननिपाति काष्ठदाहकं ज्योतिरिव प्रापत्प्राप्तवान्।

भावार्थ—इसके बाद ताड़का का वध करनेवाले राम ने ताड़का के मारने से परम प्रसन्न विश्वामित्र मुनि से राक्षसों का संहार करने वाला मंत्र सहित दिव्य अस्त्र इस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि सूर्य से लकड़ी को जलाने वाला तेज प्राप्त करता है, अर्थात् विश्वामित्र ने राम को दिव्यास्त्र दिया॥ २१॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः॥ २२॥

अन्वयः—ततः परं राघवः ऋषेः श्रुतं पावनं वामनाश्रमपदं उपेयिवान् प्रथमजन्मचेष्टितानि अस्मरन् अपि उन्मना बभूव।

वामनेति। ततः परं राघवः ऋषेः कौशिकादाख्यातुः श्रुतं पावनं शोधनं वाम-

नस्य स्वपूर्वावतारविशेषस्याश्रमपदमुपेयिवानुपगतः सन्। "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इति निपातः। प्रथमजन्मचेष्टितानि रामवामनयोरैक्यात्स्मृतियोग्यान्यपि रामस्याज्ञानावतारत्वेन संस्कारदौर्बल्यादस्मरन्नपि उन्मना उत्सुको बभूव।

भावार्थ—वहाँ से रामजी वामन के पवित्र आश्रम में गये, जिसके विषय में विश्वामित्रजी ने उन्हें पहले ही सब बता दिया था। वहाँ अपने पूर्व जन्म (वामनावतार) की लीलाओं का ठीक-ठीक स्मरण न होने पर वे कुछ उत्कण्ठित से हो गये ॥ २२ ॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पिताहंणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—ततः मुनिः शिष्यवर्गपरिकल्पिताहंणं बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनं आससाद ।

आससादेति। ततो मुनिः शिष्यवर्गेण परिकल्पिता सज्जिताऽर्हणा पूजासामग्री यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। 'सपर्यार्चाहंणाः समाः' इत्यमरः। बद्धा पल्लवपुटा एवाञ्जलयो यैस्ते तथाभूता द्रुमा यस्मिंस्तत्तथोक्तं दर्शनेन मुनिदर्शनेनोन्मुखा मृगा यस्मिंस्तत्तत् आत्मनस्तपोवनमाससाद। एतेन विशेषणत्रयेणातिथिसत्कारताच्छील्यविनयशान्तयः सूचिताः।

भावार्थ—वहाँ से विश्वामित्रजी अपने उस आश्रम पर पहुँच गये, जहाँ शिष्यों ने पूजा की सब सामग्री इकट्ठी कर रखी थी, वृक्ष अपने पत्तों की अञ्जलि बाँधे खड़े और मृग बड़ी उत्सुकता से इन लोगों को देख रहे थे ॥ २३ ॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥

अन्वयः—तत्र दशरथात्मजौ दीक्षित ऋषिं शरैः विघ्नतः क्रमोदितौ शशिदिवाकरौ रश्मिभिः अन्धतमसात् लोकम् इव ररक्षतुः ।

तत्रेति। तत्र तपोवने आश्रमे दशरथात्मजौ दीक्षितं दीक्षासंस्कृतमृषिं शरैर्विघ्नतो विघ्नेभ्यः क्रमेण पर्यायेण रात्रिदिवसयोरुदितौ शशिदिवाकरौ रश्मिभिः किरणैरन्धतमसाद्गाढध्वान्तात्। 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः। "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। लोकमिव ररक्षतुः। रक्षणप्रवृत्तावभूतामित्यर्थः।

भावार्थ—जिस प्रकार उदय को प्राप्त हुए सूर्य और चन्द्रमा बारी-बारी से अपनी किरणों से पृथ्वी का अन्धकार दूर करते हैं, उसी प्रकार आश्रम में राजा दशरथ के दोनों पुत्र राम और लक्ष्मण ने यज्ञ करने के लिए दीक्षित विश्वामित्रजी की बाणों द्वारा विघ्नों से रक्षा की ॥ २४ ॥

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तविन्दुभिर्वन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—अथ वन्धुजीवपृथुभिः रक्तविन्दुभिः प्रदूषितां वेदीं वीक्ष्य अपोढकर्मणां च्युतविकङ्कतस्रुचां ऋत्विजां संभ्रमः अभवत् ।

वीक्ष्येति । अथ वन्धुजीवपृथुभिर्वन्धुजीवककुसुमस्थूलैः । 'रक्तकस्तु वन्धूको वन्धुजीवकः' इत्यमरः । रक्तविन्दुभिः प्रदूषितामुपहतां वेदिं वीक्ष्य अपोढकर्मणां त्यक्तव्यापाराणां त्यक्तयज्ञकर्मणां च्युता विकङ्कतस्रुचो यज्ञपात्राणि येभ्यस्तेषामृत्विजां याजकानां संभ्रमोऽभवत् । विकङ्कतग्रहणं खदिराद्युपलक्षणम् स्रुवादीनां खदिरादिप्रकृतिकत्वात् । स्रुगादिपात्रस्यैव विकङ्कतप्रकृतिकत्वात् । 'विकङ्कतः स्रुवा वृक्षः' इत्यमरः । यद्वा स्रुङ्मात्रस्य विकङ्कतप्रकृतिकत्वमस्तु उभयत्रापि शास्त्रसंभवात् । यथाह भगवानापस्तम्बः—"खादिरः स्रुवः पर्णमयीर्जुहूराश्वत्थुपभृदेव कङ्कतीः स्रुचो वा" इति ।

भावार्थ—इसके वाद यज्ञ की वेदी पर दुपहरिये के फूलों के समान वड़ी-वड़ी रक्त की वूदें देख कर ऋत्विजों को वड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यज्ञ करना वन्द करके खैर के काष्ठ से वने अपने-अपने स्रुओं को नीचे रख दिया ॥२५॥

उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो वाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां वलमपश्यदम्वरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—सपदि लक्ष्मणाग्रजः वाणम् आश्रयमुखात् समुद्धरन् उन्मुखः अम्वरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् रक्षसां वलं अपश्यत् ।

उन्मुख इति । सपदि लक्ष्मणाग्रजो रामो वाणमाश्रयमुखात्तूणीरमुखात्समुद्धरन् । उन्मुख ऊर्ध्वमुखोऽम्वरे । गृध्रपक्षपवनैरीरिताः कम्पिता ध्वजा यस्य तत्तथोक्तम् । रक्षसां दुर्निमित्तसूचनमेतत् । तदुक्तं शकुनार्णवे—आसन्नमृत्योर्निकटे चरन्ति गृध्रादयो मूर्ध्नि गृहोर्ध्वभागे' इति । रक्षसां निशाचराणां वलमपश्यत् ।

भावार्थ—उसी समय राम ने अपने तरकस ने वाण निकाला और ऊपर मुँह करके आकाश की ओर देखा कि राक्षसों की सेना उठी हुई खड़ी गीधों के पखों की हवा से हिल रही है ॥ २६ ॥

तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥ २७ ॥

अन्वयः—सः तत्र यौ मखद्विषां अधिपती तौ शरव्यं अकरोत् इतरान् न महोरगविसर्पिविक्रमः गरुडः राजिलेषु प्रवर्तते किम् ।

तत्रेति । स रामस्तत्र रक्षसां वले यौ मखद्विषा मखं यज्ञं द्विषन्तीति तेषाम् ।

अधिपती तौ सुबाहुमारीचौ शरव्यं लक्ष्यमकरोत्। 'वेध्यं लक्ष्यं शरव्यं च' इति हलायुधः। इतरान्नाकरोत्। तथाहि महोरगविसृविक्रमो गरुडो गरुत्मान्राजिलेषु जलव्यालेषु प्रवर्तते किम्। न प्रवर्तत इत्यर्थः। 'अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिल-डुण्डुभौ' इत्यमरः।

भावार्थ—राम ने उस सेना में यज्ञविध्वंसक उन दो राक्षसों को अपना निशाना बनाया, जो उसके प्रधान थे, दूसरों को नहीं। क्या बड़े-बड़े सर्पों पर प्रहार करनेवाले गरुड जी भी छोटे-छोटे सर्पों पर प्रहार करते हैं? अर्थात् नहीं॥ २७॥

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम्।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम्॥ २८॥

अन्वयः—अस्त्रकोविदः स उग्रजवं वायुदैवतं अस्त्रं धनुषि संदधे। तेन शैल-गुरुम् अपि ताडकासुतं पाण्डुपत्रं इव अपातयत्।

स इति। अस्त्रकोविदोऽस्त्रज्ञः स राम उग्रजवमुत्कटजवं वायुर्दैवतं वायुर्देवता यस्य तद्वायव्यमस्त्रं धनुषि संदधे सहितवान्। कर्तरि लिट्। तेनास्त्रेण शैलवद्गुरुमपि ताडकासुतं मारीचं पाण्डुपत्रमिव परिणतपर्णमिवेत्यर्थः। अपातयत्पातितवान्।

भावार्थ—अस्त्र चलाने में निपुण राम ने तीव्र वेगवाले जिस वायव्यास्त्र को धनुष पर चढ़ाया, उसने पर्वत से भारी ताडका के पुत्र मारीच को उड़ा कर वैसे ही दूर फेंक दिया, जैसे कोई सूखा पत्ता उड़ा दिया गया हो॥ २८॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः॥ २९॥

अन्वयः—सुबाहुः इति यः अपरः राक्षसः तत्र तत्र मायया विससर्प क्षुर-प्रशकलीकृतं तं कृतिः आश्रमात् बहिः पत्रिणम् व्यभजत्।

य इति। सुबाहुरिति योऽपरो राक्षसस्तत्र तत्र मायया शाम्बरविद्यया विससर्प संचचार। क्षुरप्रैः शरविशेषैः शकलीकृतं खण्डीकृतं तं सुबाहुं कृती कुशलो रामः। "इष्टादिभ्यश्च" इति इनिः। 'कृती चः कुशलः समौ' इत्यमरः। आश्रमाद्बहिः पत्रिणां पक्षिणाम्। 'पत्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः। व्यभजत्। विभज्य दत्तवानित्यर्थः।

भावार्थ—सुबाहु नाम का जो दूसरा राक्षस अपनी माया से इधर-उधर घूम रहा था, उसे भी चतुर राम ने अपने तेज बाण से टुकड़े टुकड़े करके आश्रम के बाहर फेंक दिया, जिसे पक्षियों ने क्षण भर में बांट खाया॥ २९॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम्।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः॥ ३०॥

अन्वयः—इत्यपास्तमखविघ्नयोः तयोः सांयुगीनं विक्रमं अभिनन्द्य ऋत्विजः वाग्यतस्य कुलपतेः क्रियाः यथाक्रमं निरवर्तयत् ।

इतीति । इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयो राघवयोः संयुगे रणे साधुः सांयुगीनस्तम् । "प्रतिजनादिभ्यः खञ्" इति खञ्प्रत्ययः । 'सांयुगीनो रणे साधुः इत्यमरः । विक्रमं पौरुषमभिनन्द्य ऋत्विजो याजकाः । वाचि यतो वाग्यतो मौनी तस्य कुलपतेर्मुनिकुलेश्वरस्य क्रियाः क्रतुक्रिया यथाक्रमं निरवर्तयन्निष्पादितवन्तः।

भावार्थ—इस प्रकार यज्ञ के विघ्नों को दूर करनेवाले उन दोनों राम और लक्ष्मण की युद्धनिपुणता एवं पराक्रम को अभिनन्दित करके यज्ञकर्ताओं ने मौनी विश्वामित्र की क्रियाओं को क्रमशः पूर्ण किया ॥ ३० ॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृयाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अवभृयाप्लुतः मुनिः प्रणामचलकाकपक्षकौ तौ भ्रातरौ आशिषां अनुपदं दर्भपाटिततलेन पाणिना समस्पृशत् ।

ताविति । अवभृये दीक्षान्तः आप्लुतः स्नातो मुनिः । 'दीक्षान्तोऽवभृयो यज्ञे' इत्यमरः । प्रणामेन चलकाकपक्षकौ चञ्चलचूडौ तौ भ्रातरावाशिषामनुपदमन्वग्दर्भपाटितलेन कुशक्षतान्तःप्रदेशेन । पवित्रेणेत्यर्थः । पाणिना समस्पृशत्संस्पृष्टवान् । संतोषादिति भावः ।

भावार्थ—यज्ञ के समाप्त हो जाने पर अवभृय स्नान करके विश्वामित्र मुनि ने उन राम और लक्ष्मण को बड़ा आशीर्वाद दिया, जिनकी लटें प्रणाम करते समय लटक रही थीं । वे कुशाग्र से विद्ध अपनी हथेली को उनके सिर पर रखकर उन पर अपना बड़ा स्नेह कर रहे थे ॥ ३१ ॥

तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—संभृतक्रतुः मैथिलः तं न्यमन्त्रयत वशी स मिथिलां व्रजन् तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलं बिभ्रतौ राघवौ अपि निनाय ।

तमिति । संभृतक्रतुः संकलितसंभारो मिथिलायां भवो मैथिलो जनकस्तं विश्वामित्रं न्यमन्त्रयताहूतवान् । वशी स मुनिर्मिथिलां जनकनगरीं व्रजंस्तस्य जनकस्य यद्धनुस्तच्छ्रवणजं कुतूहलं बिभ्रतौ राघवावपि निनाय नीतवान् ।

भावार्थ—विवाह के लिए स्वयम्बर की तैयारी करके मिथिला नरेश जनक ने विश्वामित्रजी को भी निमन्त्रित किया, इसलिए मिथिला जाते हुए जितेन्द्रिय

विश्वामित्रजी धनुर्यज्ञ की बात सुनकर कौतूहलपूर्ण हृदयवाले उन दोनों रघुकुल बालकों को भी अपने साथ लेते गये ॥ ३२ ॥

तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

अन्वयः—गताध्वभिः तैः सायं शिवेषु आश्रमतरुषु वसतिः अगृह्यत । येषु दीर्घतपसः परिग्रहः वासवक्षणकलत्रतां ययौ ।

तैरिति । गताध्वभिस्तैस्त्रिभिः सायं शिवेषु रम्येष्वाश्रमतरुषु वसतिः स्थानमगृह्यत । येष्वाश्रमतरुषु दीर्घतपसो गौतमस्य परिग्रहः । पत्नी । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । अहल्येति यावत् । वासवस्येन्द्रस्य क्षणकलत्रतां ययौ ।

भावार्थ—कुछ दूर जाने पर सन्ध्या हो गई, इसलिए वे उस आश्रम के सुंदर वृक्षों के नीचे टिक गये, जहाँ महातपस्वी गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या थोड़ी देर के लिए इन्द्र की पत्नी बन गई थी ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—शिलामयी गौतमवधूः चारु स्वं वपुः चिराय पुनः प्रत्यपद्यत यत् स किल्बिषच्छिदां रामपादरजसां अनुग्रहः किल ।

प्रत्यपद्यतेति । शिलामयी भर्तृशापाच्छिलात्वं प्राप्ता गौतमवधूरहल्या चारु स्वं वपुश्चिराय पुनः प्रत्यपद्यत प्राप्तवती । यत् स किल्बिषच्छिदां पापहारिणाम् । 'पापं किल्बिषकल्मषम्' इत्यमरः । रामपादरजसामनुग्रहः किल । प्रसाद किलेति श्रूयते ।

भावार्थ—अपने पति के शाप से पत्थर बनी हुई गौतम मुनि की स्त्री अहल्या ने इतने दिनों के बाद अपना सुन्दर शरीर पा लिया, वह पापों के नाशक राम के चरण की धूलि का प्रभाव था ॥ ३४ ॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—राघवान्वितं उपस्थितं तं मुनिं जनेश्वरः जनकः निशम्य अर्थकामसहितं देहबद्धं धर्मं इव सपर्यया अभ्यगात् ।

राघवेति । राघवाभ्यामन्वितं युक्तमुपस्थितमागतं तं मुनिं जनको जनेश्वरो निशम्य । अर्थकामाभ्यां सहितं देहबद्धं बद्धदेहं मूर्तिमन्तमित्यर्थः । वाहिताग्न्यादित्वात्साधुः । धर्ममिव सपर्ययाऽभ्यगात् प्रत्युद्गतवान् ।

भावार्थ—राम और लक्ष्मण के साथ आये हुए विश्वामित्र जी को सुन कर

राजा जनक पूजा की सामग्री लेकर उनकी अगवानी करने के लिए चले। जनक जी को वे ऐसे मालूम पड़ते थे, मानों अर्थ और काम के साथ स्वयं धर्म ही आ गया है ॥ ३५ ॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—दिवः गां गतौ पुनर्वसू इव तौ विलोचनैः पिबतां विदेहनगरीनिवासिनां मनः पक्षपातं अपि वंचनां मन्यते स्म ।

ताविति । दिवः सुरवर्त्मन आकाशात् । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । गां भुवं गतौ 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूर्जले । 'लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । पुनर्वसू इव तन्नामकनक्षत्राधिदेवते इव स्थितौ । तौ राघवौ विलोचनैः पिबताम् । अत्यास्थया पश्यतामित्यर्थः । विदेहनगरी मिथिला तन्निवासिनां मनः कर्तृ पक्ष्मपातं निमेषमपि तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वाद्वञ्चनां विडम्बनां मन्यते स्म मेने । "लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् ।

भावार्थ—वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर लग रहे थे, मानों दो पुनर्वसु नक्षत्र स्वर्ग से पृथ्वी पर उतर आये हों। जनकपुर के निवासी ऐसे आनन्दमग्न होकर उन्हें अपनी आँखों से देख रहे थे कि पलकों का गिरना भी उन्हें बड़ा अखरता था। अर्थात् उनकी यह धारणा हो गई थी कि यदि हम लोगों की आँखों की पलकें नहीं गिरतीं, तो हम लोग निर्निमेष नेत्र से इन्हें देखते रहते ॥ ३६ ॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयाम्बभूव सः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यूपवति क्रियाविधौ अवसिते (सति) कालविद् कुशिकनन्दनः सः मुनिः रामं इष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयाम्बभूव ।

यूपेति । यूपवति क्रियाविधौ कर्मानुष्ठाने । क्रतावित्यर्थः । अवसिते समाप्ते सति कालविदवसरज्ञः कुशिकवंशवर्धनः स मुनी रामम् । अस्यतेऽनेनेत्यसनम् इषूणामसनमिष्वसनं चापं । तस्य दर्शने उत्सुकं मैथिलाय जनकाय कथयाम्बभूव कथितवान् ।

भावार्थ—जब धनुष यज्ञ की सारी क्रियायें पूरी हो गईं तब ठीक समय समझ कर कुशिक मुनि के वंश की वृद्धि करनेवाले विश्वामित्र जी ने राजा जनकजी से कहा कि राम भी वह धनुष देखना चाहते हैं ॥ ३७ ॥

तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ ३८ ॥

अन्वयः—पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः शिशोः तस्य वपुः वीक्ष्य स्वं दुरानमम् धनुः विचिन्त्य च दुहितृशुल्कसंस्थया पीडितः (अभूत्)।

तस्येति। पार्थिवो जनकः प्रथितवंशे जन्म यस्य तस्य तथोक्तस्य। एतेन वरसंपत्तिरुक्ता। शिशोस्तस्य रामस्य ललितं कोमलं वपुर्वीक्ष्य स्वं स्वकीयं दुरानममानमयितुमशक्यं नमेर्ण्यन्तात्खल्। धनुर्विचिन्त्य च दुहितृशुल्कं कन्यामूल्यं जामातृदेयम्। 'शुल्कं घट्टादिदेये स्याज्जामातुर्वन्धकेऽपि च' इति विश्वः। तस्य धनुर्भङ्गरूपस्य संस्थया स्थित्या। 'संस्था स्थितौ चरे नाशे' इति विश्वः। पीडितो बाधितः शिशुना रामेण दुष्करमिति दुःखित इति भावः।

भावार्थ—जब जनकजी ने एक ओर प्रसिद्ध इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए उस बालक रामचन्द्र के कोमल शरीर को देखा और दूसरी ओर अपने उस कठोर धनुष पर ध्यान दिया, जिसे बड़े बड़े वीर भी नहीं नवा सके थे, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने धनुष को तोड़ने वाले वीर के लिए सीता को देने की प्रतिज्ञा क्यों की॥ ३८॥

अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम्।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम्॥ ३९॥

अन्वयः—(मुनिं) अब्रवीत् च हे भगवन्! बृहद्भिः मतङ्गजैः अपि दुष्करं यत् कर्म तत्र कलभस्य मोघवृत्ति चेष्टितं अनुमन्तुं अहं न उत्सहे।

अब्रवीदिति। अब्रवीच्च। मुनिमिति शेषः। किमिति? हे भगवन्मुने! बृहद्भिर्मतङ्गजैर्महागजैरपि दुष्करं यत्कर्म तत्र कर्मणि कलभस्य बालगजस्य। 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः। मोघवृत्ति व्यर्थव्यापारं चेष्टितं साहसमनुमन्तुमहं नोत्सहे।

भावार्थ—राजा जनक विश्वामित्र से बोले कि हे भगवन्! जो कार्य बड़े-बड़े मतवाले हाथी नहीं कर सकते हैं, उस कार्य को हाथी के बच्चे से कराना व्यर्थ का खिलवाड़ है, इसलिए मेरा मन नहीं चाहता कि इनसे धनुष उठवाया जाय॥ ३९॥

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात! धनुषा धनुर्भृतः।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे॥ ४०॥

अन्वय—हे तात! तेन धनुषा बहवः नरेश्वराः ह्रेपिताः (ते) ज्याघात कठिनत्वचः स्वान् भुजान् धिग् इति विधूय प्रतस्थिरे।

ह्रेपिता इति। हे तात्! तेन धनुषा बहवो धनुर्भृतो नरेश्वरा ह्रेपिता ह्रियं प्रापिता हि। जिह्रेतेर्धातोर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। "अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां

पुङ्णौ" इत्यनेन पुगागमः। ते नरेश्वरा ज्यानिघातैः कठिनत्वचः स्वान्भुजान्धिगिति विधूयवमत्या प्रतस्थिरे प्रस्थिताः।

भावार्थ—हे महाराज ! इस धनुष ने अनेकों धनुर्धारी राजाओं को लज्जित कर दिया है और वे अपनी उन भुजाओं को धिक्कारते हुए चले गये, जिन पर धनुष की डोरी के निरन्तर आघात से बड़े-बड़े घट्ठे पड़ गये हैं ॥ ४० ॥

> प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम्।
> चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥

अन्वयः—ऋषिः तं प्रत्युवाच अयं सारतः निशम्यतां अथवा गिरा कृतम् अशनिः गिरौ इव चापे एव भवतः व्यक्तशक्तिः भविष्यति।

प्रतीति। ऋषिस्तं नृपं प्रत्युवाच। किमिति ? अयं रामः सारतो बलेन निशम्यतां श्रूयताम्। अथवा गिरा सारवर्णनया कृतमलम्। गीर्न वक्तव्येत्यर्थः। 'युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः। अव्ययं चैतत्। 'कृतं निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने। गिरेति करणे तृतीया। निषेधक्रियां प्रति करणत्वात्। किंत्वशनिर्वज्रो गिराविव चापे धनुष्येव भवतस्तव व्यक्तशक्तिर्दृष्टसारो भविष्यति।

भावार्थ—यह सुनकर विश्वामित्रजी राजा जनक से बोले कि हे राजन् ! इनकी शक्ति मैं आपको बतलाता हूँ, सुनिये, अथवा कहना व्यर्थ है, जिस प्रकार वज्र की शक्ति की परीक्षा पर्वत पर होती है, उसी प्रकार इनकी शक्ति की परीक्षा धनुष पर आपको स्पष्ट हो जायेगी ॥ ४१ ॥

> एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे।
> श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

अन्वयः—एवं आप्तवचनात् स काकपक्षधरे अपि राघवे पौरुषं त्रिदशगोपमात्रके कृष्णवर्त्मनि दाहशक्तिं इव श्रद्दधे।

एवमिति। एवमाप्तस्य मुनेर्वचनात्स जनकः काकपक्षकधरे बालेऽपि राघवे पुरुषस्य कर्म पौरुषं पराक्रमम्। "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इति युवादित्वादण्। 'पौरुषं पुरुषस्योर्ध्वहस्तभावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः। त्रिदशगोप इन्द्रगोपकीटः प्रमाणमस्य त्रिदशगोपमात्रः। "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः" इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः। ततः स्वार्थे कप्रत्ययः। तस्मिन्कृष्णवर्त्मनि वह्नौ दाहशक्तिमिव श्रद्दधे विश्वस्तवान्।

भावार्थ—इस प्रकार यथार्थ कहनेवाले विश्वामित्रजी के वचन से राजा जनक को कुछ-कुछ विश्वास होने लगा कि जिस प्रकार नन्हें से वीरबहूटी नामक बरसाती कीड़े के बराबर अग्नि में भी जलाने की शक्ति छिपी रहती है,

उसी प्रकार काकपक्षधारी राम में भी धनुष उठाने की शक्ति अवश्य होगी। अर्थात् अत्यन्त थोडी आग में दाह शक्ति के समान राम मे भी धनुष तोड़ने की शक्ति अवश्य होगी ॥ ४२ ॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥

अन्वय—अथ मैथिलः पार्श्वगान् कार्मुकाभिहरणाय सहस्रलोचनः तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदान् इव गणशः व्यादिदेश।

व्यादिदेशेति। अथ मैथिलः पार्श्वगान्पुरुषान्कार्मुकाभिहरणाय कार्मुकमानेतुम्। "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इति चतुर्थी। सहस्रलोचन इन्द्रस्तैजसस्य तेजोमयस्य धनुषः प्रवृत्तय अविर्भावाय तोयदान्मेघानिव गणशः गणान्। "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इति शस्प्रत्ययः। व्यादिदेश प्रजिघाय।

भावार्थ—इसके बाद मिथिला नरेश जनकजी ने पार्श्ववर्ती पुरुषों को धनुष को लाने के लिए उसी प्रकार भेजा, जिस प्रकार इन्द्र तेजोमय धनुष को प्रकट करने के लिए झुण्ड के झुण्ड मेघों को भेजते हैं ॥ ४३ ॥

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्वृषध्वजः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—दाशरथिः प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं तत् धनुः वीक्ष्य आददे। वृषध्वजः येन विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणं असृजत्।

तदिति। दाशरथी रामः प्रसुप्तभुजगेन्द्र इव भीषणं भयङ्करं तद्धनुर्वीक्ष्याददे जग्राह। वृषो ध्वजश्चिह्नं यस्य स शिवो येन धनुषा क्रतुरेव मृगः विद्रुतं पलायितं क्रतुमृगमनुसरति। ताच्छील्ये णिनिः। तं विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणमसृजन्मुमोच।

भावार्थ—धनुष वहाँ लाया गया, वह ऐसा जान पड़ता था कि मानो कोई बडा भारी अजगर सोया हुआ हो। राम ने देखते-देखते शिवजी के उस धनुष को अनायास ही उठा लिया जिससे शिवजी ने मृगरूपधारी यज्ञ देवता के पीछे-पीछे दौडने वाले बाण को छोड़ा था ॥ ४४ ॥

आतनज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रम् ईक्षितः (सन्) शैलसारमपि स्मरः पेशलं पुष्पचापं नातियत्नतः आततज्यं अकरोत्।

आततेति। स रामः संसदा सभया विस्मयेन स्तिमिते नेत्रे यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथेक्षितः सन् शैलस्येव सारो यस्य तच्छैलसारमपि धनुः स्मरः पेशलं कोमलं

पुष्पचापमिव नातियत्नतो नातियत्नात् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । आततज्यमधिज्यम् । अकरोत् ।

भावार्थ—सभा में स्थित समस्त सभासदों के द्वारा आश्चर्यपूर्वक निर्निमेष दृष्टि से देखे जाते हुए राम ने पर्वत के समान भारी उस धनुष पर वैसी ही सरलता से डोरी चढ़ा दी जैसे कामदेव अपने पुष्पों के कोमल धनुष पर अनायास डोरी चढ़ा देता है ॥ ४५ ॥

भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—तेन अतिमात्रकर्षणात् भज्यमानं (अत एव) वज्रपरुषस्वनं धनुः दृढमन्यवे भार्गवाय क्षत्रं पुनः उद्यतं न्यवेदयत् ।

भज्यमानमिति । तेन रामेणातिमात्रकर्षणाद्भज्यमानमत एव वज्रपरुषस्वनं वज्रमिव परुषः स्वनो यस्य तत् धनुः कर्तृ दृढमन्यवे दृढक्रोधाय । 'मन्युः क्रोधे क्रतौ दैन्ये' इति विश्वः । भार्गवाय क्षत्रं क्षत्रकुलं पुनरुद्यतमिति न्यवेदयदिव ज्ञापयामासेव ।

भावार्थ—राम ने उस धनुष को इतना तान दिया कि वह वज्र के समान भयंकर शब्द करते हुए कड़कड़ाकर टूट गया, मानों उसने महाक्रोधी परशुराम को सूचना दे दी कि क्षत्रियों ने अब पुनः शिर उठाना आरम्भ कर दिया है ॥ ४६ ॥

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ मैथिलः रुद्रकार्मुके दृष्टसारं वीर्यशुल्कं अभिनन्द्य राघवाय अयोनिजां तनयां रूपिणीं श्रियं इव न्यवदेयत् ।

दृष्टेति । अथ मैथिलो जनको रुद्रकार्मुके शङ्करधनुषि दृष्टः सारः स्थिरांशो यस्य तद्दृष्टसारं विलोकितविक्रमम् । 'सारो बले स्थिरांशे च' इति विश्वः । वीर्यमेव शुल्कं धनुर्भङ्गरूपमित्यर्थः । अभिनन्द्य राघवाय रामायायोनिजां देवयजनसम्भवां तनयां सीतां रूपिणीं श्रियमिव साक्षाल्लक्ष्मीमिव न्यवेदयदर्पितवान् । वाचेति शेषः ।

भावार्थ—इसके बाद जब मिथिला नरेश जनक जी ने देखा कि राम ने शिव-धनुष को तोड़कर अपना पराक्रम दिखला दिया, तब उन्होंने धनुर्भंग रूप पराक्रम मूल्य का अभिनन्दन करके पृथ्वी से उत्पन्न अपनी पुत्री सीताजी को इस प्रकार राम को सौंप दिया मानों साक्षात् अपनी लक्ष्मी उन्हें दे डाली हो ॥ ४७ ॥

उक्तमेवार्थं सोपस्कारमाह—

मैथिलः सपदि सत्यसंगरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥

अन्वय—सत्यसंगर मैथिल राघवाय अयोनिजा तनया द्युतिमत: तपोनिधे: सन्निधौ अग्निसाक्षिक सपदि अतिसृष्टवान् ।

मैथिल इति । सत्यसङ्गरः सत्यप्रतिज्ञ । 'अथ प्रतिज्ञाजिसविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । राघवायायोनिजा तनया द्युतिमतस्तेजस्विनस्तपोनिधेः कौशिकस्य संनिधौ । अग्नि साक्षी यस्य सोऽग्निसाक्षिक । "शेषाद्विभाषा" इति कप्प्रत्ययः । स इव सपद्यतिसृष्टवान्दत्तवान् ।

भावार्थ—सत्यप्रतिज्ञा करनेवाले राजा जनक ने महातेजस्वी विश्वामित्र जी को ही विवाह का साक्षी अग्नि समझकर तत्काल उनके सम्मुख राम को सीता समर्पित कर दी ॥ ४८ ॥

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोसलाधिपतये पुरोधसम् ।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—महाद्युतिः महितं पुरोधसम् कोसलाधिपतये प्राहिणोत् इदं निमेः कुलं दुहितुः परिग्रहात् भृत्यभावि दिश्यताम् ।

प्राहिणोदिति । महाद्युतिर्जनको महितं पूजितं पुरोहितं कोसलाधिपतये दशरथाय प्राहिणोत्प्रहितवाश्च । किमिति निमिर्नाम जनकानां पूर्वजः कश्चित् इदं निमेः कुलं दुहितु. सीतायाः परिग्रहात्स्नुषात्वेन स्वीकाराद्धेतोः भृत्यस्य भावो भृत्यत्वं सोऽस्यास्तीति भृत्यभावि दिश्यतामनुमन्यतामिति त्वयेति शेषः ।

भावार्थ—महातेजस्वी राजा जनक अपने पूज्य पुरोहित शतानंदजी से कोसलाधिपति राजा दशरथ के पास कहला भेजा कि मेरी पुत्री सीता को स्वीकार करके इस निमि कुल पर वैसी ही कृपा कीजिए जैसी आप अपने सेवकों पर करते हैं ॥ ४९ ॥

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—सः च सदृशीं स्नुषा अन्वियेष अनुकूलवाक् द्विजः च एनं प्राप, हि कल्पवृक्षफलधर्मिसुकृतां काङ्क्षितं सद्य एव पच्यते ।

अन्वियेषेति । स दशरथश्च सदृशीमनुरूपा स्नुषामन्वियेष । रामविवाहमाचकाङ्क्षेत्यर्थः । अनुकूलवाक्स्नुषासिद्धिरूपानुकूलार्थवादी द्विजो जनकपुरोधाः

शतानन्दश्चैनं दशरथं प्राप। तथाहि कल्पवृक्षफलस्य यो धर्मः सद्यःपाकरूपः सोऽस्यास्तीति कल्पवृक्षफलधर्मि अतः सुकृतां पुण्यकारिणां कांक्षितं मनोरथः सद्य एव पच्यते हि। कर्मकर्तरि लट्। स्वयमेव पक्वं भवतीत्यर्थः। "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" इति कर्मवद्भावात् "भावकर्मणोः" इत्यात्मनेपदम्।

भावार्थ—उधर दशरथ जी यह विचार ही कर रहे थे कि योग्य पुत्रवधू हमारे घर मे आवे, इतने मे ही राजा जनक के पुरोहित शतानन्दजी इच्छानुकूल सन्देश लेकर उनके पास पहुँच गये। ठीक ही है पुण्यात्माओं की अभिलाषा कल्पवृक्ष के समान तत्काल फल देने वाली होती है ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बलभित्सखः वशी कल्पितपुरस्क्रियाविधेः तस्य अग्रजन्मनः वचनं शुश्रुवान् सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः (सन्) उच्चचाल।

तस्येति। बलभित्सख इन्द्रसहचरो वशी स्वाधीनतावान्। 'वश आयत्ततायां च' इति विश्वः। कल्पितपुरस्क्रियाविधेः कृतपूजाविधेस्तस्याग्रजन्मनो द्विजस्य वचनं जनकेन संदिष्टं शुश्रुवान् श्रुतवान्। शृणोतेः क्वसुः। सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः सन्नुच्चचाल प्रतस्थे।

भावार्थ—इन्द्र के मित्र जितेन्द्रिय राजा दशरथ ने राजा जनक के पुरोहित शतानन्दजी का बड़ा सत्कार किया और उस ब्राह्मण की बात सुन कर इतनी बड़ी सेना लेकर चल पड़े कि उसकी धूलि से सूर्य भी ढंक गये ॥ ५१ ॥

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सः बलैः पीडितोपवनपादपां मिथिलां वेष्टयन् आससाद सा पुरी स्त्री आयतं कान्तपरिभोगं इव प्रीतिरोधं असहिष्ट।

आससादेति। स दशरथो बलैः सैन्यैः पीडितोपवनपादपां मिथिलां वेष्टयन्नरिधीकुर्वन् आससाद। सा पुरी स्त्री युवतिरायतमतिप्रमयतं कान्तपरिभोगं प्रियसंभोगमिव प्रीत्या रोधं प्रीतिरोधमसहिष्ट सोढवती। द्वेषरोधं तु न सहति इति भावः।

भावार्थ—वे राजा दशरथ इस प्रकार मिथिला में पहुंच गये। मिथिला के उपवनों के वृक्षों को रौंदती हुई उनकी सेना ने चारो ओर से घेर लिया किन्तु इस प्रेम के घेरे को उस नगरी ने उसी प्रकार सहन किया जिस प्रकार कोई स्त्री अपने प्रियतम के कठोर सम्भोगको प्रेम पूर्वक सहन करती है ॥५२॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—समये स्थितौ वरुणवासवोपमौ तौ उभौ भूपती समेत्य स्वप्रभावसदृशीं कन्यकातनयकौतुकक्रियां वितेनतुः ।

ताविति । समये शिष्टाचारे स्थितावाचारनिष्ठौ । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसम्विदः' इत्यमरः । वरुणवासवावुपमोपमानं ययोस्तौ तथोक्तौ तावुभौ भूपती जनकदशरथौ समेत्य स्वप्रभावसदृशीमात्ममहिमानुरूपां कन्यकानां सीतादीनां तनयानां रामादीनां च कौतुकक्रियां विवाहोत्सवं वितेनतुर्विस्तृतवन्तौ । तनोतेर्लिट् ।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण के समान प्रतापी मर्यादापालक उन दोनों राजाओं ने परस्पर मिल कर शास्त्र की विधि से अपने ऐश्वर्य के अनुकूल अपने पुत्र और पुत्रियों का विवाह-संस्कार सम्पन्न किया ॥ ५३ ॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

अन्वयः—रघूद्वहः पार्थिवीं उदवहत् अथ लक्ष्मणः तदनुजां ऊर्मिलां (उदवहत्) यौ वरौजसौ तयोः अवरजौ तौ कुशध्वजसुते (उदवहताम्) ।

पार्थिवीमिति । उद्वहतीत्युद्वहः । पचाद्यच् । रघूणामुद्वहो रघूद्वहो रामः पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवी । "तस्यापत्यम्" इत्यणि "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । तां सीतामुदवहत्परिणीतवान् । अथ लक्ष्मणस्तस्याः सीताया अनुजां जनकस्यौरसीमूर्मिलामुदवहत् । यौ वरौजसौ तयो रामलक्ष्मणयोरवरजावनुजातौ भरतशत्रुघ्नौ तौ सुमध्यमे कुशध्वजस्य जनकानुजस्य सुते कन्यके माण्डवीं श्रुतकीर्तिं चोदवहताम् । नात्र व्युत्क्रमविवाहदोषो भिन्नोदरत्वात् । तदुक्तम्—'पितृव्यपुत्रे सापत्ने परनारीसुतेषु च । विवाहधानयज्ञादौ परिवेत्ताद्यदूषणम्' इति ।

भावार्थ—रघुकुलतिलक श्रीराम का सीता के साथ और लक्ष्मण का सीता की छोटी बहन ऊर्मिला के साथ विवाह हुआ । उनके छोटे भाई भरत और शत्रुघ्न का विवाह क्रमशः जनकजी के छोटे भाई कुशध्वज की पुत्री माण्डवी और श्रुतकीर्ति के साथ हुआ ॥ ५४ ॥

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—ते चतुर्थसहिताः त्रयः सूनवः नववधूपरिग्रहाः सिद्धिमन्तः तस्य भूपतेः सामदानविधिभेदनिग्रहाः इव बभुः ।

त इति। ते चतुर्थसहितास्त्रयः चत्वार इत्यर्थः। वृत्तानुसारादेवमुक्तम्। सूनवो नववधूपरिग्रहाः सिद्धिमन्तः फलसिद्धियुक्तास्तस्य भूपतेर्दशरथस्य सामदान-विधिभेदनिग्रहाश्चत्वार उपाया इव बभुः। विधीयत इति विधिः दानमेव विधिः निग्रहो दण्डः सूनूनामुपायैर्वधूनां सिद्धिभिश्चौपम्यमित्यनुसन्धेयम्।

भावार्थ—वे चारो भाई उन नव-वधुओं को पाकर ऐसे सुशोभित हुए मानों उस राजा दशरथ के साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारों उपायों को चार सिद्धियां मिल गई हों॥ ५५॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसंनिभः॥ ५६॥

अन्वयः—ताः नराधिपसुताः नृपात्मजैः कृतार्थतां ते च ताभिः कृतार्थतां अगमन् सः वरवधूसमागमः प्रकृतिप्रत्यययोगसन्निभः अभवत्।

ता इति। ता नराधिपसुता जनककन्यका नृपात्मजैर्दशरथपुत्रैः कृतार्थतां कुलशीलवयोरूपादिसाफल्यमगमन्। ते राघवाद्याश्च ताभिः सीताद्याभिस्तथा। किंच स वराणां वधूनां च समागमः प्रत्ययानां प्रकृतीनां च योग इव सन्निभातीति सन्निभः अभवत् पचाद्यच्। प्रत्ययाः सनादयो येभ्यो विधीयन्ते ताः प्रकृतयः। यथा प्रकृतिप्रत्यययोः सहैकार्यसाधनत्वं तद्वदत्रापीति भावः।

भावार्थ—उन चारों राजकुमारों को पाकर वे चारों राजकुमारियां और उन चार राजकुमारियों को पाकर वे चारों राजकुमार कृतकृत्य हो गये। उन वर और वधुओं का वह मिलन ऐसा हुआ जैसे शब्दों के मूल रूप में प्रत्यय अलग-अलग रहने पर किसी वाच्यार्थ को कहने में असमर्थ होने के कारण निरर्थक से जान पड़ते हैं और वे ही दोनों मिल कर पाठक शब्द बन कर पढ़ाने वाला इस अर्थ के वाचक होकर सार्थक हो जाते हैं उसी प्रकार उन वधूवरों का मिलन भी सार्थक हो गया॥ ५६॥

एवमात्तरतिरात्मसंभवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत॥ ५७॥

अन्वयः—एवं आत्तरतिः सः दशरथः आत्मसंभवान् तत्र निवेश्य त्रिषु अध्वसु विसृष्ट मैथिलः (सन्) स्वां पुरीं न्यवर्तत।

एवमिति। एवमात्तरतिरनुरागवान्स दशरथस्तांश्चतुरोऽप्यात्मसम्भवान्पुत्रांस्तत्र मिथिलायां निवेश्य विवाह्य। 'निवेशः शिविरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः'

इति विश्वः। निष्प्रवसु प्रयाणेषु सत्सु विसृष्टमैथिलः सन् स्वां पुरीं न्यवर्तत। उद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्वं पुर्याः।

भावार्थ—इस प्रकार प्रेमपूर्वक राजा दशरथ मिथिला में चारो पुत्रों का विवाह कर मार्ग में तीन दिन पड़ाव पड़ने के बाद राजा जनक को लौटा दिया और स्वयं बड़े प्रसन्न मन से अपनी नगरी अयोध्या की ओर चले ॥५७॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ५८ ॥

अन्वय—जातु वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः प्रतीपगाः मरुतः उत्तटाः नदीरयाः स्थलीं इव तस्य वरूथिनीं भृशतया चिक्लिशुः।

तस्येति। जातु कदाचिद्वर्त्मसु ध्वजा एव तरवस्तान्प्रमथ्नन्ति ये ते ध्वजतरुप्रमाथिनः। प्रतीपगाः प्रतिकूलगामिनो मरुतः उत्तटा नदीरयाः स्थलीमकृत्रिमभूमिमिव। "जानपदकुण्ड०" इत्यादिना ङीप्। तस्य वरूथिनीं सेनां भृशतया भृशं चिक्लिशुः क्लिश्यन्ति स्म।

भावार्थ—जिस प्रकार तट के ऊपर बहने वाली नदी की धारा आस-पास की भूमि को आप्लावित कर देती है उसी प्रकार मार्ग में सेना के ध्वजारूपी वृक्ष को झकझोरने वाले वायु ने एक दिन दशरथ की सेना को व्याकुल कर दिया॥ ५८॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः॥ ५९ ॥

अन्वयः—तदनन्तरं बद्धभीमपरिवेषमण्डलः रविः वैनतेयशमितस्य भोगिनः भोगवेष्टितः च्युतः मणिः इव लक्ष्यते स्म।

लक्ष्यत इति। तदनन्तरं प्रतीपपवनानन्तरं बद्धं भीमं बिभेत्यस्मादिति भीमं भयङ्करं परिवेषस्य परिधेर्मण्डलं यस्य सः। 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। रविः वैनतेयशमितस्य गरुडहतस्य भोगिनः सर्पस्य भोगेन कायेन। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। वेष्टितश्च्युतः शिरोभ्रष्टो मणिरिव लक्ष्यते स्म।

भावार्थ—इसके बाद सूर्य के चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया, वह ऐसा मालूम पड़ने लगा कि जैसे गरुड़ के द्वारा मारा गया कोई सांप अपने मस्तक से गिरे हुए मणि के चारों ओर कुण्डली मार कर पड़ा हुआ हो॥५९॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः॥ ६० ॥

अन्वयः—श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः दिशाः रजस्वला अङ्गनाः इव भव अवलोकनक्षमा नो।

श्येनेति। श्येनपक्षा एव परिधूसरा अलका यासां तास्तथोक्ताः सांध्यमेघा एव रुधिरार्द्राणि वासांसि यासां तास्तथोक्ताः। रजो धूलिरासामस्तीति रजस्वलाः। "रजःकृष्यासुतिपरिपदो वलच्" इति वलच्प्रत्ययः। दिशः रजस्वला ऋतुमत्योऽङ्गना इव। 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम् इत्यमरः। अवलोकनक्षमा दर्शनार्हा नो बभूवुः। *एकत्र दृष्टिदोषात्परत्र शास्त्रदोषादिति विज्ञेयम्। अत्र रजोवृष्टिरुत्पात उक्तः।*

भावार्थ—बाज पक्षी पंख रूपी धूसरकेशवाली और सन्ध्याकालीन लाल मेघ रूप से भींगे हुये वस्त्रवाली दिशाएँ उस रजस्वला स्त्री के समान देखने में अशक्य हो गई जिसके शत्र बाज के पंख के समान धूसर और सायंकाल के मेघ के समान रक्त से भींगे हुए हों। धर्मशास्त्रों में रजस्वला स्त्री को देखने का निषेध किया गया है ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—भास्करः यां दिशं अध्युवास तां श्रिताः शिवाः क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं भार्गवः चोदयन्त्य इव प्रतिभयं ववासिरे।

भास्कर इति। भास्करो यां दिशमध्युवास च यस्यां दिश्युषितः। "उपान्वध्याङ्वसः" इति कर्मत्वम्। तां दिशं श्रिताः शिवा गोमायवः। 'स्त्रियां शिवा भूरिमायुगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः। क्षत्रशोणितेन या पितृक्रिया पितृतर्पणं तत्रोचितं परिचितं भार्गवं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं ववासिरे रुरुवुः 'वासृ शब्दे' इति धातोर्लिट्। 'तिरश्चां वासितं रुतम्' इत्यमरः।

भावार्थ—जिस दिशा में सूर्य वर्तमान थे उस दिशा में सियारिन भयानक रूप से रोने लगी मानों क्षत्रियों रुधिर से अपने पिता का तर्पण करने वाले परशुराम को पुकार रही हों ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित्।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वान्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तत्प्रतीपपवनादि कृतम् प्रेक्ष्य कृत्यवित् क्षितेः ईश्वरः शान्ति अधिकृत्य गुरुं अन्वयुंक्त सः स्वान्तं तद्व्यथां अलघयत्।

तदिति। तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं दुर्निमित्तं प्रेक्ष्य कृत्यवित्कार्यज्ञः क्षितेरीश्वरः शान्तिमनर्थनिवृत्तिमधिकृत्योद्दिश्य गुरुं वसिष्ठमन्वयुङ्क्ताऽपृच्छत्। 'प्रश्नो-

ऽनुयोग पृच्छा च' इत्यमरः। स गुरुः स्वान्तं शुभोदर्कं भावीति तस्य राज्ञो व्यथामलघयल्लघूकृतवान्।

भावार्थ—उस प्रतिकूल हवा आदि से अपशकुन होते देखकर काकुत्स्थ राजा दशरथजी ने उसकी शान्ति के लिए अपने गुरु वसिष्ठजी से पूछा, उसपर उन्होंने कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं, इसका फल अच्छा होगा, यह सुनकर दशरथजी का कष्ट कुछ हल्का हुआ ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सपदि उत्थितः तेजसः राशिः वाहिनीमुखे प्रादुरास किल यः सैनिकैः नयनानि प्रमृज्य चिरात् लक्षणीयपुरुषाकृतिः।

तेजस इति। सपद्युत्थितस्तेजसो राशिर्वाहिनीमुखे सेनाग्रे प्रादुरास किल खलु। यः सैनिकैर्नयनानि प्रमृज्य चिराल्लक्षणीया भावनीया पुरुषाकृतिर्यस्य स तथोक्तः। अभूदिति शेषः।

भावार्थ—तत्काल सेना के सामने एक ऐसा प्रकाशमान पुञ्ज दिखाई पड़ा जिससे सैनिकों की आंखे चौंधिया गईं, जब उन्होंने आँखें मलकर देखा तब वह प्रकाशपुञ्ज एक पुरुष के रूप में दिखाई दिया ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—उपवीतलक्षणं पित्र्यं अंशं धनुरूर्जितं मातृकं अंशं च दधत् यः ससोम घर्मदीधितिः इव सद्विजिह्वः चन्दनद्रुम इव स्थितः।

पित्र्यमिति। उपवीतं लक्षणं चिह्नं यस्य तम्। पितुरयं पित्र्यः। "वाय्वृतुपित्रुषसो यत्" 'पितुर्यच्च' इति यत्प्रत्ययः। तमंशं धनुषोर्जितं धनुरूर्जितं मातुरयं मातृकः। "ऋतष्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः। तमंशं च दधतो भार्गवः ससोमश्चन्द्रयुक्तो घर्मदीधितिः सूर्य इव सद्विजिह्वः ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थितः।

भावार्थ—उस तेजस्वी पुरुष के शरीर पर ब्राह्मण पिता के अंश का सूचक यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था और कन्धे पर क्षत्रिय माता का वंश सूचित करने वाला धनुष लटक रहा था। इस वेश में वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्य के साथ चन्द्रमा हो अथवा चन्दन के वृक्ष में सांप लिपटे हों ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

अन्वयः—रोषपरुषात्मनः स्थितिभिदः अपि पितुः शासने तस्थुषा वेपमान-जननी शिरश्छिदा येन प्राक् घृणा अजीयत ।

येनेति । रोषपरुषः रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य सः । 'आत्मा जीवो धृतिर्बुद्धिः' इत्यमरः । तस्य रोषपरुषात्मनः स्थितिभिदोऽपि मर्यादालङ्घिनोऽपि पितुः शासने तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणाऽजीयत ततोऽनन्तरं मह्यजीयत । मातृहन्तुः क्षत्रवधात्कुतो जुगुप्सेति भावः ।

भावार्थ—जिन्होंने क्रोध से कठोरहृदय एवं उचित अनुचित का विचार छोड़ देनेवाले अपने पिता जमदग्नि की आज्ञा मानकर कांपती हुई अपनी माता रेणुका का सिर जिस समय काट लिया उस समय उन्होंने पहले घृणा का त्याग किया था, बाद में पृथ्वी का त्याग किया ॥ ६५ ॥

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—यः दक्षिणश्रवणसंस्थितेन अक्षबीजवलयेन क्षत्रियान्तकरणैक-विंशतेः व्याजपूर्वं गणनाम् उद्वहन् इव निर्बभौ ।

अक्षेति । यो भार्गवो दक्षिणश्रवणे अपसव्यकर्णे संस्थितेन निक्षिप्तेनाक्ष-बीजवलयेनाक्षमालया क्षत्रियान्तरकरणानां क्षत्रियवधानामेकविंशतेरेकविंशति-संख्याया व्याजोऽक्षमालारूपः पूर्वो यस्यास्तां गणनामुद्वहन्निव निर्बभौ ।

भावार्थ—उनके दाहिने कान पर २१ दाने वाली रुद्राक्ष की माला लटक रही थी मानों वह २१ बार क्षत्रियों के नाश करने की गिनती करने लिए ही उन्होंने पहन रखी हो ॥ ६६ ॥

तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—पितुः वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितं तं भार्गवं स्वां दशां च अवलोक्य बालसूनुः पार्थिवः विषसाद ।

तमिति । पितुर्जमदग्नेर्वधभवेन क्षत्रियकर्तृकवधोद्भवेन मन्युना कोपेन राज-वंशानां क्षत्रियवंशानां निधनाय नाशार्थम् । 'निधनं स्यात्कुले नाशे' इति विश्वः । दीक्षितं प्रवृत्तमित्यर्थः । तं भार्गवं स्वां दशां चावलोक्य बालाः सूनवो तस्य स पार्थिवो विषसाद । स्वस्यातिदौर्बल्याच्छत्रोश्चातिक्रोधात्कान्दिशीकोभयद्रुतोऽ-भवदित्यर्थः ।

भावार्थ—जब दशरथ जी ने उन परशुराम जी को देखा जिन्होंने अपने पिता जमदग्नि के वध से उत्पन्न क्रोध से क्षत्रियों का नाश करने की प्रतिज्ञा

कर ली थी तब राजा दशरथ को अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई, क्योंकि उनके पुत्र अभी बच्चे थे ॥ ६७ ॥

नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—आत्मजे दारुणे अहिते च, तुल्य राम इति नाम हारसर्पयोः रत्नजातं इव अस्य हृद्यं भयदायि च अभवत् ।

नामेति । आत्मजे पुत्रे दारुणे घोरेऽहिते शत्रौ च तुल्यमविशेषेण वर्तमानं राम इति नाम हारसर्पयोर्वर्तमानं रत्नजातं रत्नजातिरिव । 'जातिर्जातं च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' इत्यमरः । अस्य दशरथस्य हृद्यं हृदयङ्गमं भयदायि भयङ्करं चाऽभवत् ।

भावार्थ—राजा दशरथ के पुत्र और परशुराम दोनो में रामनाम था इस लिए जिस प्रकार गले के हार एवं सर्प दोनो में वर्तमान मणि आनन्द भी देता है और भय भी उपस्थित करता है उसी प्रकार अपने पुत्र राम और शत्रु परशुराम दोनो मे आये रामनाम से उन्हें भय भी हुआ और आनन्द भी ॥६८॥

अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—स, अर्घ्यं अर्घ्यं इति वादिनं नृपं अनवेक्ष्य यतः भरताग्रजः ततः क्षत्रकोपदहनार्चिषं उदग्रतारकां दृशं सन्दधे ।

अर्घ्यमिति । स भार्गवः अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपमनवेक्ष्य यतो यत्र भरताग्रजस्ततस्तत्र । "इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते" इति सार्वविभक्तिकस्तसिः । क्षत्रे क्षत्रकुले विषये यः कोपदहनो रोषाग्निस्तस्यार्चिषं ज्वालामिव स्थिताम् । 'ज्वालाभासोर्न पुंस्यर्चिः' इत्यमरः । उदग्रा तारका कनीनिका यस्यास्ताम् । 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । दृशं संदधे ।

भावार्थ—परशुरामजी के भय के कारण शीघ्रता से अर्घ्य ग्रहण कीजिए अर्घ्य ग्रहण कीजिए इस प्रकार कहनेवाले राजा दशरथ की ओर ध्यान न देकर जिधर रामजी थे उधर ही दृष्टि देकर क्रोध मे चिनगारी के समान लाल हुई टेढ़ी आंखों से राम को देखने लगे ॥ ६९ ॥

तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥

अन्वयः—कार्मुकनिषक्तमुष्टिना शरं अंगुलीविवरचारिणं कुर्वता युयुत्सुना तेन विगतभीः पुरोगतः राघवः निजगदे ।

तेनेति। कार्मुकनिपक्तमुष्टिना शरमङ्गुलीविवरचारिणं कुर्वता युयुत्सुना योद्धुमिच्छता तेन भार्गवेण कर्त्रा विगतभीर्निर्भीकः सन् पुरोगतोऽग्रगतो राघवो निजगद उक्तः। कर्मणि लिट्।

भावार्थ—मुट्ठी में धनुष को पकड़कर अंगुलियों में बाण चढ़ाते हुए युद्धाभिलाषी परशुराम ने अपने आगे निर्भय होकर खड़े हुए राम से कहा ॥ ७० ॥

क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—क्षत्रजातम् अपकारवैरि तत् बहुशः निहत्य समं गतः सुप्तसर्पः दण्डघट्टनात् इव तव विक्रमश्रवात् रोषितः अस्ति।

क्षत्रेति। क्षत्रजातं क्षत्रजातिर्मेऽपकारेण पितृवधरूपेण वैरि द्वेषि। तत्क्षत्रजातं बहुश एकविंशतिवारान्निहत्य शमं गतोऽस्मि। तथापि सुप्तसर्पो दण्डघट्टनात् यष्टिप्रहरणादिव तव विक्रमस्य श्रवादाकर्णनाद्रोषितो रोषं प्रापितोऽस्मि।

भावार्थ—मेरे पिता के वध करने के कारण क्षत्रिय जाति मेरा शत्रु है। इसलिए २१ बार उसको मारकर मुझे कुछ शांति मिली थी, किन्तु जिस प्रकार डण्डे से छेड़ देने से सांप फुफकार उठता है उसी प्रकार तुम्हारा पराक्रम सुनकर मैं क्रोधित हो गया हूँ ॥ ७१ ॥

मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—पार्थिवैः अनमितपूर्वं मैथिलस्य धनुः त्वं अक्षणोः किल तत् भग्नं निशम्य भवता आत्मनः वीर्यं (भग्नं) समर्थये।

मैथिलस्येति। अन्यैः पार्थिवैः अनमितपूर्वं पूर्वमनमितं सुप्सुपेति समासः। अस्य मैथिलस्य धनुस्त्वमक्षणोः क्षतवान्। किलेति वार्तायाम्। 'वार्तासंभाव्ययोः किल' इत्यमरः। तद्धनुर्भग्नं निशम्याकर्ण्य भवतात्मनो मम वीर्यमेव शृङ्गं भग्नमिव समर्थये मन्ये।

भावार्थ—मिथिला नरेश जनक के जिस धनुष को कोई भी वीर नहीं नवा सका उसी को तूने तोड़ दिया है। यह सुनकर मैं समझता हूँ कि मेरे पराक्रम रूप सींग को तुमने तोड़ा है ॥ ७२ ॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात्।
व्रीडमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्वय —अन्यदा जगति राम इति अयं शब्दः उच्चरितः (सन्) माम् एव अगात् सम्प्रति त्वयि उदयोन्मुखे व्यस्तवृत्ति सः मे व्रीडं आवहति ।

अन्यदेति । अन्यदाऽन्यस्मिन्काले जगति राम इत्यय शब्द उच्चरितः सन्मामेवागात् अगमत् । संप्रति त्वय्युदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिविपरीतवृत्तिः अन्यगामीति यावत् । स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जा करोति ।

भावार्थ—पहले संसार में राम कहने से लोग मुझे ही समझते थे, परन्तु तुम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते चले जा रहे हो त्यों-त्यो वह अर्थ तुम्हारे नाम के साथ लगता जा रहा है । यह देखकर मुझे लज्जा लग रही है ॥ ७३ ॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अचले अपि अकुण्ठितं शस्त्रं बिभ्रतः मम द्वौ समागसौ रिपू मतौ धेनुवत्सहरणात् हैहयः च कीर्तिमपहर्तुं उद्यतः त्वं च ।

बिभ्रत इति । अचले क्रौञ्चादावप्यकुण्ठितमस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्यापराधौ रिपू मतौ । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । धेनोः पितृहोमधेनोर्वत्सस्य हरणाद्धेतोर्हैहयः कार्तवीर्यः कीर्तिमपहर्तुमुद्यत उद्युक्तस्त्वं च । वत्सहरणे भारतश्लोकः— 'प्रमत्तश्चाथ मातस्य होमधेन्वास्ततो बलात् । जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ इति' ॥

भावार्थ—क्रौंच पर्वत पर टकराकर भी कुण्ठित नहीं होनेवाले परशु को धारण करने वाले मेरे समान अपराध करनेवाले आज तक दो ही शत्रु हुए हैं उनमे पहला था सहस्रार्जुन जो मेरे पिता से कामधेनु गौ और बछड़ा छीनकर ले गया था और दूसरे हो तुम जो मेरी कीर्ति हरण करने के लिए कमर कसे बैठे हो ॥ ७४ ॥

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तेन क्षत्रियान्तकरणः अपि विक्रमः त्वयि अजिते माम् न अवति पावकस्य महिमा सः गण्यते यः कक्षवत् सागरे अपि ज्वलति ।

क्षत्रियेति । तेन कारणेन क्रियते येनासौ करणः क्षत्रियान्तस्य करणोऽपि विक्रमः त्वय्यजिते मां नावति न प्रीणाति । तथाहि पावकस्याग्नेर्महिमा स गण्यते यः कक्षवत्कक्ष इव । "तत्र तस्येव" इति सप्तम्यर्थे वतिः सागरेऽपि ज्वलति ।

भावार्थ—इसलिए २१ बार क्षत्रियों का अन्त करनेवाला भी मेरा पराक्रम

तब तक मुझे अच्छा नहीं लगता जब तक तुझे मैं जीत न लूँ। क्योंकि अग्नि का प्रताप तभी प्रशंसनीय है जब वह समुद्र में भी वैसे ही भड़ककर जले जैसे सूखी घास के ढेर में जलता है ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ऐश्वरं धनुं हरेः ओजसा आत्तबलं च विद्धि तत् त्वया अभाजि नदीरयैः खातमूलं तटद्रुमं मृदुः अपि अनिलः पातयति।

विद्धीति। किंच ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि। "भञ्जेश्च णिचि" इति विभाषया नलोपः। तथाहि नदीरयैः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति। ततः शिशुरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मा गर्वीरिति भावः।

भावार्थ—शिवजी के जिस धनुष को तोड़कर तुम ऐंठ रहे हो उसकी शक्ति तो विष्णु ने पहले ही हर ली है। इसलिए उसे तोड़कर तुमने कोई वीरता का काम नहीं किया है, क्योंकि जिस वृक्ष की जड़ को नदी की प्रचण्ड धारा ने पहले ही खोखली कर दी हो उसे वायु के झोंके से ढहजाने में क्या देर लगती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम्।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तत् मदीयं इदं आयुधं ज्यया संगमय्य सशरं विकृष्यतां प्रधनं तिष्ठतु एवमपि अहं तुल्यबाहुः तरसा त्वया जितः।

तदिति। तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य "ल्यपि लघुपूर्वात्" इति णेरयादेशः। सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम्। प्रधनं रणस्तिष्ठतु। प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः। 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः। एवमपि मद्धनुःकर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन। 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः। त्वया जितः।

भावार्थ—देखो राम! युद्ध तो पीछे होगा, पहले तुम मेरे इस धनुष पर डोरी चढ़ाकर इसे बाण के साथ खींचो तो सही, यदि तुम इतना भी कर लोगे तो मैं समझूंगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो और मैं इतने से ही अपनी हार मानकर लौट जाऊँगा ॥ ७७ ॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—यदि वा उद्गतार्चिषा मम परशुधारया तर्जितः कातरः असि वृथा ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिः अभययाचनाञ्जलिः बध्यताम् ।

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ।

भावार्थ—यदि तुम मेरे फरसे की चमकती हुई धार को देखकर डर गये हो तो अपने उन हाथों को जोडकर अभय की भिक्षा माँग लो जिनकी अङ्गुलियों में धनुष की डोरी की फटकार से व्यर्थ के घट्ठे पड गये हैं ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—भीमदर्शने भार्गवे एवं उक्तवति (सति) राघवः स्मितविकम्पिताधरः (सन्) तद्धनुर्ग्रहणं एवं समर्थं उत्तरं प्रत्यपद्यत ।

एवमिति । भीमदर्शने भार्गवे एवमुक्तवति सति राघवः स्मितेन हासेन विकम्पिताधरः सन् तद्धनुर्ग्रहणमेव समर्थमुचितमुत्तरं प्रत्यपद्यताङ्गीचकार ।

भावार्थ—भयंकर वेशधारी परशुरामजी ने जब ऐसा कहा तब रामने मुस्कराते हुए इस प्रकार वह धनुष हाथ में ले लिया मानो परशुरामजी के वचनों का वही ठीक उत्तर हो ॥ ७९ ॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥

अन्वयः—पूर्वजन्मधनुषा समागतः अतिमात्रलघुदर्शनः अभवत् नवाम्बुदः केवलोऽपि सुभगत्रिदशचापलाञ्छितः किं पुनः ।

पूर्वेति । पूर्वजन्मनि नारायणावतारे यद्धनुस्तेन समागतः संगतः स रामोऽतिमात्रमत्यन्तं लघुदर्शनः प्रियदर्शनोऽभवत् । तथाहि नवाम्बुदः केवलो रिक्तोऽपि सुभगः शोभावान् त्रिदशचापेनेन्द्रधनुषा लाञ्छितश्चिह्नितः किं पुनः । सुभग एवेति भावः ।

भावार्थ—ज्योंही उन्होंने अपने पिछले जन्मवाला वह धनुष हाथ में लिया त्योंही उनकी शोभा और भी बढ गई क्योंकि एक तो नया बादल योंही सुन्दर लगता है फिर उसमें यदि इन्द्रधनुष भी बन जाय तो उसकी शोभा का कहना ही क्या है ॥ ८० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाऽधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—बलिना तेन भूमिनिहितैककोटि तत् कार्मुकं च अधिरोपितम् भूभृतां रिपुः च धूमकेतन इव निष्प्रभः आस ।

तेनेति । बलिना तेन रामेण भूमिनिहितैका कोटिर्यस्य तत् कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकं धनुश्च । "कर्मण उकञ्" इत्युकञ्प्रत्ययः । अधिरोपितम् । भूभृतां रिपुर्भार्गवश्च धूमशेषो धूमकेतनोऽग्निरिव निष्प्रभो निस्तेजस्क आस बभूव । निर्वापितो वह्निरिव हततेजा अभूदित्यर्थः । आसेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं दीप्त्यर्थकस्यास्ते रूपं वा ।

भावार्थ—बलवान् राम ने उस धनुष की एक छोर पृथ्वी पर टेककर ज्योंही उस पर डोरी चढ़ाई त्योंही क्षत्रियों के शत्रु परशुरामजी उस अग्नि के समान निस्तेज हो गये जिसमें केवल धूंआ भर रह गया हो ।। ८१ ।।

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ।। ८२ ।।

अन्वयः—परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ तौ उभौ अपि दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकरौ जनता पश्यति स्म ।

ताविति । परस्परस्थितावन्योन्याभियुक्तौ वर्धमानं च परिहीनं चेति द्वन्द्वः । वर्धमानपरिहीने तेजसी ययोस्तावुभौ राघवभार्गवावपि दिनात्यये सायङ्काले । पर्वणि भवौ पार्वणौ शशिदिवाकराविव । जनता जनसमूहः । "ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्" इति तल्प्रत्ययः । पश्यति स्मापश्यत् । अत्र राघवस्य शशिना भार्गवस्य भानुनौपम्यं द्रष्टव्यम् ।

भावार्थ—आमने सामने खड़े हुए राम और परशुराम में से एक का तेज बढ़ गया और दूसरे का घट गया । जनता ने उन दोनों को इस प्रकार देखा मानों वे पूर्णिमा के दिन सन्ध्या के समय चन्द्रमा और सूर्य हों ।। ८२ ।।

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ।। ८३ ।।

अन्वयः—हरसूनुसंनिभः कृपामृदुः राघवः आत्मनि स्खलितवीर्यं तं भार्गवं स्वं संहितं अमोघं आशुगं च अवेक्ष्य व्याजहार ।

तमिति । हरसूनुसंनिभः स्कन्दसमः कृपामृदू राघवः आत्मनि विषये स्खलितवीर्यं कुण्ठितशक्ति तं भार्गवं स्वं स्वकीयं संहितममोघमाशुगं बाणं चावेक्ष्य व्याजहार बभाषे ।

भावार्थ—शंकरजी के पुत्र कार्तिकेय के समान बलवान् दयालु रामजी एक बार अपने विषय में हारे हुए निस्तेज परशुरामजी को फिर अपने धनुष पर चढ़े हुए अपने अमोघ बाण को देखकर बोले ॥ ८३ ॥

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥

अन्वय.—अभिभवति अपि त्वयि विप्र इति निर्दयं प्रहर्तुं अलं अस्मि (किंतु) अनेन पत्रिणा ते गतिं हन्मि उत मखार्जितं लोकं (हन्मि इति) शंस ।

नेति । अभिभवत्यपि त्वयि विप्र इति हेतोः निर्दयं प्रहर्तुमलं शक्तो नास्मि । किं त्वनेन पत्रिणा शरेण ते गतिं गमनं हन्मि । उत मखार्जितं लोकं स्वर्गं हन्मि शंस ब्रूहि ।

भावार्थ—यद्यपि आपने मेरा अपमान किया है किन्तु आप ब्राह्मण हैं— इसलिए मैं निर्दय होकर आपको नहीं मारूँगा । यह आप बताइए कि अब इस बाण से मैं आपकी गति रोक दूँ या आपका उन दिव्यलोकों में पहुँचाने की शक्ति को रोक दूँ जिसे आपने यज्ञ करके अर्जित किया है ॥ ८४ ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥

अन्वय—ऋषिः तं प्रत्युवाच तावतः त्वां पुरातनं पुरुषं (इति) न वेद्मि न (किन्तु) गां गतस्य तव वैष्णवं धाम दिदृक्षुणा मया कोपितः असि ।

प्रतीति । ऋषिर्भार्गवस्तं रामं प्रत्युवाच । किमिति तत्त्वतः स्वरूपतस्त्वां पुरातनं पुरुषं न वेद्मीति न किंतु वेद्म्येवेत्यर्थः । किंतु गां गतस्य भुवमवतीर्णस्य तव वैष्णवं धाम तेजो दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छुना मया कोपितो ह्यसि ।

भावार्थ—यह सुनकर परशुरामजी बोले—यह बात नहीं है कि मैं आपको देखते ही पहचान नहीं पाया हूँ कि आप साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किए हुए आपके वैष्णव तेज को देखने की इच्छा से आपको मैंने क्रोधयुक्त किया है ॥ ८५ ॥

भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥

अन्वय.—पितृद्विषः भस्मसात्कृतवतः ससागरां वसुधां पात्रसात् (कृतवतः) परमेष्ठिना त्वया आहृतः मे विपर्ययः अपि श्लाघ्य एव ।

भस्मसादिति । पितृद्विषः पितृवैरिणो भस्मसात्कृतवतः कोपेनभस्मीकुर्वतः ।

"विभाषा सातिकार्त्स्न्ये" इति सातिप्रत्ययः ससागरां वसुधां च पात्रसात्पात्राधीनं देयं कृतवतः "देये त्रा च" इति चकारात्साति:। कृतकृत्यस्य मे परमेष्ठिना परमे लोके तिष्ठतीति तेन परमपुरुषेण त्वयाऽऽहितः कृतो जयविपर्ययः पराजयोऽपि श्लाघ्य आशास्य एव।

भावार्थ—पिताके शत्रुओं का नाश करनेवाले और समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मण को दान दे देनेवाले, मेरे लिए आप परम पुरुष से हारना भी गौरव की बात है ॥ ८६ ॥

तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—तत् हे मतिमतां वर! पुण्यतीर्थगमनाय इप्सितां मे गतिं रक्ष, (किन्तु) खिलीकृता स्वर्गपद्धतिः अभोगलोलुपं मां न पीडयिष्यति।

तदिति। तत्तस्मात्कारणाद्धे मतिमतां वर! पुण्यतीर्थगमनायाप्तुमिष्टामीप्सितां मे गतिं रक्ष पालय। किन्तु खिलीकृता दुर्गमीकृताऽपि स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपं भोगनिःस्पृहं मां न पीडयिष्यति। अतस्तामेव जहीत्यर्थः।

भावार्थ—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! आप मेरी अभिलषित गति न रोकिये जिससे मैं पुण्य तीर्थों में जा सकूं, मुझे भोग की तो इच्छा है नहीं। इसलिए यदि मुझे स्वर्ग न भी मिले तो कुछ दुःख नहीं होगा। अतः आप स्वेच्छगति को बचाकर मेरे स्वर्गलोक को ही अपने अमोघ बाण से नष्ट कीजिए ॥ ८७ ॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम्।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—राघवः तथा इति प्रतिपद्यत प्राङ्मुखः सायकं विससर्ज च। स सुकृतोऽपि भार्गवस्य दुरत्ययः स्वर्गमार्गपरिघः अभवत्।

प्रत्यपद्येति। राघवस्तथेति प्रत्यपद्यताङ्गीकृतवान्। प्राङ्मुख इन्द्रदिङ्मुखः सायकं विससर्ज च। स सायकः सुकृतोऽपि साधुकारिणोऽपि। करोतेः क्विप्। भार्गवस्य दुरत्ययो दुःखेन अत्ययो नाशो यस्य स दुरत्ययो दुरतिक्रमः। स्वर्गमार्गस्य परिघः प्रतिबन्धोऽभवत्।

भावार्थ—रामने परशुरामजी का कहना मान लिया और पूर्वाभिमुख होकर बाण छोड़ दिया। यद्यपि परशुरामजी ने बहुत पुण्य किया था फिर भी वह बाण सदा के लिए उनके स्वर्ग का प्रतिरोधक बन गया ॥ ८८ ॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ ८९ ॥

अन्वयः—राघव अपि 'क्षम्यताम्' इति वदन् तपोनिधेः चरणौ समस्पृशत् तरस्विना तरसा निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिः एव कीर्तये (भवति) ।

राघव इति । राघवोऽपि क्षम्यतामिति वदंस्तपोनिधेर्भार्गवस्य चरणौ समस्पृशत्प्रणनाम । तथाहि तरस्विना बलवता तरसा बलेन निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये भवतीति शेषः ।

भावार्थ—तब राम ने महातपस्वी परशुरामजी से क्षमा माँगते हुए उनके दोनों चरणों का स्पर्श कर प्रणाम किया, क्योंकि जब कोई पराक्रमी वीर अपने पराक्रम से अपने शत्रु को जीत लेता है तब यदि वह नम्रता भी दिखाता है तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है ॥ ८९ ॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

अन्वयः—मातृकं राजसत्वं अवधूय पित्र्यं शमं यदा गमितः (अस्मि तदा) त्वया मम अनिन्दितफलः अयं निग्रहः अपि अनुग्रहीकृतः ।

राजसत्वमिति । मातुरागतं मातृकं राजसत्वं रजोगुणप्रधानत्वमवधूय तिरस्कृत्य । पितुरागतं पित्र्यं शमं यदा गमितोऽस्मि । तदा त्वया ममापेक्षितत्वादनिन्दितं गर्हितं फलं स्वर्गहानिलक्षणं यस्य सोऽयं निग्रहोऽपकारोऽप्यनुग्रहीकृतो ननूपकारीकृतः खलु ।

भावार्थ—परशुरामजी बोले—आपने मुझे अनिन्दित फल वाला यह दण्ड देकर मेरा बड़ा भारी उपकार किया है, इसमें मेरा बहुत बड़ा लाभ यह हुआ है कि अपने क्षत्रिय माता से पाये हुए मेरे रजोगुण को दूर करके मुझे ब्रह्मणोचित पिता का सतोगुण दे दिया है ॥ ९० ॥

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥ ९१ ॥

अन्वयः—'अहं साधयामि, देवकार्यं उपपादयिष्यतः ते अविघ्नम् अस्तु' लक्ष्मणाग्रजं रामं इति वचः ऊचिवान् ऋषिः तिरोदधे ।

साधयामिति । अहं साधयामि गच्छामि धातूनामनेकार्थत्वात् । इति देवकार्यमुपपादयिष्यतः सम्पादयिष्यतस्तेऽविघ्नमस्तु विघ्नाभावोऽस्तु । "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव०" इत्यादिनार्थाभावेऽव्ययीभावः । सह लक्ष्मणेन

सलक्ष्मणस्तम्। "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः। लक्ष्मणाग्रजं राममिति वच ऊचिवानुक्तवान्। ब्रुवः वच्सु:। ऋषिस्तिरोदधेऽन्तर्दधे।

भावार्थ—अब मैं जा रहा हूँ आप देवताओं का जो कार्य करने के लिए आए हैं वह बिना विघ्न के पूरा हो, इस प्रकार लक्ष्मण के सहित राम से कहकर परशुरामजी अन्तर्धान हो गये॥ ९१॥

तस्मिन्गते विजयिनं परिरभ्य रामं
स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम्।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः॥ ९२॥

अन्वयः—तस्मिन् गते विजयिनं रामं पिता स्नेहात् परिरभ्य पुनः जातम् एव अमन्यत। क्षणशुचः तस्य परितोषलाभः कक्षाग्निलंघिततरोः वृष्टिपातः इव अभवत्।

तस्मिन्निति। तस्मिन्भार्गवे गते सति विजयिनं रामं पिता स्नेहात्परिरभ्यालिङ्ग्य पुनर्जातमेवामन्यत। क्षणं शुग्यस्येति विग्रहः। क्षणशुचस्तस्य दशरथस्य परितोषलाभः सन्तोषप्राप्तिः कक्षाग्निना दावानलेन। 'कक्षः शुष्ककाननवीरुधोः' इति विश्वः। लङ्घितस्याभिहतस्य तरोर्वृष्टिपातः वर्षापात इव अभवत्।

भावार्थ—उस परशुरामजी के चले जाने पर, दशरथजी स्नेह से विजयी रामको आलिङ्गन कर यह समझने लगे कि राम का दूसरा जन्म हुआ है। इस क्षणमात्र के दुःख के बाद दशरथजी को ऐसा सन्तोष मिला जैसे जंगल की आग से झुलसते हुए पेड़ को वर्षा का जल मिल गया हो॥ ९२॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलिदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम्॥ ९३॥

अन्वयः—अथ शर्वकल्पः अवनिपालः क्लृप्तरम्योपकार्ये पथि कतिचित् शर्वरीः गमयित्वा मैथिलीदर्शिनीनां अङ्गनानां लोचनैः कुवलयितगवाक्षां पुरं अयोध्याम् अविशत्।

अथेति। अथ ईषदसमाप्तः शर्वः शर्वकल्पः। "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरो" इति कल्पप्प्रत्ययः। अवनिपालः क्लृप्ता रम्या नवा उपकार्या यस्मिन्स तस्मिन्पथि कतिचिच्छर्वरी रात्रीर्गमयित्वा मैथिलीदर्शनीनामङ्गनानां लोचनैः। कुवलयानि

येषां संजातानि कुवलयिताः। "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इतीतच्प्रत्ययः। कुवलयिता गवाक्षा यस्यास्तां पुरमयोध्यामविशत्प्रविष्टवान्।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया
व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
सीताविवाहवर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

भावार्थ—इसके बाद शिव के समान राजा दशरथ ने कुछ रातें उस मार्ग में बिताईं, जहाँ उनके लिए सुन्दर खेमे तने हुए थे। फिर वे उस अयोध्या नगरी मे पहुँचे, जहाँ सीताजी को देखने के लिए उत्सुक नगर की सुन्दर स्त्रियों की आँखें झरोखों मे कमल के समान दिखाई पड़ रही थी ॥ ९३ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित
अन्वय और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका मे
रघुवंश महाकाव्य का सीताविवाह नामक
दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

वन्दामहे महोद्दण्डदोर्दण्डौ रघुनन्दनौ।
तेजोनिर्जितमार्तण्डमण्डलौ लोकनन्दनौ ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥

अन्वयः—निर्विष्टविषयस्नेहः दशान्तम् उपेयिवान् स उषसि प्रदीपार्चिः इव आसन्ननिर्वाणः आसीत्।

निर्विष्टेति। स्नेहयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषमिति स्नेहाः। पचाद्यच्। स्निह्यन्ति पुरुषा येष्विति वा स्नेहाः। अधिकरणार्थे घञ्। विषयाः शब्दादयस्त एव स्नेहा निर्विष्टा भुक्ता विषयस्नेहा येन स तथोक्तः। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः। दशा जीवनावस्था तस्य अन्तः वार्धकमुपेयिवान्स दशरथः। उषसि प्रदीपार्चिरिव दीपज्वालेव आसन्न निर्वाणः मोक्षः यस्य स तथोक्त आसीत्। अर्चिः पक्षे तु विषयो देश आश्रयः भाजनमिति यावत्। 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति

विश्वः। स्नेहस्तैलादिः। 'स्नेहस्तैलादिकरसे द्रवे स्यात्सौहृदेऽपि च' इति विश्वः। दशा वर्तिका। 'दशा वर्त्ताववस्थायाम्' इति विश्वः। निर्वाणं विनाशः। निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः।

भावार्थ—राजा दशरथ ने सांसारिक विषय सुखों को भोग लिया और वे बूढ़े हो चले, अब उनकी दशा प्रातःकाल के उस दीपक के समान हो गई, जिसका तेल समाप्त हो गया है और वह बुतने वाला ही हो ॥ १ ॥

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥

अन्वयः—जरा कैकेयीशङ्कया पलितच्छद्मना कर्णमूलम् आगत्य रामे श्रीः न्यस्यताम् इति आह।

तमिति। जरा कैकेयीशङ्कयेव पलितस्य केशादिशौक्ल्यस्य छद्मना मिषेण। 'पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादौ विस्रसा जरा' इत्यमरः। कर्णमूल कर्णोपकण्ठमागत्य रामे श्री राज्यलक्ष्मीर्न्यस्यतां विधीयतामिति तमाह। दशरथो वृद्धोऽहमिति विचार्य रामस्य यौवराज्याभिषेकं चकाङ्क्षेत्यर्थः।

भावार्थ—उनकी कनपटी के पास के बाल सफेद हो गये थे मानो बुढ़ापा कैकेयी से शङ्कित होकर राजा दशरथ के कान में आकर यह कह रहा थी कि अब राम को राज्यलक्ष्मी दे देना चाहिए ॥ २ ॥

सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः।
प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥

अन्वयः—सा पौरकान्तस्य रामस्य अभ्युदयश्रुतिः कुल्या उद्यानपादपान् इव पौरान् प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे।

सेति। सा पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिरभिषेकवार्ता कुल्या कृत्रिमा सरित्। 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः। उद्यानपादपानिव पौरान्प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे।

भावार्थ—जिस प्रकार नाली पानी से सींचकर उपवन के वृक्षों को हरा भरा बना देती है उसी प्रकार नागरिकों के प्रिय राम के राज्याभिषेक की चर्चा ने प्रत्येक नागरिक को आह्लादित कर दिया ॥ ३ ॥

तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य कल्पितं अभिषेकसम्भारं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः दूषयामास।

तस्येति। क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य रामस्य कल्पितं सम्भृतमभिषेकस्य सम्भारमुपकरणं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिर्दूषयामास। स्वदुःखमूलेन राजशोकेन प्रतिबबन्धेत्यर्थः।

भावार्थ—निष्ठुर कैकेयी ने ऐसा कुचक्र चलाया कि रामको राज्याभिषेक की सारी तैयारी शोक से सन्तप्त राजा दशरथ की आंसुओं से दूषित हो गयी। अर्थात् क्रूरकर्मा कैकेयी के कारण रोते हुए दशरथ ने राम के राज्याभिषेक को रोक दिया ॥ ४ ॥

सा किलाऽऽश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥

अन्वय—चण्डी सा किल भर्त्रा आश्वासिता (सती) तत्संश्रुतौ वरौ इन्द्रसिक्ता भूः बिलमग्नौ उरगौ इव उद्ववाम।

सेति। चण्ड्यतिकोपना। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। सा किल भर्त्राऽऽश्वासिताऽनुनीता सती तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ इन्द्रेण मेघेन सिक्ताभिवृष्टा। 'इन्द्रः फणिज्जके सान्द्रे घनकामनयोर्मदौ' इति विश्वः। भूर्बिले वल्मीकादौ मग्नावुरगाविव उद्ववामोज्जगार।

भावार्थ—अत्यन्त क्रोधशीला उस कैकेयी ने राजा दशरथ द्वारा आश्वासन दिए जाने पर दो वर मांगे जिनके लिए वे पहले ही वचन दे चुके थे, ये दोनों वर कैकेयी के मुख से इस प्रकार निकले जिस प्रकार वर्षा से भीगी हुई पृथ्वी से बिल में घुसे दो सांप निकलते हों ॥ ५ ॥

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥

अन्वय:—सा तयो. एकेन रामं चतुर्दशसमाः प्राव्राजयत्। द्वितीयेन वरेण सुतस्य वैधव्यैकफलां श्रियम् ऐच्छत्।

तयोरिति। सा तयोर्वरयोर्मध्य एकेन वरेण रामं चतुर्दशसमाः संवत्सरान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। प्राव्राजयत्प्रावासयत्। द्वितीयेन वरेण सुतस्य भरतस्य वैधव्यैकफलां स्ववैधव्यमात्रफलां न तूपभोगफलामिति भावः। श्रियमैच्छदियेष।

भावार्थ—उन दोनों वरों में से कैकेयी ने एक वर तो यह मांगा कि चौदह वर्ष के लिए राम वन में चले जाय और दूसरा यह कि मेरे पुत्र भरत को राज्यलक्ष्मी मिले; किन्तु इसका एक मात्र फल यह हुआ कि कैकेयी विधवा हो गई किन्तु सुख नहीं पा सकी ॥ ६ ॥

पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदीतोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—रामः प्राक् पित्रा दत्तां महीं रुदन् प्रत्यपद्यत पश्चात्, 'वनाय गच्छ' इति तदाज्ञां मुदितः अग्रहीत्।

पित्रेति। रामः प्राक्पित्रा दत्तां महीं रुदन्प्रत्यपद्यताङ्गीचकार। स्वत्यागदुःखादिति भावः। पश्चाद्वनाय गच्छेत्येवंरूपां तदाज्ञां पित्राज्ञां मुदितोऽग्रहीत्। पित्राज्ञाकरणलाभादिति भावः।

भावार्थ—जिस समय राजा दशरथ रामको राज्यगद्दी दे रहे थे उस समय उन्होंने रोते हुए उसे स्वीकार किया था, पर जब उनसे कहा गया कि वन चले जाओ, तब इस आज्ञा को हँसते-हँसते सिर चढ़ा लिया था॥ ७ ॥

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥ ८ ॥

अन्वयः—मंगलक्षौमे दधतः वल्कले वसानस्य च तस्य समं मुखरागं जनाः विस्मिता ददृशुः।

दधत इति। मङ्गलक्षौमे मङ्गले च ते क्षौमे दुकूले च दधतो वल्कले वसानास्याच्छादयतश्च तस्य रामस्य सममेकविधं मुखरागं मुखवर्णं जना विस्मिता ददृशुः। सुखदुःखयोरविकृत इति भावः।

भावार्थ—यह देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि राम के मुँह का भाव जैसा राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय था, ठीक वैसा ही वन जाने के लिए वल्कल वस्त्र पहनते समय भी था अर्थात् राम के मुख पर हर्ष या शोक का चिह्न न देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये॥ ८ ॥

स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन्।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः॥ ९ ॥

अन्वयः—सः गुरुं सत्यात् अलोपयन् सीतालक्ष्मणसखः दण्डकारण्यं विवेश सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश।

स इति। स रामो गुरुं पितरं सत्याद्वरदानरूपादलोपयन्नभ्रंशयन् सीतालक्ष्मणयो सखेति विग्रहः। ताभ्यां सहितः सन्दण्डकारण्यं दण्डकानामभार्गवकन्यया युतं वनं विवेश सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश। पितृभक्त्या सर्वे सन्तः संतुष्टा इति भावः।

भावार्थ—अपने पिता के वचन का सत्य करने के लिए राम सीता एवं

लक्ष्मण के साथ केवल दण्डक मे ही नही, किन्तु सज्जनों के मन में भी प्रवेश कर गये ॥ ९ ॥

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥

अन्वय:—तद्वियोगार्त. राजापि स्वकर्मज शापं स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभं अमन्यत ।

राजेति । तद्वियोगार्तः पुत्रवियोगदु खित. तस्य रामस्य वियोगेन आर्त: पीडित: राजाऽपि स्वकर्मणा मुनिपुत्रवधरूपेण जात. स्वकर्मजस्तं शापं पुत्रशोकजं मरणात्मक स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण देहत्यागेनैव शुद्धिलाभं प्रायश्चित्तममन्यत मृत इत्यर्थः ।

भावार्थ—राम के वियोग से राजा दशरथ को बहुत बड़ा दु ख हुआ, उन्हें अपने कर्म से प्राप्त मुनि (श्रवणकुमार के पिता) का शाप स्मरण हो आया और उन्होंने समझ लिया कि अब एकमात्र शरीर त्याग से ही मेरी शुद्धि हो सकती है ॥ १० ॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥

अन्वय.—विप्रोषितकुमारं अस्तमितेश्वरं तत् राज्यं रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषा आमिषता ययौ ।

विप्रोषितेति । विप्रोषिता गताः कुमारा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । अस्तमितो मृत ईश्वरो राजा यस्य तत्तथोक्तं तद्राज्यं रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषां शत्रूणामामिषतां भोग्यवस्तुता ययौ । 'आमिषं भोग्यवस्तुनि' इति केशवः ।

भावार्थ—जिस राज्य से राजकुमार बाहर चले गये हैं और राजा का स्वर्गवास हो गया है ऐसा वह राज्य छिद्रान्वेषी शत्रुओ का भोग साधन बन गया । अर्थात् अवसर पाकर शत्रुओ के आक्रमण का विषय बन गया ॥ ११ ॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥

अन्वय:—अथानाथा: प्रकृतयः मातृबन्धुनिवासिनम् भरतं स्तम्भिताश्रुभिः मौलैः आनयामासुः ।

अथेति । अथानाथाः प्रकृतयोऽमात्याः । 'प्रकृतिः सहजे योनावमात्ये परमात्मनि' इति विश्व. । मातृबन्धुषु निवासिन भरतं स्तम्भिताश्रुभिः । पितृमरणगुप्त्यर्थमिति भावः । मौलैराप्तैः सचिवैरानाययानामासुरागमयाञ्चक्रुः ।

भावार्थ—इसके बाद अयोध्या को अनाथ मन्त्रियों ने ननिहाल गये हुए भरत को उन विश्वासपात्र व्यक्तियों से बुलवाया जिन्होंने भेद खुल जाने के भय से अपनी आसुओं को रोक रखा था ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ।
मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ १३ ॥

अन्वयः—कैकेयीतनयः पितुः तथाविधं मृत्युं श्रुत्वा स्वस्याः मातुः एव पराङ्मुखः न (किन्तु) श्रियः अपि पराङ्मुखः आसीत् ।

श्रुत्वेति । कैकेयीतनयो भरतः पितुस्तथाविधं रामवियोगादित्यर्थः । स्वमातृमूलं मृत्युं मरणं श्रुत्वा स्वस्याः मातुः केवलं मातुरेव पराङ्मुखो न । किन्तु श्रियोऽपि पराङ्मुख आसीत् ।

भावार्थ—कैकेयी के पुत्र भरत पिता की उस प्रकार हुई मृत्यु को सुनकर केवल अपनी माता कैकेयी से ही विमुख नहीं हुए किन्तु राजलक्ष्मी से भी पराङ्मुख हो गये ॥ १३ ॥

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः ।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४ ॥

अन्वयः—ससैन्यः आश्रमालयैः दर्शितान् ससौमित्रेः तस्य वसतिद्रुमान् पश्यन् उदश्रुः (सन्) रामं अन्वगात् ।

ससैन्य इति । ससैन्यो भरतो राममन्वगाच्च । किं कुर्वन् आश्रमालयैर्वनवासिभिर्मुनिभिर्दर्शितानेते रामनिवासा इति कथितान्ससौमित्रेर्लक्ष्मणसहितस्य तस्य रामस्य वसतिद्रुमान्निवासवृक्षान्पश्यन्नुदश्रुरुद्गतबाष्पो रुदन् ।

भावार्थ—भरतजी सेना लेकर रामको ढूंढ़ने निकल पड़े । जब मार्ग में आश्रमवासियों ने उन्हें वे वृक्ष दिखलाये जिनके नीचे राम और लक्ष्मण जाते समय ठहरे थे, तो भरत की आंखों में आंसू उछल आये ॥ १४ ॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥ १५ ॥

अन्वयः—चित्रकूटवनस्थं तं च गुरोः कथितस्वर्गतिः अनुच्छिष्टसम्पदा लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे ।

चित्रेति । चित्रकूटवनस्थं तं रामं च गुरोः पितुः कथितस्वर्गतिः कथितपितृमरणः सन्नित्यर्थः । अनुच्छिष्टाननुभूतशिष्टा सम्पत् गुणोत्कर्षो यस्य सा । 'सम्प-

कृतौ गुणोत्कर्षे' इति केशवः। तया लक्ष्म्या करणेन निमन्त्रयाञ्चक्रे आहूतवान्। राज्यमनुभवेत्याजुहावेत्यर्थः।

भावार्थ—चित्रकूटके वन में निवास करते हुए राम के पास जाकर भरत ने उन्हें दशरथ जी की मृत्यु का समाचार सुनाया और कहा कि अयोध्या का राज्य लक्ष्मी को मैंने छुआ भी नहीं है उसे मैं स्वीकार नहीं करूंगा। आप चलकर उसे संभालिये ॥ १५ ॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥ १६ ॥

अन्वयः—स हि प्रथमजे अकृतश्रीपरिग्रहे (सति) भुवः स्वीकरणात् आत्मानं परिवेत्तारं मेने।

स हीति। स हि भरतः प्रथमजेऽग्रजे तस्मिन्रामेऽकृतश्रीपरिग्रहे सति स्वयं भुवः स्वीकरणादात्मानं परिवेत्तारं मेने। 'परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्' इत्यमरः। भूपरिग्रहोऽपि दारपरिग्रहसम इति भावः।

भावार्थ—धर्मशास्त्रों में बड़े भाई के अविवाहित रहते विवाह करनेवाले छोटे भाई को परिवेत्ता कहा गया है और इस प्रकार का विवाह निन्दित माना गया है। शास्त्रों में स्त्री परिग्रह के समान ही राजलक्ष्मी का परिग्रह भी माना गया है। भरतजी ने अपने बड़े भाई राम की राज्यलक्ष्मी स्वीकार न करने पर पहले स्वयं राज्यलक्ष्मी को स्वीकार करने वाले अपने को परिवेत्ता संज्ञक दोषी माना ॥ १६ ॥

तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः।
ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वर्गिणः पितुः निदेशात् अपाक्रष्टुं अशक्यं तं पश्चात् राज्याधिदेवते कर्तुं पादुके ययाचे।

तमिति। स्वर्गिणः स्वर्गतस्य पितुर्निदेशाच्छासनादपाक्रष्टुं निवर्तयितुमशक्यं तं रामं पश्चाद्राज्याधिदेवते स्वामिन्यौ कर्तुं पादुके ययाचे।

भावार्थ—रामजी अपने स्वर्गीय पिता की आज्ञा से टस से मस नहीं हुए। तब भरतजी ने उनसे प्रार्थना की कि आप अपनी चरण पादुका मुझे दे दीजिए जिन्हें मैं आपके स्थान पर रखकर राज्य का काम चलाऊं ॥ १७ ॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैव विशत्पुरीम्।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः भ्रात्रा तथा इति उक्त्वा विसृष्टः पुरीं न अविशत् (किन्तु) नन्दिग्रामगतः तस्य राज्यं न्यासं इव अभुनक् ।

स इति। स भरतो भ्रात्रा रामेण तथेत्युक्त्वा विसृष्टः सन्पुरीमयोध्यां नाविशदेव। किन्तु नन्दिग्रामगतः संस्तस्य राज्यं न्यासमिव निक्षेपमिवाभुनगपालयत्। न तूपभुक्तवानित्यर्थः। अन्यथा "भुजोऽनवने" इत्यात्मनेपदप्रसङ्गात्। भुजेर्लङ्।

भावार्थ—'अच्छा, ऐसा ही होगा' इस प्रकार कहकर अपनी खड़ाऊँ देकर रामने भरत को लौटा दिया, पर भरतजी अयोध्यापुरी में प्रवेश नहीं किये किन्तु नन्दीग्राम में रहते हुए धरोहर के समान राम के राज्य का पालन किये॥ १८॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत्॥ १९॥

अन्वयः—ज्येष्ठे दृढभक्तिः राज्यतृष्णापराङ्मुखः भरत इति मातुः पापस्य प्रायश्चित्तम् इव अकरोत् ।

दृढेति। ज्येष्ठे दृढभक्तिः राज्यतृष्णापराङ्मुखो भरत इति पूर्वोक्तानुष्ठानेन मातुः पापस्य प्रायश्चित्तं तदपनोदकं कर्माकरोदिव इत्युत्प्रेक्षा। दृढभक्तिरित्यत्र दृढशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवत्०' इत्यादिना पुंवद्भावो दुर्घटः 'अप्रियादिषु' इति निषेधात् भक्तिशब्दस्यस्य प्रियादिषु पाठात्। अतो दृढा भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति गणव्याख्याने दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य नपुंसकस्य विवक्षितत्वात्सिद्धमिति समाधेयम्। वृत्तिकारस्त्र—दीर्घनिवृत्तिमात्रपरो दृढभक्तिशब्दो लिङ्गविशेषस्यानुपकारत्वात्स्त्रीत्वमविवक्षितमेव। तस्मादस्त्रीलिङ्गत्वाद्दृढभक्तिशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्रायः। न्यासकारोऽप्येवम्। भोजराजस्तु—कर्मसाधनत्वात्पुंवद्भावप्रतिषेधः। दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात्पुवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्येत्याह।

भावार्थ—इस प्रकार अपने बड़े भाई राम में दृढ भक्ति करके और राज्य की इच्छा से विमुख होकर भरतजी मानो अपनी माता के पाप का प्रायश्चित्त करने लगे॥ १९॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा॥ २०॥

अन्वयः—सानुजः शान्तः रामः अपि वैदेह्या सह वने वन्येन वर्तयन् वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा एव चचार ।

राम इति। सानुजः सलक्ष्मणः शान्तो रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन

कन्दमूलादिना वर्तञ्जीवन्वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं वनवासात्मकं युवा यौवनस्थ एव चचार ।

भावार्थ—इधर राम भी सीता और लक्ष्मण के साथ जंगली कन्द-मूल-फल से जीवन निर्वाह करते हुए युवावस्था में ही वह व्रत करने लगे जो इक्ष्वाकु-वंशी राजा लोग वृद्धावस्था में करते हैं ॥ २० ॥

प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किञ्चिदिव श्रमात् ॥ २१ ॥

अन्वय—सः कदाचित् प्रभावस्तम्भितच्छाय वनस्पतिं आश्रितः (सन्) किञ्चित् श्रमात् इव सीतायाः अङ्के शिश्ये ।

प्रभावेति । स रामः कदाचित्प्रभावेण स्वमहिम्ना स्तम्भिता स्थिरीकृता छाया तं वनस्पतिमाश्रितः सन् किञ्चिदीषच्छ्रमादिव सीताया अङ्के उत्सङ्गे शिश्ये सुष्वाप ।

भावार्थ—एक समय थकावट से राम सीता की गोद में सिर रखकर एक ऐसे वृक्ष के नीचे लेटे हुए थे जिसकी छाया उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से स्थिर कर दी थी ॥ २१ ॥

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥ २२ ॥

अन्वयः—ऐन्द्रिः द्विजः तस्याः स्तनौ प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यं आचरन् इव नखैः विददार ।

ऐन्द्रिरिति । ऐन्द्रिरिन्द्रस्य पुत्रो द्विजः पक्षी काकः । 'ऐन्द्रिः काकजयन्तयोः' तस्याः सीतायाः स्तनौ प्रियस्य रामस्योपभोगचिह्नेषु । तत्कृतनखक्षतेष्वित्यर्थः । पुरोभागिनो दोषैकदर्शिनः कर्म पौरोभाग्यम् 'दोषैकदृक्पुरोभागी' इत्यमरः । दुःश्लिष्टदोषपाठमाचरन्कुर्वन्निव नखैर्विददार विलिलेख । किलेत्यैतिह्ये ।

भावार्थ—इसी बीच इन्द्र का पुत्र जयन्त कौआ का रूप धारण करके आया और राम के उपभोग से जन्य नखक्षतों में दोष दिखलाते हुए के समान सीता के स्तनों को अपने नखों से विदीर्ण कर दिया ॥ २२ ॥

तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥ २३ ॥

अन्वयः—रामावबोधितः रामः तस्मिन् इषीकास्त्रं आस्थत्, स एकनेत्रव्ययेन तस्मात् आत्मानं मुमुचे ।

तस्मिन्निति । रामया सीतयाऽवबोधितो रामस्तस्मिन् काके इषीकास्त्रं काशास्त्रम् । 'इषीका काशमुच्यते' इति हलायुधः । आस्थदस्यति स्म । 'असु क्षपणे'

इति धातोर्लुङ् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इत्यप्रत्ययः । "अस्यतेस्थुक्" इति थुगागमः । स काक एकनेत्रस्य व्ययेन दानेन तस्मादस्त्रादात्मानं मुमुचे मुक्तवान् । मुचे कर्तरि लिट् । 'धेनुं मुमोच' इतिवत्प्रयोगः ।

भावार्थ—झट सीता ने रामको जगाया और राम ने तत्काल उसपर सींक का वाण छोड़ दिया, जिससे बचने के लिए वह कौआ इधर-उधर बहुत चक्कर लगाया, किन्तु जब तक उसने अपनी एक आँख नहीं दे दी, तब तक उसका छुटकारा नहीं हुआ अर्थात् राम ने बाण से उसकी एक आँख नष्ट कर दी ॥२३॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

अन्वयः——रामः तु आसन्नदेशत्वात् पुनः भरतागमनं आशङ्क्य उत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ।

राम इति। रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गा-मुत्कण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ।

भावार्थ—कुछ दिनों में ही राम ने इस डर से चित्रकूट का वह आश्रम जहाँ के लोग उनसे इतने हिल मिल गये थे कि सदा उन्हें देखते ही रहते थे छोड़ दिया, कि अयोध्या पास में ही है, ऐसा न हो कि भरत पुनः यहाँ पहुँच जाय ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन्नृषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥

अन्वयः—आतिथेयेषु ऋषिकुलेषु वार्षिकेषु ऋक्षेषु भास्करः इव दक्षिणां दिशं प्रययौ ।

प्रययाविति । स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । "पथ्यतिथिवसति-स्वपतेर्ढञ्" इति ढञ्प्रत्ययः। तेष्वृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु । 'कुलं कुल्ये गणे देहे गेहे जनपदेऽन्वये' इति हैमः । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । "वर्षाभ्यष्ठक्" इति ठक्प्रत्ययः । तेष्वृक्षेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन्दक्षिणां दिशं प्रययौ ।

भावार्थ—जिस प्रकार वर्षाकाल के आर्द्रा आदि दश नक्षत्रों में ठहरते हुए सूर्य दक्षिणायन हो जाते हैं उसी प्रकार अतिथि सत्कार करनेवाले ऋषियों के आश्रमों में ठहरते हुए राम दक्षिण दिशा की ओर बढ़ गये ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धाऽपि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

अन्वय.—तं अनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता कैकेय्या प्रतिषिद्धा अपि गुणोन्मुखी लक्ष्मी इव बभौ।

तमिति। तं राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपते सुता सीता कैकेय्या *प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोन्मुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ।*

भावार्थ—यद्यपि कैकेयी ने रामको राज्यलक्ष्मी से दूर कर दिया था फिर भी उनके पीछे-पीछे चलनेवाली जनकनन्दिनी सीता ऐसी जान पड़ती थी मानों राम के गुणों से उत्कण्ठित होकर राम के पीछे-पीछे राजलक्ष्मी चल रही है॥ २६॥

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम्।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम्॥ २७॥

अन्वयः—सा अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन अङ्गरागेण काननं पुष्पोच्चलित षट्पदं चकार।

अनुसूयेति। सा सीतानुसूययाऽत्रिभार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण काननं वनं पुष्पेभ्यः उच्चलिता निर्गताः षट्पदाः भ्रमरा यस्मिंस्तत्तथाभूतं चकार।

भावार्थ—जब राम अत्रि ऋषि के आश्रम पर पहुँचे तब उनकी धर्मपत्नी सती अनुसूयाजी ने सीता के शरीर में ऐसा सुगन्धित अंगराग लगा दिया कि उसकी पवित्र गन्ध पाकर भौंरे जंगली पुष्पों को छोड़कर उधर ही आने लगे॥ २७॥

सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः॥ २८॥

अन्वयः—सन्ध्याभ्रकपिशः विराधः नाम राक्षसः ग्रहः इन्दोः इव तस्य मार्गम् आवृत्य अतिष्ठत्।

सन्ध्येति। सन्ध्याभ्रकपिशो सन्ध्याभ्रवत्कपिशः पिङ्गो विराधो नाम राक्षसः ग्रहो राहुरिन्दोरिव तस्य रामस्य मार्गमध्वानमावृत्यावरुध्यातिष्ठत्।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा का मार्ग राहु रोक लेता है उसी प्रकार सन्ध्याकाल के बादल के समान लाल वर्णवाला विराध नाम का राक्षस राम के मार्ग को रोक कर खड़ा हो गया॥ २८॥

स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे॥ २९॥

अन्वयः—लोकशोषणः सः तयोः मैथिलीं नभो नभस्ययोः अन्तरे वृष्टिः इव जहार।

स इति। लोकस्य शोषणः शोषकः जनसन्तापकारीत्यर्थः। स राक्षसस्तयो राम-

लक्ष्मणयोर्मध्ये मैथिलीं नभोनभस्ययोः श्रावणभाद्रपदयोरन्तरे मध्ये वृष्टिमवग्रहो वर्षप्रतिबन्ध इव जहार। 'वृष्टिवर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई खोटा ग्रह श्रावण तथा भादों मास के बीच से वर्षा को गायब कर देता है उसी प्रकार संसार को सन्तप्त करनेवाले उस विराध राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच से सीता को हर लिया ॥ २९ ॥

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम्।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥ ३० ॥

अन्वयः—काकुत्स्थौ तं निष्पिष्य अशुचिना गन्धेन स्थलीं पुरा दूषयति इति वसुधायां निचख्नतुः।

तमिति। ककुत्स्थस्य गोत्रापत्ये पुमांसौ काकुत्स्थौ रामलक्ष्मणौ तं विराधं विनिष्पिष्य हत्वा अशुचिनाऽपवित्रेण गन्धेन स्थलीमाश्रमभुवं पुरा दूषयति दूषयिष्यतीति हेतोः। "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् वसुधायां निचख्नतुर्भूमौ खनित्वा निक्षिप्तवन्तौ च।

भावार्थ—राम और लक्ष्मण उसे तत्काल मारकर पृथ्वी में इसलिए गाड़ दिये कि कहीं इसके शरीर से दुर्गन्ध निकल कर इस प्रदेश को दूषित न कर दे ॥ ३० ॥

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥ ३१ ॥

अन्वयः—ततः रामः कुम्भजन्मनः शासनात् पञ्चवट्यां विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ इव अनपोढस्थितिः तस्थौ।

पञ्चवट्यामिति। ततो रामः कुम्भजन्मनोऽगस्त्यस्य शासनात् पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी। "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति तत्पुरुषः। "संख्यापूर्वो द्विगुः" इति द्विगुसंज्ञायाम्। "द्विगोः" इति ङीप्। "द्विगुरेकवचनम्" इत्येकवचनम्। तस्यां पञ्चवट्यां विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ वृद्धेः पूर्वावस्थायामिव अनपोढस्थितिरनतिक्रान्तमर्यादस्तस्थौ।

भावार्थ—इसके बाद जिस प्रकार विन्ध्यपर्वत अगस्त्यजी की आज्ञा से अपनी प्रकृति में ही स्थित रहता है उसी प्रकार राम भी अगस्त्यजी के कहने से मर्यादा पूर्वक पञ्चवटी में रहने लगा ॥ ३१ ॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तत्र मदनातुरा रावणावरजा राघवं निदाघार्ता व्याली मलय-द्रुमम् इव अभिपेदे।

रावणावरजेति। तत्र पञ्चवट्यां मदनातुरा रावणावरजा रावणानुजा शूर्पणखा। "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम्। राघवं निदाघार्ता व्याकुला व्याली भुजङ्गी मलयद्रुमं चन्दनद्रुममिव अभिपेदे प्राप।

भावार्थ—वहाँ जिस प्रकार धूप से व्याकुल होकर कोई सर्पिणी चन्दन के वृक्ष के पास पहुँच गई हो, उसी प्रकार काम से पीड़ित होकर रावण की छोटी बहन शूर्पणखा राम के पास जा पहुँची ॥ ३२ ॥

सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सा सीता सन्निधौ एव कथितान्वया (सती) तं वव्रे। हि अत्यारूढः नारीणां मनोभवः अकालज्ञः (भवति)।

सेति। सा शूर्पणखा सीतासन्निधावेव कथितान्वया कथितस्ववंशा सती तं रामं वव्रे वृतवती। तथाहि अत्यारूढोऽतिप्रवृद्धो नारीणां मनोभवः कामः कालज्ञोऽवसरज्ञो न भवतीत्यकालज्ञो अनवसरज्ञो हि।

भावार्थ—पहले तो उस शूर्पणखा ने अपने कुल का परिचय दिया। बाद सीता के सामने ही कहने लगी कि मैं आपको अपना पति बनाने आई हूँ। ठीक ही है जब स्त्रियाँ अधिक कामातुर हो जाती हैं तब उन्हें समय और असमय का ज्ञान नहीं रहता ॥ ३३ ॥

कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—वृषस्कन्धः रामः वृषस्यन्तीं तां 'हे बाले! अहं कलत्रवान्, मे कनीयांसं भजस्व' इति शशास।

कलत्रवानिति। वृष पुमान्। 'वृषः स्याद्वासवे धर्मे सौरभेये च शुक्रे। पुंराशिभेदयोः शृङ्ग्यां मूषकश्रेष्ठयोरपि॥' इति विश्वः। वृषं पुरुषमात्मार्थमिच्छतीति वृषस्यन्ती कामुकी। 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः। 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्प्रत्ययः। "अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि" इत्य-सुगागमः। ततो लटः शत्रादेशः। "उगितश्च" इति ङीप्। श्लोकार्थस्तु—वृषस्कन्धो रामो वृषस्यन्तीं तां राक्षसीं—हे बाले! अहं कलत्रवान्, मे कनीयांसं कानिष्ठं भजस्व—इति शशासाज्ञापितवान्।

भावार्थ—शूर्पणखा की बात सुनकर वृष के समान विशाल कन्धेवाले राम

मैथुन की इच्छावाली उस शूर्पणखा से बोले—हे वाले ! मेरा तो विवाह हो चुका है तुम मेरे छोटे भाई के पास जाओ ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिताम् ।
साऽभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—पूर्वं ज्येष्ठाभिगमनात् तेन अपि अनभिनन्दिता भूयः रामाश्रया सा उभयकूलभाक् नदी इव अभूत् ।

ज्येष्ठेति । ज्येष्ठाभिगमनात्तेन लक्ष्मणेनाप्यनभिनन्दिता नाङ्गीकृता भूयो रामाश्रया रामसमीपं पुनरागच्छन्ती सा राक्षसी उभे कूले भजतीत्युभयकूलभाक् नदीवाभूत् । सा हि यातायाताभ्यां पर्यायेण कूलद्वयगामिनी नदीसदृश्यभूदित्यर्थः ।

भावार्थ—वह झट लक्ष्मण के पास पहुँची लक्ष्मण ने उससे कहा तू मेरे बड़े भाई के पास विवाह की इच्छा से जा चुकी है इसलिए तू मेरी माता के समान है, मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता । यह सुनकर वह फिर राम के पास पहुँची । उस समय उसकी दशा उस नदी के समान हो गई, जो बारी-बारी अपने दोनों तटों का स्पर्श करती हुई वह रही हो ॥ ३५ ॥

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—मैथिलीहासः क्षणसौम्यां तां निवातस्तिमितां उदधेः वेलां चन्द्रोदय इव संरम्भं निनाय ।

संरम्भमिति । मैथिलीहासः क्षणं सौम्यां सौम्याकारां तां राक्षसीं । निवातेन स्तिमितां निश्चलामुदधेर्वेलामम्बुविकृतिम् । अम्बुपूरमित्यर्थः । 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरः । चन्द्रोदय इव संरम्भं संक्षोभं निनाय ।

भावार्थ—जिस प्रकार वायु के अभाव में शान्त समुद्र के तरङ्ग को चन्द्रमा संक्षुब्ध कर देता है, उसी प्रकार सीताजी को हँसते हुए देखकर क्षणभर के लिए सुन्दर बनी हुई वह शूर्पणखा विगड़कर खड़ी हो गई और बोली ॥ ३६ ॥

फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
मृग्याः परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अस्य उपहासस्य फलं सद्यः प्राप्स्यसि, मां पश्य, त्वया कृतं व्याघ्र्यां मृग्याः परिभव (इति) अवेहि ।

फलमिति । श्लोकद्वयेनान्वयः । अस्योपहासस्य फलं सद्यः सम्प्रत्येव

प्राप्स्यसि । मा पश्य । त्वया कर्त्र्या कृतमुपहासरूप करणं व्याघ्रयां विषये मृग्याः कर्त्र्या परिभव इत्यवेहि ।

भावार्थ—इस उपहास का फल तुम शीघ्र पाओगी, मुझे देखो तुमने मेरा वैसे ही अपमान किया है जैसे कि कोई हरिणी किसी व्याघ्री का अपमान करे। अर्थात् जिस प्रकार व्याघ्री का अपमान करने वाली मृगी का कुशल नहीं होता, उसी प्रकार तेरे द्वारा किये गये उपहास परिणाम अच्छा नहीं होगा ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् ।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥

अन्वय.—भयात् भर्तुः अङ्के निविशतीं मैथिलीं इति उक्त्वा शूर्पणखा नाम्न सदृश रूप प्रत्यपद्यत ।

इतीति । भयाद्भर्तुरङ्के निविशतीमालिङ्गन्ती मैथिलीमित्युक्त्वा शूर्पणखा नाम्न. सदृशम् । शूर्पाकारं नखयुक्तमित्यर्थः । रूपमाकारं प्रत्यपद्यत स्वीचकार। अदर्शयदित्यर्थः ।

भावार्थ—सीताजी यह सुनते ही भय से राम की गोद मे छिप गईं और शूर्पणखा ने अपने नाम के अनुसार सूप के समान बड़े-बड़े नखवाला अपना रूप धारण कर लिया ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—लक्ष्मण. प्रथमं कोकिलामञ्जुवादिनीं पश्चात् शिवाघोरस्वनां तां श्रुत्वा विकृता इति विबुध ।

लक्ष्मण इति । लक्ष्मणः प्रथमं कोकिलावन्मञ्जुवादिनीं पश्चाच्छिवावद्घोरस्वनां जम्बुकीभीषणरवां तां शूर्पणखां श्रुत्वा । तस्याः स्वनं श्रुत्वेत्यर्थः । सुस्वनः श्रृद्धः श्रूयत, इतिवत्प्रयोगः । विकृता मायाविनीति बुबुधे बुद्धवान् । कर्तरि लिट् ।

भावार्थ—अब लक्ष्मण ने देखा कि अभी तो यह कोयल के समान मधुर बोल रही थी और अब सियारिन के समान भयंकर स्वर से बोल रही है । तब तब उन्होंने समझ लिया कि यह मायाविनी राक्षसी है ॥ ३९ ॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः ।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ ४० ॥

अन्वयः—अथ स विकृष्टासि. क्षिप्रं पर्णशालां प्रविश्य भीषणां तां वैरूप्यपौनरुक्त्येन अयोजयत् ।

पर्णशालामिति । अथ स लक्ष्मणो विकृष्टासिः कोशोद्धृतखड्ग. सन्क्षिप्रं

पर्णशालां प्रविश्य भीषयतीति भीषणाम्। नन्द्यादित्वाल्ल्युट् कर्तरि। तां राक्षसीं कर्णनासादिच्छेदाद्यावैरूप्यं तस्य वैरूप्यस्य पौनरुक्त्यं द्वैगुण्यं लक्षणया तेनायोजयद्योजितवान्। स्वभावत एव विकृतां तां कर्णादिच्छेदेन पुनरतिविकृतामकरोदित्यर्थः।

भावार्थ—इसके बाद लक्ष्मणजी झट से तलवार लेकर पर्णकुटी में गये और वहाँ शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये। नाक कान कट जाने से वह और भी अधिक कुरूप दिखाई देने लगी। अर्थात् राक्षसी होने के कारण वह तो पहले से ही कुरूप बन गई थी फिर नाक कान कट जाने पर और अधिक कुरूप हो गई॥ ४०॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया।
अङ्कुशाकारयाऽङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे॥ ४१॥

अन्वयः—सा वक्रनखधारिण्या वेणुककशपर्वया अंकुशाकारया अङ्गुल्या तौ अम्बरे अतर्जयत्।

सेति। सा वक्रनखं धारयतीति वक्रनखधारिणी तया वेणुवत्कर्कशपर्वया अत एवाङ्कुशस्याकार इवाकारो यस्याः सा तया अङ्गुल्या तौ राघवावम्बरे व्योम्नि स्थिता। 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः। अतर्जयदभर्त्सयत्। 'तर्ज भर्त्सने' इति धातोश्चौरादिकादनुदात्तत्वादात्मनेपदेन भाव्यम्। तथापि चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादनुदात्तेत्वनिमित्तस्यानित्यत्वात्परस्मैपदमूह्यमित्युक्तमाख्यातचन्द्रिकायाम्। 'तर्जयते भर्त्सयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते कविषु' इति।

भावार्थ—नकटी होकर वह आकाश में उड़ी अङ्कुश के समान टेढ़े-मेढ़े नखों वाली और बाँस के समान कड़े पोरोंवाली अपनी अङ्गुलियाँ चमका-चमकाकर राम और लक्ष्मण को धमकाने लगी॥ ४१॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम्।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम्॥ ४२॥

अन्वयः—(सा) आशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यः तथाविधं रामोपक्रमं नवं रक्षः परिभवं आचख्यौ।

प्राप्येति। साऽऽशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यो राक्षसेभ्यस्तथाविधं स्वाङ्गच्छेदात्मकं नसिकाच्छेदरूपम् उपक्रम्यत इत्युपक्रमः। कर्मणि घञ्प्रत्ययः। रामस्य कर्तुरुपक्रमः रामोपक्रम रामेणादावुपक्रान्तमित्यर्थः। "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इति क्लीवत्वम्। तं नवं राक्षसां कर्मभूतानां परिभवमाचख्यौ च।

भावार्थ—वहाँ से चलकर वह तत्काल जनस्थान में पहुँची तथा खर आदि

राक्षसो से राम के उन व्यवहार को बतलाकर उभाड़ा और कहा कि आज प्रथमबार राम ने इस प्रकार राक्षसो का अपमान किया है ॥ ४२ ॥

मुखावयवलूनां ता नैर्ऋता यत्पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥

अन्वय.—नैर्ऋता मुखावयवलूनां ता पुर. दधु॰ यत् तत् एव रामाभियायिनां तेषा अमगलम् अभूत् ।

मुखेति । नैर्ऋता राक्षसा । 'नैर्ऋती यातुरक्षसी' इत्यमरः । मुखावयवेषु कर्णादिषु लूना छिन्ना ता पुरो दधुरग्रे चक्रुरिति । यत्तदेव रामाभियायिनां राममभिद्रवतां तेषाममङ्गलमभूत् ।

भावार्थ—आगे-आगे नकटी और कनकटी शूर्पणखा और उसके पीछे वे राक्षस राम से लड़ने को निकल पड़े । इस नकटी को आगे करके उन लोगो ने पहले ही अपना सगुन बिगाड़ दिया, क्योंकि ज्योतिष शास्त्र में यात्रा के समय सामने अङ्ग-भङ्ग व्यक्ति को देखना अमंगल बतलाया है ॥ ४३ ॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥

अन्वयः—उदायुधान् आपततः तान् दृप्तान् प्रेक्ष्य राघवः चापे विजयाशंसां लक्ष्मणे सीतां च निदधे ।

उदिति । उदायुधानुद्यतायुधानापतत आगच्छतो दृप्ता-नगर्वांस्तान्खरादीन्प्रेक्ष्य राघवश्चापे धनुषि विजयस्याशंसामाशां लक्ष्मणे सीतां च निदधे । सीतारक्षणे लक्ष्मणं नियुज्य स्वयं युद्धाय सन्नद्ध इति भावः ।

भावार्थ—राम ने दूर से ही देखा कि हाथ मे शस्त्र उठाए अहङ्कारी राक्षस आगे बढे चले आ रहे हैं । उन्हें यह विश्वास हो गया कि इन्हें तो मैं अकेले ही जीत लूंगा इसलिए उन्होंने सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को सौंप दिया । अर्थात् सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण को नियुक्त कर स्वयं युद्ध के लिए तैयार हो गये ॥ ४४ ॥

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दाशरथि. एकः यातुधानाः सहस्रशः तैः तु सः आजौ ते यावन्त एव तावान् ददृशे ।

एक इति । दाशरथी राम एकोऽद्वितीयः यातुधानाः कामं सहस्रशः सन्तीति

शेषः । तैर्यातुधानैस्तु स राम आजौ युद्धे, ते यातुधाना यावन्तो यावत्संख्याका एव तावांस्तावत्संख्याकश्च ददृशे ।

भावार्थ—यद्यपि राम अकेले थे और राक्षस हजारों थे पर राम इस प्रकार लड़ रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे उन्हें उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे ॥ ४५ ॥

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अथ शुभाचारः सः काकुत्स्थः असज्जनेन प्रयुक्तं दूषणं आत्मनः दूषणम् इव न चक्षमे ।

असीदिति । अथ शुभाचारो रणे साधुचारि सद्वृत्तश्च स काकुत्स्थोऽसज्जनेन दुर्जनेन रक्षोजनेन च प्रयुक्तं प्रेषितमुच्चारितं च दूषणं । दूषयतीति दूषणस्तं दूषणाख्यं राक्षसमात्मनो दूषणं दोषमिव न चक्षमे न सेहे । प्रतिकर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार सदाचारी व्यक्ति नीच पुरुषों द्वारा अपने ऊपर लगाये गए दोष को नहीं सहन करता है उसी प्रकार राम युद्ध में दूषण राक्षस का आना भी नहीं सह सके ॥ ४६ ॥

तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्समभिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सः तं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह । क्रमशः (प्रयुक्ताः) तस्य ते पुनः चापात् समं इव उद्ययुः ।

तमिति । स रामस्तं दूषणं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह प्रतिजहारेत्यर्थः । क्रमशो यथाक्रमं प्रयुक्ता अपीति शेषः । तस्य ते शराः पुनश्चापात्समं युगपदिवोद्ययुः । अतिलघुहस्त इति भावः ।

भावार्थ—राम ने उस दूषण खर और त्रिशिरा पर एक-एक करके अपने वाण चलाये । अत्यन्त शीघ्रता से चलाये हुए वे वाण ऐसे जान पड़ते थे मानों वे एक ही साथ धनुष से छूटे हों ॥ ४७ ॥

तैस्त्रयाणां शितैर्वाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—देहातिगैः यथापूर्वविशुद्धिभिः शीतैः तैः वाणैः त्रयोणां आयुः पीतं, रुधिरं तु पतत्रिभिः पीतम् ।

तैरिति । देहमतीत्य भित्वा गच्छन्तीति देहातिगाः । तैर्यथास्थिता पूर्वविशुद्धि-

येषा तैः। अतिवेगत्वेन देहभेदात्प्रागिव रुधिरलेपरहितैरित्यर्थः। 'शितैस्तीक्ष्णैस्तैर्बाणैस्त्रयाणां खरादीनामायुर्जीवितं पीतं। रुधिरं तु पतत्रिभिः पक्षिभिः पीतम्।

भावार्थ—वे बाण उनके शरीर को छेदकर इतने वेग से बाहर निकल गये कि उनमें रक्त भी नही लग सका; क्योंकि बाण तो उनकी आयु पीने के लिये गये थे उनका रक्त तो पक्षियों ने पीया ॥ ४८॥

तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम्।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥

अन्वयः—तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते महति रक्षसां बले उत्थितं कबन्धेभ्यः अन्यत् च किञ्चित् न ददृशे।

तस्मिन्निति। तस्मिन्रामशरैरुत्कृत्ते छिन्ने महति रक्षसां बल उत्थितमुत्थानक्रियाविशिष्टं प्राणिनां कबन्धेभ्यः शिरोहीनशरीरेभ्यः। 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः। अन्यच्चान्यत्किञ्चन न ददृशे। कबन्धेभ्य इत्यत्र 'अन्याराद्*' इति पञ्चमी। निःशेषं हतमित्यर्थः।

भावार्थ—राम ने राक्षसों की उस बड़ी सेना को अपने बाणों से इस प्रकार काट डाला कि युद्ध भूमि मे राक्षसों के धड़ो छोड़कर और कुछ भी नही दिखाई दे रहा था ॥ ४६ ॥

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम्।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

अन्वयः—सा सुरद्विषां वरूथिनी बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा गृध्रच्छाये अप्रबोधाय सुष्वाप।

सेति। सा सुरद्विषां रक्षसां वरूथिनी सेना बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा युद्धं कारयित्वा गृध्राणां छाया गृध्रच्छायम्। "छाया बाहुल्ये" इति क्लीबत्वम्। तस्मिन्नप्रबोधायापुनर्बोधाय सुष्वाप। ममारेत्यर्थः। अत्र सुरतश्रान्तकान्तासमाधिर्व्यज्यते।

भावार्थ—बाण बरसाने वाले राम से लड़कर उन राक्षसों की सेना गिद्धों के पंखों की छाया मे सदा के लिए सो गई अर्थात् मर गई ॥ ५० ॥

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम्।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ ५१॥

अन्वयः—एका शूर्पणखा एव रावणं प्रति राघवास्त्रविदीर्णानां तेषां रक्षसां दुष्प्रवृत्तिहरा अभवत्।

राघवेति। एका शूर्पवन्नखानि यस्याः सा शूर्पणखा। "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम्। "नखमुखात्संज्ञायाम्" इति ङीप्प्रतिषेधः। सैव रावणं प्रति राघवास्त्रैर्विदीर्णानां हतानां तेषां रक्षसां खरादीनां दुष्प्रवृत्तिं वार्तां हरति प्रापयतीति दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। "हरतेरनुद्यमनेऽच्" इत्यच्प्रत्ययः।

भावार्थ—राम के अस्त्रों से मारे गये उन राक्षसों की मृत्यु का समाचार रावण के पास पहुँचाने के लिए केवल शूर्पणखा ही बच पाई॥ ५१॥

निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु॥ ५२॥

अन्वयः—स्वसुः निग्रहात् आप्तानाम् वधात् च धनदानुजः रामेण दशसु मूर्धसु पदं निहितं मेने।

निग्रहादिति। स्वसुः शूर्पणखाया निग्रहादङ्गच्छेदाप्तानां बन्धूनां खरादीनां वधाच्च कारणाद्धनदानुजो रावणो रामेण दशसु मूर्धसु पदं पादं निहितं मेने।

भावार्थ—बहन शूर्पणखा का अपमान और खर, दूषण, त्रिशिरा आदि अपने आप्त बन्धुओं का वध रावण को इतना अपमानजनक जान पड़ा कि मानों राम ने उसके दशों सिरों पर पैर रख दिया हो॥ ५२॥

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः॥ ५३॥

अन्वयः—सः मृगरूपेण रक्षसा तौ वञ्चयित्वा पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः (सन्) सीतां जहार।

रक्षसेति। स रावणो मृगरूपेण रक्षसा मारीचेन राघवौ वञ्चयित्वा प्रतार्य। पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन युद्धरूपेण क्षणं विघ्नितः संजातविघ्नः, सन्सीतां जहार।

भावार्थ—उस रावण ने मारीच को माया से सुवर्ण का मृग बना कर और राम और लक्ष्मण को धोखा देकर सीता का हरण कर लिया। मार्ग में गृद्धराज जटायु कुछ देर लड़ा भी, पर वह सफल न हो सका॥ ५३॥

तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम्।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः॥ ५४॥

अन्वयः—सीतान्वेषिणौ तौ लूनपक्षं गृध्रं कण्ठवर्तिभिः प्राणैः दशरथप्रीतेः अनृणं अपश्यताम्।

ताविति। सीतान्वेषिणौ तौ राघवौ लूनपक्षं रावणेन छिन्नपक्षं कण्ठवर्तिभिः

प्राणैर्दशरथप्रीतेर्दशरथसख्यस्यानृणमृणैर्विमुक्तं गृध्रं जटायुषमपश्यतां दृष्टवन्तौ। दृशेर्लङि रूपम्।

भावार्थ—सीता को ढूंढते हुए राम और लक्ष्मण दोनो ने मार्गमें देखा कि जटायु के पङ्ख कट गये थे और उसके प्राण कण्ठ तक आ गये थे, किन्तु उसने सीता के हरण करने वाले रावण से लडकर अपने मित्र दशरथ का ऋण चुका दिया था॥ ५४॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम्।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः॥ ५५॥

अन्वय—स रावणहृता मैथिली ताभ्यां वचसा आचष्ट, आत्मनः सुमहत्कार्यं व्रणैः आवेद्य संस्थितः।

स इति। स जटायू रावणहृतां मैथिलीं ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम्। 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। वचसा वाग्वृत्त्याऽऽचष्ट। आत्मनः सुमहत्कर्म युद्धरूपं व्रणैरावेद्य संस्थितो मृतः।

भावार्थ—वह जटायु राम और लक्ष्मण से बतलाया कि सीता को रावण हर ले गया है। जटायु के घावों को देखकर ही यह स्पष्ट हो रहा था कि वह कितने जी जान से रावण से लड़ा था। बाद उसका प्राण निकल गया॥५५॥

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परावर्तिरे क्रियाः॥ ५६॥

अन्वयः—नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः तयोः तस्मिन् पितरि इव अग्निसंस्कारात् पराः क्रिया ववृतिरे।

तयोरिति। व्यापत्तिर्मरणं नवीभूतः पितृव्यापत्तिशोको पितुः दशरथस्य व्यापत्तेर्मरणस्य शोकः ययोस्तौ तयो राघवयोस्तस्मिन्गृध्रे पितरीवाग्निसंस्कारादग्निसंस्कारमारभ्य परा उत्तराः क्रिया ववृतिरेऽवर्तन्त। तस्य पितृवदौर्ध्वदैहिकं चक्रतुरित्यर्थः।

भावार्थ—जटायु केवल इतना ही कहकर चल बसा। उसके मरने से राम और लक्ष्मण को उतना ही शोक हुआ जितना उन्हें अपने पिता दशरथ के मरने पर हुआ था। बाद उसका विधिवत् दाह संस्कार करके पिता के समान ही उन्होंने उसका प्रेत आदि कर्म किया॥ ५६॥

वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ॥ ५७॥

अन्वयः—वधनिर्धूतशापस्य कवन्धस्य उपदेशतः रामस्य समानव्यसने हरौ सख्यं मुमूर्च्छे ।

वधेति । वधेन रामकृतेन निर्धूतशापस्य देवभुवं गतस्य कवन्धस्य रक्षोविशेषस्योपदेशतो रामस्य समानव्यसने समानापदि कलत्रवियोगदुःखिते सख्यार्थिनीत्यर्थः । हरौ कपौ सुग्रीवे । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । सख्यं मुमूर्च्छे ववृधे ।

भावार्थ—वहाँ से कुछ आगे बढ़ने पर उन्हें कवन्ध मिला, जो एक ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था, राम ने उसकी भुजायें काट डाली जिससे उसका शाप छूट गया और वह पुनः देवता हो गया । इससे प्रसन्न होकर उसने सुग्रीव का पता बतलाया जिसके भाई बाली ने उसके राज्य और स्त्री को छीन लिया था इसलिए स्त्री वियोगी राम ने स्त्री वियोगी उस सुग्रीव से मित्रता कर ली ॥ ५७ ॥

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थानं इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—वीरः सः वालिनं हत्वा चिरकांक्षिते तत्पदे धातो स्थाने आदेशम् इव सुग्रीवं संन्यवेशयत् ।

स इति । वीरः स रामो वालिनं सुग्रीवाग्रजं हत्वा चिरकांक्षिते तत्पदे वालि स्थाने धातोः स्थान आदेशमिव । आदेशभूतं धात्वन्तरमिवेत्यर्थः । सुग्रीवं सन्न्यवेशयत्स्थापितवान् । यथा "अस्तेर्भूः" इत्यस्तिधातोः स्थान आदेशो भूधातुरस्तिकार्यमशेषं समभिधत्ते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम शब्दान्तरस्य स्थाने विधीयमानं शब्दांतरमभिधीयते ।

भावार्थ—उस वीर राम ने बाली को मारकर चिरकाल से अभिलषित उसके सिंहासन पर सुग्रीव को उसी प्रकार बैठा दिया । जिस प्रकार वैयाकरण लोग लिट् लुट् आदि लकारों में "अस्तेर्भूः" इस पाणिनी के सूत्र के आधार पर अस् धातु के स्थान पर भू आदेश को बैठा देते हैं ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—वैदेहीम् अन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः कपयः आर्तस्य रामस्य मनोरथा इव इतस्ततः च चेरुः ।

इतस्ततश्चेति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्गितुं भर्त्रा सुग्रीवेण चोदिताः प्रयुक्ताः कपयो हनूमत्प्रमुखाः । आर्तस्य विरहातुरस्य रामस्य मनोरथाः कामा इव इतस्ततश्चेरुर्नानादेशे बभ्रमुश्च ।

भावार्थ—सुग्रीव के द्वारा सीता का पता लगाने के लिए आज्ञा पाकर वानर भी उसी प्रकार इधर-उधर घूमकर सीता की खोज करने लगे, जिस प्रकार विरही राम का मन सीताजी की खोज में इधर-उधर भटकता था ।।५९।।

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ।। ६० ।।

अन्वय—सम्पातिदर्शनात् तस्याः प्रवृत्तौ उपलब्धायां मारुतिः सागरं निर्ममः संसारमिव तीर्णः ।

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्राता तस्य दर्शनात् । तन्मुखादिति भावः । तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । उपलब्धायां ज्ञातायां सत्याम् । मरुतस्यापत्यं पुमान्मारुतिः हनूमान्सागरं । ममेत्येतदव्ययं ममतावाचि । तद्रहितो निर्ममो निःस्पृहः संसारमविद्याबन्धनमिव तीर्णस्ततार । तरतेः कर्तरि क्तः ।

भावार्थ—मार्ग में जटायु के भाई सम्पाति से उनकी भेंट हो गई, उसने बतलाया कि समुद्र के पार लंका का राजा रावण सीताजी को हर ले गया है, यह सुनकर हनुमान् जी उसी प्रकार समुद्र को लाँघ गये जिस प्रकार निर्मोही पुरुष संसार को पार कर जाता है ।। ६० ।।

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ।। ६१ ।।

अन्वयः—लङ्कायां विचिन्वता तेन राक्षसीवृता जानकी विषवल्लीभिः परीता महौषधिः इव दृष्टा ।

दृष्टेति । लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्षसीभिर्वृता जानकी, विषवल्लीभिः परीता परिवृत्ता महौषधिः सञ्जीवनीलतेव दृष्टा ।

भावार्थ—लंका में पहुँचकर सीता को ढूँढते हुए हनुमान् जी ने एक स्थान पर देखा कि चारों ओर राक्षसियों से घिरी हुई वे ऐसी लग रही थी जैसे विष की लताओं के बीच में सञ्जीविनी बूटी हो ।। ६१ ।।

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ।। ६२ ।।

अन्वय—कपिः भर्तुः अभिज्ञानं अङ्गुलीयं तस्यै अनुष्णैः तदानन्दाश्रुभिः प्रत्युद्गतम् इव ।

तस्या इति । कपिर्हनुमान् भर्तू रामस्य सम्बन्ध्यभिज्ञानं । अभिज्ञायत इत्यभिज्ञानं साधकमङ्गुलीयमूर्मिकाम् । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । "जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः" इति छप्रत्ययः । तस्यै जानक्यै ददौ । किंविधमङ्गुलीयम् । अनुष्णैः शीतलैस्तस्या आनन्दाश्रुविन्दुभिः प्रत्युद्गतमिव स्थितम् । भर्त्रभिज्ञानदर्शनानन्दवाष्पो जात इत्यर्थः ।

भावार्थ—उनके पास जाकर हनुमान् जी ने राम की अँगूठी दे दी, जिसका स्वागत सीताजी ने आनन्द के शीतल आँसुओं से किया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सः प्रियसन्देशैः सीतां निर्वाप्य अक्षवधोद्धतः क्षणसोढारिनिग्रहः लङ्कापुरीं ददाह ।

निर्वाप्येति । स कपिः प्रियस्य रामस्य सन्देशैर्वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुखयित्वा । अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो दृप्तः सन्, क्षणं सोढोऽरेरिन्द्रजितः कर्तुः निग्रहो बाधो ब्रह्मास्त्रबन्धरूपो येन स तथोक्तः सन्, लङ्कां पुरीं ददाह भस्मीचकार ।

भावार्थ—पहले तो हनुमान् जी ने रामजी का प्रिय सन्देश सुनाकर सीता जी को ढाढस बँधाया, फिर रावण के पुत्र अक्षयकुमार को मार डाला, और कुछ देर शत्रुओं के हाथ वन्दी रहकर लंका में आग लगा कर जला दिया ॥६३॥

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कृती (स) स्वयं आयातं मूर्तिमत् वैदेह्या हृदयम् इव तस्याः प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामाय अदर्शयत् ।

प्रत्यभिज्ञेति । कृतकृत्यः कपिः स्वयमायातं मूर्तिमद्वैदेह्या हृदयमिव स्थितं तस्या एव प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत् ।

भावार्थ—कृतकृत्य उस हनुमान् जी ने सीताजी के मिलने की पहचान के लिए उनके चूडामणि लेकर राम के पास आकर उन्हें दिखलाया । वह मणि पाकर रामजी को वैसा ही आनन्द हुआ, मानों साक्षात्सीता का हृदय ही मूर्तिमान् बनकर अपने आप चला आया हो ॥ ६४ ॥

स पाप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥

अन्वय —हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलित स अपयोधरससर्गां प्रियालिङ्गन-निर्वृतिं प्राप ।

स इति । हृदये वक्षसि न्यस्तस्य धृतस्य मणेरभिज्ञानरत्नस्य स्पर्शेन निमीलितो मोहित. स रामोऽविद्यमान. पयोधरससर्गः स्तनस्पर्शो यस्यास्ता तथा-भूताम् । प्रियाया आलिङ्गनेन या निर्वृतिरानन्दस्ता प्राप ।

भावार्थ—उस चूडामणि को हृदय से लगाकर राम आनन्दमग्न होकर आँखें बन्द कर लिए । उस समय उन्हें ऐसा मालूम होता था मानो स्तनस्पर्श से रहित सीताजी ही हृदय से आ लगी हों ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा राम. प्रियोदन्त मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥

अन्वय:—प्रियोदन्त श्रुत्वा तत्संसर्गोत्सुक. रामः लङ्कायाः महार्णवं परिक्षेपं परिखालघुम् मेने ।

श्रुत्वेति । प्रियाया उदन्तं वार्ताम् । 'उदन्तः साधुवार्तयो.' इति विश्वः । श्रुत्वा तस्याः सीतायाः सङ्गम उत्सुको रामो लङ्कायाः सम्बन्धी यो महार्णव एव परिक्षेपः परिवेष्टस्तं परिखालघु दुर्गवेष्टनवत्सुतरां मेने ।

भावार्थ—सीताजी का समाचार सुनकर उनसे मिलने के लिए राम अत्यन्त उत्सुक हो गये उस उत्सुकता में उन्हें लंका के चारों ओर का चौड़ा और गहरा समुद्र खाई से भी छोटा लगने लगा ॥ ६६ ॥

स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संबाधवर्तिभिः ॥ ६७ ॥

अन्वय.—केवलं भुवः पृष्ठे न किन्तु व्योम्नि (च) संबाधवर्तिभिः हरिसैन्यै. अनुद्रुतः स अरिनाशाय प्रतस्थे ।

स इति । केवलमेकं भुवः पृष्ठे भूतले न किन्तु व्योम्नि च सम्बाधवर्तिभिः सङ्कट-गामिभिर्हरिसैन्यैः कपिबलैरनुद्रुतोऽन्वितः सन् रामोऽरिनाशाय प्रतस्थे चचाल ।

भावार्थ—वे वानरों की अपार सेना लेकर शत्रु का संहार करने के लिए चल पड़े । वह सेना इतनी अधिक थी कि पृथ्वी की कौन कहे, आकाश में भी बड़ी कठिनाई से चल पाती थी ॥ ६७ ॥

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—उदधेः कूले निविष्टं तं विभीषणः राक्षसलक्ष्म्या स्नेहात् बुद्धिम् आविश्य इव प्रपेदे।

निविष्टमिति। उदधेः कूले निविष्टं तं रामं। विशेषेण भीषयते शत्रूनिति विभीषणो रावणानुजः। राक्षसलक्ष्म्या स्नेहाद्‌बुद्धिं कर्तव्यताज्ञानमाविश्य चोदितः प्रणोदित इव प्रपेदे प्राप्तः।

भावार्थ—जब राम समुद्र तट पर पहुँचे, तब रावण के छोटे भाई विभीषण उनसे मिलने के लिए आये, मानो राक्षसों की राजलक्ष्मी ने उनकी बुद्धि में बैठकर वह समझा दिया हो कि अब राम की शरण में जाने पर ही तुम्हारा कल्याण है॥ ६८॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः॥ ६९॥

अन्वयः—राघवः तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव काले समारब्धा नीतयः फलं बध्नन्ति खलु।

तस्मा इति। राघवस्तस्मै विभीषणाय। "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता" सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। निशाचरैश्वर्यं राक्षसाधिपत्यं प्रतिशुश्राव प्रतिज्ञातवान्। तथाहि कालेवसरे समारब्धाः प्रक्रान्ता नीतयः फलं बध्नति गृह्णन्ति खलु जनयन्तीत्यर्थः।

भावार्थ—राम ने भी उनसे यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं आपको राक्षसों का राजा बना दूंगा। ठीक है, समय पर काम में लाई हुई नीति आगे चलकर अवश्य ही सफल होती है॥ ६९॥

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः॥ ७०॥

अन्वयः—स लवणाम्भसि प्लवगैः शार्ङ्गिणः स्वप्नाय रसातलात् उन्मग्नं शेषं इव सेतुं बन्धयामास।

स इति। स रामो लवणं क्षारमम्भो यस्यासौ लवणाम्भस्तस्मिंल्लवणाब्धौ प्लवगैः प्रयोज्यैः शार्ङ्गिणो विष्णोः स्वप्नाय शयनाय रसातलात्पातालादुन्मग्नमुत्थितं शेषमिव स्थितं सेतुं बन्धयामास।

भावार्थ—राम ने वानरों के द्वारा क्षार समुद्र पर जो पत्थरों का पुल बँधवाया, वह ऐसा जान पड़ता था कि मानों विष्णु को अपने ऊपर सुलाने के लिए स्वयं शेषनाग ही पाताल से ऊपर आये हों॥ ७०॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥

अन्वयः— (रामः) तेन पथा (सागरं) उत्तीर्य पिङ्गलैः द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिः इव वानरैः लङ्कां रोधयामास ।

तेनेति । रामस्तेन पथा सेतुमार्गेणोत्तीर्य सागरमिति शेषः । पिङ्गलैः सुवर्णवर्णैरत एव द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव स्थितैर्वानरैर्लङ्कां रोधयामास ।

भावार्थ—उस पुल से समुद्र पार करके पीले पीले वानरों ने लंका को चारों ओर से घेर लिया । उनसे घिरी हुई लंका ऐसी जान पड़ती थी मानों लंका के चारों ओर सोने का दूसरा परकोटा बन गया है ॥ ७१ ॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

अन्वय.— तत्र प्लवगरक्षसां भीमः दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः रणः प्रववृते ।

रण इति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसां च भीमो भयङ्करो दिग्विजृम्भितं काकुत्स्थपौलस्त्ययो रामरावणयोर्जयघोषणं जयशब्दो यस्मिन्स तथोक्तो रणः प्रववृते प्रवृत्तः । 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः ।

भावार्थ—लंका में वानरों और राक्षसों का ऐसा भयंकर युद्ध होने लगा कि राम और रावण की जयकारों से दिशायें गूंज उठीं ॥ ७२ ॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

अन्वय.—पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः (रणः प्रववृते) ।

पादपेति । किंविधो रणः, पादपैर्वृक्षैराविद्धा भग्नाः परिघा लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन्स तथोक्तः । 'परिघः परिघातनः' इत्यमरः । शिलाभिर्निष्पिष्टाश्चूर्णिता मुद्गरा अयोघना यस्मिन्स तथोक्तः 'द्रुघणो मुद्गरघनौ' इत्यमरः । अतिशस्त्राः शस्त्राण्यतिक्रान्ता नखन्यासा यस्मिन्स तथोक्तः । शैलैः रुग्णा भग्ना मतङ्गजा यस्मिन्स तथोक्तः ।

भावार्थ—उस युद्ध में वानर वृक्षों से मार-मारकर परिघों को तोड़ देते थे, पत्थर बरसा कर राक्षसों के मुद्गरों को चूर-चूर कर देते थे, अपने नखों से ऐसे

भयंकर घाव करते थे कि शस्त्रों से भी वैसे घाव नहीं हो सकते थे और लड़ाकू हाथियों के शिरों पर बड़ी-बड़ी चट्टानें फेंककर उनका कचूमर निकाल देते थे ।। ७३ ।।

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ।। ७४ ।।

अन्वयः—अथ शिरच्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनां सीतां त्रिजटा माया इति शंसन्ती समजीवयत् ।

अथेति । अथानन्तरं छिद्यत इति छेदः खण्डः शिर एव छेद इति विग्रहः । रामशिरच्छेदस्य विद्युजिह्वाख्यराक्षसमायानिर्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्तचेतनां गतसंज्ञां सीतां त्रिजटा नाम काचित्सीतापक्षपातिनी राक्षसी मायाकल्पितं नत्वेतत्सत्यमिति शंसन्ती ब्रुवाणा । "श्यप्श्यनोर्नित्यम्" इति नित्यं नुमागमः । समजीवयत् ।

भावार्थ—इसी बीच विद्युजिह्व नामक एक राक्षस ने माया से कटा हुआ राम का शिर बनाकर सीताजी के सामने ला पटका, उसे देखते ही सीताजी व्याकुल हो गईं, पर त्रिजटा ने उन्हें समझाया कि यह राक्षसी माया है, तब सीता जी को जान में जान आ गई ।। ७४ ।।

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीविताऽस्मीति लज्जिता ।। ७५ ।।

अन्वयः—सा मे नाथः जीवति इति शुचं कामं विजहौ, (किन्तु) प्राक् अस्य अन्तं सत्यं मत्वा जीविता अस्मि इति लज्जिता ।

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुचं शोको कामं विजहौ तत्याज । किन्तु प्राक्पूर्वमस्य नाथस्यान्तं नाशं सत्यं यथार्थं मत्वा जीविता जीवतवत्यस्मीति हेतोर्लज्जिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभार इति भावः ।

भावार्थ—यह जानकर सीताजी ने शोक करना तो छोड़ दिया कि मेरे पतिदेव राम अभी जीवित हैं, पर उन्हें इस बात की बड़ी लज्जा हुई कि पहले पति के मारे जाने का समाचार सुनकर भी मैं जीती रह गई, उसी क्षण मर नहीं गई ।। ७५ ।।

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ।। ७६ ।।

अन्वयः—गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः क्षणक्लेशः दाशरथ्योः स्वप्नवृत्त इव अभवत् ।

गरुडेति । गरुडस्तार्क्ष्यः तस्यापातेनागमनेन विश्लिष्टं मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण

नागपाशेन बन्धनं यस्मिन्स तथोक्तः । क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयोः स्वप्नवृत्त स्वप्नावस्थाया भूत इवाभवत् ।

भावार्थ—उसी समय मेघनाद ने राम और लक्ष्मण को नागपाश में बाँध लिया, पर गरुण ने आकर उस फन्दे को तत्काल काट दिया । पाश मे बँधने का यह क्षण भर का क्लेश भी उन दोनों भाइयो को ऐसा मालूम पड़ा, मानों स्वप्न मे हुआ हो ७६ ॥

तस्मै बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ततः पौलस्त्यः शक्त्या लक्ष्मण वक्षसि बिभेद, रामः तु अनाहतः अपि शुचा विदीर्णहृदय आसीत् ।

तत इति । ततः पौलस्त्यो रावणः शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । 'कासूसामर्थ्यमो शक्तिः' इत्यमरः । लक्ष्मणं वक्षसि बिभेद विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यहतोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ।

भावार्थ—तब पुलस्य के कुल मे उत्पन्न रावण के पुत्र मेघनाद ने खींचकर लक्ष्मण की छाती पर ऐसा शक्तिवाण मारा, कि लक्ष्मण तत्काल गिर गये और उन्हें देखकर यद्यपि राम को किसी प्रकार की चोट नहीं लगी थी फिर भी उनका हृदय शोक मे फटने लगा ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः (सन्) पुनः शरैः लङ्कास्त्रीणां विलापाचार्यकं चक्रे ।

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या संजीविन्या हृतव्यथः सन्पुनः शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । आचार्यकमाचार्यकर्म "योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्" इति वुञ् । चक्रे । पुनरपि राक्षसाक्षपानेति व्यज्यते ।

भावार्थ—हनुमान् जी तत्काल जाकर धवलागिरि पर्वत से संजीवनी बूटी लाये, जिसके पिलाते ही लक्ष्मण की मूर्छा छूट गई और सारी पीड़ा दूर हो गई । फिर उठकर उन्होंने अपने बाणों से अगणित राक्षसों को मारकर लंका की स्त्रियों के रोने में आचार्य का कार्य किया । अर्थात् उनके बाणों से राक्षसो के मारे जाने पर उनकी स्त्रियाँ विलाप करने लगीं ॥ ७८ ॥

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किंचित्पर्यशेषयत् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—सः शरत्कालः मेघस्य इव मेघनादस्य नादं इन्द्रयुधप्रभं धनुः च किञ्चित् अपि न पर्यशेपयत् ।

स इति । स लक्ष्मणः शरत्कालो मेघस्येव मेघनादस्येन्द्रजितो नादं सिंहनादम् । अन्यत्र गर्जितं च । इन्द्रायुधप्रभं शक्रधनुःप्रभं धनुश्च किञ्चिदल्पमपि न पर्यशेपयन्नावशेषितवान् । तमवधीदित्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार शरद् ऋतु वर्षा कालीन मेघ के गर्जन और इन्द्रधनुष को नष्ट कर देता है उसी प्रकार लक्ष्मण ने मेघनाद के गर्जन और इन्द्रधनुप के समान प्रभावाले धनुप को नष्ट कर डाला । अर्थात् लक्ष्मण ने मेघनाद को मार डाला ॥ ७९ ॥

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ ८० ॥

अन्वयः—कपीन्द्रेण स्वसुः तुल्यावस्थः कृतः कुम्भकर्णः टङ्कच्छिन्नमनःशिलः शृङ्गी इव रामं रुरोध ।

कुम्भकर्ण इति । कपीन्द्रेण सुग्रीवेण स्वसुः सूर्पणखायास्तुल्यावस्थो नासाकर्णच्छेदेन सदृशः कृतः । कुम्भकर्णष्टङ्केन शिलाभेदकशस्त्रेण छिन्न मनःशिला रक्तवर्ण धातुविशेपो यस्य स तथोक्तः । 'टङ्कः पापाणदारणः' इति 'धातुर्मनाःशिलाद्यद्रेः' इति शृङ्गी शिखरीव रामं रुरोध ।

भावार्थ—उधर वानरराज सुग्रीव ने कुम्भकर्ण की नाक काटकर शूर्पणखा के समान बना दिया था वह राम का मार्ग रोककर वैसे ही सामने खड़ा हो गया जैसे टाँगीं से कटी मैनसिल की चट्टान आ गिरी हो ॥ ८० ॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—प्रियस्वप्नः भवान् वृथा भ्रात्रा अकाले बोधितः इति इव असौ रामेषुभिः दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ।

अकाल इति । प्रियस्वप्न इष्टनिद्रोऽनुजो भवान्वृथा भ्रात्रा रावणेनाकाले बोधित इतीवासौ कुम्भकर्णो रामेषुभी रामबाणैर्दीर्घनिद्रां मरणं प्रवेशितो गमितः । यथा लोकेऽनिष्टवस्तुविनाशदुःखितस्य ततोऽपि भूयिष्ठमुपपाद्यते तद्वदिति भावः ।

भावार्थ—राम के बाणों से घायल होकर कुम्भकर्ण गिरकर मर गया, मानो

राम के बाणों ने उसे यह कहकर गहरी नींद में सुला दिया कि तुमको नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाई रावण ने व्यर्थ ही तुम्हें असमय में जगा दिया है ॥ ८१ ॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ ८२ ॥

अन्वयः—इतराणि रक्षांसि अपि वानरकोटिषु समरोत्थानि रजांसि तच्छोणितनदीषु इव पेतुः ।

इतराणीति । इतराणि रक्षांस्यपि वानरकोटिषु समरोत्थानि रजांसि तेषां रक्षसां शोणितनदीषु रक्तप्रवाहेष्विव पेतुः निपत्य मृतानीत्यर्थः ।

भावार्थ—और भी बहुत से राक्षस करोड़ों वानरों की सेना के बीच में इस प्रकार गिर रहे थे, मानो राक्षसों के रक्त की नदी में रणक्षेत्र से उठी हुई धूली पड़ रही हो ॥ ८२ ॥

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥ ८३ ॥

अन्वय.—अथ पौलस्त्यः अद्य जगत् अरामं अरावणा वा (भवेत्) इति निश्चितः पुनः युद्धाय मन्दिरात् निर्ययौ ।

निर्ययाविति । अथ पौलस्त्यो रावणः अद्य जगदरावणं रावणशून्यं रामशून्यं वा भवेदिति निश्चितो निश्चितवान् । कर्तरि क्तः । विजयमरणयोरन्तरनिश्चयवान्पुनर्युद्धाय मन्दिरान्निर्ययौ निर्जगाम ।

भावार्थ—इसके बाद रावण युद्ध के लिए अपने राजभवन से निकल पड़ा, उसने अपने मन में ठान लिया था कि आज संसार में या तो रावण ही नहीं रहेगा या राम ही नहीं रहेंगे । अर्थात् मैं मर जाऊँगा या राम को ही मार डालूँगा ॥ ८३ ॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् ।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—पदातिं रामं वरूथिनम् लंकेशं च आलोक्य पुरन्दरः हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय ।

राममिति । पादाभ्यामततीति पदातिः पादचारिणं रामम् । वरूथो रथगुप्तिः । 'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः । अत्र वरूथेन रथो लक्ष्यते । वरूथिनं रथिनं लंकेशं चालोक्य पुरन्दर इन्द्रः । युगं वहन्तीति युग्या रथाश्वाः "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्"

इति यत्प्रत्ययः। हरियुग्यं कपिलवर्णाश्वम्। 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः। रथं तस्मै रामाय प्रजिवाय प्रहितवान्।

भाषार्थ—रावण को रथ पर सवार और राम को पैदल देख कर इन्द्र ने अपना वह रथ भेजा, जिसमें पीले रंग के घोड़े जुते हुए थे ॥ ८४ ॥

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—राघवः व्योम गङ्गोर्मिवायुभिः आधूतध्वजपटं जैत्रं त देवसूत-भुजालम्बी (सन्) अध्यास्त।

तमिति। राघवो व्योमगङ्गोर्मिवायुभिराधूतध्वजपटम्। मार्गवशादिति भावः। जेतैव जैत्रो जयनशीलः तम् जैत्रं। जैतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। तं रथं देवसूतभुजालम्बी मातलिहस्तावलम्बी सन्नध्यास्ताधि-ष्ठितवान्। आसेर्लङ्।

भाषार्थ—उस रथ की ध्वजा आकाश गंगा की लहरों की हवा से फड़-फड़ाती चल रही थी। इन्द्र के सारथी मातलि का हाथ पकड़कर रामजी उस विजयशील रथ पर चढ़ गये ॥ ८५ ॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम्।
यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—मातलिः माहेन्द्रं तनुच्छदं तस्य मुमोच यत्र सुरद्विषां अस्त्राणि उत्पलदलक्लैब्यं आपुः।

मातलिरिति। मातलिरिन्द्रसारथिर्माहेन्द्रम्। तनुश्छाद्यतेऽनेनेति तनुच्छदो वर्म। "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति घः। तं तस्य रामस्यास्यामुमोचासञ्जया-मास। यत्र तनुच्छदे सुरद्विषामस्त्राण्युत्पलदलानां यत्क्लैब्यं नपुंसकत्वं निरर्थकत्वं तदापुः।

भाषार्थ—मातलि ने राम को इन्द्र का वह कवच भी पहना दिया जिस पर राक्षसों के अस्त्र ऐसे लगते थे मानों वे अस्त्र नहीं हैं। किन्तु कमल के पुष्प हों ॥ ८६ ॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात्।
रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—चिरात् अन्योऽन्यदर्शनावाप्तविक्रमावसरं रामरावणयोः युद्धं चरितार्थम् इव अभवत्।

अन्योन्येति। चिरादन्योन्यदर्शनेन प्राप्तविक्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धमायो-धनं चरितार्थं सफलमभवदिव। प्राक्पराक्रमावसरदौर्बल्याद्विफलस्याद्य तल्ला-भात्साफल्यमुत्प्रेक्ष्यते।

भावार्थ—बहुत दिनों के बाद राम और रावण ने एक दूसरे को देखा। इसलिए उन दोनों को अपनी-अपनी वीरता दिखाने का अवसर मिल गया, राम-रावण का युद्ध आज सफल सा हो गया ॥ ८७ ॥

भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—अयथापूर्वः एकः अपि धनदानुजः भुजमूर्धोरुबाहुल्यात् मातृवंशे स्थित इव ददृशे।

भुजेति। यथाभूतः पूर्वं यथापूर्वः। सुप्सुपेति समासः। यथापूर्वो न भवतीत्ययथापूर्वः। निहतबन्धुत्वाद्रक्षः परिवारशून्य इत्यर्थः। अत एवैकोऽपि सन्धनदानुजो रावणः भुजाश्च मूर्धानश्चोरवः पादाश्च भुजमूर्धोरुप्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्य बाहुल्याद्बहुत्वाद्धेतो'। तद्बहुत्वे यादवः—'दशास्यो विंशतिभुजश्चतुष्पान्मातृमन्दिरे' इति। मातृवंशे मातृसम्बधिनि वर्गे स्थित इव ददृशे दृष्टो हि। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः। अत्र रावणात् रक्षो जातित्वात्तद्वर्गो रक्षोवर्ग इति लभ्यते। अतश्चैकोऽप्यनेकरक्षःपरिवृत इवालक्ष्यतेत्यर्थः।

भावार्थ—अन्य राक्षसों के मारे जाने के कारण रावण अकेला ही रह गया था, फिर भी अनेक उरु शिर और भुजाओं के कारण वह ऐसा जान पड़ता था मानों उसके साथ बहुत से राक्षस हों। अर्थात् अकेला होता हुआ भी रावण बहुत राक्षसों से घिरा मालूम पड़ता था ॥ ८८ ॥

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम्।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ८९ ॥

अन्वयः—लोकपालानां जेतारं स्वमुखैः अर्चितेश्वरं तुलितकैलासं अरातिं रामः बहु अमन्यत।

जेतारमिति। लोकपालानामिन्द्रादीनां जेतारम् "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि षष्ठी। स्वमुखैः स्वशिरोभिरर्चितेश्वरं तुलितकैलासमुद्धृतरुद्राद्रिं तमेवं शौर्यवीर्यसत्त्वसंपन्नं महावीर्यमरातिं शत्रुं रामो गुणग्राहित्वाज्जेतव्योत्कर्षस्य जेतुः स्वोत्कर्षहेतुत्वाच्च बह्वमन्यत। साधु मद्विक्रमन्नायं पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः। बह्विति क्रियाविशेषणम्।

भावार्थ—जिस रावण ने इन्द्र आदि दिक्पालों को जीत लिया था, जिसने अपने शिरों को काटकर शिवजी को चढ़ा दिया था और जिसने कैलास पर्वत

को अंगुलियों पर उठा लिया था उसे देखकर राम ने समझा कि यह कम पराक्रमी नहीं है ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि ।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

अन्वयः—अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति सीतासंगमशंसिनि सव्येतरे भुजे शरं निचखान ।

तस्येति । अधिकक्रोधः पौलस्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासंगमशंसिनि सीताया सङ्गमं शंसतीति तस्मिन् । तस्य रामस्य सव्य इतरो यस्मात्सव्येतरे दक्षिणे । "न बहुव्रीहौ" इतीतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । भुजे शरं निचखान निखातवान् ।

भावार्थ—अत्यन्त क्रुद्ध होकर रावण ने राम की उस दाहिनी भुजा में बाण मारा जो फड़कती हुई शुभ सूचना दे रही थी कि अब सीता के प्राप्त होने में देर नहीं है ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—रामास्तः आशुगः रावणस्य अपि हृदयं भित्वा उरगेभ्यः प्रियं आख्यातुम् इव भुवं विवेश ।

रावणस्येति । रामेणास्तः क्षिप्त आशुगो बाणः विश्रवसोऽपत्यं पुमान्रावणः विश्रवःशब्दादपत्येऽर्थेऽण्प्रत्यये सति । 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति रवणादेशः । तस्य रावणास्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदार्य । उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रियमाख्यातुमिव भुवं विवेश ।

भावार्थ—राम ने जो बाण छोड़ा, वह रावण की छाती को छेदकर पाताल में चला गया । वह ऐसा लगा मानो पातालवासी नागों से रावण के मरने की प्रिय सूचना देने लिए गया हो ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः ।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

अन्वयः—वाक्यं वचसा अस्त्रं अस्त्रेण निघ्नतोः तयोः वादिनोः इव अन्योऽन्यजयसंरम्भः ववृधे ।

वचसेति । वाक्यं वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोस्तयो रामरावणयोः वादिनोः कथकयोरिव अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ।

भावार्थ—जिस प्रकार वादी और प्रतिवादी एक दूसरे की बात को अपनी बात से काटते हुए जीतने के लिए क्रुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार एक दूसरे के अस्त्र को अपने अस्त्र से काटते हुए अपनी-अपनी विजय प्राप्त करने के लिए अत्यन्त क्रुद्ध हो गये ॥ ९२ ॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि ।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ ९३ ॥

अन्वय:—जयश्री. विक्रमव्यतिहारेण द्वयोः अपि अन्तरा वेदी मत्तवारणयोः इव सामान्या अभूत ।

विक्रमेति । जयश्रीर्विक्रमस्य व्यतिहारेण पर्यायक्रमेणतयोर्द्वयोरपि अन्तरा-मध्ये। अव्ययमेतत्। वेदिर्वेद्याकारा भित्तिर्मत्तवारणयोरिव सामान्या साधारणाऽभूत् नत्वन्यतरनियतेत्यर्थः। अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र द्वयोरित्यत्र च "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया न भवति । अन्तराशब्दस्योक्तरीत्यान्यनान्वयात् । मध्ये कामपि भित्तिं कृत्वा गजौ योधयन्तीति प्रसिद्धिः ।

भावार्थ—कभी राम अपना पराक्रम दिखलाते थे कभी रावण, इसलिए विजयश्री कभी राम के पास जाती थी कभी रावण के पास, उसकी दशा वैसी ही हो गयी थी जैसे लड़ते हुए मतवाले हाथियों के बीच की दिवार की होती है ॥ ९३ ॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।
परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ ९४ ॥

अन्वय.—कृतप्रतिकृतप्रीतैः सुरासुरैः तयोः मुक्तां पुष्पवृष्टिं परस्परशरव्राताः न सेहिरे ।

कृतेति । स्वयमस्त्रप्रयोगः कृतं प्रतिकृतं परकृतप्रतीकारस्ताभ्यां प्रीतैः सुरासुरैर्यथासंख्यं तयो रामरावणयोर्मुक्तां पुष्पवृष्टिं द्वयोमिति शेषः। परस्परं शरव्रात न सेहिरे । अहमेवालं किं त्वयेति चान्तराल एवेतरबाणवृष्टिरितरेतरपुष्पवृष्टिमवारयदित्यर्थः ।

भावार्थ—जब राम बाण चलाते थे या रावण का वार रोकते थे तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते थे और जब राम पर रावण प्रहार करता था या उनका वार रोकता था तब असुर उस पर फूल बरसाते थे, पर ये दोनों इतना अधिक बाण छोड़ते थे कि पुष्प भूमि पर न गिर कर आकाश में ही तितर-बितर हो जाते थे ॥ ९४ ॥

अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—अथ रक्षः अयःशंकुचितां शतघ्नीं हृतां वैवश्वतस्य कूटशाल्मलिम् इव शत्रवे अक्षिपत्।

अथ इति। अथ रक्षो रावणोऽयसः लोहस्य शङ्कुभिः कीलैश्चितां कीर्णा शतघ्नीं लोहकण्टककीलितयष्टिविशेषताम्। 'शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसंचिता। यष्टिः' इति केशवः। हृतां विजयलब्धां वैवस्वतस्यान्तकस्य कूटशाल्मलिरिति शत्रवे राघवायाक्षिपत्क्षिप्तवान्। कूटशाल्मलिरिव कूटशाल्मलिरिति व्युत्पत्त्या वैवस्वतगदाया गौणी संज्ञा कूटशाल्मलिर्नामैकमूलप्रकृतिः कण्टकीवृक्षविशेषः। 'रोचनः कूटशाल्मलिः' इत्यमरः। तत्सादृश्यं च गदया अयःशंकुचितत्वादनुसंधेयम्।

भावार्थ—इसके बाद रावण ने लोहे की कीलों से बनी हुई वह शतघ्नी राम को मारने के लिए चलाई जो यमराज की गदा शाल्मलि के समान भयंकर थी ॥ ९५ ॥

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम्।
अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—राघवः रथम् अप्राप्तां तां सुरद्विषां आशां च अर्द्धचन्द्रमुखैः बाणैः कदलीमुखं चिच्छेद।

राघव इति। राघवो रथमप्राप्तां तां शतघ्नीं सुरद्विषां रक्षसामाशां विजयतृष्णां च। 'आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता' इति विश्वः अर्धचन्द्र इव मुखं येषां तैर्बाणैः। कदली वत्सुखं यथा तथा चिच्छेद। अथवा कदल्यामिव सुखमक्लेशो यस्मिन्कर्मणि तदिति विग्रहः।

भावार्थ—राक्षसों को पूरी आशा हो गई थी उससे राम अवश्य मर जायेंगे। पर राम ने उस शतघ्नी का अपने रथ के पास पहुँचने के पहले ही अर्द्धचन्द्राकार फलों वाले बाणों से केले के समान सुखपूर्वक काट दिया यह देखकर राक्षसों की आशा पर पानी फिर गया ॥ ९६ ॥

अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—एकधनुर्धरः प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधं अमोघं ब्राह्मं अस्त्रं अस्मै च धनुषि सन्दधे।

अमोघमिति। एकोऽद्वितीयो धनुर्धरो रामः प्रियायाः शोक एव शल्यं तस्य निष्कर्षणमुद्धारकं यदौषधं तदमोघं सफलं ब्राह्मं ब्रह्मदेवताकमस्त्रमभिमन्त्रितं बाणमस्मै रावणाय च तद्वधार्थमित्यर्थः। धनुषि संदधे।

भावार्थ—अद्वितीय धनुर्धारी राम ने रावण को मारने के लिए धनुष पर वह ब्रह्मास्त्र चढ़ाया जो कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह ऐसा था मानों सीता के शोकरूपी काँटे को निकालने के लिए अचूक औषधि हो॥ ९७॥

तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम्।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम्॥ ९८॥

अन्वय—व्योम्नि शतधा भिन्नं दीप्तिमन्मुखं तत् करालफणमण्डलं महोरगस्य वपुः इव ददृशे।

तदिति। व्योम्नि शतधा भिन्नं प्रसृत दीप्तिमन्ति मुखानि यस्य तद्ब्रह्मास्त्रं करालं भीषणं तुङ्गं वा फणमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम्। 'करालो दन्तुरे तुङ्गे करालो भीषणेऽपि च' इति विश्वः। महोरगस्य शेषस्य वपुरिव ददृशे।

भावार्थ—वह ब्रह्मास्त्र आकाश में सैंकड़ों रूपों में फैल गया और उसके अग्रभाग चमकने लगे, वह ऐसा मालूम पड़ता था मानो फणों का भयंकर चमकीला मण्डल लिए शेषनाग हों॥ ९८॥

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत्।
स रावणशिरःपंक्तिमज्ञातव्रणवेदनाम्॥ ९९॥

अन्वय—स मन्त्रप्रयुक्तेन तेन अज्ञातव्रणवेदना रावणशिरःपंक्तिम् निमेषार्धात् अपातयत्।

तेनेति। स रामो मन्त्रप्रयुक्तेन तेनास्त्रेणाज्ञातव्रणवेदनामतिशीघ्रपातादननुभूतव्रणदुःखा रावणशिरःपंक्तिं निमेषार्धादपातयत्पातयामास।

भावार्थ—मन्त्रपूर्वक चलाये हुए उस ब्रह्मास्त्र से राम ने रावण के दशों शिरों को आधे पल में काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया, जिससे रावण को थोड़ा सा भी वेदना का अनुभव नहीं हुआ॥ ९९॥

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा॥ १००॥

अन्वयः—पतिष्यतः रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा वीचिभिन्ना अप्सु बालार्कप्रतिमा इव रराज।

बालेति। पतिष्यतः आसन्नपातस्य रक्षःकायस्य रावणकलेवरस्य छिद्यन्त इति छेदाः खण्डाः। कण्ठानां ये छेदास्तेषां परम्परा पङ्क्तिः। वीचिभिर्भिन्ना नानाकृताऽप्सु बालार्कस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बमिव रराज। अर्कस्य बालविशेषणमारुण्यसिद्ध्यर्थमिति भावः।

भावार्थ—रावण के शिर कटकर गिरते हुए ऐसे अच्छे लगते थे जैसे चञ्चल लहरों में प्रातःकाल के सूर्य का प्रतिबिम्ब शोभा देता है ॥ १०० ॥

मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि।
मनो नातिविशश्वास पुनः संधानशङ्किनाम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—पतितानि तस्य शिरांसि पश्यताम् अपि पुनः सन्धानशङ्किनां मरुतां मनः नातिविशश्वास।

मरुतामिति। पतितानि तस्य रावणस्य शिरांसि पश्यतामपि पुनः संधानशङ्किनाम्। पूर्वं तथादर्शनादिति भावः। मरुताममराणाम्। 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः। मनो चित्तं नातिविशश्वासातिविश्वासं न प्राप।

भावार्थ—रावण के कटे हुए सिरों को देखकर भी देवताओं को विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें यह डर था कि कहीं ये पुनः जुड़ न जाँय ॥ १०१ ॥

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपाना-
मनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः
सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥ १०२ ॥

अन्वयः—अथ मदगुरुपक्षैः अलिवृन्दैः लोकपालद्विपानां गण्डभित्तीः विहाय अनुगतं सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं उपनतमणिबन्धे पौलस्त्यशत्रोः मूर्ध्नि पपात।

अथेति। अथ मदेन गजगण्डसंचारसंक्रान्तेन गुरुपक्षैर्भारायमाणपक्षैरलिवृन्दैर्लोकपालद्विपानानैरावतादीनां गगनदन्तिनां गण्डभित्तीर्विहायानुगतमनुद्रुतं सुरभि सुगन्धि। 'सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः गन्धोपले सौरभेय्यां सल्लकीमातृभेदयोः॥ सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभि स्मृतम्॥' इति विश्वः। सुरविमुक्तं पुष्पवर्षमुपनत आसन्नो मणिबन्धो राज्याभिषेकसमये भावी यस्य तस्मिन्पौलस्त्यशत्रौ रामस्य मूर्ध्नि शिरशि पपात। इदमेव राज्याभिषेकसूचकमिति भावः। मालिनीवृत्तमेतत्।

भावार्थ—जिस राम पर भावी राज्याभिषेक का जल छिड़का जाने वाला था उन्ही के सिर पर देवताओं ने वे फूल वरसाये जिनकी सुगन्ध पाकर हाथियों का मदजल पान करने से भीगे पाँखवाले भ्रमरसमूह दिक्पालों के हाथियों के

मदस्रावी कपोलों को छोड़कर रस लेने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़े॥ १०२॥

यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम्।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय॥ १०३॥

अन्वय—हरेः यन्ता सपदि संहृतकार्मुकज्यं अनुष्ठितदेवकार्यं राघवं आपृच्छ्य नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि हरिसहस्रयुजं रथं ऊर्ध्वं निनाय।

यन्तेति। हरेरिन्द्रस्य यन्ता मातलिः सपदि संहृतकार्मुकज्यमनुष्ठितं देवकार्यं रावणवधरूपं येन तं राघवमापृच्छ्य साधु यामीत्यामन्त्र्य नामाङ्कैर्नामाक्षरचिह्नैः रावणशरैरङ्किता चिह्निता केतुयष्टिर्ध्वजदण्डो यस्य तं। हरीणा वजिनां सहस्रेण युज्यत इति हरिसहस्रयुक् तम्। 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः। रथमूर्ध्वं निनाय नीतवान्।

भावार्थ—राम ने धनुष की डोरी उतार दी क्योंकि उन्होंने देवताओं का कार्य पूरा कर दिया। इन्द्र का सारथी मातली उनसे आज्ञा लेकर अपना सहस्र घोड़ों से युक्त रथ लेकर स्वर्ग में चला गया, उस रथ की ध्वजा के दण्ड पर अभी तक रावण के नाम खुदे हुए वाणों के चिह्न बने हुए थे॥ १०३॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे सङ्गमय्य श्रियं वैरिणः।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम्॥ १०४॥

अन्वय—रघुपतिः अपि जातवेदोविशुद्धां प्रियां प्रगृह्य प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणः श्रियं संगमय्य रविसुतसहितेन ससौमित्रिणा तेन अनुयातः भुजः विजित विमान रत्नाधिरूढः पुरीं प्रतस्थे।

रघुपतिरिति। रघुपतिरपि जातवेदस्याग्नौ विशुद्धां जातशुद्धिं प्रियां सीतां प्रगृह्य स्वीकृत्य प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणो रावणस्य श्रियं राजलक्ष्मीं सङ्गमय्य सङ्गतां कृत्वा। गमेर्ण्यन्ताल्ल्यप्प्रत्ययः। "मितां ह्रस्वः"। "ल्यपि लघुपूर्वात्" इति णेरयादेशः। रविसुतसहितेन सुग्रीवयुक्तेन ससौमित्रिणा सलक्ष्मणेन तेन विभीषणेनानुयातोऽनुगतः सन् विमानं रत्नमिव विमानरत्नमित्युपमितसमासः। भुजविजितं यद्विमानरत्नं पुष्पकं तदारूढः सन्। पुरीमयोध्यां प्रतस्थे। "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम्। अत्र प्रस्थानक्रियाया अकर्मकत्वेऽपि तदङ्गभूतोद्देशक्रियापेक्षया

सकर्मकत्वम् । अस्ति च धातूनां क्रियान्तरोपसर्जनकस्वार्थाभिधायकत्वम् । यथा 'कुसूलान्पचति' इत्यादावादानक्रियागर्भः पाको विधीयत इति ।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

भावार्थ—राम ने रावण की राज्यश्री उसके भाई प्रियमित्र विभीषण को सौंप दी और अग्नि परीक्षा में विशुद्ध सीता को ग्रहण करके सुग्रीव विभीषण और लक्ष्मण के साथ अपने बाहुबल से जीते हुये पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या पुरी की ओर प्रस्थान किया ॥ १०४ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित
अन्वय और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका में
रघुवंश महाकाव्य का रावणवधनामक
द्वादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

०

त्रयोदशः सर्गः

त्रैलोक्यशल्योद्धरणाय सिन्धोश्चकार बन्धं मरणं रिपूणाम् ।
पुण्यप्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

अन्वयः—गुणज्ञः सः रामाभिधानः हरिः शब्दगुणं आत्मनः पदं विमानेन गाहमानः (सन्) रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः जायां इति उवाच ।

अथेति । अथ प्रस्थानानन्तरम् । जानातीति ज्ञः । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः क" इत्यनेन कप्रत्ययः । गुणानां ज्ञो गुणज्ञः । रत्नाकरादिवर्ण्यवर्यगुणाभिज्ञ इत्यर्थः । स रामाभिधानो हरिर्विष्णुः शब्दो गुणो यस्य तच्छब्दगुणमात्मनः स्वस्य पदं विष्णुपदम् । आकाशमित्यर्थः । 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः । (शब्दगुणकमाकाशम्) इति तार्किकाः । विमानेन पुष्करेण विगाहमानः सन् रत्नाकरं समुद्रं वीक्ष्य मिथो रहसि । 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः । जायां पत्नीं सीतामिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच । रामस्य हरिरित्यभिधानं निरङ्कुशमहिमद्योतनार्थम् । मिथोग्रहणं गोष्ठीविश्रम्भसूचनार्थम् ।

भावार्थ—इसके बाद विमान में चढ़कर उस आकाश में चलते हुए जिसका गुण शब्द है गुणी एवं राम कहलाने वाले भगवान् विष्णु समुद्र को देखकर अपनी प्रिया सीता से यह कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

अन्वयः—हे वैदेहि ! आमलयात् मत्सेतुना विभक्तं फेनिलं अम्बुराशिं छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नं आविष्कृतचारुतारकं आकाशम् इव पश्य ।

वैदेहीति । हे वैदेहि सीते ! आमलयान्मलयपर्यन्तम् । "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति पञ्चमी । पदद्वयं चैतत् । मत्सेतुना विभक्तं द्विधाकृतम् अत्यायतसेतुनेत्यर्थः । हर्षाधिक्याच्च मद्ग्रहणम् । फेनिलं फेनवन्तम् । "फेनादिलच्च" इतीलच्प्रत्ययः । क्षिप्रकारी चायमिति भावः । अम्बुराशिं छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नमाविष्कृतचारुतारमाकाशमिव पश्य । मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थं इति हृदयम् । छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ।

भावार्थ—हे जनकनन्दिनी ! फेन से भरे हुए इस समुद्र को तो देखो, जिसे मेरे बताये हुए पुल ने मलय पर्वत तक इस प्रकार दो भागों में बाँट दिया है जिस प्रकार सुन्दर ताराओं से भरे हुए शरद ऋतु के खुले आकाश को आकाश गंगा दो भागों में बाँट देती है ॥ २ ॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

अन्वयः—यियक्षोः गुरोः मेध्ये तुरङ्गे कपिलेन रसातलं संक्रमिते (सति) तदर्थम् उर्वीम् अवदारयद्भिः नः पूर्वैः अयं परिवर्धितः किल ।

गुरोरिति । यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः । यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरगे हये कपिलेन मुनिना रसातलं संक्रमिते सति तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्वैर्वृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल । किलेत्यैतिह्ये । अतो नः पूज्य इति भावः । यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां भ्रान्तिः । तन्मतेनैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ।

भावार्थ—सीते ! जानती हो, यह समुद्र कैसे बना है ? सुनो, जब हमारे पूर्वज महाराज सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब इन्द्र ने उस यज्ञ सम्बन्धी घोड़े को चुराकर पाताल में कपिल मुनि के पास बाँध दिया। महाराज सगर के साठ हजार

पुत्रों ने उस घोड़े की खोज करने के लिए सारी पृथ्वी को खोद डाला। उसी से यह समुद्र इतना बड़ा लम्बा चौड़ा बन गया। इसलिए यह हम लोगों का पूज्य है॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अविन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

अन्वयः—अर्कमरीचयः अस्मात् गर्भं दधति अत्र वसूनि वृद्धिं अश्नुवते, असौ अविन्धनं वह्निं बिभर्ति, अनेन प्रह्लादनं ज्योतिः अजनि ।

गर्भमिति। अर्कमरीचयोऽस्मादब्धेः अपादानात् गर्भमम्मयं दधति वृष्टयर्थमित्यर्थः। अयमर्थो दशमसर्गे 'ताभिर्गर्भः०' इत्यत्र स्पष्टीकृतः। अयं लोकोपकारीति भावः। अत्राब्धौ वसूनि धनानि। 'धने रत्ने वसुस्मृतम्' इति विश्वः। विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति संपद्यानित्यर्थः। असावाप इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्निं बिभर्ति। अपकारेऽप्याश्रितं न त्यजतीति भावः। अनेन प्रह्लादनमाह्लादकं ज्योतिश्चन्द्रोऽजनि जनितम्। जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। सौम्य इति भावः।

भावार्थ—यह समुद्र बड़े काम का है, देखो इसी में से सूर्य की किरणें जल खींचती हैं और पृथ्वी पर बरसती हैं। इसी में रत्न बढ़ते हैं, यह अपनी गोद में अपने शत्रु बड़वानल को भी पालता है और इसी ने संसार के प्रकाशक चन्द्रमा को उत्पन्न किया है॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

अन्वयः—तां तां अवस्थां प्रतिपद्यमानं महिम्ना दश दिशः व्याप्य स्थितम् विष्णो इव अस्य रूपं ईदृक्तया इयत्तया वा अनवधारणीयम्। (अस्ति)।

तां तामिति। तां तामनेकाम् "नित्यवीप्सयोः" इति वीप्सायां द्विरुक्तिः। अवस्थामक्षोभाद्यवस्थां विष्णुपक्षे सत्त्वाद्यवस्थां प्रतिपद्यमानं भजमानं महिम्ना दश दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोरिवास्य रत्नाकरस्य रूपं स्वरूपमुक्तरीत्या बहुप्रकारत्वाद्व्यापकत्वाच्चेदृक्तयेयत्तया वा प्रकारतः परिमाणतश्चानवधारणीयं दुर्निरूपम्।

भावार्थ—यह समुद्र सदा अपना रूप भी बदलता रहता है और यह इतना बड़ा है कि दशों दिशाओं में दूर तक फैला हुआ है, इसलिए जिस प्रकार भगवान विष्णु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे ऐसे और इतने बड़े हैं उसी प्रकार इसके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता है कि ऐसा और इतना बड़ा है॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥

अन्वयः—युगान्तोचितयोगनिद्र पुरुषः लोकान् संहृत्य नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन प्रथमेन धात्रा संस्तूयमान (सन्) अमुम् अधिशेते ।

नाभीति । युगान्ते कल्पान्त उचिताः परिचिता योगाः स्वात्मनिष्ठैव निद्रेव निद्रा यस्य । पुरुषः सो विष्णुर्लोकान् भूर्भुवादीन्संहृत्य नाभ्या प्ररूढं यदम्बुरुहं पद्म तदासनेन तन्नाभिकमलाश्रयेण प्रथमेन धात्रा दक्षादीनामपि स्रष्ट्रा पितामहेन संस्तूयमानः सन् अमुमधिशेते । अमुष्मिञ्छेत इत्यर्थः । कल्पान्तेऽप्यस्तीति भावः ।

भावार्थ—प्रलयकाल में जब आदि पुरुष भगवान् विष्णु संसार का संहार कर चुकते हैं तब यहीं आकर योगनिद्रा में सोते हैं और उनके नाभि कमल से निकले हुए ब्रह्मा सदा स्तुति किया करते हैं । अर्थात् यह प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता ॥ ६ ॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७॥

अन्वयः—पक्षच्छिदा गोत्रभिदा आत्तगन्धा महीध्राः शतशः शरण्यं एनं परेभ्यः उपप्लविन. धर्मोत्तरं मध्यमं इव आश्रयन्ते ।

पक्षेति । पक्षच्छिदा गोत्रभिदेन्द्रेण । उभयत्र "सत्सूद्विषु" इत्यादिना क्विप् । आत्तगन्धा हृतगर्वाः । अभिभूता इत्यर्थः । 'गन्धो गन्धक आमोद लेशे संबन्धगर्वयोः' इति विश्वः । 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वता. । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । शतं शतं शतशः शरण्यं रक्षणासमर्थमेनं समुद्रं परेभ्यः शत्रुभ्य उपप्लविनो भयवन्तो नृपा धर्मोत्तरं धर्मप्रधान मध्यम मध्यभूपालमिव आश्रयन्ते । 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तर.' इति कामन्दकः । आर्तबन्धुरिति भावः ।

भावार्थ—जिस प्रकार शत्रुओं से आक्रान्त हो कर राजा लोग किसी धर्मात्मा और शरणागतरक्षक राजा का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार उन सैकड़ों पहाड़ों ने इसकी शरण ली थी जिनके पंखों को काटकर उनका अभिमान चूर कर दिया था ॥ ७ ॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

अन्वयः—आदिभवेन पुंसा रसातलात् प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः भुवः प्रलय-प्रवृद्धं अस्य अच्छं अम्भः मुहूर्तं वक्त्राभरणं बभूव ।

रसातलादिति । आदिभवेन पुंसाऽऽदिवराहेण रसातलात्प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः कृतोद्धरणक्रियायाः । विवाहक्रिया च व्यज्यते । भुवो भूदेवतायाः प्रलये प्रवृद्ध-मस्याब्धेरच्छमम्भो मुहूर्तं वक्त्राभरणं लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठनं बभूव । तदुक्तम्—"उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना" इति ।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ में जब आदिपुरुष भगवान् वराह पाताल से पृथ्वी का उद्धार कर ले जा रहे थे उस समय प्रलय से बढ़ा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षण भर के लिए पृथ्वी की घूंघट सा बन गया था ॥ ८ ॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः तरङ्गाधरदानदक्षः असौ मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः सिन्धूः स्वयं पिबति तरङ्गाधरं पाययते च ।

मुखेति । अन्येषां पुंसां सामान्या साधारणा न भवतीत्यनन्यसामान्यो कलत्रेषु वृत्तिर्भोगरूपा यस्य स तथोक्तः । इममेवार्थं प्रतिपादयति—तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रो मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेरणं विना प्रगल्भा धृष्टाः सिन्धूर्नदीः । 'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च' इति विश्वः । स्वयं पिबति पाययते च । तरङ्गाधरमिति शेषः । "न पादम्याङ्य०" इत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तान्नित्यं परस्मैपदनिषेधः । "गतिबुद्धिप्रत्यवसनार्थ०" इत्यादिना सिन्धूनां कर्मत्वम् । दम्पत्योर्युगपत्परस्पराधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः ।

भावार्थ—प्रिये ! देखो, दूसरे लोग केवल स्त्रियों का अधर पान करते हैं; किन्तु अपना अधर उन्हें नही पिलाते; पर यह समुद्र उस विषय में भी औरों से बढ़कर है, क्योंकि जब ढीठ होकर नदियाँ चुम्बन के लिए अपना मुख इसके आगे बढ़ाती हैं तब यह बड़ी चतुरता से अपना तरंग रूप अधर उन्हें पिला देता है और उनका अधर स्वयं पीता है ॥ ९ ॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥

अन्वयः—अमी तिमयः विवृताननत्वात् ससत्त्वं नदीमुखाम्भः आदाय सरन्ध्रैः शिरोभिः जलप्रवाहान् वितन्वन्ति ।

ससत्त्वमिति। अमी तिमयो मत्स्यविशेषाः तदुक्तम्—"अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः" इति विवृताननत्वाद्व्यात्तमुखत्वाद्धेतोः। आननं विवृत्येत्यर्थः। ससत्त्वं मत्स्यादिप्राणिसहितं नदीमुखाम्भ आदाय संमीलयन्तश्च ञ्चपुटानि सद्भट्टयन्त सन्त मरन्ध्रैः शिरोभिर्जलप्रवाहानूर्ध्वं वितन्वन्ति। जलयन्त्रक्रीडासमाधिर्व्यज्यते।

भावार्थ—यह देखो, ये बड़ी-बड़ी मछलियाँ पहले अपना-अपना मुँह खोलकर अन्य जन्तुओं के सहित समुद्र का जल पी जाती है और फिर मुँह बन्द करके अपने मस्तकों के छिद्रों से फुहेरे के समान पानी की जलधारायें छोड़ने लगती हैं॥ १०॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम्॥ ११॥

अन्वयः—सहसोत्पतद्भिः मातङ्गनक्रैः द्विधाभिन्नान् समुद्रफेनान् पश्य ये कपोलसंसर्गितया कर्णक्षणचामरत्वं व्रजन्ति।

मातङ्गेति। सहसोत्पतद्भिर्मातङ्गनक्रैर्मातङ्गाकारैर्ग्राहैर्द्विधा भिन्नान्समुद्रफेनान्पश्य। ये फेना एषां जलमातङ्गनक्राणां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पणेन हेतुना कर्णेषु क्षणं चामरत्वं व्रजन्ति।

भावार्थ—गजाकार मगरों के अचानक उठने से दो भागों में विभक्त समुद्र के फेन को तो देखो—जो ऐसे सुन्दर लगते हैं मानो इनके दोनों कानों पर चँवर टँगे हों॥ ११॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः॥ १२॥

अन्वयः—वेलानिलाय प्रसृता महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः एते भुजङ्गाः सूर्यांशु सम्पर्कसमृद्धरागैः फणस्थैः मणिभिः व्यज्यन्ते।

वेलेति। वेलानिलाय वेलानिलं पातुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इत्यनेन चतुर्थी। प्रसृता निर्गता महोर्मीणां विस्फूर्जथुरुद्रेकः। "ट्वितोऽथुच्" इत्यथुच्प्रत्ययः तस्मान्निर्विशेषा दुर्ग्रहभेदा एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्केण समृद्धरागैः प्रवृद्धकान्तिभिः फणस्थैर्मणिभिर्व्यज्यन्त उन्नीयन्ते।

भावार्थ—ये जो बड़ी-बड़ी लहरों के समान दिखाई दे रहे हैं ये साँप हैं, जो तट का वायु पीने के लिए बाहर निकल आये हैं, पर जब सूर्य की किरणों में इनकी फणाओं की मणियाँ चमक जाती हैं तब वे पहचान में आ जाते हैं॥ १२॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम्॥ १३॥

अन्वयः—तव अधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु सहसोर्मिवेगात् पर्यस्तम् ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं एतत् शंखयूथम् कथंचित् अपक्रामति ।

तवेति। तवाधरस्पर्धिषु अधरसदृशेष्वित्यर्थः। विद्रुमेषु प्रवालेषु सहसोर्मिवेगात्पर्यस्तं प्रोत्क्षिप्तमूर्ध्वाङ्कुरैर्विद्रुमप्ररोहैः प्रोतमुखं स्यूनवदनमेतच्छङ्खानां यूथं वृन्दं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति विलम्ब्यापसरतीत्यर्थः।

भावार्थ—देखो तुम्हारे अधर के समान लाल मूँगों से लहरों की झोंक में टकरा जाने से इन जीवित शंखों के मुँह छिद गये हैं और उस पीड़ा से ये बेचारे बड़ी कठिनाई से इधर-उधर चल पा रहे हैं ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥

अन्वयः—पयांसि पातुं प्रवृत्तमात्रेण आवर्तवेगात् भ्रमता घनेन अयं समुद्रः भूयः गिरिणा प्रमथ्यमानः इव भूयिष्ठं आभाति ।

प्रवृत्तेति। पयांसि पातुं प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रे न तु पीतवांस्तेनावर्तवेगात्। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। भ्रमता घनेन मेघेनायं समुद्रो भूयः पुनरपि गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमान इव भूयिष्ठमत्यन्तमाभाति।

भावार्थ—वह देखो, काले बादल समुद्र का पानी पीने के लिए आये हैं और समुद्र के भँवरों के साथ-साथ बड़ी तीव्र गति से चक्कर काट रहे हैं, इस समय वह समुद्र ऐसा जान पड़ रहा है मानो मन्दराचल से यह पुनः मथा जा रहा हो ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

अन्वयः—अयश्चक्रनिभस्य लवणाम्बुराशेः दूरात् तन्वी तमालतालीवनराजिनीला वेला धारानिबद्धा कलङ्करेखा इव आभाति ।

दूरादिति। अयश्चक्रनिभस्य लोहचक्रसदृशस्य लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्व्यणुत्वेनावभासमाना तमालतालीवनराजिभिर्नीला वेला तीरभूमिर्धारानिबद्धा चक्राश्रिता कलङ्करेखा मालिन्यरेखेव आभाति। 'मालिन्यरेखां तु कलङ्कमाहुः' इति दण्डी।

भावार्थ—देखो, दूर होने के कारण लोहे के हाल समान पतला ताल और तमाल वृक्षों के समूह से काला दिखाई देनेवाला यह समुद्र का तट ऐसा दिखाई दे रहा है मानों चक्र की धार पर मुर्चा जम गया हो ॥ १५ ॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि !।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव विम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

अन्वय:—हे आयताक्षि ! वेलानिल: केतकरेणुभि: ते आननं सम्भावयति बिम्बाधरबद्धतृष्णम् मां मण्डलकालहाने: अक्षमं वेत्ति इव ।

वेलेति । हे आयताक्षि ! 'वेला स्यात्तीरनीरयो:' इति विश्व: । वेलानिल: समुद्रतीरवायु: केतकरेणुभिस्ते आननं सम्भावयति । किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते—बिम्बाधरे बद्धतृष्णं मा मण्डनेनाभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बस्तया अक्षममसहमानं कर्मणि षष्ठी । कालहानिमसहमानं वेत्तीव वेत्ति किम् । नो चेत्कथं सम्भावयेदित्यर्थ: ।

भावार्थ—हे विशाललोचने प्रिये ! समुद्रतट का वायु तुम्हारे मुखको केतकी के पराग से अलंकृत कर रहा है, .मानो वह यह जान गया है कि मैं तुम्हारे अधरों को चूमने वाला ही हूँ और अब अधिक शृङ्गार करने की राह नहीं देख सकता ॥ १६ ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधे: ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

अन्वय—एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्ता: पटलं फलावर्जितपूगमालम् पयोधे: कूलं विमानवेगात् मुहूर्तेन प्राप्ता: ।

एत इति । एते वयं सैकतेषु भिन्नाभि: स्फुटिताभि: शुक्तिभि: पर्यस्तानि परित: क्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिस्तत्तथोक्तं फलैरावर्जिता आनमिता: पूगमाला यस्मिस्तत्पयोधे: सागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ता: ।

भावार्थ—यह देखो, विमान के तेजी से चलने के कारण क्षण भर में ही हम लोग समुद्र के उस तट पर पहुँच गये, जहाँ बालू पर सीपों के फैल जाने से मोती बिखरे पड़े हैं और फलों के भार से सुपारी के पेड़ झुके खड़े हैं ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि ! दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवत: समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमि: ॥ १८ ॥

अन्वय.—हे करभोरु ! मृगप्रेक्षिणि ! तावत् पश्चात् मार्गे दृष्टिपातं कुरुष्व । एषा सकानना भूमि: विदूरी भवत. समुद्रात् निष्पतति इव ।

कुरुष्वेति । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहि:' इत्यमर: । करभ इवोरू यस्या: सा करभोरू: । "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ् । तस्या: सम्बुद्धिर्हे करभोरु ! मृगवत्प्रेक्षत इति विग्रह: । हे मृगप्रेक्षिणि ! तावत्पश्चान्मार्गे लङ्घिताध्वनि दृष्टिपातं कुरुष्व । एषा सकानना भूमिर्विदूरीभवत: समुद्रान्निष्पतति निष्क्रामतीव । विदूरशब्दाद्विदेष्यनिध्नाच्च्वि ।

भावार्थ—हे कदली दल के समान जङ्घावाली मृगनयनीप्रिये ! जरा पीछे की

ओर तो देखो, दूर चले आने के कारण यह जंगलों से भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई दे रही है मानों समुद्र से अभी निकल पड़ी हो ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे देवि !) विमानं मे मनसः अभिलाषः यथाविधः प्रवर्तते, तथा पश्य, क्वचित् सुराणां क्वचित् घनानां क्वचित् पततां च पथा संचरते ।

क्वचिदिति। हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधस्तथा प्रवर्तते पश्य । क्वचित्सुराणां पथा मार्गेण सञ्चरते क्वचिद् घनानां क्वचित्पततां पक्षिणां च पथा संचरते। "समस्तृतीयायुक्तात्" इति सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ।

भावार्थ—हे प्रिये ! मैं जिधर चाहता हूँ उधर ही यह विमान घूम जाता है, यह कभी तो देवताओं के मार्ग में उड़ता चलता है, कभी बादलों के मार्ग से पहुँच जाता है और कभी पक्षियों के मार्ग (आकाश) में उड़ने लगता है ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

अन्वयः—महेन्द्रद्विपदानगन्धिः त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः असौ आकाशवायुः दिनयौवनोत्थान् ते मुखे स्वेदलवान् आचामति ।

असाविति। महेन्द्रद्विपदानगन्धिरैरावतमदगन्धिः। त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा। "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः। तस्या वियद्गङ्गाया वीचीनां विमर्देन सम्पर्केण शीतोऽसावाकाशवायुर्दिनयौवनोत्थामध्याह्नसम्भवांस्ते मुखे स्वेदलवानाचामति हरति। अनेन सुरपथसञ्चारो दर्शितः।

भावार्थ—ऐरावत के मद से सुगन्धित आकाश गङ्गा की लहरों के स्पर्श से शीतल यह आकाश का वायु तुम्हारे मुखपर दोपहर की गर्मी से उत्पन्न हुए पसीने की बूँदों को सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि ! कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे चण्डि ! कुतूहलिन्या त्वया वातायनलम्बितेन करेण स्पृष्टः उद्भिन्नविद्युद्वलयः घनः ते द्वितीयं आभरणं आमुञ्चति इव ।

करेणेति। हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनास्रंसितेन करेण स्पृष्ट

उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीवार्पयतीव। चण्डी-त्यनेन कोपनशीलत्वाद्भीत. क्षिप्रं त्वा मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते।

भावार्थ—हे प्रिये ! जब तुम कौतुकवश अपना हाथ विमान से बाहर निकालकर बादल को छूने लगती हो तो तुम्हारे मणिबन्ध चारों तरफ बिजली चमक जाती है उस समय मालूम पड़ता है मानो वह बादल तुम्हारे हाथ में दूसरा कंकण पहना रहा हो ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥

अन्वय:—अमी चीरभृत: जनस्थानम् अपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि चिरोज्झितानि आश्रममण्डलानि यथास्वं अध्यासते।

अमी इति। अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्नं मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजा: पर्णशाला येषु तानि। 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमर.। चिरोज्झितानि राक्षसभयादित्यर्थ:। आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्य-थास्वं स्वमनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति।

भावार्थ—प्रिये ! नीचे देखो, रावण आदि राक्षसों के मारे जाने की बात सुनकर वल्कल वस्त्रधारी इन तपस्वियों ने समझ लिया है कि अब कोई बाधा नहीं रही। इसलिए ये नई २ कुटिया बनाकर बहुत दिनों से छोड़े हुए आश्रमों में पहले के समान निवास कर रहे हैं ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदु:खादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

अन्वय.—सा स्थली एषा यत्र त्वां विचिन्वता मया त्वच्चरणारविन्द-विश्लेषदु:खात् इव बद्धमौनं उर्व्यां भ्रष्टं एकं नूपुरं अदृश्यत।

सैषेति। सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा दृश्यत इत्यर्थ:। यत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया। त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दु:खं तस्मादिव बद्धमौनं नि:शब्दम्। उर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीर:। 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमर.। अदृश्यत दृष्टम्। हेतूत्प्रेक्षा।

भावार्थ—प्रिये ! देखो यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूंढते हुए मैंने पृथ्वी पर पड़े हुए तुम्हारे एक नूपुर को पाया था। गुप-चुप पड़ा हुआ वह ऐसा मालूम पड़ रहा था मानों तुम्हारे चरणों से अलग हो जाने के दु:ख से चुप हो गया हो ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु ! यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे भीरु ! त्वं रक्षसा यतः अपनीता, तं मार्गं वक्तुं अशक्नुवत्यः एताः लताः आवर्जितपल्लवाभिः शाखाभिः अदर्शयन् ।

त्वमिति । हे भीरु भयशीले ! "ऊङुतः" इत्यूङ् । ततो नदीत्वात्संबुद्धौ ह्रस्वः । त्वं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण । सार्वविभक्तिकस्तसिः । अपनीताऽपहृता तं मार्गं वागिन्द्रियाभावाद्वक्तुमशक्नुवत्य एता लतावीरुध आवर्जिता नमिताः पल्लवाः पाणिस्थानीया याभिस्ताभिः शाखाभिः स्वावयवभूताभिः कृपया मेऽदर्शयन् । हस्तचेष्टया सूचयन्नित्यर्थः । 'शाखा वृक्षान्तरे भुजे' इति विश्वः । लतादीनामपि ज्ञानमस्त्येव । तदुक्तं मनुना—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता" इति ।

भावार्थ—हे भीरु प्रिये ! रावण तुम्हें जिस मार्ग से ले गया था उस मार्ग को ये लतायें मुझको वताना चाहती थीं पर वोल न सकने के कारण इन्होंने अपनी पत्तों वाली डालियों को ही उधर झुकाकर मुझे तुम्हारा पता वता दिया था ॥ २४ ॥

मृग्यश्च दर्भाकुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समवोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

अन्वयः—दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षा मृग्यः उत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः तव अगतिज्ञं मां समवोधयन् ।

मृग्यश्चेति । दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षा निस्पृहा मृग्यो मृगाङ्गनाश्चोत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रवर्तयन्त्यः सत्यस्तवागतिज्ञं गत्यनभिज्ञं समवोधयन् । दृष्टिचेष्टया त्वद्गतिमवोधयन्नित्यर्थः ।

भावार्थ—हरिणियों ने भी जव देखा कि मुझे तुम्हारे जाने के मार्ग का पता नहीं लग रहा है तव वे अपनी उठी हुई पलकों वाली आँखें दक्खिन की ओर करके मुझे तुम्हारा मार्ग समझाने लगीं ॥ २५ ॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्वरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—माल्यवतः गिरेः अम्वरलेखि शृङ्गं एतत् पुरस्तात् आविर्भवति, यत्र घनैः नवं पयः मया त्वद्वियोगाश्रु समं विसृष्टम् ।

एतदिति । माल्यवतो नाम गिरेरम्वरलेख्यमभ्रंकषं शृङ्गं शिखरमेतत्पुरस्तादग्रं आविर्भवति । यत्र शृङ्गे घनैर्मेघैर्नवं पयो मया त्वद्विप्रयोगेन यदश्रु तच्च समं युगपद्विसृष्टं मुक्तम् । मेघदर्शनाद्वर्षातुल्यमश्रु विमुक्तमिति भावः ।

भावार्थ—देखो, सामने जो यह माल्यवान् नामक पर्वत की गगनस्पर्शी ऊँची चोटी दिखाई पड रही है, वहाँ जब बादलों ने नया जल बरसाना आरम्भ किया था, तब तुम्हारे न रहने से मेरी आँखें भी जल बरसाने लगीं। अर्थात् यहाँ बरसते हुए मेघों को देखकर तुम्हारे लिए मैं खूब रोया था ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥

अन्वयः—यस्मिन् धाराहतपल्वलानां गन्धः अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं च स्निग्धाः शिखिनां केकाः त्वया विना मया असह्यानि बभूवुः।

गन्धश्चेति। यस्मिञ्छृङ्गे धाराभिर्वर्षधाराभिराहतानां पल्वलानां गन्धश्च अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमं च स्निग्धाः मधुराः शिखिनां बर्हिणाम्। 'शिखिनौ वह्निबर्हिणौ' इत्यमरः। केकाश्च त्वया विना मेऽसह्यानि बभूवुः। "नपुंसकमनपुंसकेन०" इति नपुंसकैकशेषः।

भावार्थ—उस समय यहाँ वर्षा के कारण तालाबों से उठी हुई गन्ध, अधखिले केशोंवाले कदम्ब के फूल और मयूरों के मनोहर शब्द तुम्हारे बिना मुझे असह्य हो गये ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु! तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे भीरु ! यत्र पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं तवोपगूढं स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथंचित् अतिवाहितानि।

पूर्वेति। किंच हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुपगूहनं मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वात्त्वया कृतमालिङ्गनमित्यर्थः। स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथंचिदतिवाहितानि। स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात्क्लेशेन गमितानीत्यर्थः।

भावार्थ—जब यहाँ बादल गरजते थे और गुफाओं में उसकी प्रतिध्वनि होने लगती थी तब तुम बादलों के भयंकर गर्जन से डरकर काँपती हुई मुझसे लिपट जाती थी। उन दिनों को स्मरण करके मैंने उन्हें बड़े कष्ट से बिताया है ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

अन्वयः—यत्र विभिन्नकोशैः नवकन्दलैः आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात् विडम्ब्यमाना ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः माम् अक्षिणोत्।

आसारेति । अथ शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलैर्नवकन्दलैः कन्दली-पुष्पैररुणवर्णैरासारेण धारासंपातेन । 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । सिक्तायाः क्षितेर्बाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्वह्नेर्विडम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणदपीडयत् ।

भावार्थ—धारा पूर्वक वर्षा होने से भीगी हुई पृथ्वी से जो वहाँ भाप निकलती थी उससे कन्दलियों की कलियाँ खिल उठीं और वैसी ही लाल हो गई जैसे विवाह के समय होम का धुँआ लगने से तुम्हारी आँखें लाल हो गई थीं, यह स्मरण आ जाने से मुझे बड़ा कष्ट हुआ ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—उपान्तवानीरवनोपगूढानि आलक्ष्य पारिप्लवसारसानि अमूनि पम्पासलिलानि दूरावतीर्णा मे दृष्टिः खेदात् पिबति इव ।

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलवनच्छन्नान्यलक्ष्या ईषद्दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदात्पिबतीव । न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ।

भावार्थ—प्रिये ! देखो अधिक ऊँचे होने के कारण और समीपस्थ बेत के जंगलों से ढंके रहने के कारण पम्पासर का पानी ठीक-ठीक नहीं दिखाई दे रहा है उनपर दूर से पड़ती हुई दृष्टि मानों खेद से उन्हें पी रही है ॥३०॥

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ॥३१॥

अन्वयः—हे प्रिये ! अत्र अन्योऽन्यदत्तोत्पलकेसराणि अवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि ते दूरान्तरवर्तिना मया सस्पृहं ईक्षितानि ।

अत्रेति । अत्र पम्पासरस्यन्योन्यस्मै दत्तोत्पलकेसराण्यविमुक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि चक्रवाकमिथुनानि ते तव दूरान्तरवर्तिना दूरदेशवर्तिना मया। हे प्रिये ! सस्पृहं साभिलाषमीक्षितानि । तदानीं त्वामस्मार्षमित्यर्थः ।

भावार्थ—हे प्रिये ! यहाँ चकवा चकवी के जोड़े एक दूसरे को प्रेमपूर्वक कमल का केशर दिया करते थे, तुमसे दूर होने के कारण उन्हें देखकर मैं यही सोचा करता था कि मुझे भी ये दिन कब देखने को मिलेंगे ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्धया परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥

अन्वयः—स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्रां तन्वीं इमां तटाशोकलतां त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः अहं सौमित्रिणा साश्रुः निषिद्धः ।

इमामिति । किंच स्तनवदभिरामाभ्यां स्तबकाभ्यामभिनम्रां तन्वीमिमां तटाशोकस्य लतां शाखामतस्त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या परिलब्धुमालिङ्गितुं कामो यस्य सोऽहं सौमित्रिणा लक्ष्मणेन साश्रुनिषिद्धः । नेयं सीतेति निवारितः । परिरब्धुकाम इत्यत्र "तुं काममनसोरपि" इति वचनान्मकारलोपः ।

भावार्थ—प्रिये ! तुम्हारे वियोग में मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन स्तन के समान मनोहर गुच्छे से झुकी हुई पतली तटवर्तिनी अशोक लता को मैंने यह समझकर गले लगाना चाहा था कि तुम ही हो । तब तक मेरे इस पागलपन को देखकर लक्ष्मण ने रोते हुए मुझे वहाँ से हटा दिया ॥ ३२ ॥

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपंक्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

अन्वय.—विमानान्तरलम्बिनीनां काञ्चनकिंकिणीनां स्वनं श्रुत्वा उत्पतन्त्यः अमू गोदावरीसारसपंक्तयः त्वां प्रत्युद्व्रजन्ति इव ।

अमूरिति । विमानस्यान्तरेष्ववकाशेषु लम्बन्ते यास्तासां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा स्वयूथशब्दभ्रमात्खमाकाशमुत्पतन्त्योऽमूर्गोदावरीसारसपंक्तयस्त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ।

भावार्थ—यह देखो, विमान में लगे हुए छोटे-छोटे सुवर्ण के घूँघरुओं की आवाज को सुनकर गोदावरी नदी के सारस पक्षियों की पंक्तियाँ अपने झुण्ड के भ्रम से आकाश में ऊपर उड़ती हुई चली आ रही हैं मानो ये तुम्हारी अगवानी करने आ रही हैं ॥ ३३ ॥

एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—पेशलमध्ययापि त्वया घटाम्बुसंवर्द्धितबालचूता, उन्मुखकृष्णसारा चिराद्दृष्टा एषा पञ्चवटी मे मनः आनन्दयति ।

एषेति । पेशलमध्ययाऽपि भाराक्षमयाऽपीत्यर्थः । त्वयाघटाम्बुभिः संवर्धिता बालचूता यस्याः सा । उन्मुखा अस्मदभिमुखास्त्वत्संवर्धिता एव कृष्णसारा यस्याः सा । चिराद्दृष्टैषा पञ्चवटी मे माम आनन्दयत्याह्लादयति । पञ्चवटी पूर्वमेव व्याख्यातः ।

भावार्थ—बहुत दिनों पर पञ्चवटी को देखकर आज मेरा हृदय खिल उठा है वह देखो, यहाँ के मृग ऊपर सिर उठाकर विमान को देख रहे हैं । यहीं

पर तो तुमने अपनी पतली कमर पर घड़े लेकर छोटे-छोटे आम के वृक्षों को सींचकर पाला-पोसा था ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अत्र अनुगोदं मृगयानिवृत्तः तरंगवातेन विनीतखेदः रहः त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा (सन् अहं) वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि ।

अत्रेति । अत्र पञ्चवट्यां गोदा गोदावरी तस्या, समीपेऽनुगोदम् । 'अनुर्यत्समया'' इत्यव्ययीभावः । मृगयाया निवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदो रहो रहसि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन्नहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि । वाक्यार्थः कर्म । सुप्त इति यत्तत्स्मरामीत्यर्थः ।

भावार्थ—मुझे उन दिनों का स्मरण हो रहा है जब मैं यहाँ एकान्त में वेतों की कुञ्जों में तुम्हारी गोद में शिर रखकर सोया करता था और गोदावरी की ठंडी हवा मेरे शिकार के श्रम को मिटाया करती थी ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यः भ्रूभेदमात्रेण नहुषं मघोनः पदात् प्रभ्रंशयांचकार आविलाम्भपरिशुद्धिहेतोः तस्य मुनेः भौमः स्थानपरिग्रहः अयम् (अस्ति) ।

भ्रूभेदेति । यो मुनिर्भ्रूभेदमात्रेण भ्रूभङ्गमात्रेणैव नहुषं राजानं मघोनः पदादिन्द्रत्वात्प्रभ्रंशयाञ्चकार प्रभ्रंशयति स्म । आविलाम्भः परिशुद्धिहेतोः कलुषजलप्रसादहेतोस्तस्य मुनेरगस्त्यस्य अगस्त्योदये शरदि जलं प्रसीदतीत्युक्तं प्राक् । भूमौ भवो भौमः । स्थानपरिग्रह आश्रमोऽयं दृश्यत इति शेषः । भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्तीत्युक्तम् । परिगृह्यत इति परिग्रहः स्थानमेव इति विग्रहः ।

भावार्थ—यह देखो, सामने ही उस अगस्त्य मुनि का आश्रम है जिन्होंने केवल भ्रूकुटी टेढ़ी करके (शाप देकर) राजा नहुष को इन्द्रपद से गिरा दिया । ये जब उदय होते हैं तब वर्षा का गन्दा जल स्वच्छ हो जाता है ॥ ३६ ॥

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनिन्द्यकीर्तेः तस्य आक्रान्त विमानमार्गं हविर्गन्धि त्रेताग्निधूमाग्रं घ्रात्वा रजोविमुक्तः मे आत्मा लघिमानं समश्नुते ।

त्रेतेति । अनिन्द्यकीर्तेस्तस्यागस्त्याक्रान्तविमानमार्गम् । हविर्गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि त्रेताग्निरग्नित्रयम् । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः । पृषोदरादित्वादेत्वम् । त्रेताग्नेर्धूमाग्रमिदं घ्रात्वाऽऽघ्राय रजसो गुणाद्विमुक्तो मे ममात्मान्तःकरणं लघिमानं लघुत्वगुणं समश्नुते प्राप्नोति ।

भावार्थ—उसी प्रशंसनीय यशवाले अगस्त्य ऋषि द्वारा गार्हपत्य, दाक्षिणात्य एवं आहवनीय अग्नियों में दी गई हवन सामग्री की गन्ध से मिला हुआ यह धुआं विमान के पास तक उठा चला आ रहा है जिसे सूंघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गई और मेरे अन्तःकरण से रजोगुण निकल गया । अर्थात् मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूं ॥ ३७ ॥

एतन्मुनेर्मानिनि ! शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे मानिनि ! शातकर्णेः मुनेः पञ्चाप्सरो नाम पर्यन्तवनं एतत् विहारवारि विदूरात् मेघान्तरालक्ष्यं इन्दुबिम्बं इव आभाति ।

एतदिति । हे मानिनि ! शातकर्णेर्मुनेः संबन्धि पञ्चाप्सरो नाम पञ्चाप्सर इति प्रसिद्धम् । पञ्चाप्सरसो यस्मिन्निति विग्रहः पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत्पर्यन्तवनमेतद्विहारवारि क्रीडासरो विदूरात् मेघानामन्तरे मध्य आलक्ष्यमीषद्दृश्यम् । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमरः । इन्दुबिम्बमिव आभाति ।

भावार्थ—हे मानिनि प्रिये ! यह आगे शातकर्णी ऋषि का पञ्चाप्सर नामक क्रीड़ा सरोवर चारों ओर काले-काले जंगलों से घिरा हुआ दूर से ऐसा दिखाई पड रहा है मानो बादलों के बीच में कुछ-कुछ दिखाई देने वाला चमकीला चन्द्रमा का बिम्ब हो ॥ ३८ ॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—पुरा दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः मृगैः सार्द्धं सह चरन् स ऋषिः समाधिभीतेन मघोना पञ्चाप्सरो यौवनकूटबन्धं उपनीतः किल ।

पुरेति । पुरा पूर्वस्मिन्काले दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिस्तन्मात्राहारो मृगैः सह चरन्स ऋषिः समाधेस्तपसो भीतेन मघोनेन्द्रेण पञ्चानामप्सरसां यौवनम् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तदेव कूटबन्धं कपटयन्त्रमुपनीतः । 'उन्मायः कूटयन्त्रं स्यात्' इत्यमरः । किलेत्यैतिह्ये । मृगसाहचर्यान्मृगवदेव बद्ध इति भावः ।

भावार्थ—पहले ये ऋषि तपस्या करते समय मृगों के साथ केवल कुशांकुर खाकर जीवन निर्वाह करते थे, इनकी ऐसी उग्र तपस्या देखकर इन्द्र को यह भय हो गया कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें। इसलिए इनको तप से गिराने के लिए इन्द्र ने एक साथ पांच अप्सराओं का जाल इन पर फेंका और ये बेचारे उनके कपट जाल में फँस गये। अर्थात् इन्द्र ने इनके तप से डरकर पांच अप्सराओं को भेजकर इन्हें तपसे भ्रष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥

अन्वयः—अन्तर्हितसौधभाज; तस्य अयं प्रसक्तसंगीत मृदङ्गघोषः वियद्गतः (सन्) पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति।

तस्येति। अन्तर्हितसौधभाजो जलान्तर्गतप्रासादगतस्य तस्य शातकर्णेरयं प्रशक्तः संततः संगीतमृदङ्गघोषो वियद्गतः सन्पुष्पकस्य चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि। 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इत्यमरः। क्षणं प्रतिश्रुद्भिः प्रतिध्वानैर्मुखरा ध्वनन्तीः करोति। 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने' इत्यमरः।

भावार्थ—यह जो नाच, गाना सुनाई दे रहा है वह जल के भीतर बने हुए उन्हीं के भवन का है, वहीं के मृदङ्ग की ध्वनि आकाश में पुष्पक विमान से टकरा कर गूंज रही है ॥ ४० ॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—नाम्ना सुतीक्ष्णः चरितेन दान्तः असौ अपरः तपस्वी एधवतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः तपस्यति।

हविरिति। नाम्ना सुतीक्ष्णः सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्तः सौम्योऽसावपरस्तपस्वी एधवतामिन्धनवताम् 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः। चतुर्णां हविर्भुजामग्नीनां मध्ये ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सूर्यः। "असूर्यललाटयोर्दृशि-तपोः" इति खश्प्रत्ययः। "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इत्यनेन मुमागमः। ललाटन्तपः सप्तसप्तिः सप्ताश्वः सूर्यो यस्य स तथोक्तः सन्। तपस्यति "कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः" इति क्यङ्। 'तपसः परस्मैपदं च' इति वक्तव्यम्।

भावार्थ—ये जो इन्धनयुक्त चार अग्नियों के बीच में ललाट पर सूर्य की किरणों से तपते हुए तपस्वी बैठे हैं इनका नाम सुतीक्ष्ण है, परन्तु ये चरित्र के सीधे और शान्त हैं ॥ ४१ ॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अन्वय —जनितेन्द्रशङ्कं अमु सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि विकर्तुं न अलम् अस्ति ।

अमुमिति । जनितेन्द्रशङ्कं जनिता इन्द्रस्य शङ्का भयं येन तं । तपसेति शेषः । अमुं सुतीक्ष्णं सहासं प्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्मिषेण । 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेऽशके' इति विश्वः । अर्धमीषत्संदर्शिता मेखला काञ्ची येषु तानि सुराङ्गनानामिन्द्रप्रेषितानां विभ्रमा विलासा एव चेष्टितानि विकर्तुं स्खलयितुमलं समर्थानि न, बभूवुरिति शेषः ।

भावार्थ—इनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने इनके पास भी अप्सराओं को भेजा वे मुस्कुरा-मुस्कुरा कर तिरछी निगाहें चलाती नाचती गाती हुई किसी बहाने अपनी करधनी को उतार कर दिखा देती थी पर उनकी यह सब मटक-मटक इन्हें न लुभा सकीं ॥ ४२ ॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ऊर्ध्वबाहुः एषः अक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावं सव्येतरं भुजं मे सभाजने इतः प्राध्वं प्रयुङ्क्ते ।

एष इति । ऊर्ध्वबाहुरेष सुतीक्ष्णोऽक्षमालैव वलयं यस्य तं मृगाणां कण्डूयितारं कुशा एव सूचयस्ता लुनातीति कुशसूचिलावस्तम् । "कर्मण्यण्" इत्यण् । एभिर्विशेषणैर्जपशीलत्वं भूतदया कर्मक्षमत्वं च द्योत्यते । सव्यादितरं दक्षिणं भुजं मे मम सभाजने सम्माननिमित्ते । "निमित्तात्कर्मयोगे" इति सप्तमी । इतः प्राध्वं प्रह्वतानुकूलबन्धं प्रयुङ्क्ते प्रेरयति । 'आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्' इत्यमरः । अव्ययं चैतत् ।

भावार्थ—देखो, वे मुझे देखकर रुद्राक्ष की माला बँधी हुई, मृगों को खुजलाने वाली और कुश उखाड़ने वाली अपनी दाहिनी भुजा को उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—एषः वाचंयमत्वात् मम प्रणतिं किंचित् मूर्ध्नः प्रतिगृह्य विमानव्यवधानमुक्तां दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ।

वाचंयमेति—एष सुतीक्ष्णः वाचं यच्छति नियमयतीति वाचंयमो मौनव्रती। "वाचि यमो व्रते" इति खच्प्रत्ययः। "वाचंयमपुरन्दरौ च" इति मुम्। तस्य भावस्तत्त्वान्मम प्रणतिं किञ्चिन्मूर्ध्नः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानेन व्यवधानं तिरोधानं तस्मान्मुक्ताम्। "अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः" इत्यनेन पञ्चमीसमासः। दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सूर्ये संनिधत्ते सम्यङ् निधत्त इत्यर्थः। अन्यथाऽकर्मकत्वप्रसङ्गात्।

भावार्थ—ये मौन रहते हैं इसलिए इन्होंने केवल सिर हिलाकर मेरे प्रणाम को स्वीकार किया है। मेरे विमान को बीच में आने से जो इनकी दृष्टि सूर्य से अलग हो गई थी वह पुनः इन्होंने सूर्य में लगा ली॥ ४४॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥ ४५॥

अन्वयः—शरण्यं पावनम् अदः तपोवनम् आहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नः यः चिराय अग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य मन्त्रपूतां तनुम् अपि अहौषीत्।

अद इति। शरणे रक्षणे साधुः शरण्यम्। पावयतीति पावनम्। अदो दृश्यमानं तपोवनमाहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नो मुनेः संबन्धि। यः शरभङ्गश्चिराय चिरमग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूतां शुद्धां तनुमप्यहौषी-द्धुतवान्। जुहोतेर्लुङ्।

भावार्थ—यह सामने शरणागतों की रक्षा करने वाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषि का तपोवन है, जिन्होंने बहुत दिनों तक अग्नि को समिधा से तृप्त करके अन्त में मन्त्रों से पवित्र अपने शरीर को भी उसमें हवन कर दिया था॥४५॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु॥ ४६॥

अन्वयः—अधुना तस्य अतिथीनां सपर्या छाया विनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठ-संभाव्यफलेषु अमीषु पादपेषु सुपुत्रेषु इव स्थिता।

छायेति। अधुनाऽस्मिन्काले तस्य शरभङ्गस्य संबन्धिन्यतिथीनां सपर्याऽ-तिथिपूजा। 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः। छायाभिर्वि-नीतोऽध्वरिश्रमो यैस्तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि संभाव्यानि श्लाघ्यानि येषां तेष्वमीषु पादपेष्वाश्रमवृक्षेषु सुपुत्रेष्विव स्थिता तत्पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयत इत्यर्थः।

भावार्थ—जिस प्रकार सुपुत्र अपने पिता के धर्म का पालन करते हैं उसी प्रकार अतिथि सेवा का कार्य शरभंग ऋषि के बदले ये आश्रम के वृक्ष करते हैं जिनकी सघन छाया में बैठकर पथिक अपनी थकावट दूर करते हैं और जिनमें बड़े मीठे-मीठे फल भी लगते हैं—अर्थात् अतिथियों के आने पर शरभंग मुनि के

पुत्रों के समान ये वृक्ष छाया एवं मधुर फलों से अतिथियों का सत्कार करते हैं ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि ! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥

अन्वय.—धारास्वनोद्गारिदरीमुखः शृंगाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः असौ चित्रकूटः, हे बन्धुरगात्रि ! दृप्तः ककुद्मान् इव मे चक्षुः बध्नाति ।

धारेति । धारा निर्झरधाराः यद्वा धारया सातत्येन स्वनोद्गारिदर्येव मुखं यस्य सः । शृंग शिखरं विषाणं च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुद एव वप्रपङ्को वप्रक्रीडासक्तपङ्को यस्य सः । असौ चित्रकूटो । हे बन्धुरगात्रि ! उन्नतानतांगि ! 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इत्यमरः । दृप्तः ककुद्मान्वृषभ इव मे चक्षुर्बध्नात्यनन्यासक्तं करोति ।

भावार्थ—हे सुन्दर शरीरवाली सीते ! यह चित्रकूट पर्वत मस्त साँड़ के समान मुझे बड़ा ही सुहावना लग रहा है, मानो इसकी गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलनेवाली जल की धारा का शब्द ही इसका डकार है, इसके शिखर ही इसके सींग हैं और उस पर छाये हुए बादल ही मानो उसमें लगा हुआ कीचड है ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा विदूरान्तरभावतन्वी मन्दाकिनी एषा नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव इव भाति ।

ऐषेति । प्रसन्नो निर्मलः, स्तिमितो निस्पन्दः, प्रवाहो यस्याः सा विदूरस्यान्तरस्य मध्यवर्त्यवकाशस्य भावात्तन्वी दूरदेशवर्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी नाम काचिच्चित्रकूटनिकटगेया सरिन्नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव भाति । अत्र नगस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य कण्ठत्वं च गम्यते ।

भावार्थ—यह लो, मन्दाकिनी नदी आ गई । इसका जल कैसा स्वच्छ और धीरे-धीरे बह रहा है दूर होने के कारण वह इतनी पतली दिखाई दे रही है मानो पृथ्वी रूपी नायिका के गले में मोतियों की माला पड़ी हुई हो ॥ ४८ ॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अनुगिरं सुजातः (स) तमालोऽयं (दृश्यते) यस्य सुगन्धि प्रवालं आदाय मया ते यवांकुरापाण्डुकपोलशोभि अवतंसः परिकल्पितः ।

अयमिति । गिरेः समीपेऽनुगिरम् । "गिरेश्च सेनकस्य" इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । सुजातः स तमालोऽयं दृश्यते यस्य तमालस्य शोभनो गन्धो यस्य तत्सुगन्धि । "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इत्यनेकारः समासान्तः । प्रवालं पल्लवमादाय मया ते यवांकुरवदापाण्डौ कपोले शोभी शोभते यः सोऽवतंसः कर्णालङ्कारः परिकल्पितः ।

भावार्थ—इस पर्वत के पास ही जो तमाल का वृक्ष दिखाई दे रहा है, यह वही है जिसके पल्लवों का कर्णफूल बनाकर मैंने तुम्हारे कानों में पहनाया था और जो तुम्हारे पीले गालों पर लटकता हुआ यव के अंकुर के समान पीला बड़ा सुन्दर लगता था ॥ ४९ ॥

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वं अपुष्पलिङ्गात् फलबन्धि वृक्षम् आविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् अत्रेः तपः साधनं एतत् वनम् (अस्ति) ।

अनिग्रहेति । अनिग्रहत्रासा दण्डभयरहिता अपि विनीताः सत्त्वा जन्तवो यस्मिंस्तत् । अपुष्पलिङ्गात्पुष्परूपनिमित्तं विनैव फलबन्धिनः फलग्राहिणो वृक्षा यस्मिंस्तत् । अत एवाविष्कृतोदग्रतरप्रभावमत्रेर्मुनेस्तपसः साधनं वनमेतत् ।

भावार्थ—यह आगे अत्रि मुनि का तपोवन है, जहाँ कि सिंह आदि पशु विना मारे पीटे ही सीधे हो गये हैं वे किसी से कुछ बोलते नहीं। यह तपोवन इतना प्रभावशाली है कि यहाँ विना फूल आये ही वृक्षों में फल लग जाते हैं ॥ ५० ॥

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अत्र अनुसूया सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां त्र्यम्बकमौलिमालां त्रिस्रोतसं तपोधनानां अभिषेकाय प्रवर्तयामास ।

अत्रेति । अत्र वनेऽनुसूयात्रिपत्नी सप्त च त ऋषयश्च सप्तर्षयः । "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति तत्पुरुषसमासः । तेषां हस्तैरुद्धृतानि हेमपद्मानि यस्यास्तां त्र्यम्बकमौलिमालाम् हरशिरःस्रजं त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोधनानामृषीणामभिषेकाय स्नानाय प्रवर्तयामास प्रवाहयामास । किलेत्यैतिह्ये ।

भावार्थ—अत्रि की धर्मपत्नी अनसूया जी ऋषियों के स्नान करने के लिए उस त्रिपथगा गङ्गाजी को यहाँ लाई है, जिसमें सप्तर्षिगण अपने हाथों से सुवर्ण कमल तोड़ा करते हैं और जो शिव जी के शिर पर माला से समान सुन्दर लगती है ॥ ५१ ॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—वीरासनैः ध्यानजुषां ऋषीणां समध्यासितवेदिमध्याः अमी शाखिनः अपि निवातनिष्कम्पतया योगाधिरूढा इव विभान्ति ।

वीरेति । वीरासनैर्जयसाधनैः ध्यानं जुषन्ते सेवन्त इति ध्यानजुषः । समाधिसेविन इत्यर्थः । तेषां तैरुपविश्य ध्यायतामृषीणां संबन्धिनः समध्यासितवेदिमध्या । इदं वीरासनस्थानीयम् । अमी शाखिनोऽपि निवाते निष्कम्पतया योगाधिरूढा इव ध्यानभाज इव विभान्ति । ध्यायन्तोऽपि निश्चलाङ्गा भवन्ति । वीरासने वसिष्ठः—"एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम् । इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृतम्" इति ।

भावार्थ—इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खड़े रहते हैं मानों वे भी योग साधन कर रहे हों ॥ ५२ ॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—त्वया पुरस्तात् उपयाचितः श्याम इति प्रतीतः सः अयं वटः फलितः (सन्) स पद्मरागः गारुडानां मणीनां राशिः इव विभाति,

त्वयेति । त्वया पुरस्तात्पूर्वं य उपयाचितः प्रार्थित । तथा च रामायणे—'न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीन् । नमस्तेऽस्तु महावृक्ष ! पालयेन्मे व्रतं पतिः ॥' इति । श्याम इति प्रतीतः स वटोऽयं फलितः सन् सपद्मरागो गारुडानां मणीनां मरकतानां राशिरिव विभाति ।

भावार्थ—वह काला-काला वही वट का वृक्ष है जिसकी तुमने मनौती मानी थी इसमें लाल-लाल जो फल लगे हैं उनसे यह वृक्ष ऐसा मालूम पड़ता है जैसे नीलम के ढेर में बहुत से लालमणि भरे हों ॥ ५३ ॥

'क्वचित्—' इत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—क्वचित्प्रभालेपिभिः इन्द्रनीलैः अनुविद्धा मुक्तामयी यष्टिः इव इन्दीवरैः उत्खचितान्तरा सितपङ्कजानां माला इव यमुनातरङ्गैः भिन्नप्रवाहा गंगा विभाति। क्वचित् कादम्बसंसर्गवती प्रियमानसानां खगानां पंक्तिः इव अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भुवः चन्दनकल्पिता भक्तिः इव (विभाति)। क्वचित् छायाविलीनैः तमोभिः शबलीकृता चान्द्रमसी प्रभा इव अन्यत्र रन्ध्रेषु आलक्ष्यनभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा इव (विभाति)। हे अनवद्याङ्गि ! पश्य क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणभस्माङ्गरागा ईश्वरस्य तनुः इव यमुनातरङ्गैः भिन्नप्रवाहा गंगा विभाति।

क्वचिदिति—हे अनवद्याङ्गि ! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा व्यामिश्रौघा गङ्गा जाह्नवी विभाति त्वं पश्य। केव क्वचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव विभाति। अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलैरुत्खचितान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्कजानां पुण्डरीकाणां मालेव। विभातीति सर्वत्र संबन्धः। क्वचित्कादम्बसंसर्गवती नीलहंससंसृष्टा प्रियं मानसं नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहंसानां पंक्तिरिव। 'राजहंसास्तु त चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः। अन्यत्र कालागुरुणा दत्तपत्रा रचितमकरिकापत्रा भुवश्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव क्वचिच्छायासु विलीनैः स्थितैस्तमोभिः शबलीकृता कर्बुरीकृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव। अन्यत्र रन्ध्रेष्वालक्ष्यनभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा शरन्मेघपंक्तिरिव क्वचित्कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागेश्वरस्य तनुरिव विभाति। शेषो व्याख्यातः। कलापकम्।

भावार्थ—हे सुन्दर सीते ! देखो. यमुनाजी की काली लहरों से मिली श्वेत लहरों वाली गंगाजी कैसी-कैसी सुन्दर लग रही हैं। कहीं तो ये चमकीली इन्द्रनील मणियों से गूँथी हुई माला जैसी लगती हैं और कहीं-कहीं नीले और श्वेत कमलों से मिश्रित माला के समान शोभित हो रही हैं कहीं श्यामवर्ण के हंसों की श्रेणी से मिले हुए श्वेत हंसों की श्रेणी के समान शोभा दे रही हैं। कहीं श्वेत चन्दन से लिप्त पृथ्वी पर बीच-बीच में काले अगर से बनाई गई रचना के समान सुशोभित हो रही हैं। कहीं-कहीं ये वृक्ष के नीचे की उस चाँदनी के समान लगती हैं, जिसके बीच-बीच में पत्तों की छाया पड़ी हो और कहीं पर शरद्

ऋतु के उन बादलों के समान जान पड़ती हैं जिनके बीच-बीच में नीला आकाश झाँक रहा हो। कहीं भस्म लगाये हुए शिवजी के उस शरीर के समान दिखाई दे रही हैं जिस पर काले-काले सर्प लिपटे हों। इस प्रकार यमुना की लहरों से मिली गंगाजी सुन्दर लग रही हैं ॥ ५४, ५५, ५६, ५७ ॥

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अत्र समुद्रपत्न्योः सन्निपाते अभिषेकात् पूतात्मना तत्त्वावबोधेन विना अपि तनुत्यजा भूयः शरीरबन्धः नास्ति ।

समुद्रेति । अत्र समुद्रपत्न्योर्गङ्गायमुनयोर्जलसंनिपाते सङ्गमेऽभिषेकात्स्नानात्पूतात्मना शुद्धात्मनां तत्त्वावबोधेन तत्त्वज्ञानेन विनाऽपि तनुत्यजां प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं भूयः पुनः शरीरबन्धः शरीरयोगो नास्ति किल । अन्यत्र ज्ञानादेव मुक्तिः, अत्र तु स्नानादेव मुक्तिरित्यर्थः ।

भावार्थ—यहाँ गंगा यमुना दोनों नदियों के संगम में जो स्नानकर पवित्र हो जाते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी संसार बन्धनों से छूट जाते हैं। फिर शरीर धारण नहीं करते ॥ ५८ ॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि ! कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥

अन्वयः—निषादाधिपतेः तत् पुरम् इदं यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु सुमन्त्रः 'हे कैकेयि ! तव कामाः फलिताः' इति अरुदत् ।

पुरमिति । निषादाधिपतेर्गुहस्य तत्पुरमिदम्, यस्मिन्पुरे मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु रचितासु सतीषु सुमन्त्रः 'हे कैकेयि! तव कामा मनोरथाः फलिताः सफला जाताः' इत्यरुदत् । 'रुदिर् अश्रुविमोचने' इति धातोर्लुङ् ।

भावार्थ—यह आगे निषादराज गुह का शृङ्गवेरपुर नामक नगर है जहाँ मैंने अपना मुकुटमणि उतार कर जटा बाँधी थी और जिसे देखकर सुमन्त्र यह कहकर रोने लगे थे कि हे कैकेयी ! तेरी इच्छा सफल हो गई ॥ ५९ ॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥

अन्वयः—पुण्यजनाङ्गनानां पयोधरैः निर्विष्टहेमाम्बुजरेणुः ब्राह्मं सरः यस्याः बुद्धेः अव्यक्तम् कारणम् आप्तवाचः उदाहरन्ति ।

पयोधरैरिति । पुण्यजनाङ्गनानां यक्षस्त्रीणां पयोधरैः स्तनैर्निर्विष्ट उपभुक्तो

हेमाम्बुजरेणुर्यस्य तत् तत्र ताः क्रीडन्तीति व्यज्यते। ब्रह्मण इदं ब्राह्मम्। "नस्तद्धिते" इति टिलोपः। ब्राह्मं सरो मानसाख्यं यस्या सरय्वाः बुद्धेर्महत्त्वस्याव्यक्तं प्रधानमिव कारणम्। आप्तस्य वाच आप्तवाचो वेदाः, यद्वा बहुव्रीहिणा मुनयः उदाहरन्ति प्रचक्षते।

भावार्थ—जिस प्रकार ऋषि लोग कहते हैं कि अव्यक्त से बुद्धि उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार यह सरयू नदी भी उस मानसरोवर से निकली है जिसके स्वर्ण कमलों का पराग यक्षों की स्त्रियाँ अपने स्तनों में लगाती हैं॥ ६०॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥ ६१॥

अन्वयः—तीरनिखातयूपा या तुरंगमेधावभृथावतीर्णैः इक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि जलानि अयोध्यां राजधानीं अनु वहति।

जलानीति। यूपः संस्कृतः पशुबन्धनार्हो दारुविशेषः, तीरनिखातयूपा या सरयूस्तुरङ्गमेधा अश्वमेधास्तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरूढैरिक्ष्वाकुभिरिक्ष्वाकुगोत्रापत्यैर्नृपैः पूर्वैः। तद्राजत्वादणो लुक्। पुण्यरीकृतान्यतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलान्ययोध्यां राजधानीं नगरीमनु समीपे तया लक्षितयेत्यर्थः। अनुशब्दस्य "लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया। वहति प्रापयति।

भावार्थ—यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या से लगी बहती है उसके तट पर जहाँ-तहाँ यज्ञों के स्तम्भ गड़े हुए हैं। अश्वमेध यज्ञ के अन्त में सूर्यवंशी राजाओं के स्नान करने से इसका जल परम पवित्र हो गया है॥ ६१॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम्॥ ६२॥

अन्वयः—यां मे मानसं सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानां उत्तरकोसलानां सामान्यधात्रीम् इव सम्भावयति।

यामिति। यां सरयूम्। मे मानसं कर्तृ सैकतं पुलिनं तदेवोत्सङ्गं तत्र तत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। परिवर्धितानां पुष्टानामुत्तरकोसलानामुत्तरकोसलेश्वराणां सामान्यधात्रीं साधारणमातरमिव। 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः।

भावार्थ—मैं इस नदी का बड़ा आदर करता हूँ क्योंकि यह उत्तर कोसल

के राजाओं की धाय के समान है इसके बालू में खेल-खेलकर वे सब पलते हैं और इसी का मीठा जल पीकर पुष्ट होते हैं ॥ ६२ ॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥

अन्वय—मदीया जननी इव मान्येन तेन राज्ञा वियुक्ता सा इयं सरयूः सन्तं मां शिशिरानिलैः तरगैः उपगूहति इव ।

सेयमिति । मदीया जननी कौसल्येव मान्येन पूज्येन तेन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता सेयं सरयूर्दूरे वसन्तं प्रोष्यागच्छन्तमित्यर्थः । मां पुत्रभूतं शिशिरानिलैस्तरङ्गैरेव हस्तैरुपगूहतीवालिङ्गतीव ।

भावार्थ—माननीय महाराजा दशरथ से बिछुड़ी हुई मेरी माता के समान यह शरयू नदी अपने शीतल तरग रूपी हाथों से दूर से ही मुझे गले लगाना चाहती है ॥ ६३ ॥

विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनुमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—विरक्तसन्ध्याकपिशं पार्थिवरजः पुरस्तात् यतः उज्जिहीते (तस्मात्) हनूमत्कथितप्रवृत्तिः भरतः ससैन्य मां प्रत्युद्गतः (इति) शङ्के ।

विरक्तेति । विरक्तातिरक्ता या संध्या तद्वत्कपिशं ताम्रवर्णं पृथिव्या इदं पार्थिवं रजो धूलिः पुरस्तादग्रे यतो यस्मात्कारणादुज्जिहीत उद्गच्छति तस्मात्। हनुरस्यास्तीति हनूमान् । "शरादीना च" इति दीर्घः । तेन कथिता प्रवृत्तिरस्मदागमनवार्ता यस्मै स भरतः ससैन्यः सन्मां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि । 'शङ्का भयवितर्कयोः' इति शब्दार्णवे । अत्र यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्तच्छब्दलाभः ।

भावार्थ—देखो ! लाल सन्ध्या के समान जो धूलि पृथ्वी से उड़ रही है उससे जान पड़ता है कि हनूमानजी से मेरे आने का समाचार सुनकर भरत सेना लेकर मेरा स्वागत करने आ रहे हैं ॥ ६४ ॥

अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

अन्वयः—साधुः सः पालितसंगराय मे अनघां संरक्षितां श्रियं मृधे खरादीन् हत्वा निवृत्ताय लक्ष्मणः त्वाम् इव प्रत्यर्पयिष्यति ।

अद्धेति । किंच साधुः सज्जनः स भरतः । 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चापि,

वाच्यवत्' इति विश्वः। पालितसङ्गराय पालितपितृप्रतिज्ञाय मे मह्यमनघाम-दोषां भोगाभावादनुच्छिष्टां किन्तु संरक्षितां श्रियं मृधे युद्धे खरादीन्हत्वा निवृत्ताय मे लक्ष्मणः संरक्षितामनघां त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यत्यद्धा सत्यम्। 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः।

भावार्थ—खर, दूषण आदि राक्षसों को मारकर जब मैं लौटा था उस समय लक्ष्मण ने तुम्हें मेरे हाथ सुरक्षित रूप में सौंप दिया था, मालूम पड़ता है कि उसी प्रकार अब सज्जन भरत वनवास की अवधि पूरी करके लौटे हुए मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी को अवश्य सौंप देंगे॥ ६५॥

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति॥ ६६॥

अन्वयः—असौ पदातिः चीरवासा भरतः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः (सन्) गुरुं पुरस्कृत्य वृद्धैः अमात्यैः सह अर्घ्यपाणिः (सन्) अभ्युपैति।

असाविति। असौ पदातिः पादाभ्यामततीति पदातिः पादचारी चीरवासा वल्कलवसनो भरतः। पश्चात्पृष्ठभागेऽवस्थापिता वाहिनी सेना येन स तथोक्तः सन्। "नद्यृतश्च" इति कप्। गुरुं वसिष्ठं पुरस्कृत्य वृद्धैरमात्यैः सहार्घ्यपाणिः सन्मामभ्युपैति।

भावार्थ—वल्कलवस्त्र पहन पैदल चलते हुए और हाथ में पूजा की सामग्री लिए हुए भरत वृद्ध मन्त्रियों के साथ मेरे ही पास आ रहे हैं, देखो! इनके आगे-आगे वसिष्ठजी चल रहे हैं और पीछे-पीछे सेना चली आ रही है॥ ६६॥

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्॥ ६७॥

अन्वयः—यः पित्रा विसृष्टाम् अङ्कगतां यां श्रियं युवापि मदपेक्षया अभोक्ता (सन्) इयन्ति वर्षाणि तया सह उग्रं आसिधारव्रतम् अभ्यसति इव।

पित्रेति। यो भरतः पित्रा विसृष्टां दत्तामङ्कमुत्सङ्गं च गतामपि यां श्रियं युवाऽपि मदपेक्षया मद्भक्त्याऽभोक्ता सन्। तृन्नन्तत्वात् "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-तृनाम्" इति षष्ठीनिषेधः। इयन्ति वर्षाण्येतावतो वत्सरान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तया श्रिया सहास्त्रियेति च गम्यते। उग्रं दुश्चरमासिधारं नाम व्रत-मभ्यस्यतीव वर्तयतीव। 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्। अन्तर्निवृत्त-सङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि यत्।' इति यादवः। इदं चासिधाराचङ्क्रमणतुल्य-त्वादासिधारव्रतमित्युक्तम्।

भावार्थ—जैसे किसी युवा पुरुष की गोद में कोई सुन्दरी स्त्री आकर बैठ

जाय और वह उससे भोग न करके तलवार की धारा पर चलने के समान कठोर इन्द्रियों को वश में रखने का व्रत कर ले वैसे ही भरत ने भी पिता की दी हुई राज्यलक्ष्मी को भोग करने की शक्ति रहते हुए भी मेरी भक्ति के कारण उसका भोग न करके १४ वर्ष तक कठिन असिधारा व्रत का पालन किया है ॥ ६७ ॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीया-
मिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभि-
रुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—दाशरथौ एतावदुक्तवति विमानं तदीयां इच्छाम् अधिदेवतया विदित्वा सविस्मयाभिः, भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः उद्वीक्षितं सत् ज्योतिष्पथात् अवततार ।

एतावदिति । दाशरथौ राम एतावदुक्तवति सति विमानं पुष्पकं कर्तृ, तदीया रामसंबन्धिनीमिच्छामधिदेवतया मिषेण विदित्वा तत्प्रेरितं सदित्यर्थः । सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिरुद्वीक्षितं ऊर्ध्वंदृष्टं सज्ज्योतिष्पथादाकाशादवततार ।

भावार्थ—जब राम इस प्रकार कह रहे थे उसी समय राम की इच्छा को ही विमान का चालक मानकर वह विमान आकाश से नीचे उतर आया और भरतजी के पीछे चलनेवाली सारी जनता आश्चर्य-चकित
लगी ॥ ६८ ॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन
सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
यानादवातरददूरमहीतलेन
मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—रामः सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः पुरःसरविभीषणदर्शितेन अदूरमहीतलेन भंगि रचितस्फटिकेन मार्गेण तस्माद् यानात् अवातरत् ।

तस्मादिति । रामः सेवाया विचक्षणः कुशलो हरीश्वरः सुग्रीवस्तेन दत्तो हस्तो हस्तावलम्बनो यस्य तादृशः सन् स्थलज्ञत्वात्पुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शितेनादूरमासन्नं महीतलं यस्य तेन भङ्गिभिर्विच्छित्तिभी रचितस्फटिकेन बद्धस्फटिकेन सोपानपर्वणा मार्गेण तस्माद्यानात्पुष्पकादवातरदवतीर्णवान् । तरतेर्लङ् ।

भावार्थ—सेवा में चतुर सुग्रीव के हाथों का अवलम्बन करके स्फटिक मणियों से जड़ी हुई सीढ़ी से रामचन्द्रजी विमान से उतरे और विभीषण आगे-आगे मार्ग दिखाते चले ॥ ६९ ॥

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य
स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ
तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ॥ ७० ॥

अन्वयः—प्रयतः सः इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रणम्य अर्घ्यपरिग्रहान्ते पर्यश्रुः (सन्) भ्रातरं भरतं अस्वजत, तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके मूर्धनि उपजघ्रौ च ।

इक्ष्वाविति । प्रयतः स राम इक्ष्वाकुवंशगुरवे वसिष्ठाय प्रणम्य नमस्कृत्यार्घ्यस्य परिग्रहः स्वीकारस्तस्यान्ते पर्यश्रुः परिगतानन्दबाष्पः सन् भ्रातरं भरतमस्वजतालिङ्गत् । तस्मिन्रामे भक्त्यापोढ परिहृतः पितृराज्यमहाभिषेको येन तस्मिन्मूर्धन्युपजघ्रौ च । 'घ्रा गन्धोपादने' लिटि रूपम् ।

भावार्थ—विनीत राम ने इक्ष्वाकु वंश के गुरु वसिष्ठजी को प्रणाम किया। बाद अर्घ्य ग्रहण करके आँख से आँसू भरकर उन्होंने पहले भरतजी को छाती से लगा लिया पुनः उनके उस मस्तक को सूँघा जिससे राम की भक्ति के कारण राज्यभिषेक भी अस्वीकार कर दिया था ॥ ७० ॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च
प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातै-
र्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ ७१ ॥

अन्वयः—श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियान् प्ररोहजटिलान् प्लक्षान् इव प्रणमतः मन्त्रिवृद्धान् च शुभदृष्टिपातैः वार्तानुयोगमधुराक्षरया वाचा च अन्वग्रहीत् ।

श्मश्रिवति । श्मश्रूणां मुखरोम्णां प्रवृद्धया संस्काराभावादभिवृद्धया जनिताननेषु विक्रिया विकृतिर्येषां तानत एव प्ररोहैः शाखावलम्बिभिरधोमुखैर्मूलैर्जटिलाञ्जटावतः प्लक्षान् न्यग्रोधानिवस्थितान् प्रणमतो मन्त्रिवृद्धांश्च शुभैः कृपार्द्रैर्दृष्टिपातैरवलोकनैर्वार्तस्यानुयोगेन कुशलप्रश्नेन मधुराक्षरया वाचा चान्वग्रहीदनुगृहीतवान् ।

भावार्थ—फिर रामजी प्रणाम करते हुए वृद्ध मन्त्रियों से मिले और प्रेमभरी आँखों से मधुर भाषा में कृपा पूर्वक उनसे कुशल-मंगल पूछा, मूँछ दाढ़ी बढ़ जाने के कारण ये ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे घने बरोहवाला वट का वृक्ष हों ॥ ७१ ॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे
पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता ।

इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन
व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अयं मे दुर्जातबन्धुः ऋक्षहरीश्वरः एष समरेषु पुरः प्रहर्ता इत्याह तेन रघुनन्दनेन कथितौ उभौ लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य भरतः ववन्दे ।

दुर्जात इति । अयं मे दुर्जातबन्धुरापद्बन्धुः । 'दुर्जातं व्यसनं प्रोक्तम्' इति विश्वः । ऋक्षहरीश्वरः सुग्रीवः, एष समरेषु पुरः प्रहर्ता पौलस्त्यो विभीषणः, इत्यादृतेनादरवता । कर्तरि क्तः । रघूणां नन्दनेन रामेण कथितावुभौ विभीषण-सुग्रीवौ लक्ष्मणमनुजमपि व्युत्क्रम्यलिङ्गनादिभिरसंभाष्य भरतो ववन्दे ।

भावार्थ—भरतजी के सुग्रीव का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये वानर और भालुओं के राजा हैं, ये बड़े दुःख के समय मेरे काम आये हैं, पुनः विभीषण का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये पुलस्त्य कुल मे उत्पन्न विभीषण हैं ये युद्ध के समय हमसे आगे बढ़कर शत्रुओं पर प्रहार करते थे, यह सुन कर भरतजी ने लक्ष्मण को छोड़कर पहले उन्हीं दोनों का प्रणाम किया ॥ ७२ ॥

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैन-
मुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन
क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तदनु स सौमित्रिणा संससृजे नम्रशिरसं एवं उत्थाप्य भृशम् आलिलिंग, रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन अस्य उरः स्थलेन भुजमध्यं क्लिश्यन् इव ।

सौमित्रिणेति । तदनु सुग्रीवादिवन्दनादनन्तरं स भरतः सौमित्रिणा संससृजे सङ्गतः । 'सृजविसर्गे' दैवादिकात्कर्तरि लिट् । नम्रशिरसं प्रणतमेनं सौमित्रि-मुत्थाप्य भृशं गाढमालिलिङ्ग च । किं कुर्वन् रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणैः कर्कशेनास्य सौमित्रेरुरःस्थलेन भुजमध्यं स्वकीयं क्लिश्यन्निव पीडयन्निव । क्लिश्नातिरयं सकर्मकः 'क्लिश्नाति भुवनत्रयम्' इति दर्शनात् । ननु रामायणे—'ततो लक्ष्मणमा-साद्य वैदेहिं च परन्तपः । अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत्' ॥ इति । भरतस्य कानिष्ठ्यं प्रतीयते । किमर्थं ज्यैष्ठ्यमवलम्ब्यमानार्जवेन श्लोको व्याख्यातः ? सत्यम् । किंतु रामायणश्लोकार्थष्टीकाकृतोक्तः श्रूयताम् 'ततो लक्ष्मण मासाद्य—' इत्यादिश्लोक आसादन लक्ष्मणवैदेह्योः अभिवादनं तु वैदेह्या एव, अन्यथा पूर्वोक्तं भरतस्य ज्यैष्ठ्यं विरुध्येतेति ।

भावार्थ—उसके बाद भरतजी लक्ष्मण से मिले और प्रणाम के लिए झुके

हुए लक्ष्मण के मस्तक को उठाकर मेघनाद के प्रहरों से घाव के कारण कर्कश हुई उनकी छाती को अपनी भुजाओं से दबाते हुए उन्हें अपनी छाती से लगा लिया ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं
कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः
शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ ७४ ॥

अन्वयः—तदानीं हरिचमूपतयः रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रान् आरुरुहुः, बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु तेषु ते शैलाधिरोहणसुखानि उपलेभिरे ।

रामेति । तदानीं हरिचमूपतयः रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रानारुरुहुः । बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरेऽनुबभूवुः ।

भावार्थ—राम के कहने से वानर और भालुओं के सेनापति मनुष्यों का वेश बना-बना कर उन हाथियों पर चढ़ गये, जिनके मस्तक से मद की धारा वह रही थीं इसलिए सूँड़ की ओर से चढ़ते समय उनको वही आनन्द मिला झरनों वाले पहाड़ों पर ही चढ़ रहे हों ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां
भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयै-
र्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—सानुप्लवः क्षणदाचराणां प्रभुः अपि दशरथप्रभवानुशिष्टः रथान् भेजे, ये मायाविकल्परचितैः अपि तदीयैः स्यन्दनैः तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः न (भवन्ति) ।

सानुप्लव इति । सानुप्लवः सानुगः । 'अभिसारस्त्वनुसरः सहायोऽनुप्लवोऽनुगः' इति यादवः । क्षणदाचराणां रक्षसां प्रभुर्विभीषणोऽपि प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो जनकः, दशरथः प्रभवो यस्य स दशरथप्रभवो रामः तेनानुशिष्ट आज्ञप्तः सन् रथान्भेजे । तानेव विशिनष्टि—ये रथा मायाविकल्परचितैः संकल्पविशेषनिर्मितैरपि यदीयैर्विभीषणीयैः स्यन्दनैः रथैस्तुलितकृतिमभक्तिशोभास्तुलितासमीकृता कृत्रिमा क्रियया निर्वृत्ता भक्तीनां शोभा येषां ते तथोक्ता न भवन्ति । तेऽपि तत्साम्यं न लभन्त इत्यर्थः । कृत्रिमेत्यत्र "ड्वितः क्त्रिः" इति क्त्रिप्रत्ययः । "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति ममागमः ।

भावार्थ—रामकी आज्ञा से राक्षसराज विभीषण और उनके साथी भी रथों पर चढ़ गये, वे रथ यद्यपि मनुष्यों के बनाए थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राक्षसों की माया से बनाए हुए रथ भी उनके सामने तुच्छ थे ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ततः रघुपतिः सावरजः विलसत्पताकं कामगतिविमानं भूयः बुध-बृहस्पतियोगदृश्यः तारापतिः दोषातनं तरलविद्युत् अभ्रवृन्दम् इव अध्यास्त ।

भूय इति । ततो रघुपतिः सावरजो भरतलक्ष्मणसहितः सन् विलसत्पताकं कामेनेच्छानुसारेण गतिः यस्य तद्विमानं भूयः पुनरपि बुधबृहस्पतिभ्यां योगेन दृश्यो दर्शनीयस्तारापतिश्चन्द्रो दोषाभवं दोषातनम् । "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च" इत्यनेन दोषाशब्दादव्ययाट्ट्युप्रत्ययः । तरलविद्युच्चलत्तडिदभ्रवृन्दमिव अध्यास्ताधिष्ठितवान् ।

भावार्थ—उसके बाद राम भी भरत और लक्ष्मण के साथ पताकाओं से सजे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमान पर उस प्रकार चढ़ गये, जिस प्रकार बुध और बृहस्पति के साथ होने से विशेष दर्शनीय चन्द्रमा सन्ध्या के समय चञ्चल बिजली युक्त बादलों पर बैठता है ॥ ७६ ॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं
वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रा-
त्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तत्र जगताम् ईश्वरेण प्रलयात् उर्वीम् इव वर्षात्ययेन अभ्रघनात् इन्दोः रुचं इव रामेण दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं मैथिलसुतां भरतः ववन्दे ।

तत्रेति । तत्र विमाने जगतामीश्वरेणादिवराहेण प्रलयादुर्वीमिव वर्षात्ययेन शरदागमेनाभ्रघनान्मेघसङ्घातादिन्दो रुचं चन्द्रिकामिव रामेण दशकण्ठ एवं कृच्छ्रं सङ्कटं तस्मात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं सन्तोषवतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो ववन्दे ।

भावार्थ—जिस प्रकार आदिवराह ने प्रलय से पृथ्वी का उद्धार किया था और जिस प्रकार वर्षा ऋतु बीत जाने पर शरद् ऋतु बादलों से चन्द्रमा की

चाँदनी को बचाता है। उसी प्रकार राम ने रावणरूपी संकट से जिसे उबार लिया था उस धैर्यधारिणी सीताजी को भरत ने प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्-
वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं शिरोऽस्य साधो
रन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ ७८ ॥

अन्वयः—लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं वन्द्यं तत् जनकात्मजायाः चरणयोः ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं साधोः अस्य शिरः च उभयं समेत्य अन्योन्यपावनम् अभूत् ।

लङ्केश्वरप्रणतीति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भंगेन निरासेनदृढव्रतमखण्डितपातिव्रत्यमत एव वन्द्यं तज्जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगं ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिलं जटायुक्तं साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्चेत्युभयं समेत्य मिलित्वाऽन्योन्यस्यपावनं शोधकमभूत् ।

भावार्थ—सीताजी के जिन पवित्र चरणों ने रावण की प्रणय प्रार्थना को दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया था उन पर जब भरतजी ने बड़े भाई की भक्ति के कारण बढ़ी हुई जटावाला अपना मस्तक रखा तब इन दोनों ने परस्पर मिलाकर एक दूसरे को पवित्र कर दिया ॥ ७८ ॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा
काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः
साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

अन्वयः—आर्यः काकुत्स्थः प्रकृतिपुरःसरेण स्तिमितजवेन पुष्पकेण क्रोशार्धं गत्वा शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यम् उदारं साकेतोपवनम् अध्युवास ।

क्रोशेति । आर्यः पूज्यः काकुत्स्थो: रामः प्रकृतयः प्रजाः पुरःसर्यो यस्य तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः । क्रोशार्धं कोशैकदेशं गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिताः सज्जिता उपकार्याः पटभवनानि यस्मिंस्तदुदारं महत्साकेतस्यायोध्याया उपवनमध्युवासाधितस्थौ । 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसलानन्दिनी तथा' इति यादवः ।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यासमेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकात्प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

भावार्थ—आगे-आगे अयोध्या की जनता चल रही थी और पीछे-पीछे वह पुष्पक विमान चल रहा था जिस पर राम बैठे हुए थे। इस प्रकार आधाकोस चलकर राम ने अयोध्या के उस सुन्दर उपवन मे निवास किया जिसे शत्रुघ्नजी ने पहले ही भली-भाँति सजा दिया था ॥ ७९ ॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित अन्वय
और चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका में रघुवंश
महाकाव्य का दण्डकवन से प्रत्यागमन नामक
त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥



चतुर्दशः सर्गः

संजीवनं मैथिलकन्यकायाः सौन्दर्यसर्वस्वमहानिधानम् ।
दशाङ्कपङ्केरुहयोः समानं रामस्य वन्दे रमणीयमास्यम् ॥

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ दाशरथी उपघ्नतरो: छेदात् व्रतत्यौ इव भर्तुः प्रणाशात् शोचनीयं दशान्तरं प्रपन्ने जनन्यौ तत्र समम् अपश्यताम् ।

भर्तुरिति । अथोपवनाधिष्ठानानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणौ उपघ्नतरोराश्रयवृक्षस्य । 'उपघ्न आश्रये' इति निपातः । तस्य छेदाद् व्रतत्यौ लते इव । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । भर्तुर्दशरथस्य प्रणाशाच्छोचनीयम् दशान्तरमवस्थान्तरम् । 'अवस्थायां वस्त्रान्ते स्याद्दशापि' इति विश्वः । प्रपन्ने प्राप्ते जनन्यौ कौसल्यासुमित्रे तत्र साकेतोपवने समं युगपदपश्यताम् । दृशेः कर्तरि लङ् ।

भावार्थ—इसके बाद उस उपवन मे राम और लक्ष्मणजी अपनी माताओं से मिले जो उसी प्रकार उदास लग रही थीं जिस प्रकार वृक्ष के कट जाने पर उसके सहारे चढ़ी हुई लतायें मुरझा जाती हैं ॥ १ ॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥

अन्वयः—यथाक्रमं प्रणतौ हतारी विक्रमशोभिनौ तौ उभौ उभाभ्यां अस्रान्धतया विस्पष्टं न दृष्टौ (किन्तु) सुतस्पर्श सुखोपलम्भात् ज्ञातौ ।

उभाविति । यथाक्रमं स्वस्य मातृपूर्वकं प्रणतौ नमस्कृतवन्तौ हतारी हतशत्रुको विक्रमशोभिनौ तावुभौ रामलक्ष्मणावुभाभ्यां मातृभ्यामस्त्रैरश्रुभिरन्धतया हेतुना । 'अस्रमश्रु च शोणितम्' इति यादवः । विस्पष्टं न दृष्टौ किंतु सुतस्पर्शेन यत्सुखं तस्योपलम्भादनुभवाज्ज्ञातौ ।

भावार्थ—अपने शत्रुओं का नाश करने वाले पराक्रमी राम और लक्ष्मण ने बारी-बारी से उन दोनों माताओं को प्रणाम किया, अपने पुत्रों को देखते ही दोनों माताओं की आँखों में आँसू छल-छला आए। इसलिए वे आँख भर उन्हें देख भी नहीं सकीं, पर पुत्रों के स्पर्श से सुख प्राप्त होने से वे उन्हें पहचान गईं ॥ २ ॥

आनन्दजः शोकजमश्रुबाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।

गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥

अन्वय—तयोः आनन्दजः शिशिरः बाष्पः शोकजं अशीतं अश्रु उष्णतप्तं गङ्गासरय्वोः जलम् अवतीर्णः हिमाद्रिनिस्यन्दः इव बिभेद ।

आनन्दज इति । तयोर्मात्रोरानन्दजः शिशिरो शीतल बाष्पः शोकजमशीतमुष्णमश्रु उष्णतप्तं ग्रीष्मतप्तं गङ्गासरय्वोर्जलं कर्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्यन्दो निर्झर इव बिभेद । आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थः ।

भावार्थ—जैसे गर्मी के दिनों में हिमालय का शीतल जल गङ्गा और सरयू के गर्म जलको ठण्डा कर देता है वैसे ही उन कौशल्या और सुमित्रा दोनों की आँखों से वहे हुए आनन्द के शीतल आँसुओं ने शोक के उष्ण आँसुओं को ठण्डा कर दिया ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।

अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—ते पुत्रयोः अंगे नैर्ऋतशस्त्रमार्गान् आर्द्रान् सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानाम् ईप्सितं अपि वीरसूशब्दं न अकामयेताम् ।

त इति । ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान् व्रणान् शस्त्रघातकिणानार्द्रान्सरसानिव सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानामीप्सितमिष्टमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्दं नाकामयेताम् । वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भावः ।

भावार्थ—पुत्रों के शरीर के जिन अंगों पर राक्षसों के शस्त्रों के घाव बने

थे वहाँ वे दोनो मातायें इस प्रकार सहलाने लगीं मानो घाव अभी ताजा ही हो, उस समय अपने पुत्रों के घावों को देखकर इतनी व्याकुल हो गई कि उन्हें क्षत्रिय कुल वधुओं को अभिलषित वीर पुत्र की माता कहलाना भी अच्छा नही लगा ॥ ४ ॥

क्लेशवहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ ५ ॥

अन्वय —भर्तुः क्लेशवहा (अत एव) अलक्षणा अहं सीता इति स्वं नाम उदीरयन्ती स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोः महिष्यौ वधूः अभक्तिभेदेन ववन्दे ।

क्लेशावहेति । आवहतीत्यावहा भर्तुः क्लेशवहा क्लेशकारिणी । अत एवालक्षणाऽहं सीतेति स्वं नामोदीरयन्ती । स्वर्गः प्रतिष्ठास्पदं यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरोः श्वसुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ । 'वधूः स्नुषा वधूर्जाया स्नुषा' इत्यमरः । अभक्तिभेदेन ववन्दे । स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्रूवैधव्यदर्शनदुःखं सूचितम् ।

भावार्थ—मैं ही पति को कष्ट देनेवाली कुलक्षणा सीता हूँ यह कहती हुई सीताजी ने एक-सी भक्ति से स्वर्गवासी श्वसुर की दोनों रानियों का चरण छूकर प्रणाम किया ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठ वत्से ! ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव ।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥

अन्वयः—ननु हे वत्से ! उत्तिष्ठ असौ सानुजः भर्ता तव एव शुचिना वृत्तेन महत्कृच्छ्रं तीर्णः इति प्रियार्हां तां प्रियम् अपि अमिथ्या ते ऊचतुः ।

उत्तिष्ठेति । ननु 'वत्से ! उत्तिष्ठ । असौ सानुजो भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन महत्कृच्छ्रं दुःखं तीर्णस्तीर्णवान् ।' इति प्रियार्हां तां वधूं प्रियमप्यमिथ्यां सत्यं ते श्वश्र्वावूचतुः । उभयं दुर्वचमिति भावः ।

भावार्थ—उन दोनों माताओं ने स्नेह करने योग्य सीताजी को उठाते हुए प्रिय और सच्ची बात कही—उठो बेटी ! तेरे ही पवित्र पातिव्रत्य के प्रभाव से राम और लक्ष्मण इस बड़े संकट से पार हुए हैं ॥ ६ ॥

अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ जनन्योः आनन्दजलैः प्रारब्धं रघुवंशकेतोः अभिषेकं अमात्यवृद्धाः तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः निर्वर्तयामासुः ।

अथेति । अथ जनन्योरानन्दजलैरानन्दवाष्पैः प्रारब्धं प्रक्रान्तं रघुवंशकेतो रामस्याभिषेकममात्यवृद्धास्तीर्थेभ्यो गङ्गाप्रमुखेभ्य आहृतैरानीतैः काञ्चनकुम्भतोयैर्निर्वर्तयामासुर्निष्पादयामासुः ।

भावार्थ—इसके बाद जिस राज्याभिषेक का आरम्भ माताओं के हर्ष भरे आंसुओं से हुआ था उसको सुवर्ण के घड़ों में भरे तीर्थों से लाये हुए जल से राम को नहला कर वृद्ध मन्त्रियों ने पूरा किया ॥ ७ ॥

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥

अन्वयः—रक्षः कपीन्द्रैः सरित्समुद्रान् सरसीः च गत्वा उपपादितानि जलानि जिष्णोः तस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप इव अपतन् ।

सरिदिति । रक्षः कपीन्द्रैः सरितो गगाद्याः समुद्रान्पूर्वादीन्सरसीर्मानसादींश्च गत्वा उपपादितान्युपनीतानि जलानि जिष्णोर्जयशीलस्य । "ग्लाजिस्थश्चग्स्नु" इति ग्स्नुप्रत्ययः । तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्याद्रेर्मूर्ध्नि मेघप्रभवा अपि उदकानीव अपतन् ।

भावार्थ—राक्षस और वानरों के नायकों ने नदियों, समुद्रों एवं सरोवर से जो जल लाकर दिया वह अभिषेक समय में राम के शिर पर वैसे ही बरस रहा था जैसे विन्ध्याचल के शिखर पर बादलों का लाया हुआ जल बरसा करता है ॥ ८ ॥

तपस्विवेषक्रिययाऽपि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥

अन्वयः—यः तपस्विवेषक्रियाया अपि सुतरां प्रेक्षणीयः बभूव तस्य उदिता राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा पुनरुक्तदोषा आसीत् ।

तपस्वीति । यो रामस्तपस्विवेषक्रिययाऽपि तपस्विवेषरचनयाऽपि सुतरामत्यन्तं प्रेक्षणीयस्तावद्दर्शनीय एव बभूव । तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजवेषरचनयोदिता या शोभा सा पुनरुक्तं नाम दोषो यस्याः सा पुनरुक्तदोषा द्विगुणाऽऽसीत् ।

भावार्थ—जो राम तपस्वी के वेश में भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजराजेश्वरों के योग्य राजसी वस्त्र पहन कर और भी सुन्दर लगने लगे ॥ ९ ॥

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सः सैन्यः तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः (सन्) मौलरक्षोहरिभिः सौधोद्गतलाजवर्षाम् उत्तोरणां अन्वयराजधानीं विवेश ।

स इति । स रामः ससैन्यस्तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्गः सन् मूले भवा मौला मन्त्रिवृद्धास्तै रक्षोभिर्हरिभिश्च सह सौधेभ्य उद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीमयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ।

भावार्थ—वृद्धमन्त्री राक्षस और वानरों के साथ राम ने अपनी सेना के साथ वंशपरम्परागत राजधानी अयोध्या में प्रवेश किया, जो चारों ओर बन्दरवारों से सजाई गई थी जहाँ के श्वेत भवनों से धान की लाई बरस रही थी और जहाँ के निवासी तुरही आदि बाजों को सुन-सुनकर परम प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥

अन्वयः—सावरजेन सौमित्रिणा मन्दमाधूतबालव्यजनः रथस्थः भरतेन धृतातपत्रः प्रवृद्धः साक्षात् उपायसंघात इव पुरं प्रविवेश ।

सौमित्रिणेति । सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्दमाधूते बालव्यजने चामरे यस्य स रथस्थो भरतेन धृतातपत्र एवं चतुर्व्यूहो रामः प्रवृद्धः साक्षादुपायानां सामादीनां सङ्घातः समष्टिरिव विवेशेति । पूर्वेण सम्बन्धः ।

भावार्थ—लक्ष्मण और शत्रुघ्न रथ पर बैठे हुए राम पर धीरे-धीरे चंवर डुला रहे थे और भरत अपने हाथ में छत्र लिए हुए थे। इस प्रकार जब राम अपने भाइयों के साथ अयोध्या में प्रवेश किये तब चारों भाई ऐसे जान पड़ रहे थे मानो साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय इकट्ठे हो गये हों ॥ ११ ॥

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ १२ ॥

अन्वयः—वायुवशेन भिन्ना प्रासादकालागुरुधूमराजिः वनात् निवृत्तेन रघूत्तमेन स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः वेणिः इव आबभासे ।

प्रासादेति । वायुवशेन भिन्ना प्रसादे यः कालागुरुधूमस्तस्य राजिः रेखा वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः पुर्या वेणिरिव अवभासे । पुरोऽपि पतिव्रतासमाधिरुक्तः । (न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्) इति हारीतः ।

भावार्थ—भवनों के ऊपर वायु से छितराया हुआ काला अगर का धुआँ ऐसा लग रहा था मानों वन से लौट कर राम ने अयोध्या नगरी का जूड़ा खोल दिया हो ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

अन्वयः—श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीं साकेतनार्यः प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः अञ्जलिभिः प्रणेमुः ।

श्वश्रूजनेति । श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषां कृतसौम्यनेथ्याम् । 'आकल्पवेषो नेपथ्यम्' इत्यमरः । कर्णीरथः स्त्रीयोग्योऽल्परथः । 'कर्णीरथः प्रवहणं डयनं रथगर्भके' इति यादवः । तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्यः प्रासादवातायनेषु दृश्यबन्धैर्लक्ष्यपुटैरञ्जलिभिः प्रणेमुः ।

भावार्थ—भवनों के झरोखों में दिखाई देनेवाली अयोध्या की महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजी को प्रणाम किया जो उस समय पालकी में बैठी हुई थी और जिन्हें कौशल्या सुमित्रा ने सुन्दर ढंग से वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कर दिया था ॥ १३ ॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥

अन्वयः—स्फुरत्प्रभामण्डलम् आनुसूयं शाश्वतम् अङ्गरागं बिभ्रती सा भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धा इति संदर्शिता पुनः वह्निगता इव रराज ।

स्फुरदिति । स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयमनुसूयया दत्तं शाश्वतं सदातनमङ्गरागं विलेपनद्रव्यं बिभ्रती सा सीता भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धेति सन्दर्शिता पुनर्वह्निगतेव रराज ।

भावार्थ—सीताजी के शरीर पर अब भी वह अमिट कान्तिवाला अङ्गराग लगा हुआ था जो अनुसूया जी ने उनके शरीर में लगा दिया था, उससे अग्नि के समान प्रकाशमान उनका शरीर ऐसा दिखाई दे रहा था मानो अयोध्या वासियों को सीताजी की शुद्धता दिखाने के लिए राम ने उन्हें अग्नि में पुनः प्रवेश कराकर शुद्ध कर दिया था ॥ १४ ॥

वेश्मानि रामः परिवर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥

अन्वयः—सौहार्दनिधिः रामः सुहृद्भ्यः परिवर्हवन्ति वेश्मानि विश्राण्य आलेख्यशेषस्य पितुः बलिमत् निकेतं बाष्पायमाणः (सन्) विवेश ।

वेश्मानीति । सुहृदो भावः सौहार्दं सौजन्यम् । "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इत्युभयपदवृद्धिः । सौहार्दनिधी रामः सुहृद्भ्यः सुग्रीवादिभ्यः परिवर्हवन्त्युपकरणवन्ति वेश्मानि विश्राण्य दत्त्वा आलेख्यशेषस्य चित्रमात्रशेषस्य पितुर्बलिमत्पूजायुक्तं निकेतनं गृहं बाष्पमुद्वमन्विवेश । "बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने" इति क्यङ् प्रत्ययः ।

भावार्थ—सज्जनता के आकर राम ने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रों को सब प्रकार की सामग्री से सुसज्जित भवनों में ठहरा कर बाद अपने पिता के पूजाघर में गये वहाँ दशरथ का अकेला चित्र देखकर उनकी आँखों में आँसू आ गये ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

अन्वयः—तत्र कृताञ्जलिः (सन् रामः) हे अम्ब ! नः गुरुः स्वर्गफलात् सत्यात् न अभ्रश्यत इति यत् तत् चिन्त्यमानं तव सुकृतम् इति भरतस्य मातुः लज्जां जहार ।

कृताञ्जलिरिति । तत्र निकेतने कृताञ्जलिः सन् रामः 'हे अम्ब ! नो गुरुः पिता स्वर्गः फलं यस्य तस्मात्सत्यान्नाभ्रश्यत न भ्रष्टवानिति यदभ्रंशनं तच्चिन्त्यमानं विचार्यमाणं तव सुकृतम् ।' इत्येवं प्रकारेण भरतस्य मातुः कैकेय्या लज्जा जहारापानयत् । राज्ञः प्रतिज्ञापरिपालनं स्वर्गसाधनमित्यर्थः । भरतग्रहणं तदपेक्षयाऽपि कैकेय्यनुसरणद्योतनार्थम् ।

भावार्थ—कैकेयी वहाँ उदास होकर बैठी हुई थी, राम ने हाथ जोड़ कर उससे कहा "माँ तुम्हारे ही पुण्य के प्रताप से हमारे पिताजी अपने उस सत्य से नहीं डिगे, जिससे स्वर्ग मिलता है । यदि आप उनसे वरदान न माँगती तो उनकी वरदान देने की प्रतिज्ञा झूठी हो जाती" यह सुनकर कैकेयी की आत्मग्लानि जाती रही ॥ १६ ॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

अन्वयः—सुग्रीवविभीषणादीन् कृत्रिमसंविधाभिः तथा एव उपाचरत् यथा संकल्पमात्रोदितसिद्धयः ते चेतसि विस्मयेन क्रान्ताः ।

तथेति । सुग्रीवविभीषणादीन् संविधीयन्त इति संविधा योग्यवस्तूनि कृत्रिमसंविधाभिस्तथा तेन प्रकारेणैवोपाचरत् यथा सङ्कल्पमात्रेणेच्छामात्रेणोदितसिद्धयस्ते सुग्रीवादयश्चेतसि विस्मयेन क्रान्ता आक्रान्ताः ।

भावार्थ—वहाँ से आकर राम ने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रों का अच्छी तरह स्वागत किया, उन लोगों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह तत्काल बिना कहे ही मिल जाता है ॥ १७ ॥

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः सभाजनाय उपागतान् दिव्यान् मुनीन् पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः प्रभवादि स्वविक्रमे गौरवमादधानं वृत्तं तेभ्यः शुश्राव ।

सभाजनायेति । स रामः सभाजनायाभिनन्दनायोपगतान्दिवि भवान्मुनीनगस्त्यादीन्पुरस्कृत्य, हतस्य शत्रोः रावणस्य प्रभवादि जन्मादिकं स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमादधानं वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान् । विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ।

भावार्थ—तब राम ने उन अगस्त्य आदि ऋषियों का सत्कार किया जो उन्हें बधाई देने के लिए आये हुए थे, फिर उनसे उन्होंने अपने शत्रु रावण के जन्म से मृत्यु तक वह वृत्तान्त सुना जो उनका गौरव बढ़ाने वाला था ॥ १८ ॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥ १९ ॥

अन्वयः—तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु सुखात् अविज्ञातगतार्धमासान् सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षः कपीन्द्रान् रामः विससर्ज ।

प्रतीति । तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञात एव गतोऽर्धमासो येषांताननन्तरं सीतायाः स्वहस्तेनोपहृता दत्ताऽग्र्यपूजोत्तमसम्भावना येभ्यस्तान् । एतेन सौहार्दातिशय उक्तः । रक्षःकपीन्द्रान्रामो विससर्ज विसृष्टवान् ।

भावार्थ—तपस्वियों के चले जाने पर राम ने उन राक्षसों और वानरों के राजाओं को विदा किया जो अयोध्या में इतने आनन्द से रहे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि आधा महीना कब बीत गया । चलते समय सीताजी स्वयं अपने हाथों से सत्कार के लिए सामग्री लाई ॥ १९ ॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥ २० ॥

अन्वयः—तत् आत्मचिन्तासुलभं सुरारेः जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पकं भूयः कैलाशनाथोद्वहनाय अमंस्त ।

तच्चेति । तच्चात्मचिन्तासुलभं स्वेच्छामात्रलभ्यं सुरारेः रावणस्य जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पवदाभरणभूतं पुष्पकं विमानं भूयः पुनरपि कैलासनाथस्य कुवेरस्योद्वहनायान्वमंस्तानुज्ञातवान् । मन्यतेर्लुङ् । भूयोग्रहणेन पूर्वमप्येतत्कौवेरमेवेति सूच्यते ।

भावार्थ—राम ने उस स्वर्ग के पुष्प के समान पुष्पक विमान को भी कुवेर के पास जाने की आज्ञा दे दी । जो इच्छा करते ही उनकी सेवा के लिए

आ जाता था और जिसे उन्होंने रावण के प्राण के साथ-साथ उससे हरण कर लिया था ॥ २० ॥

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—राम एवं पितुः नियोगात् वनवासं निस्तीर्य प्रतिपन्नराज्यः धर्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे ।

पितुरिति । राम एवं पितुर्नियोगाच्छासनाद्वनवासं निस्तीर्यानन्तरं प्रतिपन्नराज्यः प्राप्तराज्यः सन् धर्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेष्वनुजेषु समां वृत्तिं प्रपदे। अवैषम्येण व्यवहृतवानित्यर्थः ।

भावार्थ—इस प्रकार पिता की आज्ञा से वनवास की अवधि बिताकर राम ने अपने पिता का राज्य पुनः पाया । जिस प्रकार धर्म, अर्थ और काम के साथ सामान व्यवहार करते थे उसी प्रकार अपने भाइयों के साथ भी समान प्रेम का व्यवहार करते थे ॥ २१ ॥

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

अन्वयः—स वत्सलत्वात् सर्वासु मातृषु अपि निर्विशेषप्रतिपत्तिः आसीत्, चमूनां नेता षडाननापीतपयोधरासु कृत्तिकासु इव ।

सर्वास्विति । स रामो वत्सलत्वात्स्निग्धत्वात् न तु लोकप्रतीत्यर्थम् । 'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः । सर्वासु मातृष्वपि निर्विशेषप्रतिपत्तिस्तुल्यसत्कार आसीत् । कथमिव चमूनां नेता षण्मुखः षड्भिराननैरापीताः पयोधराः स्तना यासां तासु कृत्तिकास्विव ।

भावार्थ—जिस प्रकार स्वामी कार्तिकेय अपने ६ मुखों के कृत्तिकाओं के ६ स्तनों को पीकर समान रूप से प्रेम दिखाते थे उसी प्रकार राम भी अपनी तीनों माताओं पर बराबर प्यार करते थे । शास्त्रों में कृत्तिका नक्षत्र की संख्या तीन है इसलिए षडानन कार्तिकेय के पीने के लिए तीन कृत्तिकाओं का ६ स्तनों का होना उचित ही है ॥ २२ ॥

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ २३ ॥

अन्वयः—लोकः लोभपराङ्मुखेन तेन अर्थवान् आस, विघ्नभयं घ्नता तेन क्रियावान्, विनेत्रा तेन पितृमान्, शोकापनुदेन तेन एव पुत्री (आस) ।

तेनेति। लोको लोभपराङ्मुखेन वदान्येन तेन रामेणार्यवान्धनिक आस बभूव। तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमेतत्। विघ्नेभ्यो भयं घ्नता नुदता क्रियावाननुष्ठानवानास। विनेत्रा नियामकेन तेन पितृमानास। पितृवन्नियच्छतीत्यर्थः। शोकमपनुदतीति शोकापनुदो दुःखस्य हर्ता तेन। "तुन्दशोकयोः परिमृतापनुदोः" इति कप्रत्ययः। तेन पुत्री पुत्रवानास। पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः।

भावार्थ—राम निर्लोभ थे इसलिए उन्होंने प्रजाओं पर कोई कर नहीं लगाया, फल यह हुआ कि थोड़े दिनों में प्रजा धनी हो गयी, वे कहीं भी विघ्न आने ही नहीं देते थे, इसलिए सभी लोग प्रसन्नता से यज्ञ-आदि क्रियायें करने लगे। वे सबको ठीक मार्ग पर चलाते थे, इसलिए सभी इनको पिता के समान मानते थे, विपत्ति पड़ने पर वे सबको सहायता करते थे इसलिए वे पुत्रवान् भी थे। २३॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या॥ २४॥

अन्वयः—सः काले पौरकार्याणि समीक्ष्य विदेहाधिपतेः दुहित्रा उपभोगोत्सुकया (अत एव) तदीयं चारु वपुः कृत्वा (स्थितया) लक्ष्म्या इव उपस्थितः सन् रेमे।

स इति। स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहाधिपतेर्दुहित्रा सीतया उपभोगोत्सुकयाऽत एव तदीयं सीतासंबन्धि चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्यैव उपस्थितः संगतः सन् रेमे। 'उपस्थानं तु सङ्गतिः' इति यादवः।

भावार्थ—वे ठीक समय पर प्रजा का काम देखभाल कर सीता के साथ रमण करते थे, उन्हें देखकर ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो राजलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण करने के लिए सीता का सुन्दर रूप धर लिया है॥ २४॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ २५॥

अन्वयः—चित्रवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितम् इन्द्रियार्थान् आसेदुषोः दण्डकेषु प्राप्तानि दुःखानि अपि संचिन्त्यमानानि सुखानि अभूवन्।

तयोरिति। चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तालेख्यवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितं यथेष्टमिन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाञ्छब्दादीनासेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोः सीतारामयोर्दण्डकेषु दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि संचिन्त्यमानानि स्मर्यमाणानि सुखान्यभूवन्। स्मारकं तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम्।

भावार्थ—वे दोनों उस भवन में इच्छानुसार विलास करते थे जिसमें बनवास के समय के चित्र टंगे हुए थे, जिन्हें देखकर बनवास की दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था ॥ २५ ॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री　परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥

अन्वय—अथ सीता अधिकस्निग्धविलोचनेन शरपाण्डुरेण अनक्षरव्यञ्जितदोहदेन मुखेन परिणेतुः आनन्दयित्री आसीत् ।

अथेति । अथ सीताधिकस्निग्धविलोचनेनात्यन्तमसृणलोचनेन शरवत्तृणविशेषवत्पाण्डुरेणात एवानक्षरमवाग्व्यापारं यथा भवति तथा व्यञ्जितं प्रकटितं दोहदं गर्भो येन तेन मुखेन परिणेतुः पत्युः । इत्यत्र कर्मणि षष्ठी । आनन्दयित्र्यासीत् ।

भावार्थ—इसके बाद सीताजी के नेत्रों की शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपत के समान पीला पड़ने लगा, इन गर्भ के लक्षणों को देखकर राम बड़े प्रसन्न हुए अर्थात् मुख की पाण्डुरता से सीता को गर्भिणी जानकर राम अति आनन्दित हुए ॥ २६ ॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ २७ ॥

अन्वय—प्रतीतः रमणः प्रिया कृशांगयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् विलज्जमानां तां रामां अङ्कम् आरोप्य अभिलाषं पप्रच्छ ।

तामिति । प्रतीतो गर्भज्ञानवान् रमयतीति रमणः प्रिया कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तरेण नीलिम्नाक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहस्यङ्कमारोप्याभिलाषं मनोरथं पप्रच्छ । एतच्च—"दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्" इति शास्त्रात् । न तु लौल्यादित्यनुसधेयम् ।

भावार्थ—जब राम को पूर्ण विश्वास हो गया कि सीताजी गर्भिणी हैं तो वे दुर्बल शरीर वाली श्यामवर्ण वाले स्तनाग्रों से युक्त एवं सलज्ज सीता को एकान्त में गोद में लेकर पूछने लगे कि बताओ तुम्हें क्या-क्या चाहिए ? ॥२७॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः सम्बद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥

अन्वय—सा हिंस्रैः दष्टनीवारबलीनि सम्बद्धवैखानसकन्यकानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः गन्तुम् इयेष ।

सेति । सा सीता हिंस्रैर्दष्टा नीवारा एव बलयो येषु तानि । तिर्यग्भिश्च-

कादिदानं वलिः । संबद्धाः कृतसम्बन्धाः कृतसख्या वैखानसानां कन्यका येषु
तानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमियेषाभिललाष ।

भावार्थ—सीताजी ने कहा, मैं गङ्गा के तट के उन तपस्वियों को देखना
चाहती हूँ जहाँ के हिंसक जन्तु मांस न खाकर नीवार ही खाते हैं, जहाँ मेरी
सखियाँ तपस्विनियों की कन्यायें रहती हैं और वहाँ कुशा की पर्णकुटियाँ चारों
ओर खड़ी हैं ॥ २८ ॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥

अन्वयः—रघुप्रवीरः तस्यै तत् ईप्सितं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरानुयातः (सन्)
मुदितां अयोध्यां आलोकयिष्यन् अभ्रलिहं प्रासादम् आरुरोह ।

तस्या इति । रघुप्रवीरो रामस्तस्यै सीतायै तत्पूर्वोक्तमीप्सितं मनोरथं प्रति-
श्रुत्य पार्श्वचरैस्तत्कालोचितैरनुयातः सन्मुदितां तामयोध्यामालोकयिष्यन् अभ्रं
लेढीत्यभ्रंलिहमभ्रङ्कषं प्रासादमारुरोह । "वहाभ्रे लिहः" इति खश्प्रत्ययः ।
"अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमः ।

भावार्थ—रामजी ने कहा—अच्छी बात है हम तुम्हें तपोवन में अवश्य
भेजेंगे, वे वहाँसे उठ कर अपने सेवकों के साथ सुन्दर अयोध्या की छटा देखने
के लिए गगनचुम्बी अपने राजभवन की छतपर जा चढ़े ॥ २९ ॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥

अन्वयः—सः ऋद्धापणं राजपथं नौभिः विगाह्यमानां सरयूञ्च पश्यन् पौरैः
विलासिभिः अध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ।

ऋद्धापणमिति । स रामः ऋद्धाः समृद्धा आपणाः पण्यभूमयो यस्मिस्तं
राजपथम् । नौभिः समुद्रवाहिनीभिर्विगाह्यमानां सरयूं च, पौरैर्विलासिभिर-
ध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि च पश्यन्रेमे । विलासिन्यश्च विलासिनः ।
"पुमान्स्त्रिया" इत्येकशेषः ।

भावार्थ—वहाँ से उन्होंने देखा कि राजमार्ग की दुकानें धन-धान्य से भरी
हुई हैं, सरयू में नावें चल रही हैं और अयोध्या के उद्यानों में विलासी पुरवासी
प्रसन्न होकर विलास कर रहे हैं ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—वदतां पुरोगः विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजोरुभुजः विजितारिभद्रः सः स्ववृत्तम् उद्दिश्य भद्रं अपसर्पं किंवदन्तीं पप्रच्छ ।

स इति । वदतां वाग्मिनां पुरोगः श्रेष्ठो विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजः शेषः तद्वदूरू भुजौ यस्य सः । विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स रामः । स्ववृत्तमुद्दिश्य भद्रं भद्रनामकमपसर्पं चरं किंवदन्तीं जनवादं पप्रच्छ । 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इति, 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इति चामरः ।

भावार्थ—नगर की यह शोभा देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ सदाचारी और शेष के समान बड़ी बड़ी भुजाओं और जंघाओंवाले शत्रु विजयी राम ने अपने भद्रमुख नामक गुप्तचर से पूछा—कहो भद्र ! मेरे विषय में प्रजा क्या कहती है ? ॥ ३१ ॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव ! देव्याः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—निर्बन्धपृष्टः स जगाद—हे मानवदेव ! रक्षोभवनोषितायाः देव्याः परिग्रहात् अन्यत्र त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ।

निर्बन्धेति । निर्बन्धेनाग्रहेण पृष्टः सोऽपसर्पो जगाद । किमिति ? हे मानवदेव ! रक्षोभवन उषिताया देव्याः सीतायाः परिग्रहात्स्वीकारादन्यत्रेतरस्मिन् तं वर्जयित्वेत्यर्थः । त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ।

भावार्थ—पहले तो वह चुप रहा, पर राम के द्वारा आग्रह पूर्वक पूछे जाने पर वह बोला—हे मानवदेव ! जनता आपकी सब बातों की प्रशंसा करती है किन्तु आपने राक्षस रावण के घर में रहने वाली सीता को ग्रहण कर लिया, इसे लोग अच्छा नहीं समझते ॥ ३२ ॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥

अन्वयः—एवं किल कलत्रनिन्दागुरुणा कीर्तिविपर्ययेण अभ्याहतं वैदेहिबन्धोः हृदयं अयोघनेन अभितप्तं अयः इव विदद्रे ।

कलत्रेति । एवं किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्तिविपर्ययेणापकीर्त्याभ्याहतं वैदेहिबन्धोर्वैदेहिवल्लभस्य । "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" इति ह्रस्वः । कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोघनेनाभितप्तं संतप्तमय इव विदद्रे विदीर्णम् । कर्तरि लिट् ।

भावार्थ—इस प्रकार अपनी पत्नी पर लगाए गए इस भीषण कलंक को

सुन कर सीतापति राम का हृदय वैसे ही फट गया जैसे घन की चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाता है ॥ ३३ ॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—किम् आत्मनिर्वादकथां उपेक्षे उत अदोषां जायाम् सन्त्यजामि इति एकपक्षाश्रयविक्लवत्वात् स दोलाचलचित्तवृत्तिः आसीत् ।

किमिति। आत्मनो निर्वादोऽपवाद एव कथा तां किमुपेक्षे। उत अदोषां साध्वीं जायां सन्त्यजामि। उभयत्रापि प्रश्ने लट्। इत्येकपक्षाश्रयेऽन्यतरपक्षपरिग्रहे विक्लवत्वादपरिच्छेत्तृत्वात्स रामो दोलेव चला चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत्।

भावार्थ—वे अपने मन मे सोचने लगे कि अब दो ही उपाय हैं या तो मैं इस बात को अनसुनी कर दूं और टाल दूं या निर्दोष सीता को सदा के लिए छोड़ दूँ। उस समय उनका चित्त डांवाडोल हो गया क्योंकि वह निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि क्या करूँ ॥ ३४ ॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वाच्यम् अनन्यनिवृत्ति निश्चत्य पत्न्याः त्यागेन परिमार्ष्टुम् ऐच्छत् हि यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशो गरीयः इद्रियार्थात् किमुत ?

निश्चित्येति। किंच वाच्यमपवादं नास्त्यन्येन त्यागातिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्यस्य तदनन्यनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्यास्त्यागेन परिमार्ष्टुं परिहर्तुमैच्छत्। तथा हि यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशो गरीयो गुरुतरम्। इन्द्रियार्थात्स्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियविषयाद्गरीय इति किमुत वक्तव्यम्। "पञ्चमी विभक्ते" इत्युभयत्रापि पञ्चमी। सीता चेन्द्रियार्थ एव।

भावार्थ—किन्तु उस कलंक को मिटाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं था इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीता को त्याग कर ही यह कलंक मिटाना चाहिए क्योंकि यशस्वियों को अपना यश अपने शरीर से भी अधिक प्यारा है फिर स्त्री आदि भोग की वस्तुओं की तो बात ही क्या है ॥ ३५ ॥

स सन्निपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हतौजाः सः तस्य विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् अवरजान् सन्निपात्य आत्माश्रयं कौलीनं तेभ्यः आचचक्षे पुनः च इदं वाक्यं उवाच ।

स इति। हृतौजा निस्तेजस्कः स रामस्तस्य रामस्य विक्रियादर्शनेन लुप्तहर्षानवरजान्संनिपात्य समगम्य्यात्माश्रयं स्वविषयकं कौलीनं निन्दां तेभ्य आचचक्षे। पुनरिदं वाक्यमुवाच च।

भावार्थ—उदास मुख से राम ने छोटे भाइयों को बुलाया तो वे भी उनकी दशा देखकर सन्न रह गये। वे अपने विषय में होने वाली निन्दा को उनसे कहकर पुनः यह वचन बोले॥ ३६॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम्।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य॥ ३७॥

अन्वयः—रविप्रसूते राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचे. मत्तः दर्पस्य पयोदवातात् इव कीदृश अयं कलङ्कः उपस्थितः (इति) पश्यत्।

राजर्षीति। रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्ताच्छुद्धान्मत्तो मत्सकाशात् दर्पणस्य पयोदवातादिव। अम्भःकणादित्यर्थः कीदृशोऽयं कलंक उपस्थित. प्राप्तः पश्यत।

भावार्थ—यद्यपि मैं सदाचारी होने के कारण निष्कलंक हूँ फिर भी जैसे भाप पड़ने से दर्पण धुंधला हो जाता है। वैसे ही देखो सूर्यवंशी राजाओं के कुल में मेरे कारण कैसा अकल्पनीय कलंक लग रहा है॥ ३७॥

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम्।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः॥ ३८॥

अन्वयः—सः अहं अपां तरंगेषु तैलबिन्दुम् इव पौरेषु बहुलीभवन्तं तत्पूर्ववर्णं द्विपेन्द्रः आलानिकं स्थाणुम् इव सोढु न ईशे।

पौरेष्विति। सोऽहम्। अपां तरंगेषु तैलबिन्दुमिव पौरेषु बहुलीभवन्तं स एव पूर्वो यस्य स तं तत्पूर्वमवर्णमपवादम्। 'अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत्' इत्यमरः। द्विपेन्द्रः आलानमेवालानिकं। विनयादित्वात्स्वार्थे ठक्। अथवाऽऽलानं बन्धनं प्रयोजनमस्येत्यालानिकम्। "प्रयोजनम्" इति ठक्। स्थाणुं स्तम्भमिव चूतवृक्ष इतिवत्सामान्तविशेषभावादपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्। सोढुं नेशे न शक्नोमि।

भावार्थ—जिस प्रकार पानी के तरङ्गों के ऊपर तेल की बूंद फैल जाती है उसी प्रकार इस समय घर-घर मेरी निन्दा फैल रही है। इस सर्वप्रथम अपयश को उसी प्रकार सहने में असमर्थ हूँ जिस प्रकार गजराज पहले पहल बाँधने वाले खूटों को सहने में असमर्थ होता है॥ ३८॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तस्य अपनोदाय फलप्रवृत्तौ उपस्थितायां अपि निर्व्यपेक्षः (सन्) वैदेहसुतां पुरस्तात् पितुः आज्ञया समुद्रनेमिं इव त्यक्ष्यामि।

तस्येति। तस्यावर्णस्यापनोदाय दूरीकरणाय फलप्रवृत्तावपत्योत्पत्तावुपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निःस्पृहः सन् वैदेहसुतां पुरस्तात्पूर्वं पितुराज्ञया समुद्रनेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा भूमिः। तामिव त्यक्ष्यामि।

भावार्थ—इस समय यद्यपि सीता का पुत्र रूप फल होने वाला है तो भी इस कलंक को मिटाने के लिए सब माया मोह तोड़कर उसे वैसे ही छोड़ दूंगा जैसे पिता की आज्ञा से समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को छोड़ दिया था ॥ ३९ ॥

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—एनाम् अनघा इति अवैमि किन्तु लोकापवादः बलवान् मे मतः हि प्रजाभिः भूमेः छाया शुद्धिमतः शशिनः मलत्वेन आरोपिता।

अवैमीति। एनां सीतामनघा साध्वीति चावैमि किन्तु मे मम लोकापवादो बलवान्मतः। कुतः हि यस्मात्प्रजाभिर्भूमेश्छाया प्रतिबिम्बं शुद्धिमतो निर्मलस्य शशिनो मलत्वेन कलङ्कत्वेनारोपिता। अतो लोकापवाद एव बलवानित्यर्थः।

भावार्थ—मैं जानता हूँ कि सीता निर्दोष हैं पर लोक निन्दा को मैं सत्य से भी बड़ा मानता हूँ, देखो निर्मल चन्द्रबिम्ब के ऊपर पड़ी हुई पृथ्वी की छाया को लोग चन्द्रमा का कलंक कहते हैं और असत्य होने पर भी सारा संसार उसे सत्य मानता है ॥ ४० ॥

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय।
अमर्षणः शोणितकांक्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मे रक्षोवधान्तः प्रयासः व्यर्थः न च (किन्तु) स वैरप्रतिमोचनाय। (हि) अमर्षणः द्विजिह्वः पदा स्पृशन्तं शोणितकांक्षया दशति किम्।

रक्ष इति। किंच मे रक्षोवधान्तः प्रयासो व्यर्थो न किन्तु स वैरप्रतिमोचनाय वैरशोधाय। तथा हि अमर्षणोऽसहनो द्विजिह्वः सर्पः सदा पादेन स्पृशन्तं पुरुषं शोणितकांक्षया दशति किम्? किंतु वैरनिर्यातनायेत्यर्थः।

भावार्थ—यदि यह कहो कि ऐसा ही था तो राक्षसों को क्यों मारा? इसका उत्तर यह है कि सीता को छुड़ाने के लिए मैंने जो राक्षसों को मारा

वह मेरा प्रयत्न सीता को निकाल देने से व्यर्थ नहीं हो जायेगा, क्योंकि वह तो विरोध का बदला लेने का था, जब कोई साँप पैर के नीचे दब जाता है तब वह रक्त के लोभ से थोड़े ही डंसता है, वह तो बदला लेने के लिए ही डंसता है ॥ ४१ ॥

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तत् एष मे सर्गः करुणार्द्रचित्तैः भवद्भिः न प्रतिषेधनीयः निर्हृतवाच्यशल्यान् प्राणान् चिरं धारयतु वः अर्थिता यदि (अस्ति)।

तदिति। तत्तस्मादेष मे सर्गो निश्चयः 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः। करुणार्द्रचित्तैर्भवद्भिर्न प्रतिषेधनीयः। निर्हृतं वाच्यमेव शल्यं येषां तान्प्राणान्मया चिरं धारयितुं धारणं कारयितुं वो युष्माकमर्थितार्थित्वमिच्छा। यदि अस्तीति शेषः।

भावार्थ—इसलिए यदि तुम लोग इस कलंक के बाण को मेरे हृदय से निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो करुणार्द्र हृदय होकर मेरे इस निश्चय का निषेध न करो, क्योंकि ऐसी निन्दा होने पर मैं जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझता हूँ ॥ ४२ ॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम्।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥

अन्वयः—इति उक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशं ईशं तेषु कश्चन अपि निषेद्धुं अनुमोदितुं वा शक्तः नासीत्।

इतीति। इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां विषये नितान्तरूक्षाभिनिवेशमतिक्रूराग्रहमीशं स्वामिनं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनापि निषेद्धुं निवारयितुमनुमोदितुं वा शक्तो नासीत्। पक्षद्वयस्यापि प्रबलत्वादित्यर्थः।

भावार्थ—इस प्रकार कहते हुए सीता के सम्बन्ध में अत्यन्त कठोर निश्चय किये हुये राम को भाइयों में से न तो कोई उनका समर्थन ही कर सका न विरोध ही ॥ ४३ ॥

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

अन्वयः—लोकत्रयगीतकीर्तिः यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा सः निदेशे स्थितं लक्ष्मणं विलोक्य हे सौम्य ! इति आभाष्य च पृथक् आदिदेश।

स इति। लोकत्रयगीतकीर्तिस्त्रैलोक्ये प्रथितयशा यथार्थभाषी लक्ष्मण-पूर्वजन्मा लक्ष्मणाग्रजः स रामो निदेशे स्थितमाज्ञाकारिणं लक्ष्मणं विलोक्य 'हे सौम्य ! सुभग ! इत्याभाष्य च पृथग्भरतशत्रुघ्नाभ्यां विनाकृत्यादिदेशाज्ञापयामास।

भावार्थ—तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी यथार्थवक्ता और लक्ष्मण के बड़े भाई राम ने जब देखा कि केवल लक्ष्मण उनकी आज्ञा मानने को तत्पर हैं तब उन्होंने लक्ष्मण से कहा—हे सौम्य ! कहकर उन्हें एकान्त में ले जाकर कहा ॥ ४४ ॥

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दोहदशंसिनी ते प्रजावती तपोवनेषु स्पृहयालुः एव। सः त्वं रथी (सन्) तद् व्यपदेशनेयाम् एनां वाल्मीकिपदं प्रापय्य त्यज।

प्रजावतीति। दोहदो गर्भिणीमनोरथः तच्छंसिनी ते प्रजावती भ्रातृजाया। 'प्रजावती भ्रातृजाया' इत्यमरः। तपोवनेषु स्पृहयालुरेव सस्पृहैव। 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' इत्यनेनालुच्प्रत्ययः। स त्वं रथी सन् तद्व्यपदेशेन दोहदमिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पदं स्थानं प्रापय्य गमयित्वा। "विभाषापः" इत्ययादेशः। त्यज।

भावार्थ—गर्भिणी तुम्हारी भाभी सीता तपोवन देखना चाहती है इसलिए तुम इसे इसी बहाने रथपर ले जाकर वाल्मीकि जी के आश्रम तक पहुँचा कर छोड़ आओ ॥ ४५ ॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥

अन्वयः—पितुः नियोगात् भार्गवेण मातरि द्विषद्वत् प्रहृतं शुश्रुवान्। सः तत् अग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत्। हि गुरूणाम् आज्ञा अविचारणीया (अस्ति)।

स इति। पितुर्जमदग्नेर्नियोगाच्छासनाद्भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा। "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः। मातरि द्विषतीव द्विषद्वत्। 'तत्र तस्येव" इति वतिप्रत्ययः। प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवाञ्छ्रुतवान्। "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुप्रत्ययः। स लक्ष्मणस्तदग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत्। हि यस्मात् गुरूणामाज्ञाऽविचारणीया।

भावार्थ—लक्ष्मण ने सुन रखा था कि पिता की आज्ञा पाकर परशुराम ने अपनी माता को निर्दयता पूर्वक शत्रु के समान मार डाला था इसलिए उन्होंने

पिता के समान बड़े भाई की आज्ञा शिर चढ़ा ली क्योंकि बड़ों की आज्ञा में विचार करना ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ असौ अनुकूलश्रवणप्रतीतां वैदेहसुतां अत्रस्नुभिः तुरङ्गैः युक्तधुरं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिं रथं आरोप्य प्रतस्थे ।

अथेति । अथासौ लक्ष्मण अनुकूलश्रवणेन प्रतीतामिष्टाकर्णनेन हृष्टां वैदेहसुतामत्रस्नुभिरभीरुभिर्गर्भिणीवहनयोग्यैः । "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नुप्रत्ययः । तुरङ्गैर्युक्तधुरं सुमन्त्रेण प्रतिपन्नरश्मिं गृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे।

भावार्थ—सीताजी यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण मुझे तपोवन दिखाने ले जा रहे हैं, लक्ष्मणजी उन्हें ऐसे रथपर चढ़ाकर ले चले जिसे स्वयं सुमन्त्र हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सधे हुए थे कि रथ के चलते समय सीता को थोड़ी भी हिचक नहीं लगने पाती थी ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सा रुचिरान् प्रदेशान् नीयमाना मे प्रियः प्रियङ्कर इति अनन्दत् तम् आत्मनि कल्पद्रुमतां विहाय असिपत्रवृक्षं जातं न अबुद्ध ।

सेति । सा सीता रुचिरान्मनोज्ञान्प्रदेशान्नीयमाना प्राप्यमाणा सती मे मम प्रियः । प्रियं करोतीति प्रियङ्करः । प्रियकारीत्यनन्दत् । "क्षेमप्रियमद्रेण" इति चकारात्खच्प्रत्ययः । तं प्रियमात्मनि विषये कल्पद्रुमतां सुरवृक्षतां विहायासिपत्र-वृक्षं जातं नाबुद्ध नाज्ञासीत् । बुध्यतेर्लुङ् । असिपत्रः खड्गाकारदलः कश्चिदपूर्वो वृक्षविशेषः । 'असिपत्रो भवेत्कोषकारे च नरकान्तरे' इति विश्वः । आसन्न-घातुक इति भावः ।

भावार्थ—मनोहर प्रदेशों में जाती हुई सीताजी यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुई कि मेरे प्राणप्रिय सदा मेरे मन की ही बात करते हैं । उन्हें क्या पता था कि इस समय वे मनोरथ पूरा करनेवाले कल्पवृक्ष के बदले उस असिपत्र के वृक्ष के समान दुखदायी हो गये हैं, जिसके पत्ते तलवार के समान पैने होते हैं ॥४८॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥

अन्वयः—पथि लक्ष्मणः यत् तस्याः जुगूह तत् गुरु भावि दुःखम् अत्यन्त-लुप्तप्रियदर्शनेन स्फुरता सव्येतरेण अक्ष्णा अस्यै आख्यातम् ।

जुगूहेति । पथि लक्ष्मणो यद्दुःखं तस्याः सीताया जुगूह प्रतिसंहृतवांस्तद्गुरु भावि भविष्यद्दुःखमत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तेन स्फुरता सव्येतरेण दक्षिणेनाक्ष्णास्यै सीताया आख्यातम् । स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणं दुर्निमित्तमाहुः ।

भावार्थ--लक्ष्मण ने सीताजी से मार्ग में कुछ भी नहीं बतलाया था कि तुम पर क्या विपत्ति आने वाली है ? पर सीताजी के दाहिने नेत्र ने फड़ककर आगे आनेवाले दुःख की सूचना दे ही तो दी ॥ ४९ ॥

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ॥ ५० ॥

अन्वयः—सा दुर्निमित्तोपगतात् विषादात् सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा (सती) सावरजस्य शिवं भूयात् इति अबाह्यैः करणैः आशशंसे ।

सेति । सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेणोपगतात्प्राप्ताद्विषादाद्दुःखात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा क्लान्तमुखकमला सती सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिवं भूयादित्यबाह्यैः करणैरन्तःकरणैराशशंसे । शंसतेरपेक्षाया-मात्मनेपदमिष्यते । करणैरिति बहुवचनं क्रियावृत्त्यभिप्रायम् । पुनः पुनराशशंस इत्यर्थः ।

भावार्थ—यह अपशकुन होते ही सीता का मुँह उदास हो गया और वे मन ही मन मनाने लगी कि भाइयों के साथ राजा सुख से रहें उन पर कोई आँच न आवे ॥ ५० ॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—गुरोः नियोगात् साध्वीं वनितां वनान्ते विहास्यन् सुमित्रातनयः पुरस्तात् स्थितया जह्नोः दुहित्र्याः उत्थितवीचिहस्तैः अवार्यत इव ।

गुरोरिति । गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात्साध्वीं वनिताम् । अत्याज्यामित्यर्थः । वनान्ते विहास्यंस्त्यक्ष्यन्सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नोर्दुहित्रा जाह्नव्योत्थितैर्वीचिहस्तैरवार्यतेव । अकार्यं मा कुर्विरत्यवार्यतेव इत्युत्प्रेक्षा ।

भावार्थ—मार्ग में गंगाजी पड़ी उनमें जो लहरें उठ रहीं थीं वे बड़े भाई की आज्ञा से पतिव्रता सीता को वन में छोड़ने के लिए ले जाते हुए लक्ष्मण से मानों हाथ हिलाकर कह रही थीं कि ऐसा न करो ॥ ५१ ॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसन्धः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सत्यसन्धः सः यन्त्रा निगृहीतवाहात् रथात् भ्रातृजायां पुलिने अवतार्य निषादाहृतनौविशेषः (सन्) गङ्गां सन्धाम् इव ततार ।

रथादिति। सत्यसन्ध सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीत-वाहाद्बद्धाश्वद्रथाद्भ्रातृजाया पुलिनेऽवतार्यारोप्य निषादेन किरातेनाहृतनौविशेष आनीतदृढनौक सन् गङ्गां भागीरथी संधां प्रतिज्ञामिव ततार। 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः।

भावार्थ—गंगाजी के तट पर पहुँचकर सारथी ने घोड़ों की रास खींच ली, सत्यप्रतिज्ञ लक्ष्मण ने सीता को रेती पर उतार लिया, केवट द्वारा लायी हुई नाव पर चढ़कर सीता के साथ गङ्गाजी के पार के साथ अपनी उस प्रतिज्ञा से भी पार हो गये जो उन्होंने सीता को गङ्गा पार छोड़ने के लिए राम से कही थी॥ ५२॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार॥ ५३॥

अन्वयः—अथ कथंचित् व्यवस्थापितवाक् अन्तर्गतबाष्पकण्ठः सौमित्रिः महीपतेः शासनं मेघः औत्पातिकं अश्मवर्षम् इव उज्जगार।

अथेति। अथ कथंचिद्व्यवस्थापिता प्रकृतिमापादिता वाग्येन सः अन्तर्गत-बाष्पः कण्ठो यस्य सः। कण्ठस्तम्भिताश्रुरित्यर्थः। सौमित्रिर्महीपतेः शासनं मेघ उत्पाते भवमौत्पातिकमश्मवर्षं शिलावर्षमिव उज्जगारोद्गीर्णवान्। दारुण-त्वेनावाच्यत्वादुज्जगारेत्युक्तम्।

भावार्थ—पार पहुँचकर लक्ष्मण ने आँसू रोककर रुंधे हुए गले से सीताजी को राम की आज्ञा इस प्रकार सुनाई, जिस प्रकार कोई भयंकर मेघ ओले बरसा रहा हो॥ ५३॥

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम॥ ५४॥

अन्वयः—ततः अभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना सीता लता इव सहसा स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं जगाम।

तत इति। ततः अभिषङ्गः भर्तृपरित्यागरूपः पराभवः। 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः। स एवानिलस्तेन विप्रविद्धा अभिहता प्रभ्रश्यमानानि पतन्त्याभरणान्येव प्रसूनानि यस्याः सा सीता लतेव सहसा स्वमूर्तिलाभस्य स्वशरीरलाभस्य स्वोत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं धरित्रीं जगाम। भूमौ पपातेत्यर्थः। स्त्रीणामापदि मातैव शरणमिति भावः।

भावार्थ—जिस प्रकार लू लगने से लता के फूल झर जाते हैं और वह

सूखकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है, उसी प्रकार इस अपमानजनक बात को सुनकर सीता के आभूषण भी गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वी की गोद में गिर पड़ी ॥५४॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः आर्यवृत्तः पतिः त्वाम् अकस्मात् कथं त्यजेत् इति संशयिता इव तावत् जननी क्षितिः तस्यै प्रवेशं न ददौ ।

इक्ष्वाक्विति । इक्ष्वाकुवंशप्रभवः महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः । आर्यवृत्तः साधुचरितः पतिर्भर्ता त्वामकस्मादकारणात्कथं त्यजेत् । असम्भावितमित्यर्थः । इति संशयितेव सन्दिहानेव तावत् त्यागहेतुज्ञानावधेः प्रागित्यर्थः । जननी क्षितिस्तस्यै सीतायै प्रवेशम् आत्मनीति शेषः । न ददौ ।

भावार्थ—उस समय पृथ्वी ने मानो दुविधा में पड़कर अपनी गोद में नहीं समा लिया कि इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न एवं सदाचारी राम सीता को इस प्रकार अचानक क्यों छोड़ देंगे ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—लुप्तसंज्ञा सा दुःखं न विवेद प्रत्यागतासुः (सती:) अन्तः समतप्यत तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धः प्रबोधः मोहात् कष्टतरः अभूत् ।

सेति । लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःखं न विवेद । प्रत्यागतासुर्लब्धसंज्ञा सत्यन्तः समतप्यत । दुःखेनादह्यतेत्यर्थः । तपेः कर्मणि लङ् । कर्मकर्तरीति केचित् तन्न "तपस्तपःकर्मकस्यैव" इति यङ्नियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्रात्मजयत्नलब्धः प्रबोधो मोहात्कष्टतरोऽभूत् । दुःखवेदनासम्भवादिति भावः ।

भावार्थ—मूर्च्छा आ जाने से उन्हें उस समय तो दुःख नहीं हुआ; किन्तु जब वे मूर्च्छा से जगीं तब उनके हृदय में बड़ी व्यथा हुई । लक्ष्मण ने जलसिंचन आदि प्रयत्न करके जो उनकी मूर्च्छा दूर की, वह बात उन्हें मूर्च्छा से भी अधिक कष्ट देनेवाली जान पड़ी ॥ ५६ ॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥५७॥

अन्वयः—आर्या वृजिनात् विना अपि निराकरिष्णोः भर्तुः अवर्णं न अवदत् किन्तु स्थिरदुःखभाजम् (अत एव) दुष्कृतिनं आत्मानम् एव पुनः पुनः निनिन्द ।

न चेति । आर्या साध्वी सा सीता वृजिनादृत एनसो विनाऽपि । 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः । "अन्याराादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इत्यनेन पञ्चमी । निरासरिष्णोर्निरासकस्य । "अलङ्कृञ्निराकृञ्०" इत्यनेनेष्णुच्प्रत्ययः । भर्तुरवर्णमपवादं न चावदन्नैवावादीत् । किन्तु स्थिरदुःखभाजमत एव दुष्कृतिनमात्मानं पुनः पुनर्निनिन्द ।

भावार्थ—सीता इतनी साध्वी थीं कि निरपराध त्याग करने वाले अपने पति को उन्होंने कुछ भी भला बुरा नहीं कहा किन्तु बार-बार स्थिर दुःख को भोगने वाली अपनी आत्मा की ही निन्दा की ॥ ५७ ॥

आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि ! क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—रामावरजः सतीं ताम् आश्वास्य आख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं हे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः बभूव ।

आश्वास्येति । रामावरजो लक्ष्मणः सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उपदिष्टो वाल्मीकेर्निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् । निघ्नस्य पराधीनस्य । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । मे भर्तृनिदेशेन स्वाम्यनुज्ञया हेतुना यद्रौक्ष्यं पारुष्यं तद्धे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः प्रणतो बभूव ।

भावार्थ—राम के छोटे भाई लक्ष्मण ने साध्वी सीता को बहुत कुछ समझा बुझा और महर्षि वाल्मीकि के आश्रम का मार्ग दिखाकर नम्रतापूर्वक कहा कि हे देवि ! मैं पराधीन हूँ, इसलिए स्वामी की आज्ञा से मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है उसे आप क्षमा कीजिए ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य ! चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सीता तम् उत्थाप्य वाक्यं जगाद हे सौम्य ! ते प्रीता अस्मि चिराय जीव, यत् बिडौजसा विष्णुः इव अग्रजेन भ्रात्रा त्वम् इत्थं परवान् असि ।

सीतेति । सीता तं लक्ष्मणमुत्थाप्य वाक्यं जगाद । किमिति ? हे सौम्य साधो ! ते प्रीताऽस्मि चिराय चिरं जीव । यद्यस्मात् बिडौजसेन्द्रेण विष्णुरुपेन्द्र इव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्रात्रा त्वमित्थं परवान्परतन्त्रोऽसि ।

भावार्थ—सीताजी लक्ष्मण को उठाकर बोलीं—हे वत्स ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ तुम अधिक दिन तक जीओ, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र के छोटे भाई विष्णु अपने

वड़े भाई इन्द्र की आज्ञा सदा मानते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने बड़े भाई की आज्ञा मानने वाले हो ॥ ५९ ॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥

अन्वयः—सर्वं श्वश्रूजनम् अनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः (सन्) विज्ञापय मयि वर्तमानं सूनोः प्रजानिषेकं चेतसा अनुध्यायत इति ।

श्वश्रूजनमिति । सर्वं श्वश्रूजनमनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः सन् । मत्प्रणाम-मुक्त्वेत्यर्थः । विज्ञापय । किमिति । निषिच्यत इति निषेकः मयि वर्तमानं सूनोस्त्वत्पुत्रस्य प्रजानिषेकं गर्भं चेतसाऽनुध्यायत । शिवमस्त्विति चिन्तयतेति ।

भावार्थ—तुम जाकर सभी सासों से यथायोग्य मेरा प्रणाम कहकर कहना कि मेरे गर्भ में आपके पुत्र का तेज है इसलिए आप लोग हृदय से उसका कुशल मनाते रहिएगा ॥ ६० ॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—स राजा त्वया मद्वचनात् वाच्यः समक्षं वह्नौ विशुद्धाम् अपि मां लोकापवादश्रवणात् अहासीः (इति) यत् तत् श्रुतस्य कुलस्य सदृशं किम् ?

वाच्य इति । स राजा त्वया मद्वचनात्मद्वचनमिति कृत्वा । ल्यब्लोपे पञ्चमी । वाच्यो वक्तव्यः । किमित्यत आह—'वह्नौ' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः । अक्ष्णोः समीपे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः सामीप्यार्थे वा "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । समक्षमग्रे वह्नौ विशुद्धामपि मां लोकवादस्य मिथ्यापवादस्य श्रवणाद्धेतोरहासीरत्याक्षीरिति यत्तच्छ्रुतस्य प्रख्यातस्य कुलस्य सदृशं किम् । किंत्वसदृशमित्यर्थः । यद्वा श्रुतस्य श्रवणस्य चेति योजना । कामचार्यसीति भावः ।

भावार्थ—और राजा से जाकर तुम मेरी ओर से कहना कि आपने अपने सामने ही अग्नि से मुझे शुद्ध पाया था, इस समय लोकापवाद के भय जो आपने मुझे छोड़ दिया है क्या वह उस विख्यात कुल के लिए उचित है ? जिसमें आपने जन्म लिया है ॥ ६१ ॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अथवा कल्याणबुद्धेः तव मयि अयं न कामचारः (किन्तु) ममैव-जन्मान्तरपातकनाम् अप्रसह्यः विपाकविस्फूर्जथुः (अस्ति) ।

कल्याणेति। अथवा कल्याणबुद्धेः सुधियस्तव कर्तुः मयि विषयेऽयं त्यागो न कामचार इच्छया करण न शङ्कनीय.। कामचारशङ्काऽपि न क्रियत इत्यर्थः। किन्तु ममैव जन्मान्तरपातकानामप्रसह्यो विपच्यत इति विपाक. फलं स एव विस्फूर्जथुरशनिनिर्घोष.। 'स्फूर्थुर्वज्रनिर्घोष' इत्यमर.।

भावार्थ—अथवा आप तो सबकी भलाई करनेवाले हैं आप अपने मन से मेरे साथ ऐसा व्यवहार नही कर सकते, यह सब मेरे पूर्वजन्म के पापों का ही फल है जो वज्रपात के समान असह्य है ॥ ६२ ॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥

अन्वयः—पूर्वम् उपस्थिता लक्ष्मीम् अपास्य मया सार्द्धं वन प्रपन्नः असि तत् तया अतिरोषात् त्वद्भवने आस्पदं प्राप्य वसन्ती अहं सोढा न अस्मि।

उपस्थितामिति। पूर्वमुपस्थिता प्राप्ता लक्ष्मीमपास्य मया सार्धं वनं प्रपन्नोऽसि तत्तस्मात्तया लक्ष्म्याऽतिरोषात्त्वद्भवन आस्पदं प्रतिष्ठाम्। "आस्पद प्रतिष्ठायाम्।" इति निपातः। प्राप्य वसन्त्यहं सोढा नास्मि।

भावार्थ—मुझे जान पड़ता है कि पहले आप जिस राजलक्ष्मी को त्याग करके मेरे साथ वन में चले गये थे, अब वह राजलक्ष्मी मुझसे रुष्ट हो गई है और उससे आपके घर मे प्रतिष्ठा पूर्वक मेरा रहना नही देखा गया है ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

अन्वयः—निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीना भवत. प्रसादात् शरण्या भूत्वा अद्य त्वयि दीप्यमाने अन्यं कथ प्रपत्स्ये।

निशाचरेति। निशाचरैरुपप्लुताः पीडिता भर्तारो यासा ता. निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः। "नद्यृतश्च" इति कप्प्रत्यय। तासां तपस्विनीनां भवत. प्रसादादनुग्रहाच्छरण्या शरणसमर्था भूत्वा अद्य त्वयि दीप्यमाने प्रकाशमाने सत्येव शरणार्थमन्यं तपस्विन कथं प्रपत्स्ये प्राप्स्यामि।

भावार्थ—पहली बार वनवास के समय आपकी कृपा से मैंने बहुत सी ऐसी तपस्विनियों को अपने यहाँ आश्रय दिया था, जिनके पतियों को राक्षसों ने सता रखा था, अब आप ही बताइए कि आपके रहते हुए मैं किस मुँह से उन्हीं की आश्रिता होकर रहूँगी ॥ ६४ ॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—किं वा तव अत्यन्तवियोगमोघे अस्मिन् हतजीविते उपेक्षां कुर्याम्, रक्षणीयम् अन्तर्गतं त्वदीयं तेजः मे अन्तरायः न स्यात् यदि ।

किं वेति । किं वाऽथवा तव संबन्धिनाऽत्यन्तेन पुनः प्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन्हतजीविते तुच्छजीवित उपेक्षां कुर्यां कुर्यामेव, रक्षणीयं रक्षणार्हमन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीयं तेजः शुक्रं गर्भरूपम् । 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । मे ममान्तरायो विघ्नो न स्याद्यदि ।

भावार्थ—यदि मेरे गर्भ में आया हुआ आपका वह तेज बाधक नहीं होता जिसकी रक्षा करना आवश्यक है, तो मैं आपसे सदा के लिए वियुक्त अपने अभागे प्राणों को छोड़ देती ॥ ६५ ॥

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सा अहं प्रसूतेः ऊर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः (सती) तपः चरितुं यतिष्ये, यथा भूयः मम जन्मान्तरे अपि त्वमेव भर्ता (स्याः) विप्रयोगः च न (स्यात्) ।

सेति । साऽहं प्रसूतेः ऊर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती तथाविधं तपश्चरितुं यतिष्ये यथा भूयस्तेन तपसा मे मम जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता स्याः विप्रयोगश्च न स्यात् ।

भावार्थ—वह मैं पुत्र हो जाने के बाद सूर्य में दृष्टि लगाकर ऐसी तपस्या करने का प्रयत्न करूँगी जिससे अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों और आपसे मेरा वियोग न होने पाये ॥ ६६ ॥

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥

अन्वयः—वर्णाश्रमपालनं यत् स एव नृपस्य धर्मः मनुना प्रणीतः, अतः एव त्वया निर्वासिता अपि अहं तपस्विसामान्यम् अवेक्षणीया ।

नृपस्येति । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च पालनं यत्स एव नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीत उक्तः, अतः कारणादेवं त्वया निर्वासिता निष्कासिताऽप्यहं तपस्विभिः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथाऽवेक्षणीया । कलत्रदृष्ट्यभावेऽपि वर्णाश्रमदृष्टिः सीतायां कर्तव्येत्यर्थः ।

भावार्थ—भगवान् मनु ने वर्ण आश्रमों की रक्षा करना राजाओं का धर्म बतलाया है इसलिए घर से बाहर निकाल देने पर भी यह समझकर मेरी देख-

माल करते रहिए ताकि मैं भी आपकी प्रजा और तपस्विनी हूँ। अर्थात् तपस्विनी समझकर ही मेरी रक्षा कीजिएगा ॥ ६७ ॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तथा इति तस्या वाच प्रतिगृह्य रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते (सति) सा व्यसनातिभारात् मुक्तकण्ठ विग्ना कुररी इव चक्रन्द ।

तथेति । तथेति तस्या सीताया वाच प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य रामानुजे लक्ष्मणे दृष्टिपथ व्यतीतेऽतिक्रान्ते सति सा सीता व्यसनातिभाराद् दु खातिरेकान्मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा वाग्वृत्त्येत्यर्थं । विग्ना भीता कुररीवोत्कोशीव । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमर. । भूयो भूयिष्ठ चक्रन्द चुक्रोश ।

भावार्थ—यह सुनकर लक्ष्मण बोले अच्छा मैं सब कह दूँगा । यह कहकर वे ज्यों ही आंखों से ओझल हो गये, त्यों ही विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीताजी कुररी के समान फुक्का मारकर रोने लगीं ॥ ६८ ॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥

अन्वयः—मयूरा. नृत्यं विजहुः वृक्षा कुसुमानि हरिण्य. उपात्तान् दर्भान् इत्थ तस्याः समदु खभावं प्रपन्ने वने अपि अत्यन्तं रुदितं आसीत् ।

नृत्यमिति । मयूरा नृत्य विजहुस्त्यक्तवन्त. । वृक्षाः कुसुमानि, हरिण्य उपात्तान्दर्भान् । इत्थं तस्या. सीतायाः समदु खभावं प्रपन्ने तुल्यदु खत्वं प्राप्ते वनेऽत्यन्त रुदितमासीत् । यथा रामगेहेऽपीत्यपिशब्दार्थः ।

भावार्थ—सीता का रोना सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष पुष्पों के आंसू गिराने लगे और हिरणियों ने मुँह से भरी घास का कौर गिरा दिया, इस प्रकार सीताजी के दु ख से दु.खी होकर सारा जंगल रोने लगा ॥६९॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

अन्वयः—कुशेध्माहरणाय यात. कविः रुदितानुसारी ताम् अभ्यगच्छत् निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ. यस्य शोक: श्लोकत्वम् आपद्यत ।

तामिति । कुशेध्माहरणाय यात. कविर्वाल्मीकि. रुदितानुसारी सन् सीतामभ्यगच्छत् । अभिगमन च दयानुनयेत्याह–निषादेति । निषादेन व्याधेन विद्धस्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनेनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोक. श्लोकरूपेणावोचदित्यर्थः ।

स च श्लोकः पठ्यते—मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति तिरश्चामपि दुःखं न सेहे किमुतान्येषा-मिति भावः।

भावार्थ—जिस महाकृपालु ऋषि का शोक व्याध के द्वारा मारे गये क्रौञ्च-पक्षी को देखकर श्लोक बनकर निकल पड़ा था, वे उस समय कुश और लकड़ी लेने के लिए आश्रम से चले हुए थे, रोने का शब्द सुनकर वे सीताजी की ओर आये ॥ ७० ॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सीता विलापात् विरता (सती) नेत्रावरणं अश्रु प्रमृज्य तं ववन्दे दोहदलिङ्गदर्शी मुनिः तस्यै सुपुत्राशिषं दाश्वान् इति उवाच।

तमिति। सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरणं दृष्टिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं मुनिं ववन्दे। दोहदलिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिषं तत्वा-प्तिहेतुभूतां दाश्वान्दत्तवानिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच। "दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च" इति क्वस्वन्तो निपातः।

भावार्थ—उन्हें देखकर सीताजी ने रोना बन्द कर दिया और नेत्र के आवरण आंसू को पोछकर मुनि को प्रणाम किया। ऋषि ने गर्भ के चिह्न देखकर उन्हें पुत्रवती होने का आशीर्वाद देकर कहा ॥ ७१ ॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्ताऽसि वैदेहि! पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां प्रणिधानतः जाने। हे वैदेहि! विषयान्तरस्थं पितुः निकेतं प्राप्ता असि तत् मा व्यथिष्ठाः। -

जान इति। त्वां मिथ्यापवादेन क्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां त्यक्तां प्रणिधानतः *समाधिदृष्ट्या जाने। वे वैदेहि! विषयान्तरस्थं देशान्तरस्थं पितुर्जनकस्यैव निकेतं* गृहं प्राप्ताऽसि। तत्तस्मान्मा व्यथिष्ठा मा शोचीः। व्यथेर्लुङ्। "न माङ्योगे" इत्यडागमप्रतिषेधः। भर्त्रोपेक्षितानां पितृगृहवास एवोचित इति भावः।

भावार्थ—बेटी! योगबल से मैंने जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठी लोक निन्दा के भय से तुम्हें त्याग दिया है। हे जनककुमारी! यहाँ भी तुम दूर देश में स्थित अपने पिता का ही घर समझो और शोक करना छोड़ दो ॥ ७२ ॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उत्खातलोकत्रयकण्टके अपि सत्यप्रतिज्ञे अपि अविकत्थने अपि त्वां प्रति अकस्मात् कलुषप्रवृत्तौ भरताग्रजे मे मन्युः अस्त्येव ।

उत्खातेति । उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि रावणादिकण्टकोद्धरणेन सर्वलोकोपकारिण्यपीत्यर्थः । सत्यप्रतिज्ञे सत्यसन्धेऽपि अविकत्थनेऽनात्मश्लाघिन्यपि इत्थं स्नेहपात्रेऽपि त्वां प्रत्यकस्मादकारणात्कलुषप्रवृत्तौ गर्हितव्यापारे भरताग्रजे मे मन्युः कोपोऽस्त्येव । सर्वगुणाच्छादकोऽयं दोष इत्यर्थः । सीतानुनयार्थोऽयं रामोपालम्भः ।

भावार्थ—यद्यपि राम तीनों लोकों का दुख दूर करनेवाले हैं, अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं और अपने मुँह से अपनी बड़ाई भी नहीं करते फिर भी तुम्हारे साथ उन्होंने जो यह भद्दा व्यवहार किया है इससे मुझे उनपर बड़ा क्रोध आ रहा है ॥ ७३ ॥

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

अन्वय—उरुकीर्तिः तव श्वसुरः मे सखा, ते जनकः सतां भवोच्छेदकरः, त्वं पतिदेवतायाः धुरि स्थिता । येन मम अनुकम्प्या न असि तत् किम् ।

तवेति । उरुकीर्तिस्तव श्वसुरो दशरथो मे सखा । ते पिता जनकः सतां विदुषां भवोच्छेदकरो ज्ञानोपदेशादिना संसारदुःखध्वंसकारी । त्वं पतिदेवतानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे स्थिता । येन निमित्तेन ममानुग्राह्या नासि तत्किम् । न किंचिदित्यर्थः ।

भावार्थ—बड़े यशस्वी तुम्हारे श्वसुर मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता भी ज्ञानोपदेश देकर बहुत से विद्वानों को संसार के बन्धन से छुड़ाते हैं, तुम स्वयं पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा दोष ही कौन सा है जो मैं तुम्हारे पर कृपा न करूँ ॥ ७४ ॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

अन्वय—तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे अस्मिन् तपोवने वीतभया वस । इतः अनघप्रसूतेः ते अपत्यसंस्कारमयः विधिः भविष्यति ।

तपस्वीति । तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिंस्तपोवने वीतभया निर्भीका वस । इतोऽस्मिन्वनेऽनघप्रसूतेः सुखप्रसूतेः सुखप्रसूतेस्तेऽपत्यसंस्कारमयो जातकर्मादिरूपो विधिरनुष्ठानं भविष्यति ।

भावार्थ—देखो तपस्वियों के साथ रहते-रहते यहाँ के सब जीव बड़े सीधे हो गये हैं, ये बेचारे किसी से कुछ कहते सुनते नहीं, इसी आश्रम में तुम भी

निर्भय होकर रहो, तुम्हारी पवित्र सन्तान के जातकर्म आदि संस्कार मैं यहीं करूँगा ।। ७५ ।।

अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ।। ७६ ।।

अन्वयः—मुनिसन्निवेशैः अशून्यतीरां तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य तत्सैकतोत्संग वलिक्रियाभिः ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते ।

अशून्येति । सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजाः अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । मुनीनां सन्निवेशैरुटजैरशून्यतीरां पूर्णतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वाऽपहन्त्रीम् । 'तमस्तु क्लीबे पापे नरकशोकयोः' इत्यमरः । तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा वलिक्रियापेक्षया पूर्वकालता । तस्याः सैकतोत्सङ्गेषु वलिक्रियाभिरिष्ट-देवतापूजाविधिस्ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ।

भावार्थ—पापापहारी जिस तमसा नदी के किनारे तपस्वी लोग सदा सन्ध्या-वन्दन पूजा आदि करते हैं उसमें स्नान करके तुम उसके रेतीली तीर पर अपनी इष्टदेवताओं के पूजा किया करो इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहेगा ।। ७६ ।।

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ।। ७७ ।।

अन्वयः—आर्तवं पुष्पं फलं च अकृष्टरोहि बालेयं बीजं च आहरन्त्यः उदारवाचः मुनिकन्यका नवाभिषङ्गां त्वां विनोदयिष्यन्ति ।

पुष्पमिति । ऋतुरस्य प्राप्तं आर्तवम् । स्वकालप्राप्तमित्यर्थः पुष्पं फलं च अकृष्टरोह्यकृष्टक्षेत्रोत्थम् । अकृष्टपच्यमित्यर्थः । वलये हितं बालेयं पूजायोग्यम् । "छदिरुपधिवलेर्ढञ्" इति ढञ्प्रत्ययः, बीजं नीवारादि धान्यं चाहरन्त्य उदारवाचः प्रगल्भगिरो मुनिकन्यका नवाभिषङ्गां नूतनदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्ति ।

भावार्थ—यहाँ की मुनिकन्यायें तुम्हें सब ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फल-फूल और पूजा के योग्य अन्न लाकर रख दिया करेंगी और मीठी-मीठी बातें करके तुम्हारा मन भी बहलाया करेंगी ।। ७७ ।।

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ।। ७८ ।।

अन्वयः—स्वबलानुरूपैः पयोघटैः आश्रमबालवृक्षान् सम्वर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक् असंशयं स्तनन्धयप्रीतिं अवाप्स्यसि ।

पय इति । स्वबलानुरूपैः स्वशक्त्यनुसारिभिः पयसामम्भसा घटैः । स्तन्यै-रिति च ध्वन्यते । आश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्रागपूर्वमसंशयं यथा तथा । स्तनं धयति पिबतीति स्तनंधयः शिशुः । "नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः" इति खश्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इत्यनेन मुमागमः । तस्मिन्या प्रीति-स्तामवाप्स्यसि । ततः परं सुलभ एव विनोद इति भावः ।

भावार्थ—जो जल के घड़े तुमसे उठ सकें उन्हें लेकर आश्रम के पौधों को प्रेम से सींचा करो, इससे बड़ा भारी लाभ यह होगा कि बच्चा होने के पहले तुम यह सीख जाओगी कि दूध पीनेवाले बच्चों से कैसे प्रेम करना चाहिए ॥ ७८ ॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥

अन्वय—दयार्द्रचेताः वाल्मीकिः अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां आदाय सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं शान्तमृगं स्वम् आश्रमं निनाय ।

अनु० इति । दयार्द्रचेता वाल्मीकिः अनुग्रहं प्रत्यभिनन्दतीति तथोक्ता तां सीता-मादाय सायं मृगैरध्यासितवेदिपार्श्वमधिष्ठितवेदिप्रान्तं शान्तमृगं स्वमाश्रमं निनाय ।

भावार्थ—दयालु वाल्मीकिजी की कृपा का प्रत्यभिनन्दन करनेवाली सीताजी उनके साथ उनके उस आश्रम पर चली गई जहाँ शाम हो जाने के कारण बहुत से मृग वेदीको घेरकर बैठे हुए थे और सिंह आदि जन्तु चुपचाप आँखें मूँदे पड़े थे।

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ ८० ॥

अन्वयः—शोकदीनां तां तदागमप्रीतिषु तापसीषु पितृभिः निर्विष्टसारां हिमांशोः अन्त्यां कलां दर्शः ओषधीषु इव अर्पयामास ।

तामिति । शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीताया आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निर्विष्टसारां भुक्तसारां हिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावास्याकालः ओषधीष्विव अर्पयामास च । अत्र पराशरः—पिबन्ति विमलं सोमं विशिष्टा तस्य वा कलाम् । सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने ॥ इति । व्यासश्च—अमायां तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यते । इति ।

भावार्थ—जिस प्रकार अमावस्या जड़ी बूटियों और लतावृक्षों को चन्द्रमा की साररूप में अन्तिमकला सौंप देती है जिसका अमृत पीकर अग्निष्वात्तादि पितर खींच लेते हैं उसी प्रकार ऋषि ने शोक से व्याकुल सीताको उन तपस्वियों के हाथ सौंप दिया जो सीताजी के वहाँ आ जाने से बड़ी प्रसन्न हो गई थीं ॥ ८० ॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—ताः तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोः इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपम् अतः आस्तीर्णमेध्याजिनतल्पम् उटजं वितेरुः ।

ता इति । तास्तापस्यस्तस्यै सीतायै सपर्यानुपदं पूजानन्तरं दिनान्ते सायंकाले निवास एव हेतुस्तस्य निवासहेतोः । निवासार्थमित्यर्थः । "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी । 'इङ्गुदी तापसतरुर्भूर्जेचर्मिमृदुत्वचौ' इत्यमरः । इङ्गुदीस्नेहेन कृतप्रदीपमन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिंस्तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ।

भावार्थ—पूजा के बाद सायंकाल में उन तपस्विनियों ने सीता के रहने के लिए एक पर्णकुटी दे दी, जिसमें इङ्गुदी के तेल का दीपक जल रहा था और नीचे मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तत्र अभिषेकप्रयता वसन्ती विधिना अतिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा वल्कलिनी सा पत्युः प्रजासन्ततये वन्येन शरीरं बभार ।

तत्रेति । तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणातिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ।

भावार्थ—वहाँ सीताजी प्रतिदिन स्नान करके बड़े नियम से रहती थीं शास्त्रोक्त विधि से अतिथियों का सत्कार करती थीं वृक्षों के वल्कल का वस्त्र पहनती थीं, और केवल पति का वंश चलाने की इच्छा से ही कन्दमूल फल खाकर शरीर धारण करती थी ॥ ८२ ॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अन्वयः—प्रभुः अधुना अपि सानुशयः स्यात् किम् उत्सुकः शक्रजितः हन्ता लक्ष्मणः अपि सीतापरिदेवनान्तम् अनुष्ठितं शासनम् अग्रजाय शशंस ।

अपीति । प्रभू राजाऽधुनापि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम् इति काकुः । उत्सुकः शक्रजित इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय शशंस कथयामास ।

भावार्थ—सीता ने रो रोकर जो बातें कहीं थीं वे सब अयोध्या पहुँचकर

मेघनाद को भी मारनेवाले लक्ष्मण ने राम से यह सोचकर कह दी कि देखें अब भी रामजी सीता के करुण सन्देश को सुनकर पछताते हैं या नहीं ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सहसा सबाष्पः रामः तुषारवर्षी सहस्यः चन्द्रः इव बभूव कौलीन-भीतेन तेन वैदेहसुता गृहात् निरस्ता मनस्तः न ।

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो रामः तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौषेन्दुरिव बभूव । अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत । 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । युक्तं चैतदित्याह—कौलीनाल्लोकापवादात् । 'स्यात्कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता । न मनस्तो मनसश्चित्तान्न निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ।

भावार्थ—लक्ष्मण द्वारा सीता का सन्देश सुनकर तुषारवर्षी पौष मास के चन्द्रमा के समान राम की आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे, क्योंकि उन्होंने सीता को अपनी इच्छा से नहीं त्यागा था किन्तु लोकनिन्दा के भय से ही छोड़ा था ।

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥

अन्वयः—धीमान् वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः रजोरिक्तमनाः सः स्वयमेव शोकं निगृह्य भ्रातृसाधारणभोगं ऋद्धं राज्यं शशास ।

निगृह्येति । धीमान्वर्णानामाश्रमाणां चावेक्षणेऽनुसंधाने जागरूकोऽप्रमत्तः । "जागर्तेरूकः" इत्यूकप्रत्ययः । रजोरिक्तमना रजोगुणशून्यचेताः सः रामः स्वयमेव शोकं निगृह्य निरुध्य भ्रातृभिः साधारणभोगं शरीरस्थितिमात्रोपयुक्तमित्यर्थः । ऋद्धं समृद्धं राज्यं शशास ।

भावार्थ—वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने में सदा तत्पर बुद्धिमान् और रजोगुण से रहित राम स्वयं सांसारिक सुखों का मोह छोड़कर और शोक को रोककर भाइयों के साथ अपने समृद्धशाली राज्य का शासन करने लगे ॥ ८५ ॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसङ्घट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—परिवादभीरोः एकभार्यां साध्वीम् अपि तां त्यक्तवतः नृपस्य वक्षसि असङ्घट्टसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहिता इव रेजे ।

तामिति । परिवादभीरोर्निन्दाभीरोस्ताम् एवैकभार्यामपि साध्वीमपि सीता

त्यक्तवतो नृपस्य रामचन्द्रस्य वक्षस्य सङ्कटसुखमसंभाव्यसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहितेव रेजे दिदीपे। तस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नाभूदिति भावः।

भावार्थ—राम ने लोकापवाद के भय से अपनी सती साध्वी स्त्री सीता का त्याग कर दिया, इसलिए मानो विना सीता की होकर राज्यलक्ष्मी ही उनके हृदय में कल्पनातीत सुखपूर्वक निवास करने लगी॥ ८६॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे॥ ८७॥

अन्वयः—दशमुखरिपुः सीतां हित्वा अन्यां न उपयेमे यत् तस्या एव प्रतिकृतिसखः क्रतून् आजहार इति यत् तेन श्रवणविषयप्रापिणा भर्तुः वृत्तान्तेन सा दुर्वारं परित्यागदुःखं कथमपि विषेहे।

सीतामिति। दशमुखरिपू रामः सीतां हित्वा त्यक्त्वाऽन्यां स्त्रियं नोपयेमे न परिणीतवानिति यत्। 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यात्मनेपदम्। किंच तस्याः सीताया एव प्रतिकृतेः प्रतिमाया हिरण्मय्याः सखा प्रतिकृतसखः सन्क्रतूनाजहाराहृतवानिति। 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इति धर्मशास्त्रात्। यत्तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्रदेशगामिना भर्तुर्वृत्तान्तेन वार्तया हेतुना सा सीता दुर्वारं दुर्निरोधं परित्यागेन यद्दुःखं तत्कथमपि विषेहे विसोढवती।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः॥ १४॥

भावार्थ—रावण के शत्रु राम ने सीता को त्यागकर किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया, किन्तु अश्वमेध यज्ञ करते समय उन्होंने सीता की स्वर्णमयी मूर्ति को उनका प्रतिनिधि वनाकर अर्द्धांगिनी के रूप में वायें वैठाया था, जव सीताजी ने अपने पति की ये वातें सुनी, तव उनके मन में छोड़े जाने का असह्य दुःख था वह किसी प्रकार सहन हो सका॥ ८७॥

यह त्रिपाठ्युपाह्व पं० श्रीकृष्णमणिशास्त्री द्वारा लिखित चन्द्रकला नाम की हिन्दी टीका में रघुवंश महाकाव्य का सीतापरित्याग नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ॥ १४॥



पञ्चदशः सर्गः

आरण्यकं गृहस्थानं श्वशुरो यद्रजःकणाः ।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं तस्मै रामाय ते नमः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ १ ॥

अन्वयः—कृतसीतापरित्यागः सः पृथ्वीपालः रत्नाकरमेखलां केवलां पृथिवीम् एव बुभुजे ।

कृतेति । कृतसीतापरित्यागः स पृथ्वीपालो रामो रत्नाकर एव मेखला यस्यास्तां सार्णवामित्यर्थः । केवलाम् एकामित्यर्थः । पृथिवीमेव बुभुजे भुक्तवान् । न तु पार्थिवीमित्यर्थः । साऽपि रत्नखचितमेखला पृथिव्याः कान्तासमाधिर्व्यज्यते । रामस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नास्तीति श्लोकाभिप्रायः ।

भावार्थ—सीता का परित्याग करके पालक (राजा) राम समुद्रों से घिरी हुई केवल पृथ्वी का भोग करने लगे; किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया ॥१॥

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः ।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥

अन्वयः—लवणेन तामिस्रेण विलुप्तेज्याः (अतएव) शरणार्थिनः यमुनाभाजः मुनयः शरण्यं तम् अभ्ययुः ।

लवणेनेति । लवणेन लवणाख्येन तामिस्रेण तमिस्राचारिणा रक्षसेत्यर्थः । विलुप्तेज्या लुप्तयागक्रिया अतएव शरणार्थिनो रक्षणार्थिनो यमुनाभाजो यमुनातीरवासिनो मुनयः शरण्यं शरणार्हं रक्षणसमर्थं तं रामं रक्षितारमभ्ययुः प्राप्ताः । यातेर्लङ् ।

भावार्थ—इसी समय एक दिन यमुना जी के तीर पर रहने वाले कुछ शरणार्थी मुनि लोग शरणागतवत्सल राम के पास आये; क्योंकि उनकी यज्ञ क्रियायें लवणासुर के उपद्रव के कारण बन्द हो गई थी ॥ २ ॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—ते रामं अवेक्ष्य तस्मिन् स्वतेजसा प्रजह्रुः हि त्राणाभावे शापास्त्राः (सन्तः) तपसः व्ययं कुर्वन्ति ।

अवेक्ष्येति । ते मुनयो राममवेक्ष्य । रक्षितारमिति शेषः । तस्मिल्लवणे स्वतेजसा शापरूपेण न प्रजह्रुः । तथाहि त्रायते इति त्राणं रक्षकम् । कर्त्तरि ल्युट् । तद्भावे शाप एवास्त्रं येषां ते शापास्त्राः सन्तस्तपसो व्ययं कुर्वन्ति । शापदानात्तपसो व्यय इति प्रसिद्धेः ।

भावार्थ—उन मुनियों ने राम को अपना रक्षक देख कर उस लवणासुर को शाप देकर नष्ट नहीं किया, क्योंकि जिन लोगों में शाप देकर भस्म कर देने की शक्ति होती है वे तपस्या के एकत्रित तेज को ऐसे काम में तभी लगाते हैं जब कोई दूसरा उनका रक्षक न हो ॥ ३ ।

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥

अन्वयः—काकुत्स्थः तेभ्यः विघ्नप्रतिक्रियां प्रतिशुश्राव, भुवि शार्ङ्गिणः प्रवृत्तिः धर्मसंरक्षणार्था एव ।

प्रतीति । काकुत्स्थो रामस्तेभ्यो मुनिभ्यो विघ्नप्रतिक्रियां लवणवधरूपां प्रतिशुश्राव प्रतिजज्ञे । "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता" इत्यनेन चतुर्थी । तथाहि भुवि शर्ङ्गिणः विष्णोः प्रवृत्ती रामरूपेणावतरणं धर्मसंरक्षणमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथैव ।

भावार्थ—राम ने उन मुनियों से उनके विघ्नों को दूर करने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि धर्म की रक्षा करने के लिए ही तो वे संसार में अवतार लेते हैं ॥४॥

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥

अन्वयः—ते रामाय विबुधद्विषः वधोपायं आचख्युः लवणः शूली दुर्जयः (किन्तु) विशूलः प्रार्थ्यताम् ।

त इति । ते मुनयो रामाय विबुधद्विषः सुरारेर्लवणस्य वधोपायमाचख्युः । लुनातीति लवणः । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । तत्रैव निपातनाण्णत्वम् । लवणः शूली शूलवान्दुर्जयोऽजय्यः किन्तु विशूलः शूलरहितः प्रार्थ्यतामभिगम्यताम् । 'याञ्चायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः ।

भावार्थ—जब उन मुनियों ने देवताओं के शत्रु उस लवणासुर के वध का उपाय राम को बतलाया कि जब तक उसके हाथ में भाला रहेगा तब तक उसका हारना कठिन है इसलिए उस पर ऐसे समय आक्रमण करना चाहिए कि जब उसके हाथ में भाला न हो ॥ ५ ॥

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ तेषां क्षेमाय राघवः शत्रुघ्नम् आदिदेश, अस्य नाम अरिनिग्रहात् यथार्थं करिष्यन् इव ।

आदिदेशेति । अथ तेषां मुनीनां क्षेमकरणाय राघवो रामः शत्रुघ्नमादिदेश । अत्रोत्प्रेक्षते—अस्य शत्रुघ्नस्य नामारिनिग्रहाच्छत्रुहननाद्धेतोः यथाभूतार्थो यस्य तद्यथार्थं करिष्यन्निव । शत्रून्हन्तीति शत्रुघ्नः । "अमनुष्यकर्तृके च" इति चकारात्कृतघ्नशत्रुघ्नादयः सिद्धा इति दुर्गसिंहः । पाणिनीयेऽपि बहुलग्रहणाद्यथेष्टसिद्धिः । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति ।

भावार्थ—इसके बाद राम ने उन मुनियों के कल्याण के लिए शत्रुघ्न को आदेश दिया, मानो शत्रुघ्न के हाथों से लवणासुर शत्रु का संहार कराकर उनका शत्रुघ्न नाम यथार्थ करा देना चाहते हों ॥ ६ ॥

रामस्य स्वयमप्रयाणे हेतुमाह—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हि परन्तप रघूणां यः कश्चन एकः अपवादः उत्सर्गम् इव परं व्यावर्तयितुं ईश्वरः ।

य इति । हि यस्मात् पराञ्छत्रूंस्तापयतीति परन्तपः । "द्विषत्परयोस्तापेः" इति खच्प्रत्ययः । "खचि ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । रघूणां मध्ये यः कश्चनैकः अपवादो विशेषशास्त्रमुत्सर्गं सामान्यशास्त्रमिव परं शत्रुं व्यावर्तयितुं बाधितुमीश्वरः समर्थः । अतः शत्रुघ्नमेवादिदेशेति पूर्वेणान्वयः ।

भावार्थ—जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र के अनुसार कोई अपवाद सूत्र उत्सर्ग को रोक देने में समर्थ होता है उसी प्रकार शत्रु को दबाने वाला रघुवंशियों में कोई भी एक ही पुरुष शत्रु को पराजित करने के लिए समर्थ होता है ॥ ७ ॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

अन्वयः—ततः अग्रजेन प्रयुक्ताशीः रथी अभीः दाशरथिः पुष्पिताः सुरभीः वनस्थलीः पश्यन् ययौ ।

अग्रजेनेति । ततोऽग्रजेन रामेण प्रयुक्ताशीः कृताशीर्वादो रथी रथिकोऽभी-र्निर्भीको दाशरथिः पुष्पाणि संजातानि यासां ताः पुष्पिताः सुरभीरामोदमानाः वनस्थलीः पश्यन्ययौ ।

भावार्थ—इसके बाद बड़े भाई से आशीर्वाद पाकर दशरथकुमार शत्रुघ्न रथ पर सवार होकर निर्भयतापूर्वक विकसित पुष्पवाली सुगन्धित वनस्थली की छटा देखते हुए चल पड़े ॥ ८ ॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥

अन्वयः—रामादेशात् अनुगता सेना तस्य अध्ययनार्थस्य धातोः पश्चात् अधिः इव अर्थसिद्धये अभवत् ।

रामेति । रामादेशादनुगता सेना तस्य शत्रुघ्नस्य अध्ययनमर्थोऽभिधेयो यस्य तस्य धातोः 'इङ् अध्ययने' इत्यस्य धातोः पश्चादधिरध्युपसर्ग इव अर्थसिद्धये प्रयोजन-साधनायेत्येकत्र, अन्यत्राभिधेयसाधनाय अभवत् । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृ-त्तिषु' इत्यमरः । यथा 'इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः' इति न्याये नाध्युपसर्गं स्वयमेवार्थसाधकस्य धातोः सन्निधिमात्रेणोपकरोति सेनापि तस्य तद्वदिति भावः ।

भावार्थ—राम की आज्ञा से शत्रुघ्न के पीछे चलती हुई सेना वैसे ही व्यर्थ थी जैसे अध्ययनार्थ इङ्धातु में लगा हुआ अधि उपसर्ग, क्योंकि इङ् का ही अर्थ अध्ययन होता है, अधि उपसर्ग वहाँ व्यर्थ है । उसी प्रकार सेना के विना भी शत्रुघ्न लवणासुर को अकेले जीत सकते थे उनके साथ सेना जाती या ना जाती ॥ ९ ॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥

अन्वयः—रथप्रष्ठैः मुनिभिः आदिष्टवर्त्मा गच्छन् तपतां वरः सः वाल-खिल्यैः अंशुमान् इव, विरराज ।

आदिष्टेति । रथप्रष्ठै रथाग्रगामिभिः । "प्रष्ठोऽग्रगामिनी" इति निपातः । मुनिभिः पूर्वोक्तैरादिष्टवर्त्मा निर्दिष्टमार्गो गच्छंस्तपतां देदीप्यमानानां मध्ये वरः स शत्रुघ्नः वालखिल्यैर्मुनिभिरंशुमान्सूर्य इव विरराज । तेऽपि रथप्रष्ठा इत्यनु-संधेयम् ।

भावार्थ—जिस प्रकार रथ पर चढ़े हुए तेजस्वी श्रेष्ठ सूर्य को वाल्यखिल्य नाम के मुनि लोग आगे मार्ग दिखाते चलते हैं उसी प्रकार रथ पर बैठे हुए

तेजस्वियों में श्रेष्ठ रथ पर चढ़े हुए शत्रुघ्न को भी मुनिलोग आगे-आगे मार्ग दिखलाते चलते थे ॥ १० ॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥

अन्वयः—यत तस्य मार्गवशात् रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने एका वसति बभूव ।

तस्येति । यतो गच्छतः । इण्धातो शतृप्रत्यय. । तस्य शत्रुघ्नस्य मार्गवशाद्रथस्वन उत्कण्ठा उद्ग्रीवा मृगा यस्मिम्तस्मिन्वाल्मीकीये वाल्मीकिसम्बन्धिनि । "वृद्धाच्छ" इति छप्रत्यय । तपोवन एका वसती रात्रिर्बभूव । तत्रैका रात्रिमुषित इत्यर्थं । 'वसती रात्रिवेश्मनो' इत्यमरः ।

भावार्थ—मार्ग मे जाते हुए शत्रुघ्न की पहली रात महर्षि वाल्मीकि जी उस आश्रम मे बीती जहाँ के मृग उनके रथ के शब्द को सुनकर बड़े प्रेम से उधर देखने लग गये थे ॥ ११ ॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् ।
तप.प्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥ १२ ॥

अन्वयः—क्लान्तवाहनं तं कुमारं ऋषि तपः प्रभावसिद्धाभिः विशेषप्रतिपत्तिभिः पूजयामास ।

तमिति । क्लान्तवाहनं श्रान्तयुग्यं त कुमारं शत्रुघ्नमृषिर्वाल्मीकिस्तप.प्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिरुत्कृष्टसम्भावनाभिः आसनशयनपानादिभिः पूजयामास ।

भावार्थ—शत्रुघ्न के घोड़े आदि थक गये थे इसीलिए रुकना आवश्यक हो गया । महर्षि वाल्मीकि जी ने अपनी तपस्या के प्रभाव से आतिथ्य सत्कार की सब सामग्री जुटाकर शत्रुघ्न का बड़ा सत्कार किया ॥ १२ ॥

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती ।
सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥ १३ ॥

अन्वयः—तस्याम् एव यामिन्यां अस्य अन्तर्वत्नी प्रजावती क्षितिः सम्पन्नौ कोशदण्डौ इव सुतौ असूत ।

तस्यामिति । तस्यामेव यामिन्या रात्रावस्य शत्रुघ्नस्य अस्तीत्यन्तर्वत्नी गर्भिणी । 'अन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । "अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्" इति ङीप् नुगागमश्च । प्रजावती भ्रातृजाया सीता क्षितिः सम्पन्नौ समग्रौ कोशदण्डाविव सुतावसूत ।

भावार्थ—उसी रात को इस शत्रुघ्न की गर्भवती भाभी सीता ने दो तेजस्वी पुत्रों को उसी प्रकार उत्पन्न किया, जिस प्रकार पृथ्वी अपने राजा के लिए समृद्ध धन और सेना उत्पन्न करती है ॥ १३ ॥

संतानश्रवणाद् भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान्।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥ १४ ॥

अन्वयः—भ्रातुः सन्तानश्रवणात् सौमनस्यवान् सौमित्रिः प्रातः युक्तरथः (सन्) प्राञ्जलिः मुनिम् आमन्त्र्य ययौ।

सन्तानेति। भ्रातुर्ज्येष्ठस्य संतानश्रवणाद्धेतोः सौमनस्यवान्प्रीतिमान्सौमित्रिः शत्रुघ्नः प्रातर्युक्तरथः सज्जरथः सन् प्राञ्जलिः कृताञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्यापृच्छ्य ययौ।

भावार्थ—भाई रामचन्द्र जी के पुत्र होने की बात सुन कर शत्रुघ्न बड़े प्रसन्न हुए और अगले दिन सुबह हाथ जोड़कर वाल्मीकि मुनि से आज्ञा लेकर रथ पर चढ़कर आगे बढ़े ॥ १४ ॥

स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ॥ १५ ॥

अन्वयः—स च मधूपघ्नं प्राप कुम्भीनस्याः कुक्षिजः च वनात् करम् इव सत्त्वराशिम् आदाय उपस्थितः।

स चेति। स शत्रुघ्नश्च मधूपघ्नं नाम लवणपुरं प्राप। कुम्भीनसी नाम रावणस्वसा तस्याः कुक्षिजः पुत्रो लवणश्च वनात्करं बलिमिव सत्त्वानां प्राणिनां राशिमादायोपस्थितः प्राप्तः।

भावार्थ—जिस समय शत्रुघ्न मधूपघ्न नगर में पहुँचे उसी समय रावण की बहन कुम्भीनसी का पुत्र लवणासुर बहुत से पशुओं को मारकर इस प्रकार लौटा चला आ रहा था मानो वन ने उसे यह भेंट दी हो ॥ १५ ॥

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जङ्गमः ॥ १६ ॥

अन्वयः—धूमधूम्रः वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः क्रव्याद्गणपरीवारः (अतएव) जंगमः चित्ताग्निरिव (स्थितः)।

धूमेति। किंभूतो लवणः? धूम इव धूम्रः कृष्णलोहितवर्णः। 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः। वसागन्धो हृन्मेदोगन्धः सोऽस्यास्तीति वसागन्धी। 'हृन्मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः। ज्वाला इव बभ्रवः पिशङ्गाः शिरोरुहः केशा यस्य स तयोक्तः। 'विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः। क्रव्यं

मांसमदन्तीति क्रव्यादो राक्षसाः तेषां गण एव परीवारो यस्य स तथोक्तः। अत एव जङ्गमश्चरिष्णुश्चितानिरिव स्थित कृशानुपक्षे धूमैर्धूम्रवर्णा ज्वाला एव शिरोरुहाः। क्रव्यादा गृध्रादयः इत्यनुसंधेयम्।

भावार्थ—धूएँ के समान काला उसका रङ्ग था उसकी देह से चर्बी की गन्ध निकल रही थी अग्नि की लपटों के समान उसके बाल बिखरे हुए थे और कच्चे मांस के खानेवाले राक्षस उसके चारो ओर चल रहे थे। इस प्रकार वह उस चिता की अग्नि के समान लग रहा था और जिसके आस-पास कुत्ते और गीध आदि मांस भक्षी पशु पक्षी घूम रहे हो ॥ १६ ॥

अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रंध्रप्रहारिणाम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—लक्ष्मणानुजः अपशूलं तं लवणम् आसाद्य रुरोध हि रन्ध्रप्रहारिणां जयः सम्मुखीनः (भवति)।

अपशूलमिति। लक्ष्मणानुजः शत्रुघ्नोऽपशूलं शूलरहितं तं लवणमासाद्य रुरोध। तथा हि रन्ध्रप्रहारिणां रन्ध्रप्रहरणशीलानाम्। अपशूलत्वमेवात्र रन्ध्रम्। जयः सम्मुखीनो हि सम्मुखस्य दर्शनो हि। "यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः" इति खप्रत्ययः। अधिकारलक्षणार्थस्तु दुर्लभ एव।

भावार्थ—इस प्रकार लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न ने देखा कि यह अवसर अच्छा है क्योंकि इसके हाथ में भाला नहीं है बस झट उन्होंने उसे घेर लिया; क्योंकि जो शत्रु के शक्तिहीन होने पर प्रहार करता है वह अवश्य विजयी होता है ॥ १७ ॥

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम्।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥ १८ ॥
इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अद्य मत्कुक्षेः भोजनं नातिपर्याप्तम् (इति) आलक्ष्य इव धात्रा दिष्ट्या मे त्वं उपपादितः (असि)।

अन्वयः—राक्षसः इति शत्रुघ्नं सन्तर्ज्य तज्जिघांसया प्रांशुं द्रुमं मुस्तास्तम्बम् इव उत्पादयामास।

नेति। इतीति। युग्मम्। राक्षसो लवणः अद्य मत्कुक्षेः भुज्यत इति भोजनम्। भोज्यं मृगादिकं नातिपर्याप्तमनतिसमग्रमालक्ष्य दृष्ट्वा भीतेनेव धात्रा दिष्ट्या भाग्येन

मे त्वमुपपादितः कल्पितोऽसि। इति शत्रुघ्नं संतर्ज्य तस्य शत्रुघ्नस्य जिघांसया हन्तुमिच्छया प्रांशुमुन्नतं द्रुमं मुस्तास्तम्बमिव अक्लेशेनोत्पाटयामास।

भावार्थ—शत्रुघ्न को देखकर लवणासुर गरज उठा और बोला—आज मेरे भोजन की सामग्री कम थी यह देख ब्रह्मा ने डर कर मेरा भोजन पूरा करने के लिए तुम्हें यहाँ भेज दिया है ॥ १८ ॥

भावार्थ—यह कह कर उस लवणासुर ने शत्रुघ्न को मारने के लिए एक बड़ा भारी वृक्ष ऐसे धीरे से उखाड़ लिया जैसे मोथा नामक घास के डण्टल को उखाड़ लिया जाता है ॥ १९ ॥

सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥ २० ॥

अन्वयः—नैर्ऋतेरितः शाखी अन्तरा निशितैः बाणैः शकलीकृतः सौमित्रेः गात्रं न प्राप (किन्तु) पुष्परजः (प्राप)।

सौमित्रेरिति। नैर्ऋतेरितो रक्षःप्रेरितः शाख्यन्तरा मध्ये निशितैर्बाणैः शकलीकृतः सन्सौमित्रेः शत्रुघ्नस्य गात्रं न प्राप। किंतु पुष्परजः प्राप।

भावार्थ—लवणासुर ने ज्योंही शत्रुघ्न पर उस वृक्ष को फेंका त्योंहीं उन्होंने बीच में ही उसे अपने तीक्ष्ण बाणों से टुकड़े कर दिया। इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीर तक नहीं पहुँच सका किन्तु केवल उसके पुष्पों का पराग भर पहुँचा ॥ २० ॥

विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—रक्षः तस्य विनाशात् महोपलं पृथक्स्थितं कृतान्तस्य मुष्टिम् इव प्रजिघाय।

विनाशादिति। रक्षो लवणस्तस्य वृक्षस्य विनाशाद्धेतोः महोपलं महान्तं पाषाणं पृथक्स्थितं कृतान्तस्य यमस्य मुष्टिमिव। मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः। तस्मै शत्रुघ्नाय प्रजिघाय प्रहितवान्।

भावार्थ—उस वृक्ष के टुकड़े टुकड़े हो जाने पर उस राक्षस लवणासुर ने एक बहुत बड़ा पत्थर उठाकर शत्रुघ्न पर फेंका मानो वह यमराज का घूँसा हो ॥ २१ ॥

ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—सः शत्रुघ्नेन ऐन्द्रम् अस्त्रम् उपादाय ताडितः (सन्) सिकतात्वात् अपि परां परमाणुतां प्रपेदे ।

ऐन्द्रमिति—स महोपलः शत्रुघ्नेनैन्द्रमिन्द्रदेवताकमस्त्रमुपादाय ताडितोऽभिहतः सन् सिकतात्वात्मिकताभावादपि परां परमाणुतां प्रपेदे । यतोऽणुर्नास्ति स परमाणुरित्याहुः ।

भावार्थ—किन्तु शत्रुघ्न ने इन्द्रास्त्र चलाकर उसे बालू से भी छोटे परमाणु भाव को प्राप्त करा दिया अर्थात् अपने ऐन्द्र अस्त्र से उसे चूर-चूर कर दिया ॥ २२ ॥

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ २३ ॥

अन्वयः—निशाचरः दक्षिणं दोः उद्यम्य एकतालः उत्पातप्रेरितः गिरिः इव तं उपाद्रवत् ।

तमिति · निशाचरो राक्षसो दक्षिणं दोः 'ककुद्दोषणी' इति भगवतो भाष्यकारस्य प्रयोगाद्दोषशब्दस्य नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम् । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति पुंलिङ्गसाहचर्यात्पुंस्त्वं च । तथा च प्रयोगः—'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' इति । सव्येतरं बाहुमुद्यम्य एकस्तालस्तदाख्यवृक्षो यस्मिन्स एकतालः । उत्पातपवनेन प्रेरितो गिरिरिव तं शत्रुघ्नमुपाद्रवदभिद्रुतः ।

भावार्थ—वह राक्षस लवणासुर अपना दाहिना हाथ उठाकर शत्रुघ्न के ऊपर झपटा, उस समय वह ऐसा लग रहा था मानो बवण्डर से उड़ाया हुआ कोई बड़ा पहाड़ चला आ रहा हो ॥ २३ ॥

कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—सः शत्रुः कार्ष्णेन पत्रिणा भिन्नहृदयः पतन् भुवः कम्पं आनिनाय, आश्रमवासिनां कम्पं जहार ।

कार्ष्णेनेति । सः शत्रुर्लवणः कार्ष्णेन वैष्णवेन पत्त्रिणा बाणेन । उक्तं च रामायणे—(एवमेष प्रजनितो विष्णोस्तेजोमयः शरः) इति । 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' इत्यमरः । भिन्नहृदयः पतन्भुवः कम्पमानिनायानीतवान् देहभारादित्यर्थः । आश्रमवासिनां वनवासिनां कम्पं जहार । तन्नाशादकुतोभयाः बभूवुरित्यर्थः ।

भावार्थ—तब शत्रुघ्न ने उसके ऊपर नारायणास्त्र चलाया उसके लगते ही वह राक्षस पृथ्वी पर जा गिरा उससे ऐसी धमक हुई कि पृथ्वी काँप उठी

आश्रमवासियों का काँपना दूर हो गया अर्थात् नारायणास्त्र लगते ही वह पृथ्वी पर गिर कर मर गया उसके मरने से मुनि लोग निर्भय हो गये ॥ २४ ॥

वयसां पंक्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः ।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हतस्य विद्विषः उपरि वयसां पङ्क्तयः पेतुः । तत्प्रतिद्वन्द्विनः मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः (पेतुः) ।

वयसामिति । विद्वेष्टीति विद्विट् तस्य विद्विषो राक्षसस्योपरि वयसां पक्षिणां पङ्क्तयः पेतुः । तत्प्रतिद्वन्द्विनः शत्रुघ्नस्य मूर्ध्नि तु दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः ।

भावार्थ—मरे हुए उस लवणासुर के ऊपर गिद्ध आदि पक्षी टूट पड़े और उसके प्रतिद्वन्द्वी शत्रुघ्न के ऊपर स्वर्ग से दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥ २५ ॥

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ॥ २६ ॥

अन्वयः—स वीरः लवणं हत्वा तदा आत्मानं महौजसः इन्द्रजिद्वधशोभिनः भ्रातुः सोदर्यं मेने ।

स इति । स वीरः शत्रुघ्नो लवणं हत्वा तदात्मानं महौजसो महाबलस्येन्द्र-जिद्वधेन शोभिनो भ्रातुर्लक्ष्मणस्य समानोदरे शयितं सोदर्यमेकोदरं मेने । "सोदराद्यः" इति यप्रत्ययः ।

भावार्थ—शूरवीर शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर उस समय अपने को इन्द्रविजयी मेघनाद को मारने से शोभा सम्पन्न लक्ष्मण का सच्चा सहोदर भाई समझा ॥ २६ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयाऽवनतं शिरः ॥ २७ ॥

अन्वयः—चरितार्थैः तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य विक्रमोदग्रं व्रीडया अवनतं शिरः शुशुभे ।

तस्येति । चरितार्थैः कृतार्थैः कृतकार्यैस्तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य शत्रुघ्नस्य विक्रमेणोदग्रमुन्नतं व्रीडया लज्जयाऽवनतं नम्रं शिरः शुशुभे । विक्रान्तस्य लज्जैव भूषणमिति भावः ।

भावार्थ—जब तपस्वियों का काम पूरा हो गया तब वे शत्रुघ्न की बड़ाई

करने लगे पर अपनी प्रशंसा सुनकर शत्रुघ्न ने शील के मारे लजा कर अपना शिर नीचे कर लिया ॥ २७ ॥

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरां मधुराकृतिः ॥ २८ ॥

अन्वयः—पौरुषभूषण अर्थेषु निर्मम मधुराकृति कालिन्द्याः उपकूलं मथुरा पुरी निर्ममे ।

उपेति । पौरुषभूषण अर्थेषु विषयेषु निर्ममो निस्पृह. मधुराकृतिः सौम्यरूपः स शत्रुघ्न. कालिन्द्या यमुनाया उपकूल कूले । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मथुरां नाम पुरीं निर्ममे निर्मितवान् ।

भावार्थ—तब महापराक्रमी विषयों में ममता रहित और प्रियदर्शन शत्रुघ्न ने यमुना के तट पर मथुरा नाम की नगरी बसाई ॥ २८ ॥

या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥

अन्वयः—या सौराज्यप्रकाशाभिः पौरविभूतिभिः स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वा उपनिवेशिता इव बभौ ।

येति । या पू' शत्रुघ्नः शोभनो राजा यस्या. पुर. सा सुराज्ञी । सुराज्ञ्या भाव' सौराज्य तेन प्रकाशाभिः प्रकाशमानाभिः पौराणां विभूतिभिरैश्वर्यैः स्वर्गस्याभिष्यन्दोऽतिरिक्तजनः तस्य वमनमाहरण कृत्वोपनिवेशिताऽवस्थापितेव बभौ । अत्र कौटिल्य.—"भूतपूर्वमभूतपूर्वं जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्" इति ।

भावार्थ—शत्रुघ्न को अच्छा राजा पा जाने के कारण उस मथुरापुरी के लोग प्रकाशशील नागरिक ऐश्वर्यों से ऐसे धनी और सुखी हो गए मानो स्वर्ग में जन-संख्या बढ़ जाने के कारण वहाँ के कुछ लोग यहाँ लाकर बसा दिये गये हों ॥ २९ ॥

तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ ३० ॥

अन्वयः—तत्र सौधगतः (सः) चक्रवाकिनीं यमुना हेमभक्तिमती भूमेः प्रवेणीं इव पश्यन् पिप्रिये ।

तत्रेति । तत्र मथुरायां सौधगतो हर्म्यारूढः स चक्रवाकिनीं चक्रवाकवर्तिनीं

यमुनां हेमभक्तिमतीं सुवर्णरचनावतीं भूमेः प्रवेणीं वेणीमिव। 'वेणिः प्रवेणी' इत्यमरः। पश्यन्पिप्रिये। प्रीतः। 'प्रीङ् प्रीणने' इति धातोर्दैवादिकाल्लट्।

भावार्थ—शत्रुघ्न ने उस मथुरा के एक ऊँचे भवन पर चढ़कर उस नीले जलवाली यमुना को देखा, जिसमें वहुत से चकवा-चकवी चहचहा रहे थे और जो पृथ्वी की स्वर्णमयी रचना युक्त चोटी के समान मालूम पड़ती थी॥ ३०॥

सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत्।
संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि॥ ३१॥

अन्वयः—दशरथस्य जनकस्य च सखा मंत्रकृत् (स वाल्मीकिः) अपि उभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि संचस्कार।

सखेति। दशरथस्य जनकस्य च सखा मन्त्रकृन्मन्त्रद्रष्टा स वाल्मीकिरपि। "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इति क्विप्। उभयोर्दशरथजनकयोः प्रीत्या स्नेहेन मैथिलेयौ मैथिलीपुत्रौ यथाविधि यथाशास्त्रं संचस्कार संस्कृतवान्। जातकर्मादिभिरिति शेषः।

भावार्थ—उधर मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकि जी ने दशरथ और जनक दोनों के मित्र होने के नाते सीता जी के पुत्रों के जातकर्म आदि सब संस्कार बड़ी विधि से किये॥ ३१॥

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः॥ ३२॥

अन्वयः—सः कविः कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तौ तदाख्यया नामतः कुशलवौ एव चकार किल।

स इति। स कविर्वाल्मीकिः कुशैर्दर्भैर्लवैर्गोपुच्छलोमभिः 'लवो लवणकिञ्जल्कपक्ष्मगोपुच्छलोमसु' इति वैजयन्ती। उन्मृष्टो गर्भक्लेदो गर्भोपद्रवो ययोस्तौ कुशलवोन्मृष्टक्लेदौ मैथिलेयौ तेषां कुशानां च लवानां चाख्यया नामतो नाम्ना यथासंख्यं कुशलवावेव चकार किल। कुशोन्मृष्टः कुशः लवोन्मृष्टो लवः।

भावार्थ—उधर ज्येष्ठ लड़के लव के उत्पन्न होते समय सीताजी की प्रसव पीड़ा आश्रम सुलभ गाय की पूँछ की वाल से दूर की गयी थी और छोटे वालक के समय गर्भजन्य उपद्रव कुश से इसलिए वाल्मीकि जी ने दोनों वालकों का नाम उन्हीं दोनों वस्तुओं के नाम पर लव और कुश रखा॥ ३२॥

साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम्॥ ३३॥

अन्वयः—किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ साङ्गं च वेदम् अध्याप्य कविः प्रथमपद्धतिं स्वकृतिं गापयामास ।

साङ्गमिति । किंचिदुत्क्रान्तशैशवावतिक्रान्तबाल्यौ तौ साङ्गं च वेदमध्याप्य कवीनां प्रथमपद्धतिं कवितावीजमित्यर्थः । स्वकृतिं काव्यं रामायणाख्यं गापयामास । गायतेर्लिट् । शब्दकर्मकत्वात् । "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इत्यनेन द्विकर्मकत्वम् ।

भावार्थ—उनके बचपन का समय बीत जाने पर महर्षि वाल्मीकि ने उन दोनों को वेदवेदाङ्ग पढ़ाया और फिर अपनी रचना आदि काव्य रामायण का गान सिखाया ॥ २३ ॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।
तद्वियोगव्यथां किंचिच्छिथिलाचक्रतुः सुतौ ॥ २४ ॥

अन्वयः—सुतौ रामस्य वृत्तं मातुः अग्रतः मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां किञ्चित् शिथिलीचक्रतुः ।

रामस्येति । तौ सुतौ रामस्य वृत्तं मातुरग्रतो मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां रामविरहवेदनां किंचिच्छिथिलीचक्रतुः लघूकृतवन्तौ ।

भावार्थ—इन दोनों बालकों ने अपनी माता सीता के आगे राम की मधुर कथा गा-गा कर राम के वियोग को कुछ कम कर दिया । बालकों द्वारा गाई हुई राम कथा सुन कर रामविरह से उत्पन्न सीता का दुःख कुछ दूर हो जाता था ॥ २४ ॥

इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ।
तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन् द्विसूनवः ॥ २५ ॥

अन्वयः—रघोः वंश्याः त्रेताग्नितेजसः इतरे त्रयः तद्योगात् पतिवत्नीषु पत्नीषु द्विसूनवः आसन् ।

इतरेऽपीति । रघोर्वंश्या वंशे भवाः त्रेतेत्यग्नित्रेताग्नयः तथा तेज इव तेजो येषां ते त्रेताग्नितेजसः । इतरे रामादन्ये त्रयो भरतादयोऽपि तद्योगात्तेषां योगाद्भरतादिसम्बन्धात्पतिवत्नीषु भर्तृमतीषु जीवत्पतिकासु ख्यातिमतीष्वित्यर्थः । 'पतिवत्नी सभर्तृका' इत्यमरः । "अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्" इति ङीप्प्रत्ययो नुगागमश्च । पत्नीषु द्विसूनव आसन् । द्वौ द्वौ सूनू येषां ते द्विसूनव इति विग्रहः । क्वचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत् ।

भावार्थ—गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय इन तीन अग्नियों के समान

तेजस्वी भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन तीनों भाइयों ने भी अपनी-अपनी पत्नियों के साथ सम्बन्ध करके दो दो पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३५ ॥

शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पूर्वजोत्सुकः शत्रुघ्नः बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च सून्वोः मथुरा विदिशे च निदधे ।

शत्रुघातिनीति । पूर्वजोत्सुको ज्येष्ठप्रिय शत्रुघ्नो बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च तन्नामकयोः सून्वोर्मथुरा च विदिशा च ते नगर्यौ निदधे । निधाय गत इत्यर्थः ।

भावार्थ—शत्रुघ्न अपने बड़े भाइयों से मिलने के लिए बहुत आतुर थे इसलिए उन्होंने शत्रु-संहारक अपने दो पुत्र सुबाहु और बहुश्रुत को क्रमशः मथुरा और विदिशा का राज्य सौंप दिया ॥ ३६ ॥

भूयस्तपो व्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सः मैथिली तनयोद्गीतनिःस्पन्दम् मृगं वाल्मीकेः आश्रमं भूयः तपोव्ययः माभूत् इति अत्यगात् ।

भूय इति । स शत्रुघ्नो मैथिलीतनयोः कुशलवयोरुद्गीतेन निःस्पन्दमृगं गीतप्रियतया निश्चलहरिणं वाल्मीकेराश्रमं भूयः पुनरपि तपोव्ययः सम्विधानकरणार्थं तपोहानिर्माभूदिति हेतोः अत्यगात् । अतिक्रम्य गत इत्यर्थः ।

भावार्थ—लौटते समय शत्रुघ्न जी वाल्मीकि के उस तपोवन में नहीं गये जहाँ के मृग शान्त होकर लव और कुश के गीत सुना करते थे; क्योंकि शत्रुघ्न ने यह सोचा कि मेरे जाने पर वाल्मीकि जी अपनी सिद्धियों के बल से मेरे सत्कार की सामग्री जुटाने लगेंगे जिससे व्यर्थ ही उनकी तपस्या की हानि होगी ॥३७॥

वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—वशी लवणस्य वधात् पौरैः अत्यन्तगौरवं ईक्षितः रथ्यासंस्कारशोभिनीम् अयोध्यां विवेश ।

वशीति । वशी स लवणस्य वधाद्धेतोः पौरैः पौरजनैरत्यन्तं गौरवं यस्मिन्कर्मणि तत्तथेक्षितः सन् रथ्यासंस्कारैस्तोरणादिभिः शोभते या तामयोध्यां विवेश च ।

भावार्थ—यहाँ से चल कर जितेन्द्रिय शत्रुघ्न जी उस अयोध्या नगरी में

पहुँचे जहाँ की सड़कें उनके स्वागत में बड़ी सुन्दरता से सजाई गई थी, वे लवणासुर को मार कर लौटे थे; इसलिए पुरवासी उन्हें बड़े आदर से देख रहे थे ॥ ३८ ॥

स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सः सभामध्ये सभासद्भिः उपस्थितं सीतापरित्यागात् भुवः असामान्यपतिं रामं ददर्श ।

स इति । शत्रुघ्नः सभामध्ये सभासद्भिः । सभायां सीदन्ति ये तैः सभ्यैरुपस्थितं सेवितं सीतापरित्यागाद्भुवोऽसामान्यपतिमसाधारणपतिं रामं ददर्श ।

भावार्थ—राजसभा में प्रवेश कर शत्रुघ्न ने देखा कि राम बैठे हुए हैं और बहुत से सभासद उनकी सेवा कर रहे हैं और सीता जी को छोड़ देने पर अब वे एकमात्र पृथ्वी के ही पति रह गये हैं ॥ ३९ ॥

तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः ।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—अग्रजः लवणान्तकं प्रणतं तं कालनेमिवधात् प्रीतः तुराषाड् शार्ङ्गिणमिव अभ्यनन्दत् ।

तमिति । अग्रजो रामो लवणस्यान्तकं हन्तारं प्रणतं तं शत्रुघ्नं कालनेमिर्नाम राक्षसः तस्य वधात्प्रीतः । तुरं वेगं सहत इति तुराषाडिन्द्रः । "छन्दसि सहः" इति ण्विः । यद्वा सहतेर्णिचि कृते साहयतेः क्विप् । 'अन्येषामपि दृश्यते" इति पूर्वपदस्य दीर्घः । "सहेः साडः सः" इति षत्वम् । शार्ङ्गिणमुपेन्द्रमिव अभ्यनन्दत् ।

भावार्थ—जिस प्रकार कालनेमि के वध से प्रसन्न होकर इन्द्र ने अपने छोटे भाई विष्णु का अभिनन्दन किया था उसी प्रकार जब लवणासुर को मारने वाले शत्रुघ्न जी प्रणाम करने को झुके तब राम ने भी उनका अभिनन्दन किया ॥ ४० ॥

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न संततिम् ।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सः पृष्टः (सन्) सर्वतः वार्तं राज्ञे आख्यत् (किन्तु) काले प्रत्यर्पयिष्यतः आद्यस्य कवेः शासनात् सन्ततिम् न (आख्यत्) ।

स इति । स शत्रुघ्नः पृष्टः सन् सर्वतो वार्तं कुशलं राज्ञे रामायाख्यदाख्यातवान् । चक्षिङो लुङ् । "चक्षिङः ख्याञ्" इति ख्याञादेशः । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इत्यङ् । "आतो लोप इटि च" इत्याकारलोपः । ख्यातेर्वा लुङ् । संतति

कुशलवोत्पत्तिं नाख्यत् । कुतः कालेऽवसरे प्रत्यर्पयिष्यत आद्यस्य कवेर्वाल्मीकेः । शासनात् ।

भावार्थ—राम के पूछने पर शत्रुघ्न ने और सब बातें तो कहीं, किन्तु पुत्र होने की बात नहीं कही; क्योंकि वाल्मीकि जी ने उनसे कह दिया था कि समय आने पर मैं स्वयं दोनों पुत्र राम को सौंप दूंगा, तुम न कहना ॥ ४१ ॥

अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् ।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अथ जानपदः विप्रः अप्राप्तयौवनं शिशुं भूपतेः द्वारि अङ्कशय्यास्थं अवतार्य चक्रन्द ।

अथेति । अथ जनपदे भवो जानपदो विप्रः । कश्चिदिति शेषः । अप्राप्तयौवनं शिशुम् । मृतमिति शेषः । भूपते रामस्य द्वार्यङ्कशय्यास्थं यथा तथाऽवतार्याङ्कस्थत्वेनैवावरोप्य चक्रन्द चुक्रोश ।

भावार्थ—इसके बाद एक दिन उसी राज्य का रहने वाला एक ब्राह्मण मरे हुए बालक पुत्र को राजद्वार पर गोद से उतार कर यह कहते हुए फूट-फूट कर रोने लगा ॥ ४२ ॥

शोचनीयाऽसि वसुधे ! या त्वं दशरथाच्च्युता ।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे वसुधे ! दशरथात् च्युता या त्वं रामहस्तम् अनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता (सती) शोचनीया असि ।

शोचनीयेति । हे वसुधे ! दशरथाच्च्युता भ्रष्टा या त्वं रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता सती शोचनीयाऽसि ।

भावार्थ—हे वसुधे ! तुम दशरथ से हीन होकर राम के हाथ में पड़कर दयनीय दशा को प्राप्त हो गई हो, इससे बढ़ कर क्या कष्ट हो सकता है ॥ ४३ ॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः ।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—गोप्ता राघवः तस्य शुचः हेतुं श्रुत्वा जिह्राय । हि अकालभवः मृत्युः इक्ष्वाकुपदं न अस्पृशत् ।

श्रुत्वेति । गोप्ता रक्षको राघवस्तस्य विप्रस्य शुचः शोकस्य हेतुं पुत्रमरणरूपं श्रुत्वा जिह्राय लज्जितः । कुतः ? हि यस्मादकालभवः अप्रस्तावोत्पन्नः मृत्युरिक्ष्वाकूणां पदं राष्ट्रं नास्पृशत् । वृद्धे जीवति यवीयान्न म्रियत इत्यर्थः ।

भावार्थ—प्रजापालक राम ने जब उसके शोक की बात सुनी, तब उन्हें बड़ी लज्जा आई, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के राज्य में किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती थी। अर्थात् पिता के सामने पुत्र की या वृद्ध के सामने युवक की मृत्यु नहीं होती थी ॥ ४४ ॥

स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् ।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ॥ ४५ ॥

अन्वयः—स दुःखितं द्विजं मुहूर्तं क्षमस्व इति आश्वास्य वैवस्वतजिगीषया कौबेरं यानं सस्मार।

स इति। स रामो दुःखितं द्विजं मुहूर्तं क्षमस्वेत्याश्वास्य वैवस्वतस्यान्तकस्यापि जिगीषया जेतुमिच्छया कौबेरं यानं पुष्पकं सस्मार।

भावार्थ—राम ने उस दुःखी ब्राह्मण को यह कह कर आश्वासन दिया कि आप क्षमा करें और थोड़ी देर तक ठहरिये। मैं अभी आपके शोक को दूर करता हूँ। यह कह कर यमराज को जीतने की इच्छा से उन्होंने पुष्पक विमान को स्मरण किया ॥ ४५ ॥

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः ।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥ ४६ ॥

अन्वयः—स रघूद्वहः आत्तशस्त्रः तत् अध्यास्य प्रस्थितः। तस्य पुरः गूढरूपा सरस्वती उच्चचार।

आत्तेति। स रघूद्वहो रामः आत्तशस्त्रः सन् तत्पुष्पकमध्यास्य प्रस्थितः। अथ अस्य पुरो गूढरूपा सरस्वत्यशरीरा वागुच्चचारोद्बभूव।

भावार्थ—जब राम अस्त्र-शस्त्र लेकर पुष्पक विमान पर बैठकर चलने लगे तब उनके सामने आकाश वाणी हुई ॥ ४६ ॥

राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे राजन्! ते प्रजासु कश्चित् अपचारः प्रवर्तते तं अन्विष्य प्रशमयेः ततः कृती भवितासि।

राजन्निति। हे राजन्! ते प्रजासु कश्चिदपचारो वर्णाश्रमव्यतिकरः प्रवर्तते। तमपचारमन्विष्य प्रशमयेः। ततः कृती कृतकृत्यो भवितासि भविष्यसि।

भावार्थ—हे राजन्! आपकी प्रजाओं में कुछ वर्णाश्रमधर्म के प्रतिकूल

व्यवहार हो रहा है उसका पता लगाकर दूर कीजिए ! तभी आपका उद्देश्य सफल होगा ।। ४७ ।।

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन् वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ।। ४८ ।।

अन्वयः—इति आप्तवचनात् वर्णविक्रियां विनेष्यन् वेगनिष्कम्पकेतुना पत्रेण दिशः पपात ।

इतीति । इत्याप्तवचनाद्रामो वर्णविक्रियां वर्णापचारं विनेष्यन्नपनेष्यन्वेगेन निष्कम्पहेतुना पत्रेण वाहनेन पुष्पकेण । 'पत्र वाहनपक्षयोः' इत्यमरः । दिशः पपात धावति स्म ।

भावार्थ—इस विश्वास योग्य वचन को सुनकर वेग से चलने के कारण कम्पन रहित पताका वाले पुष्पक विमान पर चढ़कर राम यह देखने के लिए दिशाओं में घूमने लगे कि कहाँ वर्णाश्रमधर्म के प्रतिकूल व्यवहार हो रहा है ।।४८।।

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ।। ४९ ।।

अन्वयः—अथ ऐक्ष्वाकः धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् अधोमुखं तपस्यन्तं कञ्चित् ददर्श ।

अथेति । अथेक्ष्वाकुवंशप्रभव ऐक्ष्वाको रामः "कोपधादण्" इत्यणि कृते "दाण्डिनायन" इत्यादिनोकारलोपनिपातः । धूमेन पीयमानेनाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनमधोमुखं तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कञ्चित्पुरुषं ददर्श ।

भावार्थ—घूमते-घूमते राम ने क्या देखा कि एक वृक्ष की शाखा पर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई अग्नि के धूआँ को पी-पीकर तप कर रहा है और धूआँ लगने से उसकी आँखें लाल हो गई हैं ।। ४९ ।।

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ।। ५० ।।

अन्वयः—राज्ञा पृष्टनामान्वयः धूमपः सः आत्मानं सुरपदार्थिनं शम्बूकं नाम शूद्रं आचष्ट किल ।

पृष्टेति । राज्ञा नाम चान्वयश्च तौ पृष्टौ नामान्वयौ यस्य स तथोक्तः धूमं पिबतीति धूमपः । "सुपि" इति योगविभागात्कप्रत्ययः । स पुरुष आत्मानं सुरपदार्थिनं स्वर्गार्थिनम् । अनेन प्रयोजनमपि पृष्टमिति ज्ञेयम् शम्बुकं नाम शूद्रमाचष्ट बभाषे किल ।

भावार्थ—राम ने उससे पूछा—आप किस वंश में उत्पन्न हुए हैं और आपका क्या नाम है ? तब वह तपस्वी बोला—मैं स्वर्ग पाने के लिए तप कर रहा हूँ मेरा नाम शम्बूक है और मैं शूद्र हूँ ॥ ५० ॥

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तपसि अनधिकारित्वात् प्रजानां अघावहं तं शूद्रं शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रं आददे ।

तपसीति । तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानामघावहं दुःखावहं तं शूद्रं शीर्षच्छेद्यम् । "शीर्षच्छेदाद्यच्च" इति यत्प्रत्ययः । परिच्छिद्य निश्चित्य नियन्ता रक्षको रामः शस्त्रमाददे जग्राह ।

भावार्थ—शूद्रों को तपस्या करने का अधिकार नहीं है । इसी अनधिकृत कार्य से प्रजा में पाप फैलता है । इसलिए राम ने निश्चय कर लिया कि इसका वध करना ही होगा उन्होंने हाथ में अस्त्र उठा लिया ॥ ५१ ॥

स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—स ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कं पङ्कजम् इव कण्ठनालात् अपातयत् ।

स इति । स रामो ज्योतिष्कणैः स्फुलिङ्गैः रहितानि दग्धानि श्मश्रूणि यस्य तत्तस्य वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कं पङ्कजमिव कण्ठ एव नालं तस्मादपातयत् ।

भावार्थ—और रामने शम्बूक का सिर उसी प्रकार काट कर गले से अलग कर दिया, जिस प्रकार कमल डण्ठल से उतार कर पृथक् कर दिया गया हो, आग की चिनगारियों से झुलसी हुई दाढ़ी वाला उसका सिर ऐसा लगा था जैसे पाला से जला केशर वाला कमलनाल हो ॥ ५२ ॥

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ ५३ ॥

अन्वयः—शूद्रः राज्ञा स्वयं कृतदण्डः (सन्) सतां गतिं लेभे । दुश्चरेण अपि स्वमार्गविलङ्घिना तपसा न (लेभे) ।

कृतेति । शूद्रः शम्बुको राज्ञा स्वयं कृतदण्डः कृतशिक्षः सन् सतां गतिं लेभे । दुश्चरेणापि स्वमार्गविलङ्घिना अनधिकारदुष्टेनेत्यर्थः । तपसा न लेभे । अत्र मनुः

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा इति ।

भाषार्थ—राजा से दण्ड पाने के कारण शूद्र को वह सद्गति मिल गई, जो वह अपने कठोर तपस्या से कभी न पा सकता था और जिसे वह वर्ण धर्म का उल्लङ्घन करके चाह रहा था ॥ ५३ ॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसन्दर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥ ५४ ॥

अन्वयः—रघुनाथः अपि मार्गसन्दर्शितात्मना महौजसा अगस्त्येन इन्दुना शरत्काल इव संयुयुजे ।

रघुनाथ इति । रघुनाथोऽपि मार्गसन्दर्शितात्मना महौजसाऽगस्त्येन इन्दुना शरत्काल इव संयुयुजे सङ्गतः । इन्दावपि विशेषणं योज्यम् । रघुनाथेत्यत्र क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः ।

भाषार्थ—जिस प्रकार शरद्ऋतु से चन्द्रमा मिलता है उसी प्रकार राम मार्ग में महातपस्वी अगस्त्य ऋषि से भी मिले ॥ ५४ ॥

कुम्भयोनिरलङ्कारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—कुम्भयोनिः पीतेन समुद्रेण आत्मनिष्क्रयम् इव दत्तं (अत एव) दिव्यपरिग्रहम् अलङ्कारं तस्मै ददौ ।

कुम्भेति । कुम्भयोनिरगस्त्यः पीतेन समुद्रेणात्मनिष्क्रयमिवात्मनो मोचनमूल्यमिव दत्तम् । अत एव परिगृह्यत इति व्युत्पत्त्या दिव्यपरिग्रहः दिव्यानां परिग्राह्य इत्यर्थः । तमलङ्कारं तस्मै रामाय ददौ ।

भाषार्थ—अगस्त्य जी ने राम को वे सुन्दर दिव्य आभूषण दिये जो उन्हें समुद्र ने उस समय दण्ड के रूप में दिये थे, जब उन्होंने उसे पी लिया था ॥ ५५ ॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना तं दधन् पश्चात् निववृते परासुः द्विजात्मजः प्राक् (निववृते) ।

तमिति । मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण आलिङ्गनरहितेन बाहुना तमलङ्कारं दधद्रामः पश्चान्निववृते निवृत्तः । परासुर्मृतो द्विजात्मजः प्राग्रामात्पूर्वं निववृते ।

भावार्थ—राम ने उन आभूषणों को लेकर अपनी उन भुजाओं में बाँध लिया जो सीता के वन चले जाने के कारण उनके कण्ठ में पड़ने से वञ्चित हो गये थे। राम के अयोध्या आने के पहले ही वह ब्राह्मण का वह पुत्र जी उठा ॥ ५६ ॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥ ५७ ॥

अन्वय—पुत्रसमागतः द्विजः वैवस्वतात् अपि त्रातुः तस्य पूर्वोदितां निन्दां स्तुत्या निवर्तयामास।

तस्येति। पुत्रसमागतः पुत्रेण सगतो द्विजो वैवस्वतादन्तकादपि त्रातू रक्षकस्य। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी। तस्य रामस्य पूर्वोदितां पूर्वोक्तां निन्दां स्तुत्या निवर्तयामास।

भावार्थ—पुत्र के जी उठने पर उस ब्राह्मण ने राम की बड़ी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी उसे अपनी स्तुति से उसने धो डाला, क्योंकि राम ने उसके पुत्र को यमराज के हाथों से छुड़ाया था ॥ ५७ ॥

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अध्वराय मुक्ताश्वं तं रक्षःकपिनरेश्वराः मेघाः अम्भोभिः सस्यं इव उपायनैः अभ्यवर्षन्।

तमिति। अध्वरायाश्वमेधाय मुक्ताश्वं तं रामं रक्षःकपिनरेश्वराः सुग्रीवविभीषणादयो राजानश्च मेघा अम्भोभिः सस्यमिव उपायनैरभ्यवर्षन्।

भावार्थ—कुछ दिनों के बाद राम ने अश्वमेध यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ा, जिस प्रकार बादल धान के खेत पर पानी बरसाते हैं उसी प्रकार सुग्रीव-विभीषण आदि ने आकर राम के आगे भेंट के धन की वर्षा कर दी ॥ ५८ ॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥ ५९ ॥

अन्वयः—निमन्त्रिता महर्षयः च भौमानि धिष्ण्यानि एव न ज्योतिर्मयानि अपि हित्वा दिग्भ्यः एनम् अभिजग्मुः।

दिग्भ्य इति। निमन्त्रिता आहूता महर्षयश्च भूम्याः सम्बन्धीनि भौमानि धिष्ण्यानि स्थानान्येव न। 'धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ' इत्यमरः। किन्तु ज्योतिर्मयानि नक्षत्ररूपाणि धिष्ण्यान्यपि हित्वा दिग्भ्य एनं राममभिजग्मुः।

भावार्थ—राम ने यज्ञ के लिए तीनों लोकों के ऋषियों को निमन्त्रित

किया था, वे ऋषि केवल पृथ्वी से ही नहीं किन्तु दिव्य स्थानों से भी उन्हें छोड़कर राम के पास आये ॥ ५९ ॥

उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥ ६० ॥

अन्वयः—चतुर्द्वारमुखी अयोध्या उपशल्यनिविष्टः तैः सद्यः सृष्टिलोका पैतामही तनुः इव बभौ।

उपेति। चत्वारि द्वाराण्येव मुखानि यस्याः सा चतुर्द्वारमुख्ययोध्या उपशल्येषु ग्रामान्तेषु निविष्टैः। 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः। तैर्महर्षिभिः सद्यः सृष्टलोका पितामहस्येयं पैतामही तनुर्मूर्तिरिव बभौ।

भावार्थ—वे लोग आकर नगर के आस-पास के ग्रामों में ठहर गये। जब वे अयोध्या के चारों द्वारों से नगर में प्रवेश करने लगे तब वह चार मुख वाली अयोध्यापुरी ऐसी मालूम पड़ने लगी मानों तत्काल सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति है ॥ ६० ॥

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वैदेह्याः त्यागः अपि श्लाघ्यः (कुतः) प्राग्वंशवासिनः पत्युः अनन्यजानेः हिरण्मयी सा एव जाया आसीत्।

श्लाघ्य इति। वैदेह्यास्त्यागोऽपि श्लाघ्यो वर्ण्य एव। कुतः यस्मात् प्राग्वंशः प्राचीनस्थूणो यज्ञशालाविशेषः तद्वासिनः। नास्त्यन्या जाया यस्य तस्यानन्यजानेः। "जायाया निङ्" इति समासान्तो निङादेशः। पत्यू रामस्य हिरण्मयी सौवर्णी। "दण्डिनायन" इत्यादिसूत्रेण निपातः। सा निजैव जाया पत्न्यासीत्। कविवाक्यमेतत्।

भावार्थ—सीता के परित्याग से राम की एक यह प्रशंसा हुई कि राम ने किसी दूसरी स्त्री से अपना विवाह नहीं किया इसलिए यज्ञ में सोने की सीता बनाकर राम ने अपनी पत्नी के स्थान पर उसे बैठा दिया ॥ ६१ ॥

विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—ततः विधेः अधिकसम्भारः मखः प्रववृते। यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षका आसन्।

विधेरिति। ततो विधेः शास्त्रादधिकसम्भारोऽतिरिच्यमानपरिकरो मखः प्रव-

वृत्ते प्रवृत्त.। यत्र मखे विहन्यन्त एभिरिति विघ्नाः प्रत्यूहा.। "घञर्थे कविधानम्" इति कः। क्रियाविघ्ना अनुष्ठानविघातका राक्षसा एव रक्षिणो रक्षका आसन्।

भावार्थ—इस प्रकार वह यज्ञ आरम्भ हुआ जिसमे आवश्यकता से अधिक तो सामग्री इकट्ठी हुई थी और विशेषता यह थी कि यज्ञ क्रिया मे विघ्न करने वाले राक्षस ही उसकी रखवाली कर रहे थे ॥ ६२ ॥

अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥ ६३ ॥

अन्वय—अथ मैथिलेयौ कुशलवौ गुरुचोदितौ प्राचेतसोपज्ञ रामायणं इतस्तत. जगतुः।

अथेति। अथ मैथिलेयौ मैथिलीतनयौ। "स्त्रीभ्यो ढक्"। कुशलवौ गुरुणा वाल्मीकिना चोदितौ प्रेरितौ सन्तौ। प्राचेतसो वाल्मीकि.। उपज्ञायत इत्युपज्ञा। "आतश्चोपर्गे" इति कर्मण्यङ्प्रत्ययः। प्राचेतसस्योपज्ञा प्राचेतसोपज्ञम्। प्राचेतसनादौ ज्ञातमित्यर्थः। 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्' इत्यमरः। "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इति नपुंसकत्वम्। अय्यते ज्ञायतेऽनेनेत्ययनं रामस्यायनं चरितं रामायण रामायणाख्यं काव्यम्। "पूर्वपदात्संज्ञायामग." इति णत्वम्। उत्तरायणमितिवत्। इतस्ततो जगतु.। गायतेर्लिट्।

भावार्थ—इसके बाद वाल्मीकि मुनि की आज्ञा से मिथिलेश कुमारी सीता के पुत्र लव और कुश वाल्मीकि की प्रथम रचना रामायण को गाते हुए इधर-उधर घूमने लगे ॥ ६३ ॥

वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—रामस्य वृत्तं वाल्मीकेः कृतिः तौ किन्नरस्वनौ तत् किं येन (तौ) शृण्वता मनः हर्तुम् अलं न स्याताम्।

वृत्तमिति। रामस्य वृत्त वर्ण्यं वस्त्विति शेष.। वाल्मीकेः कृतिः काव्यं गेयमिति शेषः। तौ कुशलवौ किन्नरस्वनौ किन्नरकण्ठौ गायकौ पुनरिति शेषः। अत एव तत्किं येन निमित्तेन तौ शृण्वतां मनो हर्तुमलं शक्तौ न स्याताम्। सर्वं सरसमित्यर्थः।

भावार्थ—एक तो राम का पवित्र चरित्र, उस पर वाल्मीकि जी उसके रचयिता और फिर किन्नरों के समान मधुर कण्ठ वाले बालक लव एवं कुश उसके

गायक तव उसमें रह ही क्या जाता था ? जिसे सुनकर लोग लट्टू न हो जायँ। अर्थात् उसके मधुर गान को सुनकर लोग मुग्ध हो गये ॥ ६४ ॥

रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम्।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तज्ज्ञैः निवेदितं तयोः रूपे गीते च माधुर्यं सानुजः रामः कुतूहली (सन्) ददर्श शुश्राव च।

रूप इति। ते जानन्तीति तज्ज्ञाः तैस्तज्ज्ञैरभिज्ञैर्निवेदितं तयोः कुशलवयो रूपे आकारे गीते च माधुर्यं रामणीयकं सानुजो रामः कुतूहली सानन्द सन् यथासंख्यं ददर्श शुश्राव च।

भावार्थ—यह बात राम के कानों तक पहुँची, उन्होंने बालकों को अपने पास बुला भेजा और अपने भाइयों के साथ उन दोनों बालकों के रूप और गीत की मधुरता को आश्चर्य के साथ देखा और सुना ॥ ६५ ॥

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥ ६६ ॥

अन्वयः—तद्गीतश्रवणैकाग्रा अश्रुमुखी संसद् प्रातः हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वनस्थली इव बभौ।

तदिति। तयोर्गीतश्रवण एकाग्रसक्ताऽश्रुमुखी आनन्दादिति भावः। संसत्सभा प्रातर्हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वातरहिता वनस्थलीव बभौ शुशुभे। आनन्दपारवश्यान्निष्पन्दमास्त इत्यर्थः।

भावार्थ—सारी सभा मौन होकर उनका गीत सुनती जा रही थी और सीता के स्मरण से आँखों से आँसू बहाती जा रही थी। उस समय वह सभा प्रातःकाल की उस वनस्थली के समान दिखाई देने लगी, जिसमें वृक्षों से टप-टप ओस की बूँदें गिर रही हों ॥ ६६ ॥

वयोवेषविसम्वादि रामस्य च तयोस्तदा।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥ ६७ ॥

अन्वयः—जनता वयोवेषविसंवादी तदा तयोः रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत।

वय इति। जनता जनानां समूहः। "ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्" इति। तल्प्रत्ययः। वयोवेषाभ्यामेव विसम्वादि विलक्षणं तदा तयोः कुशलवयो रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य नास्त्यक्षिकम्पो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। नञर्थस्य नशब्दस्य

बहुव्रीहिः । व्यतिष्ठतातिष्ठत् । "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम् । विस्मयादनिमिषमद्राक्षीदित्यर्थः ।

भावार्थ—जनता उस समय राम और उन दोनों बालकों का एकदम मिलता हुआ रूप एकटक होकर देखती रह गई जिनमें अन्तर इतना ही था कि वे दोनों अभी कुमार थे तथा वनवासियों के वस्त्र पहने हुए थे और राम प्रौढ़ थे तथा राजसी कपड़े पहने हुए थे ॥ ६७ ॥

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिस्मिये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥ ६८ ॥

अन्वयः—लोकः उभयोः प्रावीण्येन तथा न विसिस्मिये, यथा नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया (विसिस्मिये) ।

उभयोरिति । लोको जन उभयोः कुमारयोः प्रावीण्येन नैपुण्येन तथा न विसिस्मिये न विस्मितवान्यथा नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया नैःस्पृह्येण विसिस्मिये ।

भावार्थ—जनता को इनके गाने का कौशल देखकर उतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना इस बात पर हुआ कि राम ने प्रेम से उन्हें जो दान दिया वह उन्होंने लौटा दिया ॥ ६८ ॥

गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—गेये कः नु वां विनेता इयं च कस्य कवेः कृतिः इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिम् अशंसताम् ।

गेय इति । गेये गाने को नु वां युवयोर्विनेता शिक्षकः । नुशब्दः प्रश्ने । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । इयं च कस्य कवेः कृतिरिति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ कुशलवौ वाल्मीकिमशंसतामुक्तवन्तौ । विनेतारं कविं चेत्यर्थः 'गेये केन विनीतौ वाम्' इति पाठे वामिति युष्मदर्थप्रतिपादकमव्ययं द्रष्टव्यम् । तथा चायमर्थः— केन पुंसा वां युवां गेये गीतविषये विनीतौ शिक्षितौ । कर्मणि निष्ठाप्रत्ययः ।

भावार्थ—जब राम ने उनसे पूछा कि आप लोगों को किसने संगीत सिखाया है ? और यह किस कवि की रचना है ? तब उन्होंने वाल्मीकि मुनि को बता दिया ॥ ६९ ॥

अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥

अन्वयः—सावरजः रामः प्राचेतसम् उपेयिवान् देहम् ऊरीकृत्य आत्मनः राज्यम् अस्मै न्यवेदयत् ।

अथेति । अथ सावरजो रामः प्राचेतसं वाल्मीकिमुपेयिवान्प्राप्तः सन् देहमात्मानम् ऊरीकृत्य आत्मानं स्थापयित्वेत्यर्थः । राज्यमस्मै प्राचेतसाय न्यवेदयत्समर्पितवान् ।

भावार्थ—इसके बाद अपने छोटे भाइयों के साथ राम ने वाल्मीकि मुनि के पास जाकर अपने को छोड़कर शेष सम्पूर्ण राज्य उनको समर्पित कर दिया ॥ ७० ॥

स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कारुणिकः स कविः रामाय तौ मैथिलेयौ तदात्मजौ आख्याय सीतायाः सम्परिग्रहम् वव्रे ।

स इति । करुणा प्रयोजनमस्य कारुणिको दयालुः । "प्रयोजनम्" इति ठञ् । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । स कवी रामाय तौ मैथिलेयौ तदात्मजौ रामसुतावाख्याय सीतायाः सम्परिग्रहं स्वीकारं वव्रे ययाचे ।

भावार्थ—दयालु आदिकवि वाल्मीकि मुनि ने रामचन्द्रजी से कहा कि ये दोनों कुमार सीताजी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और आपके पुत्र हैं अब आपको चाहिए कि सीताको स्वीकार कर लें ॥ ७१ ॥

तात ! शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—हे तात ! ते स्नुषा नः समक्षं जातवेदसि शुद्धा (किन्तु) राक्षसः दौरात्म्यात् अत्रत्यः प्रजाः तां न श्रद्दधुः ।

तातेति । हे तात ! ते स्नुषा सीता नोऽस्माकमक्ष्णोः समीपं समक्षम् । "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्तष्टच् । जातवेदसि वह्नौ शुद्धा, नास्माकमविश्वास इत्यर्थः । किन्तु रक्षसो रावणस्य दौरात्म्यादत्रत्याः प्रजास्तां न श्रद्दधुर्न विशश्वसुः ।

भावार्थ—रामजी ने कहा कि हे तात ! आपकी पुत्रवधू हमारे सामने अग्नि में शुद्ध हो चुकी है इसलिए हमें इस पर अविश्वास नहीं है; परन्तु रावण की दुष्टता का विचार करके यहाँ की प्रजा को विश्वास नहीं होता ॥ ७२ ॥

ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥

अन्वयः—मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रत्याययतु ततः पुत्रवतीम् एनां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये।

ता इति। मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रजाः प्रत्याययतु विश्वासयतु। विश्वासस्य बुद्धिरूपत्वात्। "णौ गमिरबोधने" इति इणो गम्यादेशो नास्ति। ततोऽनन्तरं पुत्रवतीमेनां सीतां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये स्वीकरिष्ये।

भावार्थ—इसलिए सीता यदि अपने चरित्र की शुद्धता का प्रमाण देकर प्रजा को विश्वास दिलावें, तब मैं आपकी आज्ञा से पुत्रों के सहित उन्हें स्वीकार कर लूँगा॥ ७३॥

इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव॥ ७४॥

अन्वयः—राज्ञा इति प्रतिश्रुते मुनिः आश्रमात् जानकीं शिष्यैः स्वसिद्धिं नियमैः इव आनाययामास।

इतीति। राज्ञेति प्रतिश्रुते प्रतिज्ञाते सति मुनिराश्रमाज्जानकीं शिष्यैः प्रयोज्यैः स्वसिद्धिं स्वार्थसिद्धिं नियमैस्तपोभिरिव आनाययामास।

भावार्थ—राम की ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकि मुनि ने शिष्यों को भेजकर आश्रम से सीता जी को इस प्रकार बुलवाया, मानो वे नियमों के द्वारा अपनी सिद्धि बुला रहे हों॥ ७४॥

अन्येद्युरथ काकुत्स्थः सन्निपात्य पुरौकसः।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये॥ ७५॥

अन्वयः—अथ काकुत्स्थः अन्येद्युः प्रस्तुतप्रतिपत्तये पुरौकसः सन्निपात्य कविम् आह्वाययामास।

अन्येद्युरिति। अथ काकुत्स्थो रामः अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि प्रस्तुतप्रतिपत्तये प्रकृतकार्यानुसन्धानाय पुरौकसः पौरान् सन्निपात्य मेलयित्वा कविं वाल्मीकिमाह्वाययामासाकारयामास।

भावार्थ—इसके बाद राम ने दूसरे दिन इस उपस्थित कार्य के लिए पुरवासी प्रजाओं को इकट्ठा करके वाल्मीकि मुनि को बुलवाया॥ ७५॥

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः॥ ७६॥

अन्वयः—अथ स्वरसंस्कारवत्या ऋचा उदर्चिषं सूर्यम् इव सीतया (उदर्चिषं) रामम् असौ मुनिः उपस्थितः।

स्वरेति । अथ स्वर उदात्तादिः संस्कारः शब्दशुद्धिः । तद्वत्या ऋचा सावित्र्योदर्चिषं सूर्यमिव । पुत्राभ्यामुपलक्षितया सीतया करणेनोदर्चिषं राममसौ मुनिरुपस्थितः उपतस्थे ।

भावार्थ—वाल्मीकि मुनि लव-कुश और सीता को साथ लेकर राम के आगे उपस्थित हुए । पुत्रों के साथ राम के पास जाती हुई सीता जी ऐसी लग रही थी मानो स्वर और संस्कारों के साथ गायत्री तेजस्वी सूर्य के पास जा रही हो ॥ ७६ ॥

काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥

अन्वयः—काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा शान्तेन वपुषा एव सा शुद्धा इति (जनैः) अन्वमीयत ।

काषायेति । काषायेन रक्तं काषायम् । "तेन रक्तं रागात्" इत्यण् । तेन परिवीतेन संवृतेन स्वपदार्पितचक्षुषा शान्तेन प्रसन्नेन वपुषैव सा सीता शुद्धा साध्वीत्यन्वमीयतानुमिता ।

भावार्थ—गेरुवा वस्त्र पहने हुए और अपनी आँखें पैर पर डाले हुए सीता जी अपने शान्त शरीर से शुद्ध दिखाई देती थीं ॥ ७७ ॥

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः ।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—तस्याः आलोकपथात् प्रतिसंहृतचक्षुषः सर्वे जनाः फलिता शालय इव अवाङ्मुखाः तस्थुः ।

जना इति । तस्याः सीतायाः कर्मण आलोकपथाद्दर्शनमार्गात्प्रतिसंसृतचक्षुषो निवर्तितदृष्टयः सर्वे जनाः फलिताः शालय इव अवाङ्मुखा अवनतमुखास्तस्थुः ।

भावार्थ—सीता को देखते ही सभी लोगों ने उसी प्रकार अपना मुख नीचे कर लिया, जिस प्रकार फले हुए धान झुक जाते हैं; क्योंकि उन्हें लज्जा लगी कि हम लोगों ने व्यर्थ ही इस साध्वी सती पर कलंक लगाया ॥ ७८ ॥

तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
कुरु निःसंशयं वत्से ! स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—आस्थितविष्टरः मुनिः हे वत्से ! भर्तुः दृष्टिविषये स्ववृत्ते लोकं निःसंशयं कुरु इति ताम् अशात् ।

तामिति। आस्थितविष्टरोऽधिष्ठितासनो मुनिः हे वत्से! भर्तुर्दृष्टिविषये समक्षं स्ववृत्ते स्वचरिते विषये लोकं निःसंशयं कुरु इति तां सीतामशाच्छास्ति स्म।

भावार्थ—आसन पर बैठे हुए वाल्मीकि मुनि ने सीता जी से कहा कि बेटी! जनता के मन में तुम्हारे चरित्र के विषय में जो सन्देह है, वह तुम अपने पति के आगे मिटा दो ॥ ७९ ॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—वाल्मीकिशिष्येण आवर्जितं पुण्यं पयः आचम्य सीता सत्यां सरस्वतीम् उदीरयामास।

अथेति। अथ वाल्मीकिशिष्येणावर्जितं दत्तं पुण्यं पूतं पयो जलमाचम्य सीता सत्यां सरस्वतीं वाचमुदीरयामासोच्चारयामास।

भावार्थ—इसके बाद वाल्मीकि मुनि के शिष्य के द्वारा दिये गये पवित्र जल से आचमन करके सीता जी ने यह सत्य वचन कहा ॥ ८० ॥

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

अन्वयः—वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ मे व्यभिचारः न यथा हे विश्वम्भरे देवि! माम् अन्तर्धातुम् अर्हसि।

वाङ्मन इति। वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ विषये मे व्यभिचारः स्खालित्यं न यथा नास्ति यदि तथा तर्हि विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा भूमिः। "संज्ञायां भृतृ०" इत्यादिना खच्प्रत्ययः। "अरुर्द्विषद०" इत्यादिना मुमागमः। हे विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुं गर्भे वासयितुमर्हसि।

भावार्थ—यदि मैंने मन, वचन और कर्म किसी प्रकार से भी अपना पातिव्रत्य भंग नहीं किया हो तो, हे माता विश्वम्भरे! तुम मुझे अपनी गोद में ले लो ॥८१॥

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

अन्वयः—साध्व्या तया एवम् उक्ते (सति) सद्यो भवात् भुवः रन्ध्रात् शातह्रदं ज्योतिः इव प्रभामण्डलं उद्ययौ।

एवमिति। साध्व्या पतिव्रतया तया सीतयैवमुक्ते सति सद्योभवाद् भुवो रन्ध्राच्छातह्रदं वैद्युतं ज्योतिरिव प्रभामण्डलमुद्ययौ।

भावार्थ—पतिव्रता सीता के ऐसा कहते ही पृथ्वी फट गई और उसमें से विजली के समान चमकीली एक ज्योति ऊपर निकली ॥ ८२ ॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥

अन्वयः—तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी समुद्ररशना साक्षात् वसुन्धरा प्रादुरासीत् ।

तत्रेति । तत्र प्रभामण्डले नागफणोत्क्षिप्ते सिंहासने निषेदुष्यासीना समुद्ररशना समुद्रमेखला साक्षात् । वसूनि धारयतीति वसुन्धरा भूमिः । "खचि ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । प्रादुरासीत् ।

भावार्थ—उसमें से नाग के फनों के ऊपर रखे हुए सिंहासन पर बैठी हुई समुद्र की करधनी पहने साक्षात् पृथ्वी माता प्रकट हो गयी ॥ ८३ ॥

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सा भर्तरि प्रणिहितेक्षणां सीताम् अङ्कम् आरोप्य तस्मिन् मा मा इति व्याहरति एव पातालम् अभ्यगात् ।

सेति । सा वसुन्धरा भर्तरि प्रणिहितेक्षणां दत्तदृष्टिं सीतामङ्कमारोप्य तस्मिन्भर्तरि रामे मा हरेति व्याहरति वदत्येव व्याहरन्तमनादृत्येत्यर्थः । "षष्ठी चानादरे" इति सप्तमी । पातालमभ्यगात् ।

भावार्थ—वह पृथ्वी माता उस सीताजी को अपनी गोद में लेकर पाताल में समा गई रामको एक टक से देख रही थीं और राम कहते ही रह गये कि हैं हैं यह क्या कर रही हो, यह क्या कर रही हो ॥ ८४ ॥

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—सीताप्रत्यर्पणैषिणः धन्विनः तस्य धरायां संरम्भं विधिबलापेक्षी गुरुः शमयामास ।

धरायामिति । सीताप्रत्यर्पणमिच्छतीति तथोक्तस्य धन्विन आत्तधनुस्तस्य रामस्य धरायां विषये संरम्भं विधिबलापेक्षी दैवशक्तिदर्शी गुरुर्ब्रह्मा शमयामास । अवश्यम्भावी विधिरिति भावः ।

भावार्थ—राम को पृथ्वी पर बड़ा क्रोध आया और पृथ्वी से सीता को लौटा लेने के लिए उन्होंने अपना धनुष उठाया किन्तु वसिष्ठ और वाल्मीकि ने

यह कह कर धनुर्धारी रामको शान्त किया कि विधि के विधान को कोई टाल नहीं सकता ॥ ८५ ॥

ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—रामः यज्ञान्ते पुरस्कृतान् ऋषीन् सुहृदः च विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययोः निदधे ।

ऋषीनिति । रामो यज्ञान्ते पुरस्कृतान्पूजितानृषीन्वाल्मीक्यादीन्सुहृदश्च विभीषणादीन् विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययो. कुशलवयोर्निदधे ।

भावार्थ—किसी प्रकार यज्ञ समाप्त हुआ, अन्त मे राम ने ऋषि और मित्रों को सत्कार करके विदा किया, अब वे पुत्रो से उतना ही प्रेम करने लगे जितना सीता से करते थे ॥ ८६ ॥

युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—भृतप्रज. सः युधाजित. सन्देशात् सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय भरताय ददौ ।

युधाजित इति । किं च भृतप्रजः सः रामो युधाजितो भरतमातुलस्य संदेशात्सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय दत्तैश्वर्याय । रामेणेति शेषः । भरताय ददौ ।

भावार्थ—प्रजापालक राम ने भरत के मामा युधाजित् के कहने पर सिन्धु का राज्य प्रभावशाली भरत को दे दिया ॥ ८७ ॥

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् ।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—तत्र भरतः युधि गन्धर्वान् निर्जित्य केवलम् आतोद्यं ग्राहयामास, आयुधं समत्याजयत् ।

भरत इति । तत्र सिन्धुदेशे भरतोऽपि युधि गन्धर्वान्निर्जित्य केवलमेकमातोद्यं वीणाम् । 'ततं वीणादिकं वाद्यमनद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम् ॥' इत्यमरः । ग्राहयामास । आयुधं समत्याजयत्त्याजितवान् । ग्राहित्यज्योर्ण्यन्तयोर्द्विकर्मकत्वं नित्यमित्यनुसन्धेयम् ।

भावार्थ—भरत ने गन्धर्वों को जीत कर उनके हाथ में केवल वीणा तो रहने दी किन्तु धनुष छुड़वा दिया ॥ ८८ ॥

स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ पुत्रौ तदाख्ययोः राजधान्योः अभिषिच्य पुनः रामान्तिकम् अगात् ।

स इति । स भरतः अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ नाम पुत्रौ तदाख्ययोः तक्षपुष्कलाख्ययोरित्यर्थः । पुष्कलं पुष्कलावत्यां तक्षं तक्षशिलायामिति राजधान्योर्नगर्योरभिषिच्य पुना रामान्तिकमगात् ।

भाषार्थ—भरत ने तक्षक और पुष्कल नामक अपने पुत्रों को उनके नाम से प्रसिद्ध तक्षशिला और पुष्कलावती नाम की दो राजधानियों को बनाया उनमें क्रमसे अभिषिक्त करके पुनः राम के पास लौट आये ॥ ८९ ॥

अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥

अन्वयः—लक्ष्मणः अपि रघुनाथस्य शासनात् अङ्गदं चित्रकेतुं च आत्मसम्भवौ कारापथेश्वरौ चक्रे ।

अङ्गदमिति । लक्ष्मणोऽपि रघुनाथस्य रामस्य शासनादङ्गदं चन्द्रकेतुं च तदाख्यावात्मसम्भवौ पुत्रौ कारापथो नाम देशः तस्येश्वरौ चक्रे ।

भाषार्थ—रामकी आज्ञा से लक्ष्मण ने अंगद और चित्रकेतु नाम के अपने पुत्रों को कारापथ का राजा बना दिया ॥ ९० ॥

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—इति आरोपितपुत्राः ते जनेश्वरा भर्तृलोकप्रपन्नानां जननीनां क्रमात् निवापान् विदधुः ।

इतीति । इत्यारोपितपुत्रास्ते जनेश्वरा रामादयो भर्तृलोकप्रपन्नानां स्वर्यातानां जननीनां क्रमान्निवापाञ्श्राद्धादीन्विदधुश्चक्रुः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः ।

भाषार्थ—इस प्रकार पुत्रों को राज्य देकर उन चारों ने अपनी स्वर्गीया माताओं के श्राद्ध आदि संस्कार किए ॥ ९१ ॥

उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
रहः संवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अथ कालः मुनिवेषः (सन्) उपेत्य राघवं प्रोवाच रहःसंवादिनौ आवां यः पश्येत् तं (त्वं) त्यजेः इति ।

उपेत्येति । अथ कालोऽन्तको मुनिवेशः सन्नुपेत्य राघवं प्रोवाच । किमित्याह—रहस्येकान्ते संवादिनौ सभाषिणावावां यः पश्येत् । रहस्यभङ्गं कुर्यादित्यर्थः । तं त्यजेरिति ।

भावार्थ—यह सब हो जाने पर एक दिन राम के पास मुनि का वेश बनाकर काल आया और बोला—मैं आपसे एकान्त में कुछ बातें करना चाहता हूँ हम लोगोंकी बातके बीच में जो भी कोई आ जाय उसे आप त्याग दीजिएगा ॥९२॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सः तथा इति प्रतिपन्नाय नृपाय विवृतात्मा (सन्) परमेष्ठिनः शासनात् दिवम् अध्यास्व (इति) आचख्यौ ।

तथेति । स कालस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतात्मा प्रकाशितनिजस्वरूपः सन् परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शासनाद्दिवमध्यास्वेत्याचख्यौ ।

भावार्थ—राम ने कहा 'अच्छी बात है' तब उसने अपना सच्चा रूप दिखाया और कहा कि ब्रह्मा जी की आज्ञा है कि अब आप चलकर वैकुण्ठ में रहें ॥९३॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् ।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—द्वाःस्थः लक्ष्मणः विद्वान् अपि रामसन्दर्शनार्थिनः दुर्वाससः शापात् भीतः (सन्) तयोः समयं अभिनत् ।

विद्वानिति । द्वाःस्थो द्वारि नियुक्तो लक्ष्मणो विद्वानपि पूर्वश्लोकोक्तं जानन्नपि रामसन्दर्शनार्थिनो दुर्वाससो मुनेः शापाद्भीतः सन् तयोः कालरामयोः समयं संवादमभिनत् बिभेद ।

भावार्थ—यह बात हो ही रही थी कि दुर्वासा ऋषि आ धमके उन्होंने द्वार पर बैठे हुए लक्ष्मण से कहा कि अभी जाकर राम से कहो 'मैं आया हूँ' नहीं तो तुम्हारे कुल को अभी शाप दे भस्म कर दूँगा । लक्ष्मण ने जानते हुए भी ऋषि के शाप से डरकर जाकर सूचना दे दी ॥ ९४ ॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—योगवित् स सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनः भ्रातुः प्रतिज्ञां वितथां चकार।

स इति। योगवियोगमार्गवेदी स लक्ष्मणः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनो भ्रातुः प्रतिज्ञामवितथां सत्यां चकार।

भावार्थ—वहाँ से लौटकर योगमार्ग के जानने वाले लक्ष्मण ने सरयू के किनारे जाकर योग बल से अपने शरीर को छोड़कर अपने बड़े भाई राम की प्रतिज्ञा की रक्षा कर ली॥ ९५॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव॥ ९६॥

अन्वयः—आत्मचतुर्भागे तस्मिन् प्राङ्नाकमधितस्थुषि राघवः भुवि त्रिपाद् धर्म इव शिथिलं तस्थौ।

तस्मिन्निति। चतुर्थो भागश्चतुर्भाग.। संख्याशब्दस्य वृत्तिविपये पूरणार्थत्वं शतांशवत्। आत्मचतुर्भगे तस्मिँल्लक्ष्मणे प्राङ्नाकमधितस्थुपि पूर्वं स्वर्गं जग्मुपि सति राघवो रामः भुवि त्रिपाद्धर्म इव शिथिलं तस्थौ। पादविकलो हि शिथिलं तिष्ठतीति भावः। त्रेतायां धर्मस्त्रिपादित्याहुः। पादश्चतुर्थांशः अंघ्रिश्च ध्वन्यते। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशः' इत्यमरः। त्रयः पादा यस्यासौ त्रिपात्। "संख्यासुपूर्वस्य" इत्यकारलोपः। समासान्तः।

भावार्थ—अपने चतुर्थांश लक्ष्मण के स्वर्ग चले जाने पर राम उसी प्रकार शिथिल पड़ गये जिस प्रकार पृथ्वी पर त्रेतायुग में तीन पैर वाला धर्म शिथिल पड़ जाता है॥ ९६॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम्॥ ९७॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः।
अन्वितः पतिवात्सल्याद् गृहवर्जमयोध्यया॥ ९८॥

अन्वयः—(स्थिरधीः) सः रिपुनागाङ्कुशं कुशं कुशावत्यां निवेश्य सूक्तैः सतां जनिताश्रुलवं लवं शरावत्यां निवेश्य।

अन्वयः—स्थिरधीः सानुजः अग्निपुरःसरः (सन्) पतिवात्सल्यात् गृहवर्जम् अयोध्यया अन्वित उदक् प्रतस्थे।

स इति। उदगिति च। युग्मम्। स्थिरधीः स रामः रिपव एव नागा गजास्तेपामङ्कुशं निवारकं कुशं कुशावत्यां पुर्यां निवेश्य स्थापयित्वा सूक्तैः

समीचीनवचनैः सता जनिता अश्रुलवा अश्रुलेशा। येन तं लवं लवाख्यं पुत्रम्। 'लवो लेशे विलासे च छेदने रामनन्दने' इति विश्वः। शरावत्यां पुर्याम्। "शरादीना च" इति शरकुशशब्दयोर्दीर्घः। निवेश्य सानुजोऽग्निपुरःसरः सन् पत्यौ भर्तरि वात्सल्यादनुरागात् गृहान्वर्जयित्वा गृहवर्जम्। "द्वितीयाया च" इति णमुल्। अयं क्वचिदपरीप्सायामपीष्यते। "अनुदात्त पदमेकवर्जम्" इत्येकाचः शेषतया व्याख्यातत्वात्। परीप्सा त्वरा। अयोध्ययाऽन्वितोनुगत उदक्प्रतस्थे।

भावार्थ—स्थिर बुद्धि वाले राम ने शत्रुरूपी हाथियों के लिए अंकुश के समान भय कारक कुश को कुशावती का राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनों से सज्जनों के नेत्रों में आँसू बहाने वाले लव को शरावती का राजा बनाया ॥९७॥

भावार्थ—फिर अग्निहोत्र की आग को आगे करके भाइयों के साथ राम उत्तरायण की ओर चले, जब अयोध्यावासियों ने सुना तब वे भी सब राम के प्रेम के वश अपने-अपने घरों को छोड़कर उनके साथ हो लिए ॥ ९८ ॥

जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥ ९९ ॥

अन्वय—चित्तज्ञाः हरिराक्षसाः कदम्बमुकुलस्थूलैः प्रजाश्रुभिः अभिवृष्टां तस्य पदवीं जगृहुः।

जगृहुरिति। चित्तज्ञा हरिराक्षसाः कदम्बमुकुलस्थूलैः प्रजाश्रुभिरभिवृष्टां तस्य रामस्य पदवीं मार्गं जगृहुः। तेऽप्यनुजग्मुरित्यर्थः।

भावार्थ—राम के मनकी बात जानने वाले वानर और राक्षस भी उनके पीछे चले। जिस मार्ग से राम चले जा रहे थे वह मार्ग राम के पीछे चलने वाली प्रजाओं के आँसुओं से गीला हो गया था ॥ ९९ ॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—उपस्थितविमानेन भक्तानुकम्पिना तेन अनुयायिना सरयूः त्रिदिवनिश्रेणिः चक्रे।

उपस्थितेति। उपस्थितं प्राप्तं विमानं यस्य तेन। भक्ताननुकम्पत इति भक्तानुकम्पिना तेन रामेणानुयायिनां सरयूस्त्रिदिवनिश्रेणिः स्वर्गाधिरोहिणी चक्रे। 'निश्रेणिस्त्वधिरोहिणी' इत्यमरः।

भावार्थ—भक्तवत्सल राम विमान पर चढ़कर स्वर्ग चले गये और सरयू को

उन्होंने अपने पीछे चलने वाले के लिए स्वर्ग की सीढ़ी बना दिया। अर्थात् जो सरयू में स्नान करता था वह तत्काल स्वर्ग चला जाता था ॥ १०० ॥

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्सम्मर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

अन्वयः—यत् तत्र मज्जतां सम्मर्दः गोप्रतरकल्पः अभूत् अतः तदाख्यया पावनं तीर्थं भुवि पप्रथे ।

यदिति । यद्यस्मात्तत्र सरय्वां मज्जतां सम्मर्दः गोप्रतरो गोप्रतरणं तत्कल्पोऽभूत् । अतस्तदाख्यया गोप्रतराख्यया पावनं शोधकं तीर्थं भुवि पप्रथे ।

भावार्थ—वहाँ स्नान कराने वालों की वैसी ही भीड़ हुई जैसी गौवों को पार कराते समय होती है। इसलिए उस पवित्र तीर्थ का नाम ही संसार में गोप्रतर प्रसिद्ध हो गया ॥ १०१ ॥

स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः—विभुः स विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरम् अकल्पयत् ।

स इति । विभुः प्रभुः स रामो विबुधानामंशेषु सुग्रीवादिषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु सत्सु त्रिदशीभूता देवभुवनं गता ये पौरास्तेषां नूतनसुराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ।

भावार्थ—देवताओं के अंशधारी भालू और वानरों ने भी अपना देवरूप धारण कर लिया। इसलिए उतने लोग स्वर्ग में पहुँच गये कि सामर्थ्यशाली राम को देवपद प्राप्त करनेवाले अयोध्यावासियों के रहने के लिए एक दूसरा स्वर्ग बनाना पड़ा ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

अन्वयः—विष्वक्सेनः एवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्यं निर्वर्त्य लङ्कानाथं पवनतनयं च उभयं कीर्तिस्तम्भद्वयम् इव दक्षिणे उत्तरे च गिरौ स्थापयित्वा सर्वलोकप्रतिष्ठां स्वतनुम् अविशत् ।

निर्वर्त्येति । विष्वक्सेनो विष्णुरेवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्यं निर्वर्त्य

निष्पाद्य लङ्कानाथं विभीषणं पवनतनयं हनूमन्तं चोभयं कीर्तिस्तम्भद्वयमिव दक्षिणे गिरौ चित्रकूटे चोत्तरे गिरौ हिमवति च स्थापयित्वा सर्वलोकप्रतिष्ठां सर्वलोकाश्रयभूतां स्वतनुं स्वमूर्तिमविशत् ।

भावार्थ—इस प्रकार भगवान् विष्णु ने रावण का वध करके देवताओं का कार्य पूरा किया और उत्तर गिरि हिमालय पर हनुमान् जी को और दक्षिण पर्वत त्रिकूट पर्वत पर विभीषण को अपने दो कीर्ति स्तम्भों के रूप में स्थापित करके समस्त संसार के आश्रयभूत अपने विराट् शरीर में लीन हो गये ॥१०३॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया
व्याख्यया समेतो महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥



षोडशः सर्गः

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गा मन्दाकिनी यन्मकरन्दबिन्दुः ।
तवारविन्दाक्ष ! पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पदं तत् ॥

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

अन्वय—अथ इतरे सप्त रघुप्रवीरा पुरोजन्मतया गुणैः च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं चक्रुः, हि सौभ्रात्रम् एषां कुलानुसारि (आसीत्) ।

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुरः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तया गुणैश्च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं तत्तच्छ्रेष्ठवस्तुभागिनं चक्रुः । तदुक्तम्—'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति । तथा हि सुभ्रातॄणां भावः सौभ्रात्रम् । "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इत्यनेन युवादित्वादण्प्रत्ययः । एषां कुशलवादीनां कुलानुसारि वंशानुगतं हि ।

भावार्थ—इसके बाद रघुवंशियों में श्रेष्ठ दूसरे लव, तक्ष, पुष्कल, सुबाहु, सुहृत, अङ्गद और चित्रकेतु इन सात वीरों ने अपने सर्वश्रेष्ठ भाई कुश को अपना प्रधान मानकर उत्तमोत्तम रत्न दिये, क्योंकि भ्रातृप्रेम तो उनके कुल का क्रमागत धर्म ही था ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

अन्वयः—सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैः अवन्ध्यैः कर्मभिः अभ्युच्छ्रिताः ते अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः।

त इति। सेतुर्जलबन्धः वार्ता कृपिगोरक्षणादिः। 'वार्ता कृष्याद्युदन्तयोः' इति विश्वः। गजबन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणं ते मुख्यं प्रधानं येषां तैरवन्ध्यैः सफलैः कर्मभिरभ्युच्छ्रिताः अतिसमर्था अपीत्यर्थः। ते कुशादयः प्रविभज्यन्त इति प्रविभागाः अन्योऽन्यदेशप्रविभागानां या सीमा तां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुर्नातिचक्रमुः। अत्र कामन्दकः-"कृपिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्। खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम्। अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत्।" इति।

भावार्थ—वे सभी नदी आदि में पुल बँधवाना कृषि गोरक्षा आदि करना और हाथियों को ग्रहण करना आदि कार्यों में बड़े कुशल थे, फिर भी जिस प्रकार समुद्र अपने तट का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार उनमें से किसी ने अपने राज्य का सीमा लाँघकर दूसरे भाई के राज्य की सीमा में प्रवेश करने का यत्न नहीं किया ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम्।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

अन्वयः—चतुर्भुजांशप्रभवः दानप्रवृत्तेः अनुपारतानां तेषां स सामयोनिः सुरद्विपानाम् इव अष्टधा भिन्नः विप्रससार।

चतुर्भुजेति। चतुर्भुजो विष्णुः तस्यांशा रामादयः ते प्रभवाः कारणानि यस्य स तथोक्तः। दानं त्यागो मदश्च। 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वः। प्रवृत्तिर्व्यापारः प्रवाहश्च दानप्रवृत्तेरनुपारतानां सुरद्विपानां दिग्गजानां वंश इव अष्टधा भिन्नः सन् विप्रससार विस्तृतोऽभूत। सामयोनिरित्यत्र पालकाप्य—"सूर्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय प्रजापतिः। हस्ताभ्यां परिगृह्याथ सप्त सामान्यगायत। गायतो ब्रह्मणस्तस्मात्समुत्पेतुर्मतङ्गजाः' इति।

भावार्थ—जिस प्रकार सामवेद के वंश में उत्पन्न मदोन्मत्त दिग्गजों का कुल आठ भागों में विभक्त हो गया था। उसी प्रकार विष्णु अंश से उत्पन्न राम का दानी कुल भी आठ भागों में बँट गया था ॥ ३ ॥

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथ अर्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धः कुशः प्रवासस्थकलत्रवेशां अदृष्टपूर्वां वनिताम् अपश्यत् ।

अथेति । अथ अर्धरात्रेऽर्धरात्र "अर्धं नपुंसकम्" इत्येकदेशसमासः । "अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति नियमात्पुंस्त्वम् । अर्धरात्रे निशीथे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धः न तु सुप्तः कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषां प्रोषितभर्तृकावेषाम् अदृष्टा पूर्वमित्यदृष्टपूर्वा ताम् । सुप्सुपेति समासः । वनितामपश्यत् ।

भावार्थ—एक दिन आधी रात के समय जब शयन गृह का दीपक टिमटिमा रहा था और सब लोग सोए हुए थे, तब कुश को एक स्त्री दिखाई दी, उसे उन्होंने कभी नहीं देखा था पर उसका वेश देखने से मालूम पड़ता था कि उसका पति परदेश चला गया है ॥ ४ ॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः ।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ ५ ॥

अन्वयः—साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः पुरुहूतभासः परेषां जेतुः बन्धुमतः तस्य पुरस्तात् स्थित्वा जयशब्दपूर्वं अञ्जलिं बबन्ध ।

सेति । सा वनिता साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः सज्जनसाधारणराज्यश्रियः पुरुहूतभासः इन्द्रतेजसः परेषां शत्रूणां जेतुर्बन्धुमतस्तस्य कुशस्य पुरस्तात्स्थित्वा जयशब्दपूर्वं यथा तथाञ्जलिं बबन्ध ।

भावार्थ—अपनी सम्पत्ति से सज्जन और साधारण व्यक्तियों का उपकार करने वाले इन्द्र के समान तेजस्वी और शत्रुओं को जीतने वाले कुश के आगे वह स्त्री जयशब्द का उच्चारण करती हुई हाथ जोड़कर खड़ी हो गई ॥ ५ ॥

अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ सविस्मयः पूर्वार्धविसृष्टतल्पः दाशरथेः तनूजः अनपोढार्गलं आदर्शतलं छायाम् इव प्रविष्टां तां प्रोवाच ।

अथेति । अथ सविस्मयः पूर्वार्धेन शरीरपूर्वभागेन विसृष्टतल्पस्त्यक्तशय्यो दाशरथेस्तनूजः कुशः अनपोढार्गलमनुद्घाटितविष्कम्भमपि । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । आगारम् आदर्शतलं छायामिव प्रविष्टां तां वनितां प्रोवाचावदत् ।

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब बैठ जाता है । इसी प्रकार

द्वार वन्द रहने पर भी वह स्त्री घर के अन्दर आ गई थी उसे देखकर राम के पुत्र कुश को वड़ा आश्चर्य हुआ और वे शय्या से आधे उठकर वोले ॥ ६ ॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
विभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ?
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—सावरणे अपि लब्धान्तरा (त्वम्) योगप्रभावः च ते न लक्ष्यते मृणालिनी हैमम् उपरागम् इव अनिर्वृतानाम् आकारं विभर्षि ।

अन्वयः—हे शुभे ! त्वं का ? कस्य वा परिग्रहः ? ते मदभ्यागमकारणं वा किम् ? वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः मत्वा आचक्ष्व ।

लब्धेति । का त्वमिति च । युग्मम् । सावरणेऽपि गेहे लब्धान्तरा लब्धावकाशा त्वमिति शेषः । योगप्रभावश्च ते न लक्ष्यते । मृणालिनी हैमं हिमकृतमुपरागमुपद्रवमिव अनिर्वृतानां दुःखितानामाकारं विभर्षि च । नहि योगिनां दुःखमस्तीति भावः । किंच हे शुभे ! त्वं का कस्य वा परिग्रहः पत्नी ते तव मदभ्यागमे कारणं वा किम् ? वशिनां जितेन्द्रियाणां रघूणां मनः परस्त्रीषु विषये विमुखा प्रवृत्तिर्यस्य तत्तथाभूतं मत्वाऽऽचक्ष्व ।

भावार्थ—तुम हमारे इस वन्द कमरे में घुस तो आई हो किन्तु तुम्हारे मुख से यह नहीं प्रगट हो रहा है कि तुम योगिनी हो क्योंकि तुम पाले से मारी हुई कमलिनी के समान उदास दिखाई दे रही हो अर्थात् योगियों को कभी दुःख नहीं होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे शुभे ! तुम कौन हो तुम्हारे पति का क्या नाम है, और मेरे पास किस लिए आई हो ? तुम यह समझकर मुँह खोलना कि रघुवंशियों का चित्त पराई स्त्री की ओर नहीं जाता ॥ ८ ॥

तमब्रवीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—सा तम् अब्रवीत्—अनवद्या या स्वपदोन्मुखेन गुरुणा नीतपौरा, हे राजन् मां सम्प्रति वीतनाथां तस्याः पुरः अधिदेवतां जानीहि ।

तमिति । सा वनिता तं कुशमब्रवीत् । अनवद्याऽदोषा या पूः स्वपदोन्मुखेन विष्णुपदोन्मुखेन गुरुणा त्वत्पित्रा नीतपौरा हे राजन् ! मां सम्प्रति वीतनाथामनाथां तस्याः पुरो नगर्या अयोध्याया अधिदेवतां जानीहि ।

भावार्थ—उस स्त्री ने उत्तर दिया—हे राजन् ! जब भगवान् राम वैकुण्ठ जाने लगे तब जिन निर्दोष अयोध्यावासियों को वे साथ-साथ लेते गये। उसी अयोध्या पुरी की मैं इस समय अनाथ अधिष्ठात्री देवी हूँ ॥ ९ ॥

वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सा अहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या वस्वौकसाराम् अभिभूय समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति करुणाम् अवस्था प्रपन्ना।

वस्वौकसारामिति। साऽहं सौराज्येन राजन्वत्तया हेतुना बद्धोत्सवया विभूत्या वस्वौकसाराऽलकापुरी। 'अलकापुरी वस्वौकसारा स्यात्' इति कोश.। अथवा मानसोत्तरशैलशिखरवर्त्तिनी शक्रनगरी। 'वस्वौकसारा शक्रस्य' इति विष्णुपुराणात्। तामभिभूय तिरस्कृत्य समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंशे सति करुणामवस्था दीना दशा प्रपन्ना प्राप्ता।

भावार्थ—पहले अच्छे राजा होने के कारण मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गई थी कि मेरे सामने कुबेर की अलकापुरी भी फीकी लगती थी। आजकल आप जैसे प्रतापी राजा के रहते हुए भी मेरी बहुत बुरी दशा हो गई है ॥ १० ॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—विशीर्णतल्पाट्टशत. पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे निवेशः अस्तनिमग्नसूर्यम् उग्रानिलभिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयति।

विशीर्णेति। तल्पान्यट्टालिकाः। 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः। अट्टानि गृहभेदाः। 'अट्टं भक्ते च शुष्के च क्षौमेऽत्यर्थं गृहान्तरे' इति विश्वः। विशीर्णानि तल्पानामट्टानां च शतानि यस्य स तथोक्तः। 'विशीर्णकल्पाट्टशतो निवेशः' इति च पाठः। अट्टाः क्षौमा 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः। ईषदसमाप्तं विशीर्णानि विशीर्णकल्पान्यट्टशतानि यस्य स तथोक्तः। पर्यस्तशालः स्रस्तप्राकारः। 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः। प्रभुणा स्वामिना विनैवभूतो मे निवेशो निवेशनम्। अस्तनिमग्नसूर्यमस्ताद्रिलीनार्कमुग्रानिलेन भिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयत्यनुकरोति।

भावार्थ—स्वामी राम के न रहने के कारण सैकड़ों अट्टालिकाओं के भग्न हो जाने से मेरी निवासभूमि अयोध्या नगरी ऐसी उदास लगती है जैसे सूर्यास्त के समय की वह सन्ध्या जिसमें वायु के वेग से बादल इधर उधर छितराये हुए दिखाई देते हों ॥ ११ ॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥ १२ ॥

अन्वयः—निशासु भास्वत्कलनूपुराणां अभिसारिकाणां यः सञ्चरः अभूत् नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स शिवाभिः राजपथः वाह्यते ।

निशास्विति । निशासु भास्वन्ति दीप्तिमन्ति कलान्यव्यक्तमधुराणि नूपुराणि यासां तासामभिसारिकाणाम् । 'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका' इत्यमरः । यो राजपथः सञ्चरत्यनेनेति सञ्चरः सञ्चारसाधनमभूत् । "गोचरसञ्चर-वहव्रजव्यजापणनिगमाश्च" इत्यनेन घप्रत्ययान्तो निपातः । नदत्सु मुखेषु या उल्कास्ताभिर्विचितामिषाभिरन्विष्टमांसाभिः शिवाभिः क्रोष्ट्रीभिः स राजपथो वाह्यते गम्यते । वहरन्यो वहिर्धातुरस्तीत्युपदेशः ।

भावार्थ—पहले रात के समय जिन सड़कों पर चमकते और मधुर ध्वनि करते हुए नूपुरवाली अभिसारिकाएँ चलती थीं पर आजकल वहाँ सियारिनें घूमती है जिनके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ निकलती हैं ॥ १२ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—यत् अम्भः प्रमदाकरैः आस्फालितं मृदङ्गधीरध्वनिम् अन्वगच्छत् तत् दीर्घिकाणां अम्भः इदानीं वन्यैः माहिषैः शृङ्गाहतं (सत्) क्रोशति ।

आस्फालितमिति । यदम्भः प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् जलक्रीडास्विति शेषः । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छदन्वकरोत् । तद्दीर्घिकाणामम्भ इदानीं वन्यैर्महिषैः कर्तृभिः शृङ्गैर्विषाणैराहतं सत्क्रोशति । न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरोतीत्यर्थः ।

भावार्थ—नगर की जिन बावलियों का जल पहले जल-क्रीडा करने वाली सुन्दरियों के हस्ताहत मृदङ्ग की ध्वनि का अनुकरण करता था वह आज कल जङ्गली भैंसों की सीगों के चोटों से कान फोड़े डालता है ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—यष्टिनिवासभङ्गात् वृक्षेशया मृदंगशब्दापगमात् अलास्याः एवोल्काहत शेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वं भेजे ।

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवासः स्थानं तस्य भङ्गात् वृक्षेशया । "अधि-

करणे वेतेः" इत्यच्प्रत्ययः। "शयवासवासिष्वकालात्" इत्यलुक्सप्तम्याः। मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्याः। दवोऽरण्यवह्निः। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः। तस्योल्काभिः स्फुलिङ्गैर्हतेभ्यः शेषाणि बर्हाणि येषां ते क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वं वनमयूरत्वं प्राप्ताः।

भावार्थ—पहले मोरों के बैठने के लिए स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे लकड़ियों के टुकड़े टँगे रहते थे किन्तु इस समय उनके टूट जाने से यहाँ के मोर अब वृक्षों पर जाकर बैठते हैं और मृदंग न बजने के कारण उन्होंने नाचना भी बन्द कर दिया है। अब वे मोर उन जङ्गली मोरों के समान लगते हैं जिनकी पूँछें वन की आग से जल गई हैं॥ १४॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे॥ १५॥

अन्वयः—येषु सोपानमार्गेषु रामाः सरागान् चरणान् निक्षिप्तवत्यः तेषु मे (मार्गेषु) सद्यो हतन्यङ्कुभिः व्याघ्रैः अस्रदिग्धं पदं निधीयते।

सोपानेति। किंच येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्यः सरागोऽलक्तकरसार्द्रांश्चरणान्निक्षिप्तवत्यः तेषु मम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरस्रदिग्धं रुधिरलिप्तं पदं निधीयते।

भावार्थ—और क्या कहूँ; पहले जिन सीढ़ियों पर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल-लाल पैर रखती चलती थीं उन्हीं पर अब तत्काल मृग मारने वाले बाघ अपने रक्तरञ्जित पैरों को रखकर चलते हैं॥ १५॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति॥ १६॥

अन्वयः—पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिः दत्तमृणालभङ्गाः चित्रद्विपाः नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः (सन्तः) संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति।

चित्रेति। पद्मवनमवतीर्णाः प्रविष्टाः तथालिखिता इत्यर्थः। करेणुभिः करिणीभिः चित्रगताभिरेव। 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः। दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विपा आलेख्यमानङ्गा नखा एवाङ्कुशाः तेषामाघातैर्विभिन्नकुम्भाः सन्तः संरब्धसिंहप्रहृतं। कुपितसिंहप्रहारं वहन्ति।

भावार्थ—जिन चित्रों में ऐसा दिखाया गया था कि हाथी कमल के ताल में उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड़ से मृणालखण्ड तोड़कर दे रही हैं उन

चित्रित हाथियों के मस्तकों को सिंहों ने हाथी का मस्तक समझ कर उनपर पञ्जा मारकर फाड़ दिया है ॥ १६ ॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ १७ ॥

अन्वयः—उत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां फणिभिर्विमुक्ता निर्मोकपट्टाः सङ्गात् स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति ।

स्तम्भेष्विति । उत्क्रान्तवर्णक्रमा वशीर्णवर्णविन्यासास्ताश्च धूसराश्च यास्तासां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां स्त्रीप्रतिकृतीनां दारुमयीणां फणिभिर्विमुक्ता निर्मोका कंचुका एव पट्टाः । 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । सङ्गात्सक्तत्वात्स्तनोत्तरीयाणि स्तनाच्छादनवस्त्राणि भवन्ति ।

भावार्थ—जिन बहुत से खम्भों में स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं आजकल जगह-जगह रङ्ग उड़ गये हैं उन खम्भों को चन्दन का वृक्ष समझकर जो साँप उनसे लिपटे हैं उनकी केंचुले छूटकर उन मूर्तियों से सट गई है और वे ऐसी लगती हैं मानों उन चित्रित स्त्रियों ने स्तन ढकने के लिए कोई कपड़ा डाल लिया हो ॥ १७ ॥

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कालान्तरश्यामसुधेषु इतस्ततः रूढतृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु नक्तं मुक्तागुणशुद्धयः अपि (ततः पूर्वं ये मूर्च्छन्ति स्म) त एव चन्द्रपादा न मूर्च्छन्ति ।

कालेति । कालान्तरेण कालभेदवशेन श्यामसुधेषु । मलिनचूर्णेष्वितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु गृहेषु नक्तं रात्रौ मुक्तागुणानां शुद्धिरिव शुद्धिः स्वाच्छ्यं येषां तादृशा अपि ततः पूर्वं ये मूर्च्छन्ति स्म त एव चन्द्रपादाश्चन्द्ररश्मयः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । न मूर्छन्ति न प्रतिफलन्तीत्यर्थः ।

भावार्थ—जिन भवनों पर कभी मोती की माला के समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी उनपर अब चाँदनी भी नहीं चमकती क्योंकि बहुत दिनों से मरम्मत न होने के कारण कोठे के चूने का रंग काला पड़ गया है और उनपर जहाँ तहाँ घास जम आई है ॥ १८ ॥

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ १९ ॥

अन्वयः—विलासिनीभिः सदयं शाखा आवर्ज्य यासां पुष्पाणि उपात्तानि ताः एव मदीयाः उद्यानलताः वन्यैः पुलिन्दैः इव वानरैः क्लिश्यन्ते ।

आवर्ज्येति । किंच विलासिनीभिः सदयं शाखा लतावयवानावर्ज्यानमय्य यासां लतानां पुष्पाण्युपात्तानि गृहीतानि ता मदीया उद्यानलता वन्यैः पुलिन्दैर्म्लेच्छविशेषैरिव वानरैः उभयैरपीत्यर्थः । क्लिश्यन्ते पीड्यन्ते । क्लिश्नातेः कर्मणि लट् । 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः ।

भावार्थ—पहले उद्यान की जिन लताओं को टूटने के भय से धीरे से झुकाकर सुन्दरी स्त्रियाँ फूल उतारा करती थीं उन मेरी प्यारी लताओं को जङ्गली कोलभीलों के समान उत्पाती बन्दर झकझोर डालते हैं ॥ १९ ॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥

अन्वयः—रात्रौ अनाविष्कृतदीपभासः दिवा अपि कान्तामुखश्रीवियुताः विच्छिन्नधूमप्रसराः गवाक्षाः कृमितन्तुजालैः तिरस्क्रियन्ते ।

रात्राविति । रात्रावनाविष्कृतदीपभासः अप्रकटीकृतदीपदीप्तयः दीपप्रभाशून्या इत्यर्थः । दिवापि दिवसेऽपि कान्तामुखानां श्रिया कान्त्या वियुता रहिता विच्छिन्नो नष्टो धूमप्रसरो येषां ते गवाक्षाः कृमितन्तुजालैर्लूतातन्तुवितानैस्तिरस्क्रियन्ते छाद्यन्ते ।

भावार्थ—आजकल अटारियों के झरोखों से न तो रातको दीपकों की किरणें निकलती हैं न दिन में सुन्दरियों का मुख दिखाई देता है और न कहीं से अगरु का धूँआँ ही निकलता है । अब वे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढँक गये हैं ॥२०॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ २१ ॥

अन्वयः—बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गम् अनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा दूये ।

बलिक्रियेति । 'बलिः पूजोपहारः स्यात्' इति शाश्वतः । बलिक्रियावर्जितानि सैकतानि येषां तानि स्नानीयानि स्नानसाधनानि चूर्णादीनि । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति करणेऽनीयर्प्रत्ययः । स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि रिक्तान्युपान्तेषु वानीरगृहाणि येषां तानि च दृष्ट्वा दूये परितप्ये ।

भावार्थ—मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि अब न तो सरयू के घाटों पर देवताओं की बलि दी जाती है और न स्त्रियों के स्नान करने से उसमें से अङ्ग-

राग आदि की गन्ध ही निकलती है। सरयू के तट पर बनी हुई बेंत की झोपड़ियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं ॥ २१ ॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—तत् इमां वसतिं विसृज्य कुलराजधानीं तां माम् अभ्युपैतुम् अर्हसि ते गुरुः तां कारणमानुषीं तनुं हित्वा परमात्ममूर्ति यथा ।

तदिति । तत्तस्मादिमां वसतिं कुशावतीं विसृज्य कुलराजधानीं राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी तामयोध्यां मामभ्युपैतुमर्हसि । कथमिव ? ते गुरुः पिता रामस्तां प्रसिद्धां कारणवशान्मानुषीं तनुं विष्णुमूर्तिमिव ।

भावार्थ—इसलिए जिस प्रकार आपके पिता राम ने राक्षसों को मारने के लिए मनुष्य का शरीर धारण किया था, उसे छोड़कर परमात्मा की मूर्ति को प्राप्त कर लिया; उसी प्रकार आप भी इस नई राजधानी कुशावती को छोड़कर अपनी कुल परम्परा की राजधानी में चलकर रहो ॥ २२ ॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ २३ ॥

अन्वयः—रघूणां प्राग्रहरः तस्याः प्रणयं प्रतीतः तथा इति प्रत्यग्रहीत्, पूः अपि अभिव्यक्तमुखप्रसादा (सती) शरीरबन्धेन तिरोबभूव ।

तथेति । रघूणां प्राग्रहरः श्रेष्ठः कुशस्तस्या पुरः प्रणयं याच्ञां प्रतीतो हृष्टः संस्तथेति प्रत्यग्रहीत्स्वीकृतवान् । पूः पुराधिदेवताऽप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा सती इष्टलाभादिति भावः । शरीरयोगेन करणेन तिरोबभूवान्तर्दधे । मानवं रूपं विहाय दैवं रूपमग्रहीदित्यर्थः ।

भावार्थ—कुश ने प्रसन्न होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा कि ऐसा ही करेंगे, यह सुनकर अयोध्या की अधिष्ठात्री देवता परम प्रसन्न होकर अन्तर्ध्यान हो गई ॥ २३ ॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्या साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥ २४ ॥

अन्वयः—नृपतिः तदद्भुतं रात्रिवृत्तं प्रातः संसदि द्विजेभ्यः शशंस । ते श्रुत्वा एवं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतम् अभ्यनन्दन् ।

तदिति । नृपतिः कुशस्तदद्भुतं रात्रिवृत्तान्तं प्रातः संसदि सभायां द्विजेभ्यः

शशंस। ते द्विजाः ध्रुवं नं कुश कुलराजधान्या- साक्षात्स्वयमेव पतित्वे विषये वृत-मभ्यनन्दन् पतित्वेन वृतोऽसीत्यपूजयन्। आशीर्भिरिति शेषः। अत्र गार्ग्यः—'दृष्ट्वा स्वप्नं शोभनं नैव सुप्यात्पश्चाद्दृष्टो यः स पाकं विधत्ते। शंसेदिष्टं तत्र साधुर्द्विजेभ्यस्ते चाशीर्भिः प्रीणयेयुर्नरेन्द्रम्"। इदमपि स्वप्नतुल्यमिति भावः।

भावार्थ—राजा कुश ने रात की वह आश्चर्यमयी घटना प्रातःकाल सभा में ब्राह्मणों से कही। उन्होंने यह सुनकर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि आप धन्य हैं जिन्हें कुल राजधानी ने अपनी इच्छा से अपना पति चुना है ॥ २४ ॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

अन्वयः—स कुशावतीं श्रोत्रियसात् कृत्वा यात्रानुकूले अहनि सावरोधः (सन्) वायुः अभ्रवृन्दैः इव सैन्यैः अनुद्रुतः अयोध्याभिमुखः प्रतस्थे।

कुशावतीमिति। स कुशः कुशावतीं श्रोत्रियेषु छान्दसेष्वधीनां श्रोत्रियसात्। "तदधीनवचने" इति सातिप्रत्ययः। "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते" इति निपातः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः। कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः सान्तःपुरः सन् वायुरभ्रवृन्दैरिव सैन्यैरनुद्रुतोऽनुगतः सन्नयोध्याभिमुखः प्रतस्थे।

भावार्थ—कुश ने कुशावती वेदपाठी ब्राह्मणों को सौंप दी और जैसे वायु के पीछे-पीछे बादल चलते हैं वैसे ही पीछे चलने वाली सेना के साथ शुभ मुहूर्त में वे अयोध्या के लिए चल दिये ॥ २५ ॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी ॥ २६ ॥

अन्वयः—केतुमालोपवना बृहद्भिः नागैः विहारशैलानुगता इव रथोदारगृहा सा सेना तस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी इव अभवत्।

सेति। केतुमाला एवोपवनानि यस्याः सा बृहद्भिर्नागैर्गजैर्विहारशैलैः क्रीडा-शैलैरनुगतेव स्थिता रथा एवोदारगृहा यस्याः सा सेना तस्य कुशस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी सञ्चारिणी नगरीवाभवद् बभूव।

भावार्थ—यात्रा के समय चलती हुई कुशकी सेना चलती फिरती राजधानी के समान लगती थी क्योंकि उसका ध्वजाओं वाला भाग लतावाले उपवनों के समान लग रहा था बड़े-बड़े हाथी बनावटी क्रीड़ापर्वतों जैसे जान पड़ते थे और रथ ऊँची-ऊँची अटारियों के समान लग रहे थे ॥ २६ ॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥

अन्वयः—आतपत्रामलमण्डलेन तेन पूर्वनिवासभूमिं अयोध्यां प्रस्थापितः बलौघः उदितेन शशिना वेलां नीयमानः उदन्वान् इव बभौ ।

तेनेति । आतपत्रमेवामलं मण्डलं बिम्बं यस्य तेन कुशेन पूर्वनिवासभूमिमयोध्यां प्रति प्रस्थापितो बलौघः आतपत्रवदमलमण्डलेनोदितेन शशिना वेलां नीयमानः प्राप्यमाणः उदकमस्यास्तीत्युदन्वान् उदधिरिव बभौ । "उदन्वानुदधौ च" इति निपातनात्साधुः ।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होकर समुद्र को तट तक खींच लेता है उसी प्रकार श्वेत छत्रधारी कुश अपनी सेना को रघुकुल की पुरानी राजधानी अयोध्या की ओर ले चले ॥ २७ ॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रयातस्य तस्य वरूथिनीनां पीडां सोढुम् अपर्याप्तवती इव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदम् अध्यारुरोह ।

तस्येति । प्रयातस्य प्रस्थितस्य तस्य कुशस्य वरूथिनीनां सेनानां कर्त्रीणाम् । "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्तरि षष्ठी । पीडां सोढुमपर्याप्तवतीवाशक्तेव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदमाकाशमध्यारुरोहेव इत्युत्प्रेक्षा ।

भावार्थ—चलते समय कुश की सेना का भार पृथ्वी नहीं सँभाल सकी 'इस लिए उड़ती हुई धूल ऐसी जान पड़ती थी मानों पृथ्वी विष्णु के दूसरे पद (आकाश) में पहुँच गई है ॥ २८ ॥

उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥

अन्वयः—पश्चात् गमनाय पुरः निवेशे उद्यच्छमाना पथि च व्रजन्ती नृपस्य सा सेना यत्र ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ।

उद्यच्छमानेति । पश्चात्कुशावत्याः सकाशाद्गमनाय प्रयाणाय तथा पुरोऽग्रे निवशे निमित्ते निवेष्टुं चेत्यर्थः । उद्यच्छमानोद्योगं कुर्वती । 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे" इत्यस्य सकर्मकाधिकारत्वादात्मनेपदम् । पथि च व्रजन्ती नृपस्य कुशस्य सा सेना यत्र पश्चात्पुरो मध्ये या ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं कृत्स्नताबुद्धिं चकार । अपरिमिता तस्य सेनेत्यर्थः ।

भावार्थ—कुशावती से चलती हुई या आगे के पड़ाव पर पहुँची हुई या मार्ग में चलनेवाली जितनी भी कुशकी सेनाकी टुकड़ियाँ थीं वे सब पूरी सेना ही प्रतीत होती थीं ॥ २९ ॥

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ ३० ॥

अन्वयः—नेतुः तस्य द्विपानां मदवारिसेकात् तुरङ्गमाणां खुराभिघातात् च पथि रेणुः पङ्कभावं प्रपेदे पङ्कोऽपि रेणुत्वं इयाय ।

तस्येति । नेतुस्तस्य कुशस्य द्विपानां मदवारिभिः सेकात्तुरङ्गमाणां खुराभिघाताच्च यथासंख्यं पथि रेणू रजः पङ्कभावं पङ्कतां प्रपेदे पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय तस्य तावदस्तीत्यर्थः ।

भावार्थ—नायक कुशके हाथियों के मदजलसे मार्ग की धूल कीचड़ बन गई और कीचड़ भी घोड़ों की टापसे धूल बन गई ॥ ३० ॥

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥

अन्वयः—वैन्ध्येषु कटकान्तरेषु मार्गैषिणी (अत एव) बहुधा विभिन्ना महाविरावा सा सेना रेवा इव गुहामुखानि बद्धप्रतिश्रुन्ति चकार ।

मार्गेति । वैन्ध्येषु विन्ध्यसम्बन्धि कटकान्तरेषु नितम्बावकाशेषु । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । मार्गावलोकिनी अत एव बहुधा विभिन्ना महाविरावा दीर्घशब्दा सा सेना रेवेव नर्मदेव । 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । गुहामुखानि बद्धप्रतिश्रुन्ति प्रतिध्वानवन्ति चकाराकरोत् ।

भावार्थ—मार्ग भूल जाने के कारण वह सेना विन्ध्याचल के आस-पास मार्ग ढूंढ़ने लगी और कई मार्गों में विभक्त हो गई । उस सेना ने नर्मदा के समान जो गम्भीर गर्जन किया उससे पर्वत की गुफायें गूंज उठीं ॥ ३१ ॥

स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥

अन्वयः—धातुभेदारुणयाननेमिः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः स प्रभुः पुलिन्दैः उपपादितानि उपायनानि पश्यन् विन्ध्यं अलङ्घयत् ।

स इति । धातूनां गैरिकादीनां भेदेनारुणा आरक्ता याननेमीरथचक्रधारा प्रयाणे ये ध्वनयः क्ष्वेडहेषादयः तन्मिश्राणि तूर्याणि यस्यैवंविधः स प्रभुः पुलिन्दैः किरातैरुपपादितानि समर्पितान्युपायनानि पश्यन् विन्ध्यं व्यलङ्घयत् ।

भावार्थ—पर्वत की गैरिकादि धातुओं से जिसके रथ के पहिये लाल हो गये हैं और जिसकी चलती हुई सेना के शब्द से तुरही के शब्द भी दब गये हैं वे कुश विन्ध्याचल निवासी जनों के हाथ से पाई हुई भेंट की सामग्रियों को देखते हुए विन्ध्यपर्वत को लाँघ गये ॥ ३२ ॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—तदीये तीर्थे गजसेतुबन्धात् प्रतीपगां गङ्गाम् उत्तरतः अस्य नभोलङ्घनलोलपक्षाः हंसा अयत्नबालव्यजनीबभूवुः ।

तीर्थ इति । तदीये वैन्ध्ये तीर्थेऽवतारे गजा एव सेतुस्तस्य बन्धाद्धेतोः प्रतीपगां पश्चिमवाहिनीं गंगामुत्तरतोऽस्य कुलस्य नभोलङ्घनेन लोलपक्षा हंसा अयत्नेन बालव्यजनीबभूवुश्चामराण्यभूवन् । अभूततद्भावे च्विः ।

भावार्थ—विन्ध्य के तट पर उलटी पश्चिम की ओर बहने वाली गङ्गा के उत्तर भाग में हाथियों का पुल बनाकर वे पार उतरने लगे उस समय आकाश में जो चंचल पङ्ख वाले हंस उड़ते थे वे कुशपर डुलते हुए चंवर के समान लग रहे थे ॥ ३३ ॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—स कपिलेन रोषात् भस्मावशेषीकृतविग्रहाणां पूर्वजानां सुरालयप्राप्तिनिमित्तं नौलुलितं त्रैस्रोतसं अम्भो ववन्दे ।

स इति । स कुशः कपिलेन मुनिना रोषाद्भस्मावशेषीकृता विग्रहा देहा येषां तेषां पूर्वजानां वृद्धानां सगराणां सुरालयस्य स्वर्गस्य प्राप्तौ निमित्तं नौभिर्लुलितं क्षुभितं तिस्रोतस इदं त्रैस्रोतसं गाङ्गमम्भो ववन्दे ।

भावार्थ—कुश ने नावों के चलने से चंचल जलवाली गंगाजी को प्रणाम किया क्योंकि कपिल के कोप से जले हुए उनके पूर्वज सगर के पुत्र उसी जल की कृपा से स्वर्ग पहुँचे थे ॥ ३४ ॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—कैश्चित् अहोभिः अध्वनः अन्ते कुशः सरय्वाः कूलं समासाद्य वितताध्वराणां रघूणां वेदिप्रतिष्ठान् शतशः यूपान् अपश्यत् ।

इतीति। इति कैश्चिदहोभिरध्वनोऽन्तेऽवसाने कुशः सरय्वाः कूलं समासाद्य वितताध्वराणां विस्तृतमखानां रघूणां वेदिं प्रतिष्ठास्पदं येषां तान् यूपाञ्छतशोऽपश्यत्।

भावार्थ—इस प्रकार कुछ दिन में मार्ग बिताकर कुश सरयू के किनारे पहुँचे वहाँ उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले रघुवंशी राजाओं के गाड़े हुए सैकड़ों यज्ञ के खंभे दिखाई दिये ॥ ३५ ॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान्।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कुलराजधान्याः उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखाः आधूय शीतान् सरयूतरंगान् स्पृष्ट्वा क्लान्तसैन्यं तं प्रत्युज्जगाम।

आधूयेति। कुलराजधान्याः उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखा आधूयेषद्धूत्वा सुरभिर्मन्दश्चेत्यर्थः। शीतान्सरयूतरङ्गांश्च स्पृष्ट्वा अनेन शैत्योक्तिः। क्लान्तसैन्यं तं कुशं प्रत्युज्जगाम।

भावार्थ—वंशपरम्परागत राजधानी अयोध्या के उपवन की वायु ने फूले हुए वृक्षों की डालियों को थोड़ा हिलाकर और सरयू के शीतल तरंगों का स्पर्श करके सेना के साथ थके हुए कुश का स्वागत किया अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध वायु ने क्लान्त कुश के श्रम को दूर किया ॥ ३६ ॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अथ रिपुमग्नशल्यः पौरसखः कुलध्वजः बली स राजा चलध्वजानि तानि बलानि तस्याः पुरः उपशल्ये निवेशयामास।

अथेति। अथ रिपुषु मग्नं शल्यं शङ्कुः शरो वा यस्य सः। 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः। पौराणां सखा पौरसखः। "राजाहः सखिभ्यष्टच्" इत्यनेन टच्प्रत्ययः। कुलस्य ध्वजश्चिह्नभूतो बली स राजा चलाश्चलन्तो वा ध्वजा येषां तानि तानि बलानि सैन्यानि तस्याः पुरः पुर्या उपशल्ये 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः। निवेशयामास।

भावार्थ—शत्रुसंहारक प्रजाहितैषी कुलको उन्नतिशील बनानेवाले और बलिष्ठ राजा कुश ने फहराती हुई ध्वजावाली अपनी सेना को नगर के आस-पास के स्थानों में ठहरा दिया ॥ ३७ ॥

तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपो विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिसंघाः सम्भृतसाधनत्वात् तां तथागतां पुरं मेघाः अपां विसर्गात् निदाघग्लपितां उर्वीमिव नवीचक्रुः।

तामिति। प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिनां तक्षादीनां सङ्घाः सम्भृतसाधनत्वान्मिलितोपकरणत्वात्तां तथागतां शून्यामित्यर्थः। पुरमयोध्यां मेघा अपां विसर्गाज्जलसेकात् निदाघग्लपितां ग्रीष्मतप्तामुर्वीमिव नवीचक्रुः परिपूर्याश्चक्रुः।

भावार्थ—जिस प्रकार इन्द्र की आज्ञा से मेघ पानी बरसाकर गर्मी से तपी पृथ्वी को हरी-भरी कर देते हैं उसी प्रकार कुश की आज्ञा से कारीगरों ने अपने यन्त्रों की सहायता से अयोध्या का कायापलट कर दिया ॥३८॥

तत: सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—ततः रघुप्रवीरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः पुरः उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिः सपशूपहारां सपर्याम् निर्वर्तयामास।

तत इति। ततो रघुप्रवीरः कुशः प्रतिमा देवताप्रतिकृतयः अर्च्या इत्यर्थः। परार्ध्यप्रतिमागृहायाः प्रशस्तदेवतायतनायाः पुर उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिः प्रयोज्यैः पशूपहारैः सहितां सपशूपहारां सपर्यां पूजां निर्वर्तयामास कारयामास। अत्र ण्यन्ताण्णिच्पुनरित्यनुसन्धेयम्। अन्यथा वृतेरकर्मकस्य करोत्यर्थत्वे कारयत्यर्थाभावप्रसङ्गात् भवितव्यं वृतेरण्यन्तकर्त्रा प्रयोज्यत्वेन तन्निर्देशात्प्रयोगान्तरस्यापेक्षितत्वात्।

भावार्थ—इसके बाद व्रत एवं उपवास करने वाले वास्तुविद्या के विद्वानों के द्वारा रघुश्रेष्ठ कुश ने बहुमूल्य मुनियों से परिपूर्ण घरोंवाली अयोध्यानगरी का विधिपूर्वक पूजन कराया और पशुओं का बलिदान भी कराया ॥ ३९ ॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—सः तस्याः राजोपपदं निशान्तं कामी कान्ताहृदयम् इव प्रविश्य अन्यैः अनुजीविलोकं यथाप्रधानं सम्भावयामास।

तस्या इति। स कुशस्तस्याः पुरः सम्बन्धि राजोपपदं राजशब्दपूर्वं निशान्तं राजभवनमित्यर्थः। 'निशान्तं भवनोषसोः' इति विश्वः। कामी कान्ताहृदयमिव प्रविश्य अन्यैर्निशान्तैरनुजीविलोकममात्यादिकं यथाप्रधानं मान्यानुसारेण यथार्हं यथोचितं तत्तदुचितगृहैरित्यर्थः। सम्भावयामास सम्भावितवान्।

भावार्थ—जिस प्रकार कामी पुरुष कामिनी स्त्री के हृदय में बैठ जाता है उसी

प्रकार कुश भी अयोध्या के राजभवन मे प्रविष्ट हो गये और उन्होंने अपने मन्त्रियो आदि के रहने के लिए यथायोग्य दूसरे बहुत से भवन दे दिये ॥ ४० ॥

सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूराबभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ ४१ ॥

अन्वयः—विपणिस्थपण्या सा पूः मन्दुरासंश्रयिभिः तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैः नागैः च सर्वाङ्गनद्धाभरणा नारी इव आबभासे ।

सेति । विपणिस्थानि पण्यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि यस्या सा । 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः । सा पूरयोध्या मन्दुरासंश्रयिभिरश्वशालासंश्रयणशीलैः । 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः । "जिदृक्षि०" इत्यादिनेनिप्रत्ययः । तुरङ्गैरश्वैः शालासु गृहेषु ये विधिना स्थापिताः स्तम्भास्तान् गतैः प्राप्तैर्नागैश्च सर्वाङ्गेषु नद्धान्याभरणानि यस्या सा नारीव आबभासे ।

भावार्थ—अयोध्या के बाजारों में सुन्दर-सुन्दर वस्तुयें बिकने के लिए सजी हुई थी, घुडशालाओ मे घोड़े बँधे हुए थे, हथिसारों के खम्भो से हाथी बँधे हुए थे । इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगने लगी जैसे सारे शरीर मे आभूषण पहनी हुई कोई स्त्री हो ॥ ४१ ॥

वसन्स तस्या वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥

अन्वयः—स मैथिलेयः पुराणशोभाम् अधिरोपितायां तस्यां वसतौ वसन् दिवः भर्त्रे अलकेश्वराय अपि न स्पृहयाम्बभूव ।

वसन्निति । स मैथिलेयः कुशः पुराणशोभां पूर्वशोभामधिरोपितायां तस्यां रघूणां वसतावयोध्यायां वसन् दिवो भर्त्रे देवेन्द्राय तथालकेश्वराय कुबेरायापि न स्पृहयाम्बभूव तावपि न गणयामासेत्यर्थः।'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। एतेनायोध्याया अन्यनगरातिशायित्वं गम्यते ।

भावार्थ—अयोध्या पुनः पहले जैसी सुन्दर लगने लगी, उसमे निवास करके मिथिलेशकुमारी सीताजी के पुत्र कुश को ऐसा सुख मिला जिससे न तो उन्हें सुन्दर-सुन्दर अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गई और न असख्य रत्नों वाली अलकापुरी को लेने की ॥ ४२ ॥

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेशमिवोपदेष्टुम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथ अस्य रत्नग्रथितोत्तरीयम् एकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारं निःश्वासहार्यांशुकं प्रियावेषं उपदेष्टुम् इव धर्मः आजगाम।

अथेति। अथास्य कुशस्य रत्नैर्मुक्तामणिभिर्ग्रथितान्युत्तरीयाणि यस्मिंस्तम्। एकान्तमत्यन्तं पाण्ड्वोस्तयोर्लम्बिनो हारा यस्मिंस्तम्। निःश्वासहार्याण्यतिसूक्ष्माण्यंशुकानि यत्र तम्। एवं शीतलप्रायं प्रियाया वेषं नेपथ्यमुपदेष्टुमिव घर्मो ग्रीष्मः आजगाम।

भावार्थ—इतने में ग्रीष्म ऋतु आ गई जिसने मानो इन्हें अपनी उस प्रिया का स्मरण करा दिया जिसकी ओढ़नी में रत्न लगे हों, गोरे-गोरे स्तनों पर मोतियों के हार लटके हों और सांस से उड़ने वाले महीन कपड़े पहनी हुई हो ॥ ४३ ॥

अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपे दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अगस्त्यचिह्नात् अयनात् भास्वति सन्निवृत्ते उत्तरादिक् आनन्दशीतां बाष्पवृष्टिं हैमवतीं इव हिमस्रुतिं ससर्ज।

अगस्त्येति। अगस्त्यश्चिह्नं यस्य तस्मादयनान्मार्गाद्दक्षिणायनाद्भास्वति समीपं संनिवृत्ते सति उत्तरादिक् आनन्दशीतां बाष्पवृष्टिमिव हैमवतीं हिमवत्सम्बन्धिनीं हिमस्रुतिं हिमनिष्यन्दं ससर्ज। अत्र प्रोषितप्रियासमागमसमाधिर्गम्यते।

भावार्थ—गर्मी में जो हिम लगने लगा वह ऐसा लगता था मानो दक्षिण दिशा से सूर्य के लौट आने की प्रसन्नता में उत्तर दिशा ने आनन्द के ठण्डे आँसुओं के समान पानी की ठण्डी धार हिमालय से बहाई हो ॥ ४४ ॥

प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अतिमात्रं प्रवृद्धः दिवसः अत्यर्थम् एव तन्वी क्षणदा च इति उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ सानुशयौ जायापती इव आस्ताम्।

प्रवृद्धेति। अतिमात्रं प्रवृद्धतापो दिवसः, अत्यर्थमेवानल्पं तन्वी कृशा क्षणदा च इत्येतावुभौ विरोधक्रियया प्रणयकलहादिना विरोधाचरणेन विभिन्नौ सानुशयौ सानुतापौ जायापती दम्पती इव आस्ताम्। तयोरपि तापकार्श्यसम्भवात्तत्सदृशावभूतामित्यर्थः।

भावार्थ—अत्यन्त सन्ताप से भरे दिन और अत्यन्त छोटी रातें ये दोनों उन पछताते हुए पति-पत्नी के समान दिखाई देने लगे जो आपस में झगड़ा करके एक दूसरे से रूठ गए हों ॥ ४५ ॥

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दिने दिने शैवलवन्ति अधस्तात् सोपानपर्वाणि विमुञ्चत् अतएव उद्दण्डपद्म गृहदीर्घिकाणाम् अम्भोः नारीनितम्बद्वयस बभूव ।

दिने दिन इति । दिने दिने प्रतिदिन शैवलवन्त्यधस्ताद्यानि सोपानाना पर्वाणि भङ्गयस्तानि विमुञ्चत् अत एवोद्दण्डपद्म गृहदीर्घिकाणामम्भः नारीनितम्बः प्रमाणमस्य नारीनितम्बद्वयस बभूव । विहारयोग्यमभूदित्यर्थः । "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच" इति द्वयसच्प्रत्यय. ।

भावार्थ—गर्मी के कारण घर की बावलियाँ भी सेवार जमी हुई सीढ़ियों को छोड़कर प्रति दिन पीछे हटने लगी और उनमे कमल की दण्डिया दिखाई देने लगी एव पानी घट कर स्त्रियों के नितम्ब के बराबर रह गया । अर्थात् पानी सूख कर स्त्रियो के कमर तक ही गहरा रह गया ॥ ४६ ॥

वनेषु सायंतनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥

अन्वयः—वनेषु विजृम्भणोद्गन्धिषु सायंतनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्दं प्रत्येकनिक्षिप्तपदः भ्रमरः एषां सख्या चकार इव ।

वनेष्विति । वनेषु विजृम्भणेन विकासेनोद्गन्धिषून्कटसौरभेषु । 'गन्धस्य०' इत्यादिना समासान्त इकारादेश. । सायन्तनमल्लिकाना कुड्मलेषु सशब्दं यथा तथा प्रत्येकमेकैकस्मिन्निक्षिप्तपद. मकरन्दलोभादित्यर्थः । भ्रमर एषां कुड्मलाना संख्या गणना चकारेव ।

भावार्थ—वनो मे चमेली खिल गई और उनकी उत्कट सुगन्ध चारो ओर फैलने लगी, सन्ध्या के समय गुन-गुनाते हुए भौंरे उसकी एक-एक कलिका पर बैठ कर मानो फूलों की गिनती करने लगे ॥ ४७ ॥

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसन्दष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥

अन्वयः—स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के कामिनीना कपोले भूयिष्ठसन्दष्टशिखं (अत एव) कर्णात् च्युतम् अपि शिरीषपुष्प सहसा न पपात ।

स्वेदेति । स्वेदानुविद्धमार्द्र नखक्षतमङ्को यस्य तस्मिन्कामिनीना कपोले भूयिष्ठमत्यर्थं सन्दष्टशिख विश्लिष्टकेसरम् अतएव कर्णाच्च्युतमपि शिरीषपुष्प सहसा न पपात ।

भावार्थ—स्त्रियों के गालो पर प्रियतम के हाथो से हुए नख क्षतो पर पसीने

की बूँदें फैल जाती थीं और कान पर रखे हुए सिरस के फूलों का केशर उनसे सट जाता था इस लिए जब वे फूल कान से गिरते थे तो सहसा पृथ्वी पर नहीं गिर पाते थे ॥ ४८ ॥

यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—ऋद्धिमन्तः धारागृहेषु शिशिरैः यन्त्रप्रवाहैः परीतान् मलयोद्भवस्य रसेन धौतान् शिलाविशेषान् अधिशय्य आतपं निन्युः ।

यन्त्रेति । ऋद्धिमन्तो धनिका धारागृहेषु यन्त्रधारागृहेषु शिशिरैर्यन्त्रप्रवाहैर्यन्त्रसञ्चारितसलिलपूरैः परीतान्व्याप्तान्मलयोद्भवस्य रसेन चन्दनोदकेन धौतान्क्षालिताञ्छिलाविशेषान्मणिमयासनान्यधिशय्य तेषु शयित्वाऽऽतपं निन्युरातपपरिहारं चक्रुः ।

भावार्थ—धनी लोग धारागृह में गर्मी में ठण्ढी रहने वाली उन विशेष प्रकार की शिलाओं पर सोकर दुपहरी बिताते थे, जो चन्दन से धुली होती थी और जिनके चारों ओर जलधारायें छूटती रहती थीं ॥ ४९ ॥

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—वसन्तात्ययमन्दवीर्यः कामः स्नानार्द्रमुक्तेषु धूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे ।

स्नानेति । वसन्तस्यात्मसहकारिणोऽत्ययेनातिक्रमेणमन्दवीर्योऽतिदुर्बलः कामः स्नानार्द्राश्च ते मुक्ताश्च धूपसञ्चारणार्थमित्यर्थः । तेषु अनुधूपवासानन्तरं विन्यस्ताः सायन्तनमल्लिका येषु तेषु अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे । तैरुद्दीपित इत्यर्थः ।

भावार्थ—वसन्त बीत जाने के कारण जो कामदेव मन्द पड़ गया था वह स्त्रियों के उन केशों में जाकर बस गया जो स्नान करने पर खोल दिए जाते थे और जिनमें धूप से सुगन्धित करके शाम को फूलनेवाली चमेली के सुगन्धित फूल खोंस दिये जाते थे अर्थात् कामिनियों के केशों को देख कर कामोद्दीपन हुआ करता था ॥ ५० ॥

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बद्धरजःकणत्वात् आपिञ्जरा उदारा अर्जुनस्य मञ्जरी देहं दग्ध्वा अपि रोषात् गिरिशेन खण्डीकृता मनोभवस्य ज्या इव शुशुभे ।

आपिञ्जरेति । बद्धरजःकणत्वाद्व्याप्तरजःकणत्वादापिञ्जरोदारा द्राघीयस्य-

र्जुनस्य ककुभवृक्षस्य 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः। मञ्जरी दग्ध्वापि रोषादि-गरिशेन गिरिरस्त्यस्य निवासत्वेन स गिरिशस्तेन। लोमादित्वाच्छप्रत्ययः। गिरौ शेत इति विग्रहे तु "गिरौ शेतेडः" इत्यस्य छन्दसि विधानाल्लोके प्रयोगानुपपत्तिः स्यात्। तस्मात्पूर्वोक्तमेव विग्रहवाक्यं न्याय्यम्। खण्डकृता मनोभवस्य ज्या मौर्वीव शुशुभे।

भावार्थ—पराग से परिपूर्ण कुछ पीली-पीली अर्जुन की मञ्जरी ऐसी लगती थी मानो कामदेव का शरीर भस्म करने के बाद शिवजी के हाथ से तोड़ी हुई कामदेव के धनुष की डोरी हो॥ ५१॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः॥ ५२॥

अन्वयः—मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च सम्बध्नता निदाघावधिना कामिजनेषु सर्वे दोषाः प्रमृष्टाः।

मनोज्ञेति। मनोज्ञगन्धमिति सर्वत्र सम्बध्यते। सहकारभङ्गं चूतः पल्लवखण्डं पुराणं वासितं शेरतेऽनेनेति शीधुः पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषस्तम्। "शीङो धुक्" इत्युणादिसूत्रेण 'शीङ् स्वप्ने' इत्यस्माद्धातोर्धुक्प्रत्ययः। 'पक्वैरिक्षुरसैरस्त्री शीधुः पक्वरसः शिवः' इति यादवः। नवं पाटलायाः पुष्पं पाटलं च सम्बध्नता सङ्घट्टयता निदाघावधिना ग्रीष्मकालेन। 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः। कामिजनेषु विषये सर्वे दोषास्तापादयः प्रमृष्टाः परिहृताः।

भावार्थ—सुगन्धित आमकी मंजरी पुरानी सुवासित मदिरा और नये पाटल-पुष्पों को संचित करते हुए ग्रीष्म ऋतु ने कामी पुरुषों की सारी कमी पूरी कर दी॥ ५२॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च॥ ५३॥

अन्वयः—तस्मिन् समये विगाढे जनस्य द्वौ सविशेषकान्तौ बभूवतुः, तापापनोदक्षमपादसेवौ उदयस्थौ स च नृपतिः शशी च।

जनस्येति। तस्मिन्समये ग्रीष्मे विगाढे कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेषं सातिशयं यथा तथा कान्तौ बभूवतुः। कौ द्वौ तपापनोदे क्षमा योग्या पादयोरङ्घ्र्योः पादानां रश्मीनां च सेवा ययोस्तावुदयस्थावभ्युदयस्थौ स च नृपतिः शशी च।

भावार्थ—उस कठिन ग्रीष्म ऋतु के समय में उदित होकर प्रजाओं के दो ही बहुत प्यारे हुए। एक तो सेवा से प्रसन्न होकर निर्धनता आदि सन्तापों को दूर

करने वाले राजा कुश, दूसरे शीतल किरणों से गर्मी का ताप दूर करने वाले चन्द्रमा ॥ ५३ ॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ उर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे ग्रीष्मसुखे सरय्वाः अम्भसि तस्य वनितासखस्य विहर्तुम् इच्छा बभूव ।

अथेति । अथोर्मिषु लोलाः सतृष्णा उन्मदा राजहंसा यस्मिंस्तस्मिन् । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । रोधोलतापुष्पाणां । 'वह प्रापणे' पचाद्यच् । ग्रीष्मेषु सुखे सुखकरे सरय्वा अम्भसि पयसि तस्य कुशस्य वनितासखस्य वनिताभिः सहेत्यर्थः । विहर्तुमिच्छा बभूव ।

भावार्थ—इसके बाद एक दिन राजा कुश की इच्छा हुई कि लहरों के लहराने से चञ्चल एवं मतवाले बने हुए हंस वाले, तटवर्ती लताओं के पुष्पों को बहाने वाले, ग्रीष्म काल से सुखप्रद सरयू के जल में अपनी रानियों के साथ विहार करें ॥ ५४ ॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—चक्रधरप्रभावः स तीरभूमौ विहितोपकार्याम् आनायिभिः अपकृष्टनक्रां तां श्रीमहिमानुरूपां विगाहितुं प्रचक्रमे ।

स इति । चक्रधरप्रभावो विष्णुतेजाः स कुशस्तीरभूमौ विहितोपकार्या यस्यास्ताम् । आनायो जालमेषामस्तीत्यानायिनो जालिकाः । "जालमानायः" इति निपातः । 'आनायः पुंसि जालं स्यात्' इत्यमरः । तैरपकृष्टनक्रामपनीतग्राहां तां सरयूं श्रीमहिम्नोः सम्पत्प्रभावयोरनुरूपं योग्यं यथा तथा विगाहितुं प्रचक्रमे । अत्र कामन्दकः—"परितापिषु वासरेषु पश्यंस्तटलेखास्थितमाससैन्यचक्रम् । सुविशोधितनक्रमीनजालं व्यवगाहेत जलं सुहृत्समेतः" । इति ।

भावार्थ—यह निश्चय करके भगवान् विष्णु के समान प्रभावशाली कुश सरयू के जल में स्नान करने चले । सरयू के तट पर सामियाना-तम्बू आदि तान दिये गये और मल्लाहों ने जाल डालकर ग्राह आदि जल-जन्तुओं को उसमें से निकाल डाला ॥ ५५ ॥

सा तीरसोपानपथावतारादन्योऽन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥

अन्वय.—सा सरित् तीरसोपानपथावतारात् अन्योऽन्यकेयूरविघट्टनीभिः सनूपुरक्षोभपदाभिः अङ्गनाभि उद्विग्नहंसा आसीत् ।

सेति । सा सरित्सरयूस्तीरसोपानपथेनावतारादवतरणादन्योन्यं केयूरविघट्टिनीभि· सनद्धाङ्गदसंघर्षिणीभिः सनूपुरक्षोभाणि सनूपुरस्खलनानि पदानि यासां ताभिरङ्गनाभिर्हेतुभिरुद्विग्नहंसा भीतहंसाऽऽसीत् ।

भावार्थ—जब कुशकी रानियाँ पानी में उतरने लगी तब उनके भुजबन्ध एक दूसरे से रगड़ खाने लगे, पैर के नूपुर बजने लगे, इन शब्दों को सुनकर सरयू के हंस मचल उठे ॥ ५६ ॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥ ५७ ॥

अन्वयः—नौसंश्रयः परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां मज्जनरागदर्शी नृपः पार्श्वगतां उपात्तबालव्यजनां किरातीम् बभाषे ।

परस्परेति । नौसंश्रयः परस्परमभ्युक्षणे सेचने तत्पराणामासक्तानां स्त्रीणां मज्जने रागोऽभिलाषस्तद्दर्शी नृपः पार्श्वगतामुपात्तबालव्यजनां गृहीतचामरां किराती चामरग्राहिणी बभाषे । 'किरातस्तु द्रुमान्तरे । स्त्रियां चामरवाहिन्या मत्स्यजात्यन्तरे द्वयोः" इति केशवः ।

भावार्थ—रानियाँ एक दूसरी पर जल के छींटे उडाने लगी, उनके स्नान की शोभा देखकर नावपर बैठे हुए राजा कुश पास मे चंवर लेकर खड़ी हुई किरातिन से कहने लगे ॥ ५७ ॥

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—गलिताङ्गरागैः मदीयैः शतशः अवरोधैः विगाह्यमानः एषः सरयूप्रवाहः साभ्रः सन्ध्योदयः इव अनेकं वर्णं पुष्यति (इति) पश्य ।

पश्येति । गलिताङ्गरागैर्मदीयैः शतशोऽवरोधैर्विगाह्यमानो विलोड्यमान एष सरयूप्रवाहः साभ्रः समेघः सन्ध्योदयः सन्ध्याविर्भाव इव अनेकं नानाविधं वर्णं रक्तपीतादिकं पुष्यति पश्य । वाक्यार्थः कर्म ।

भावार्थ—देखो तो मेरे रनिवास की सैकड़ो रानियों के स्नान करने से और उनके शरीर से घुले हुए अङ्गराग के मिल जाने से सरयू की धारा ऐसी रङ्ग-बिरंगी लगने लगी है जैसे बादलों से भरी सन्ध्या ॥ ५८ ॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम्॥ ५९॥

अन्वयः—नौलुलिताभिः अद्भिः अन्तः पुरसुन्दरीणां यत् अञ्जनं विलुप्तं, तत् विलोचनेषु मदरागशोभां बध्नतीमिमां आसां प्रतिमुक्तम्।

विलुप्तमिति। नौलुलिताभिर्नौक्षुभिताभिरद्भिरन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं कज्जलं विलुप्तं हृतं तदञ्जनं विलोचनेषु नयनेषु मदेन या रागशोभा तां बध्नतीभिर्घटयन्तीभिरद्भिरासां प्रतिमुक्तं प्रत्यर्पितम्। प्रतिनिधिदानमपि तत्कार्यकारित्वात्प्रत्यर्पणमेवेति भावः।

भावार्थ—नावों के चलने से जल में जो लहरें उठती हैं उन्होंने इन सुन्दरियों की आँखों का अञ्जन धो दिया है और उसके बदले में मदपान के समय की लाली इनकी आँखों में भर दी है॥ ५९॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते॥ ६०॥

अन्वयः—गुरुश्रोणिपयोधरत्वात् आत्मानं उद्वोढुं अशक्नुवत्यः एता बाला गाढाङ्गदैः बाहुभिः क्लेशोत्तरं रागवशात् प्लवन्ते।

एता इति। गुरु दुर्वहं श्रोणिपयोधरं यस्यात्मन इति विग्रहः। गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानं शरीरमुद्वोढुमशक्नुवत्य एता बाला गाढाङ्गदैः श्लिष्टाङ्गदैर्बाहुभिः क्लेशोत्तरं दुःखप्रायं यथा तथा रागवशात्क्रीडाभिनिवेशात्पारतन्त्र्यात्प्लवन्ते तरन्ति।

भावार्थ—भारी-भारी नितम्बों और स्तनों के कारण ये रानियाँ अच्छी तरह तैर नहीं पातीं, किसी खेल में सम्मिलित होने के कारण मोटे-मोटे भुजबन्धों वाली बाँहों से बड़ी कठिनाई से तैरती हैं॥ ६०॥

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान्॥ ६१॥

अन्वयः—वारिविहारिणीनां प्रभ्रंशिनः निम्नगायाः स्रोतसि पारिप्लवाः अमी शिरीषप्रसवावतंसाः शैवाललोलान् मीनान् छलयन्ति।

अमी इति। वारिविहारिणीनामासां प्रभ्रंशिनो भ्रष्टा निम्नगायाः स्रोतसि पारिप्लवाश्चञ्चलाः। 'चञ्चलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः। अमी शिरीषप्रसवा एवावतंसाः कर्णभूषाः शैवाललोलाञ्जलनीलिप्रियान्। 'जलनीली तु शैवालम्' इत्यमरः। मीनांश्छलयन्ति प्रादुर्भावयन्ति। शैवालप्रियत्वाच्छिरीषेषु शैवालाभ्रात्प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः।

भावार्थ—इन क्रीडा करने वाली रानियों के कानों से सिरस के कर्णफूल नदी मे गिरकर तैर रहे हैं, इनको देखकर मछलियों को सेवार का भ्रम हो रहा है और वे इन पर मुँह मारने को झपट रही हैं ॥ ६१ ॥

आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—जलास्फालनतत्पराणाम् आसां मुक्ताफलस्पर्धिषु पयोधरोत्सर्पिषु शीकरेषु शीर्यमाणः छिदुरः हारः न संलक्ष्यते ।

आसामिति । जलस्यास्फालने तत्पराणामासक्तानामासां स्त्रीणां मुक्ताफलस्पर्धिषु मौक्तिकानुकारिषु पयोधरेषु स्तनेषूत्सर्पन्त्युत्पतन्ति ये येषु शीकरेषु शीकराणां मध्ये शीर्यमाणो गलन्हारोऽत एव छिदुरः स्वयं छिन्नोऽपि संलक्ष्यते । "विदिभिच्छिदे: कुरच्" इति कुरच्प्रत्ययः । शीकरसंसर्गाच्छिन्न इति न ज्ञायत इति भावः ।

भावार्थ—देख ! जल-क्रीडा में आसक्त इन रानियों को यह भी पता नहीं है कि हमारे हार टूट गये हैं और मोती बिखर गये हैं । ये उन मोतियों के समान बूँदों को ही मोती मानकर समझ बैठी हैं कि हार टूटा नहीं है ॥ ६२ ॥

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—विलासिनीनां रूपावयवोपमानानि अदूरवर्तीनि जातानि, नतनाभिकान्तेः आवर्तशोभा भ्रुवां भङ्गः स्तनानां द्वन्द्वचराः ।

आवर्तेति । विलासिनीनां विलसनशीलानां स्त्रीणाम् । "वौ कषलसकत्थस्रम्भः" इति घिनुण्प्रत्ययः । रूपावयवानामुपमेयानां यान्युपमानानि लोकप्रसिद्धानि तान्यदूरवर्तीन्यन्तिकगतानि जातानि । कस्य किमुपमानमित्यत्राह नतनाभिकान्तेर्निम्ननाभिशोभाया आवर्तशोभा । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भ्रुवां भङ्गस्तरङ्गः स्तनानां द्वन्द्वचराश्चक्रवाकाः उपमानमिति सर्वत्र सम्बध्यते ।

भावार्थ—देख ! सुन्दरी स्त्रियों के शरीर अंगों के समान जो वस्तुयें संसार मे प्रसिद्ध हैं वे सब इन सुन्दरियों के आसपास जुट आई हैं । ये पानी की भँवर इनकी गहरी नाभि के समान है, लहर इनकी भौंहों के समान है और चकवा-चकवी इनके स्तनों के समान हैं ॥ ६३ ॥

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—उत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैः तीरस्थलीबर्हिभिः अभिनन्द्यमानं रक्तं गीतानुगम् आसां वारिमृदङ्गवाद्यं श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छन्ति ।

तीरेति । उत्कलापैरुच्चबर्हैः प्रस्निग्धा मधुराः केका येषां तैस्तीरस्थलीषु स्थितैर्बर्हिभिर्मयूरैरभिनन्द्यमानं रक्तं श्राव्यं गीतानुगं गीतानुसार्यासां स्त्रीणां सम्बन्धि वार्येव मृदङ्गस्तस्य वाद्यं वाद्यध्वनिः श्रोत्रेषु सम्मूर्छति व्याप्नोति ।

भावार्थ—ये गा-गा कर जो मृदंग बजाने के समान थपकी दे-देकर जल ठोक रही है उसे सुनकर तट पर बैठे हुए मोर अपनी पूँछें उठा कर और बोलकर इनका अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ ६४ ॥

सदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—संदष्टवस्त्रेषु अबलानितम्बेषु इन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः अमी जलापूरितसूत्रमार्गा रशनाकलापाः मौनं भजन्ते ।

संदष्टेति । संदष्टवस्त्रेषु जलसेकात्संश्लिष्टांशुकेष्वबलानां नितम्बेष्वधिकरणेष्विन्दुप्रकाशेन ज्योत्स्नायान्तरितान्यावृतानि यान्युडूनि नक्षत्राणि तत्तुल्याः । मुक्तामयत्वादिति भावः । जलापूरितसूत्रमार्गाः । निश्चला इत्यर्थः । रशना एव कलापा भूषाः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । मौनं निःशब्दतामित्यर्थः ।

भावार्थ—इन रानियों ने अपने नितम्बों पर सफेद वस्त्र लपेट लिया है जिसके नीचे करधनी के घुघुरू ऐसे दिखाई देते हैं जैसे चाँदनी से ढके हुए तारे हों । करधनी के डोरे में जल भर जाने से इन स्त्रियों के इधर-उधर दौड़ने पर भी ये बज नहीं रहे हैं ॥ ६५ ॥

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ ६६ ॥

अन्वयः—दर्पात् करोत्पीडितवारिधाराः सखीभिः वदनेषु सिक्ताः एताः तरुण्यः वक्रेतराग्रैः अलकैः चूर्णारुणान् वारिलवान् वमन्ति ।

एता इति । दर्पात्सखीजनं प्रति करैरुत्पीडिता उत्सारिता वारिधारा याभिस्ताः स्वयमपि पुनस्तथैव सखीभिर्वदनेषु सिक्ता एतास्तरुण्यो वक्रेतराग्रैर्जलसेकादृज्वग्रैरलकैः करणैश्चूर्णैः कुङ्कुमादिभिररुणान्वारिलवानुदकबिन्दून्वमन्ति वर्षन्ति ।

भावार्थ—जब इनकी सखियाँ इनके मुँह पर पानी डालती हैं और ये अहंकार से अपनी सखियों पर पानी उछालती हैं तब इनके सीधे लटके बालों से कुंकुम मिली हुई लाल रंग की बूँदें चूने लगती हैं ॥ ६६ ॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेख. विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः अम्भोविहाराकुलितः प्रमदामुखाना वेषः मनोज्ञ एव ।

उद्बन्धेति । उद्बन्धा उद्भ्रष्टाः केशा यस्मिन्सः च्युतपत्रलेखः क्षतपत्ररचनः विश्लेषिणो विस्रसिनो मुक्ताफलपत्रवेष्टा मुक्तामयताटङ्का यस्मिन्सः । एवमम्भोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखाना वेषो नेपथ्य मनोज्ञ एव । 'रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति' इति भावः ।

भावार्थ—यद्यपि स्नान के कारण बाल खुल जाने से मुंह पर और स्तनों पर बनी हुई चित्रकारी घुल जाने से तथा मोतियों के कर्णफूल कान से निकल जाने से इन स्त्रियों का वेश बेढंगा हो गया फिर भी देख, ये कितनी मनोहर लग रही हैं ॥ ६७ ॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—स नौविमानात् अवतीर्य विलोलहारः (सन्) ताभिः सह करेणुभिः सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः वन्यः द्विपेन्द्र इव अप्सु रेमे ।

स इति । कुशो नौविमानमिव नौविमानम् । उपमितसमासः । तस्मादवतीर्य विलोलहारः संस्ताभिः स्त्रीभिः सह करेणुभिः सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिन्युत्पाटितनलिनी यस्य स तथोक्तः सन् । "नद्यृतश्च" इति कप्रत्ययः । वन्यो द्विपेन्द्र इव अप्सु रेमे ।

भावार्थ—यह कह कर हिलते हुए हार वाले कुश भी विमान के समान नाव से पानी में उतर पड़े और जैसे कमलिनियों को उखाड़कर कन्धे पर लटकाये हाथी हथिनियों के साथ जलक्रीड़ा करता है वैसे ही वे भी उनके साथ जलविहार करने लगे ॥ ६८ ॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ततः भ्राजिष्णुना नृपेण अनुगताः ताः स्त्रियः सातिशयं विरेजुः, प्राक् एव मुक्ता नयनाभिरामः उन्मयूखम् इन्द्रनीलं प्राप्य किमुत ।

तत इति । ततो भ्राजिष्णुना प्रकाशनशीलेन । "भुवश्च" इति चकारादिष्णुच् । नृपेणानुगताः सङ्गतास्ताः स्त्रियः सातिशयं यथा तथा विरेजुः । प्रागेव इन्द्रनील-

योगात्पूर्वमेव केवला अपीत्यर्थः। मुक्ता मणयो नयनाभिरामाः उन्मयूखमिन्द्रनीलं प्राप्य किमुत अभिरामा इति। किमु वक्तव्यमित्यर्थः।

भावार्थ—उसके बाद उस कान्तिमान् राजा कुश के साथ जलक्रीडा करती हुई वे रानियाँ पहले से भी अधिक सुन्दर लगने लगीं क्योंकि मोती तो यों ही सुन्दर हैं और फिर यदि वह इन्द्र नील मणि से गूँथ दिया जाय तब तो कहना ही क्या है॥ ६९॥

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः॥७०॥

अन्वयः—तम् आयताक्ष्यः काञ्चनशृङ्गमुक्तः वर्णोदकैः प्रणयात् असिञ्चन् तथागतः सः सधातुनिष्यन्दः अद्रिराज इव अतितरां बभासे।

वर्णोदकैरिति। तं कुशमायताक्ष्यः काञ्चनस्य शृङ्गैर्मुक्तानि तैर्वर्णोदकैः कुङ्कुमादिवर्णद्रव्यसहितोदकैः प्रणयात्स्नेहादसिञ्चन्। तथागतस्तथा स्थितः वर्णोदकसिक्त इत्यर्थः। स कुशः सधातुनिष्यन्दो गैरिकद्रव्ययुक्तोऽद्रिराज इव अतितरां बभासेऽत्यर्थं चकासे।

भावार्थ—विशाल नेत्रवाली वे सुन्दरियाँ सोने की पिचकारियों से कुंकुमादि रङ्ग छोड़कर कुशको भिगोने लगीं। उस समय वे ऐसे सुन्दर लगते थे जैसे पर्वतराज हिमालय पर से गेरु आदि धातु का झरना गिर रहा हो॥ ७०॥

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः॥७१॥

अन्वयः—अवरोधप्रमदासखेन तां सरिद्वरां विगाहमानेन तेन आकाशगङ्गारतिः अप्सरोभिः वृतः मरुत्वान् अनुयातलीलः (अभूत्)।

तेनेति। अवरोधप्रमदासखेनान्तःपुरसुन्दरीसहचरेण तां सरिद्वरां सरयूं विगाहमानेन तेन कुशेनाकाशगङ्गायां रतिः क्रीडा यस्य सोऽप्सरोभिर्वृत आवृतो मरुत्वानिन्द्रोऽनुयातलीलोऽनुकृतश्रीः अभूदिति शेषः। इन्द्रमनुकृतवानित्यर्थः।

भावार्थ—उन अन्तःपुर की रानियों के साथ श्रेष्ठ नदी सरयू में जलक्रीडा करते समय कुश ऐसे लगते थे मानो देवराज इन्द्र अप्सराओं के साथ आकाश गङ्गा में जलक्रीडा कर रहे हों॥ ७१॥

यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज॥७२॥

अन्वयः—यत् रामः कुम्भयोनेः अधिगम्य कुशाय राज्येन समं दिदेश, सलिले विहर्तुः अस्य तत् जैत्राभरणं अज्ञातपातं (सत्) ममज्ज।

यदिति। यदाभरणं रामः कुम्भयोनेरगस्त्यादधिगम्य प्राप्य कुशाय राज्येन समं दिदेश ददौ। राज्यसममूल्यमित्यर्थः। सलिले विहर्तुः क्रीडितुरस्य कुशस्य तज्जैत्राभरणं जयशीलमाभरणमज्ञातपातं सन्ममज्ज बुब्रोड।

भावार्थ—राम को अगस्त्य मुनि ने जो विजयशील आभूषण दिया था उसे रामने राज्यके साथ ही कुश को दे दिया था। जलक्रीडा करते समय वह आभूषण पानी में गिर गया इसका पता किसी को नहीं चला॥ ७२॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श॥७३॥

अन्वयः—असौ सदारः यथाकामं स्नात्वा तीरोपकार्यां गतमात्रः एव अपोढनेपथ्यविधिः (एव) दिव्येन वलयेन शून्यं बाहुं ददर्श।

स्नात्वेति। असौ कुशः सदारः सन्यथाकामं यथेच्छं स्नात्वा विगाह्य तीरे योपकार्या पूर्वोक्ता तां गतमात्रो गत एवापोढनेपथ्यविधिरकृतप्रसाधन एव दिव्येन वलयेन शून्यं बाहुं ददर्श।

भावार्थ—रानियों के साथ इच्छानुसार जलक्रीडा करके जब कुश बाहर निकले और डेरे में गये तब कपड़े बदलने के पहले ही उन्होंने देखा कि बाहु पर वह दिव्य आभूषण नहीं है॥ ७३॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात्।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः॥७४॥

अन्वयः—यतः तत् जयश्रियः संवननं यस्मात् च गुरुणा आमुक्तपूर्वं अतः अस्य भ्रंशं न सेहे, लोभात् न हि, धीरः सः तुल्यपुष्पाभरणः।

जयेति। यतः कारणात्तदाभरणं जयश्रियः संवननं वशीकरणम्। 'वशक्रिया संवननम्' इत्यमरः। यस्माच्च गुरुणा पित्रामुक्तपूर्वं पूर्वमामुक्तम् धृतमित्यर्थः। 'सुप्सुपे'ति समासः। अतो हेतोरस्याभरणस्य भ्रंशं नाशं न सेहे। लोभान्न। कुतः हि यस्माद्धीरो विद्वान् स कुशस्तुल्यानि पुष्पाण्याभरणानि च यस्य सः पुष्पेष्विवाभरणेषु धृतेषु निर्माल्यबुद्धिं करोतीत्यर्थः।

भावार्थ—बुद्धिमान् कुश पुष्प और आभूषण दोनों को समान समझते थे अतः उन्हें उस आभूषण के खोने का इसलिए दु:ख नहीं हुआ था कि वह बहुमूल्य

था किन्तु इस लिए दुःख हुआ कि वह आभूषण विजयलक्ष्मी का वशीकरण करने वाला था और पिता का चिह्न था ॥ ७४ ॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—ततः नदीष्णान् सर्वान् अनायिनः तद्विचये आशु समाज्ञापयत् ते सरयूं विगाह्य वन्ध्यश्रमा (अपि) अम्लानमुखप्रसादा (सन्तः) तं ऊचुः ।

तत इति । ततः नद्यां स्नान्ति कौशेलेनेति नदीष्णाः तान् । 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः "निनदीभ्यां स्नातेः कौशले" इति षत्वम् । सर्वानानायिनो जालिकांस्तस्याभरणस्य विचयेऽन्वेषणे निमित्त आशु समाज्ञापयदादिदेश । तम् आनायिनः सरयूं विगाह्य विलोड्य वन्ध्यश्रमा विफलप्रयासास्तथापि तद्गतिं ज्ञात्वाम्लानमुखप्रसादाः सश्रीकमुखाः सन्तस्तं कुशमूचुः ।

भावार्थ—उन्होंने नदी में अच्छी तरह गोता लगाने वाले धीवरों को उस आभूषण को खोज डालने के लिए आज्ञा दी । बहुत देर तक उन लोगों ने पानी झकोरा पर उनका सारा परिश्रम व्यर्थ गया फिर भी प्रसन्न मुख होकर कुश के पास आकर बोले ॥ ७५ ॥

कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—हे देव ! प्रयत्नः कृतः पयसि मग्नं ते आभरणोत्तमं न च लब्धं (किन्तु) तत् अन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन नागेन लौल्यात् उपात्तं नूनम् ।

कृत इति । हे देव ! प्रयत्नः कृतः पयसि मग्नं तु तं आभरणोत्तमं न च लब्धम् । किंतु तदाभरणमन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन कुमुदाख्येन नागेन पन्नगेन लौल्याल्लोभादुपात्तं गृहीतम् । नूनमिति वितर्के ।

भावार्थ—हे देव ! बहुत परिश्रम करने पर भी हम लोग जल में पड़े हुए आपका वह श्रेष्ठ आभूषण नहीं पा सके । मालूम पड़ता है कि इस जल में रहने वाले कुमुद नामक नाग ने लोभ से उसे चुरा लिया है ॥ ७६ ॥

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ततः धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः तपस्वी स तीरगतः (सन्) धनुः आततज्यं कृत्वा भुजङ्गनाशाय गारुत्मतम् अस्त्रं समाददे ।

तत इति। ततो धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षस्तरस्वी बलवान्स कुशस्तीरगतः सन्धनुराततज्यमधिज्यं कृत्वा भुजङ्गस्य कुमुदस्य नाशाय गारुत्मतं गरुत्मद्देवताकमस्त्रं समादधे।

भावार्थ—यह सुनते ही कुश की आँखें क्रोध से लाल हो गईं और वहीं तटपर खड़े होकर उन्होंने धनुष को ठीक करके उस पर नागों का नाश करने वाला गारुडास्त्र चढ़ाया॥ ७७॥

तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास॥ ७८॥

अन्वयः—तस्मिन् संहितमात्रे एव ह्रदः समाविद्धतरङ्गहस्तः रोधांसि निघ्नन् अवपातमग्नः वन्यः करी इव परुषं ररास।

तस्मिन्निति। तस्मिन्नस्त्रे संहितमात्रे सत्येव ह्रदः क्षोभाद्धेतोः समाविद्धाः सङ्घटितास्तरङ्गा एव हस्ता यस्य सः रोधांसि निघ्नन्पातयन् अवपाते राजग्रहणगर्ते मग्नः पतितः। 'अवपातस्तु हस्त्यर्थं गर्तश्छन्नस्तृणादिना' इति यादवः। वन्यः करीव। परुषं घोरं ररास दध्वान।

भावार्थ—उसके धनुष चढ़ाते ही वहाँ का जल खलबलाता हुआ अपने तरङ्ग रूपी हाथ को जोड़े हुए तटों को गिराता हुआ वह ह्रद ऐसे गरजने लगा जैसे गड्ढे में पड़ा हुआ कोई जंगली हाथी चिंघाड़ रहा हो॥ ७८॥

तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः॥ ७९॥

अन्वयः—मथ्यमानात् समुद्रात् इव उद्वृत्तनक्रात् तस्मात् लक्ष्म्या सार्धं सुरराजवृक्षः इव कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः सहसा उन्ममज्ज।

तस्मादिति। मथ्यमानात्समुद्रादिव उद्वृत्तनक्रात्क्षुभितग्राहात्तस्मात् ह्रदात् लक्ष्म्या सार्धं सुरराजस्येन्द्रस्य वृक्षः पारिजात इव कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः कुमुदः सहसोन्ममज्ज।

भावार्थ—उस जल को समुद्र के समान मथा जाता हुआ देखकर मगर आदि जलजन्तु घबड़ा उठे, इतने में ही एकाएक एक कन्या को आगे किये हुए नागराज कुमुद उस जल में से इस प्रकार निकला मानो लक्ष्मी को साथ लेकर कल्पवृक्ष निकल आया हो॥ ७९॥

विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशाम्पतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः॥ ८०॥

अन्वयः—विशांपतिः विभूषणप्रत्युपहारहस्तं उपस्थितं तं वीक्ष्य सौपर्णं अस्त्रं प्रतिसञ्जहार हि सन्तः प्रह्वेषु निर्बन्धरुषः (भवन्ति)।

विभूषणेति। विशाम्पतिर्मनुजपतिः कुशः। 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः। विभूषणं प्रत्युपहरति प्रत्यर्पयतीति विभूषणप्रत्युपहारः। कर्मण्यण्। विभूषण-प्रत्युपहारो हस्तो यस्य तम्। उपस्थितं प्राप्तं तं कुमुदं वीक्ष्य सौपर्णं गारुत्मतमस्त्रं प्रतिसञ्जहार। तथाहि सन्तः प्रह्वेषु नम्रेष्वनिर्बन्धरुषोऽनियतकोपा हि।

भावार्थ—राजा कुशने आभूषणरूप प्रत्युपहार को लेकर उपस्थित उस नाग को देख कर धनुष पर-से गारुडास्त्र उतार लिया, क्योंकि सज्जन लोग उनपर क्रोध नहीं करते जो नम्र होकर उनके आगे आ जाते हैं ॥ ८० ॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान्।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥८१॥

अन्वयः—अस्त्रविद्वान् कुमुदः त्रैलोक्यनाथं (अतएव) प्रभावात् द्विषां अंकुशं मूर्द्धाभिषिक्तं कुशं मानोन्नतेन अपि मूर्ध्ना अभिवन्द्य बभाषे।

त्रैलोक्येति। अस्त्रं विद्वानस्त्रविद्वान्। "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन षष्ठीसमासनिषेधः। "द्वितीया श्रिता०" इत्यत्र गम्यादीनामुपसंख्यानाद् द्वितीयेति योगविभागाद्वा समासः। गरुडास्त्रमहिमाभिज्ञ इत्यर्थः। कुमुदः। त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। त्रैलोक्यनाथो रामः प्रभवो जनको यस्य तम्। अतएव प्रभावाद् द्विषामंकुशं निवारकं मूर्धाभिषिक्तं राजानं मानोन्नतेनापि मूर्ध्नाभिवन्द्य प्रणम्य बभाषे।

भावार्थ—त्रिलोकीनाथ राम के पुत्र तथा शत्रुओं को अंकुश के समान दुख देने वाले राजा कुश को मान से उन्नत अपना शिर नम्र करके कुमुद प्रणाम करके बोला क्योंकि वह कुश के बाण की शक्तिको भलीभाँति जानता था ॥८१॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम्।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥८२॥

अन्वयः—त्वां कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यां अपरां तनुं अवैमि। सः अहं आराधनीयस्य तव धृतेः विघातं कथं नाम आचरेयम्।

अवैमीति। त्वाम् ओदनान्तरस्तण्डुल इतिवत्कार्यान्तरः कार्यार्थः। 'स्थानात्मीयान्यतादर्थ्यरन्ध्रान्तर्येषु चान्तरम्' इति शाश्वतः। स चासौ मानुषश्चेति तस्य विष्णोः रामस्य सुताख्यां पुत्रसंज्ञामपरां तनुं मूर्तिमवैमि। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति

श्रुतेरित्यर्थः। स आनत्वहमाराधनीयस्योपास्यस्य तव धृतेः प्रीते.। 'धृ प्रीतौ' इति धातोः स्त्रियां क्तिन्। विघात कथ नामाचरेयम्। असम्भावितमित्यर्थः।

भावार्थ--मैं जानता हूँ कि आप राक्षसों का नाश करने के लिए मनुष्य शरीर धारण करने वाले विष्णु के पुत्र हैं इसलिए आप पूज्य हैं फिर मैं आप से वैर कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ८२ ॥

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥८३॥

अन्वयः—कराभिघातेनोत्थितकन्दुका इयं बाला अतिकुतूहलेन अन्तरिक्षात् ज्योतिः इव ह्रदात् पतत् त्वदीयं जैत्राभरणं आलोक्य आदत्त।

करेति। कराभिघातेनोत्थितं ऊर्ध्वं गतं कन्दुको यस्याः सा कन्दुकार्थमूर्ध्वं पश्यन्तीत्यर्थः इयं बालातिकुतूहलेनात्यन्तकौतुकेनान्तरिक्षाज्ज्योतिर्नक्षत्रमिव। 'ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु' इत्यमरः। ह्रदात्पतत्त्वदीयं जैत्राभरणमालोक्यादत्तागृह्णात्।

भावार्थ—यह मेरी अबोध बालिका गेंद खेल रही थी, इसकी थपकी से गेंद ऊपर उछल गई, उसे देखने के लिये उसने ऊपर आँखें उठाई तो देखा कि आकाश से गिरते हुए तारे के समान आप का आभूषण नीचे चला जा रहा है इसने उसे झट पकड़ लिया ॥ ८३ ॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥८४॥

अन्वयः—तत् एतत् आजानुविलम्बिना ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन भूमेः रक्षापरिघेण ते अंसलेन भुजेन पुनः योगं उपैतु।

तदिति। तदेतदाभरणमाजानुविलम्बिना दीर्घेण ज्याघातेन या रेखा रेखाकारा अन्ययस्तामा किण चिह्नं तदेव लाञ्छनं यस्य तेन भूमेः रक्षायाः परिघेण रक्षार्गलेन। 'परिघो योगभेदास्त्रमुद्गरेऽर्गलघातयोः' इत्यमरः। अंसलेन बलवता ते भुजेन पुनर्योगं संगतिमुपैतु। एतैर्विशेषणैर्महाभाग्यशौर्यधुरन्धरत्वबलवत्त्वादि गम्यते।

भावार्थ—आप उसे लीजिये और अपनी उस मोटी घुटनों तक लम्बी भुजा में फिर बांध लीजिये जिसमें धनुष की डोरी फटकार से घट्ठे पड़ गये हैं और जो पृथ्वी की रक्षा करती है ॥ ८४ ॥

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम्।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥८५॥

अन्वयः—हे पार्थिव ! ते पादयोः चिराय शुश्रूषया आत्मापराधं नुदतीं इमां मे यवीयसीं स्वसारं कुमुद्वतीं अनुमन्तुं न अर्हसि ? ।

इमामिति । किंच हे पार्थिव ! ते तव पादयोश्चिराय शुश्रूषया परिचर्यया । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा या परिचर्याप्रदानयोः' इति विश्वः । आत्मापराधमाभरणग्रहणरूपं परिजिहीर्षन्तीमित्यर्थः । "आशंसायां भूतवच्च" इति चकाराद्वर्तमानार्थे शतृप्रत्ययः । "आच्छीनद्योर्नुम्" इत्यस्य वैकल्पिकत्वान्नुमभावः । इमां मे यवीयसीं कनिष्ठां स्वसारं भगिनीं कुमुद्वतीमनुमन्तुं नार्हसीति न । अर्हस्येवेत्यर्थः ।

भावार्थ—यह मेरी छोटी बहन कुमुद्वती जीवन भर आपकी सेवा करके अपना अपराध मिटाना चाहती है इसलिये आप इसे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कर लीजिये ॥ ८५ ॥

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः
कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ ८६ ॥

अन्वयः—इति ऊचिवान् उपहृताभरणः कुमुदः भवान् श्लाघ्यः स्वजनः इति अनुभाषितारं क्षितीशं समेतबन्धुः (सन्) कन्यामयेन कुलभूषणेन विधिवत् संयोजयामास ।

इतीति । इति पूर्वश्लोकोक्तमूचिवानुक्तवान् । ब्रुवः क्वसुः । उपहृताभरणः उपहृतमाभरणं यस्मै प्रत्यर्पिताभरणः कुमुदः । हे कुमुद ! भवाञ्श्लाघ्यः स्वजनो बन्धुः इत्यनुभाषितारमनुवक्तारं क्षितीशं कुशं समेतबन्धुः सन् कन्यामयेन कन्यारूपेण कुलयोर्भूषणेन विधिवत्संयोजयामास । न केवलं तदीयमेव किंतु स्वकीयमपि भूषणं तस्मै दत्तवानिति ध्वनिः । आम्प्रत्ययानुप्रयोगयोर्व्यवधानं तु प्रागेव समाहितम् ।

भावार्थ—यह कहकर कुमुद ने वह आभूषण कुश को दे दिया । कुश बोले, आज से आप मेरे आदरणीय सम्बन्धी हो गये । यह सुनकर उसने अपने कुटुम्बियों को बुलाकर बड़ी धूम-धाम से कुमुद्वती को कुश से व्याह दिया ॥ ८६ ॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्
गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥ ८७ ॥

अन्वय:—मनुजपतिना साहचर्याय मांगल्योर्णावलयिनि तस्याः हस्ते उच्छिखस्य पावकस्य पुरः स्पृष्टे दिगन्तान् व्यश्नुवान, दिव्यस्तूर्यध्वनिः उदचरत् तदनु आश्चर्यमेघाः गन्धोदग्रं पुष्पं ववृषु ।

तस्या इति । मनुजपतिना कुशेन साहचर्याय सहधर्माचरणायेत्यर्थः । माङ्गल्या मङ्गले साधुर्योर्णा मेषादिलोम । 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमरः । अत्र लक्षणया तन्निर्मितं सूत्रमुच्यते । तया वलयिनि वलयवति तस्याः कुमुद्वत्या हस्ते पाणावुच्छिखस्योर्ध्वार्चिषः पावकस्य पुरोऽग्रे स्पृष्टे गृहीते सति दिगन्तान्व्यश्नुवानो व्याप्नुवन् दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरदुत्थितः । तदन्वाश्चर्या अद्भुता मेघा गन्धेनोदग्रमुत्कटं पुष्पं पुष्पाणि । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् ववृषुः । आश्चर्यशब्दस्य 'रौद्रं तूग्रममी त्रिषु । चतुर्दश' इत्यमरवचनात्त्रिलिङ्गत्वम् ।

भावार्थ—जब राजा कुश ने अपनी सहधर्मिणी बनाने के लिये प्रज्वलित अग्नि के आगे उस कुमुद्वती का कङ्कन बंधा हुआ हाथ पकड़ा, उस समय तुरही आदि दिव्य वाद्यों की ध्वनि से दिशायें गूंज उठीं और आश्चर्य युक्त मेघों ने सुगन्धित पुष्पों की वर्षा की ॥ ८७ ॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य ।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

अन्वय:—इत्थं नागः त्रिभुवनगुरोः औरसं मैथिलेयं बन्धुं लब्ध्वा, कुशः अपि च तक्षकस्य पञ्चमं पुत्रं तं (बन्धुं लब्ध्वा) एकः पितृवधरिपोः वैनतेयात् शंकाम् अत्यजत् अपरः शान्तव्यालाम् अवनिं पौरकान्तः सन् शशास ।

इत्थमिति । इत्थं नागः कुमुदः त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं । "तद्धितार्थ०" इत्यादिना तत्पुरुषः । अदन्तद्विगुत्वेऽपि पात्राद्यदन्तत्वान्नपुंसकत्वम् । 'पात्राद्यदन्तैरनेकार्थो द्विगुर्लक्ष्यानुसारतः' इत्यमरः । तस्य गुरू रामः तस्यौरसं धर्मपत्नीजं पुत्रम् 'औरसो धर्मपत्नीजः' इति याज्ञवल्क्यः । मैथिलेयं कुशं बन्धुं लब्ध्वा कुशोऽपि च तक्षकस्य पञ्चमं पुत्रं तं कुमुदं बन्धुं लब्ध्वा एकस्तयोरन्यतरः कुमुदः पितृवधेन रिपोर्वैनतेयाद् गरुडात् गुरुणा वैष्णवांशेन कुशेन । त्याजितक्रौर्यादिति भावः । शङ्कां भयमत्यजत् । अपरः कुशः शान्तव्यालां कुमुदाज्ञया वीतसर्पभयामवनिमत एव पौरकान्तः पौरप्रियः सञ्छशास ।

भावार्थ—इस प्रकार नागराज कुमुदने त्रिलोकीनाथ राम के और मैथिली-

कुमार पुत्र कुश को अपना सम्बन्धी बनाकर गरुड़ से डरना छोड़ दिया क्योंकि अब वे उसके सम्बन्धी के पिता विष्णु के वाहन मात्र थे और कुश ने भी तक्षक के पञ्चम पुत्र कुमुद को सम्बन्धी बना लिया जिससे सर्प शान्त हो गये और कुश प्रजाओं के प्रिय बनकर पृथ्वी पर भली-भाँति राज करने लगे ॥ ८८ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्या-
व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥१६ ॥

सप्तदशः सर्गः

नमो रामपदाम्भोजं रेणवो यत्र सन्ततम् ।
कुर्वन्ति कुमुदप्रीतिमरण्यगृहमेधिनः ॥

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥

अन्वयः—कुमुद्वती काकुत्स्थात् अतिथिं नाम पुत्रं च चेतना पश्चिमात् यामिनीयामात् प्रसादमिव प्राप ।

अतिथिमिति । कुमुद्वती काकुत्स्थात्कुशादतिथिं नाम पुत्रं चेतना बुद्धिः पश्चिमाद्यामिन्या रात्रेर्यामात्प्रहरात् । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । प्रसादं वैशद्यमिव प्राप । ब्राह्मे सर्वेषां बुद्धिवैशद्यं भवतीति प्रसिद्धिः ।

भावार्थ—जिस प्रकार रात्रि के अन्तिम प्रहर ब्राह्ममुहूर्त में बुद्धि की स्वच्छता प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार कुमुद्वती ने कुश से अतिथि नामक पुत्र को प्राप्त किया ॥ १ ॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥

अन्वयः—पितृमान् अनुपमद्युतिः सः पितुः मातुः च वंशं सविता उत्तरदक्षिणौ उभौ मार्गौ इव अपुनात् ।

स इति । पितृमान् प्रशस्तपितृकः । प्रशंसार्थे मतुप् । सुशिक्षित इत्यर्थः ।

अनुपमद्युतिः सवितुश्चेद विशेषण सोऽतिथि. पितुः कुशस्य वंश मातुः कुमुद्वत्याश्च वंशं सवितोत्तरदक्षिणावुभौ मार्गाविव अपुनात्पवित्रीकृतवान् ।

भावार्थ—जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाश से उत्तर और दक्षिण दोनों दिग्भागों को पवित्र कर देता है उसी प्रकार सुशिक्षित तथा अनुपम कान्ति वाले अतिथि ने माता और पिता के दोनों कुलों को पवित्र कर दिया ॥ २ ॥

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ ३ ॥

अन्वय.—अर्थविदांवरः पिता त आदौ कुलविद्यानाम् अर्थं अग्राहयत् पश्चात् पार्थिवकन्यकाना पाणिग्रहणं अग्राहयत ।

तमिति । अर्थाञ्छब्दार्थान्दानसंग्रहादिक्रियाप्रयोजनानि च विदन्तीत्यर्थविदः । तेषां वरः श्रेष्ठः पिता कुशस्तमतिथिमादौ प्रथम कुलविद्यानामान्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतीनामर्थमभिधेयमग्राहयदबोधयत् । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत् स्वीकारितवान् । उदवाहयदित्यर्थः । ग्रहेर्ण्यन्तस्य सर्वत्र द्विजकर्मकत्वमस्तीत्युक्तं प्राक्

भावार्थ—अर्थवेत्ताओं में श्रेष्ठ कुश ने पहले उसे आन्वीक्षिकी आदि कुलपरम्परागत राजनीति विद्याओं को पढ़ाया फिर राजकुमारियों से उनका विवाह कर दिया ॥ ३ ॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः ।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ ४ ॥

अन्वयः—जात्यः शूरः वशी कुशः अभिजातेन शौर्यवता वशिना तेन एकं आत्मानं अनेकं अमन्यत ।

जात्य इति । जातौ भवो जात्यः कुलीनः शूरो वशी कुशोऽभिजातेन कुलीनेन । 'अभिजातः कुलीनः स्यात्' इत्यमरः । शौर्यवता वशिना तेनातिथिना करणेन एकमात्मानम् । एको न भवतीत्यनेकस्तम् । अमन्यत । सर्वगुणसामग्र्यादात्मजमात्मन एव रूपान्तरममंस्तेत्यर्थः ।

भावार्थ—अतिथि भी कुशके समान ही कुलीन शूरवीर और जितेन्द्रिय थे इसलिए कुलीन, शूरवीर और जितेन्द्रिय कुशने उस अतिथि के द्वारा अकेले भी अपनेको अनेक माना । अर्थात् अतिथि में अपने सम्पूर्ण गुणों के होने से उसे अपना ही रूपान्तर माना ॥ ४ ॥

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥

अन्वयः—स कुलोचितं इन्द्रस्य सहायकं उपेयिवान् (सन्) समरे दुर्जयं दैत्यं जघान तेन अवधि च ।

स इति । स कुशः कुलोचितं कुलाभ्यस्तमिन्द्रस्य सहायकं सहकारित्वं । "योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इत्यनेन वुञ् । उपेयिवान्प्राप्तः सन्समरे नामतोऽर्थतश्च दुर्जयं दैत्यं जघानावधीत् तेन दैत्येनावधि हतश्च । "लुङ् च" इति हनो वधादेशः ।

भावार्थ—अपने वंश के सिद्धान्त के अनुसार कुश भी एक बार युद्ध में इन्द्र की सहायता करने के लिये गये थे । महाशक्तिशाली दुर्जय नामक राक्षस को मारकर स्वयं भी वीरगति को प्राप्त हुए ।। ५ ।।

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ।। ६ ।।

अन्वयः—कुमुदस्य नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुमुदानन्दं शशाङ्कं कौमुदी इव तं अन्वगात् ।

तमिति । कुमुदस्य नाम नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुशपत्नी कुमुदानन्दं शशाङ्कं कौमुदी ज्योत्स्नेव तं कुशमन्वगात् । कुशस्तु कुः पृथ्वी तस्या मुत्प्रीतिः सैवानन्दो यस्येति कुमुदानन्दः परानन्देन स्वयमानन्दतीत्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार कुमुदों को खिलाने वाले चन्द्रमा के अस्त होने के साथ-साथ उसकी चाँदनी अस्त हो जाती है उसी प्रकार नागराज कुमुद की बहन कुमुद्वती भी कुश के साथ सती हो गई ।। ६ ।।

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ।। ७ ।।

अन्वयः—तयोः एकः दिवस्पतेः सिंहासनार्धभाक् आसीत् द्वितीया अपि शच्याः पारिजातांशभागिनी सखी (आसीत्) ।

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्य एकः कुशो दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्धं सिंहासनैकदेशः तद्भागासीत् । द्वितीया कुमुद्वती शच्या इन्द्राण्याः पारिजातांशस्य भागिनी ग्राहिणी । "संपृच०" इत्यादिना भजेर्घिनुणप्रत्ययः । सख्यासीत् । कस्कादित्वाद्दिवस्पतिः साधुः ।

भावार्थ—उन दोनों में-से कुश को इन्द्र के सिंहासन का आधा भाग मिला और दूसरी कुमुद्वती जाकर इन्द्राणी के साथ पारिजात में आधा भाग ले बैठी ।। ७ ।।

तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

अन्वय.—संग्रामयायिनः भर्तुः पश्चिमाम् आज्ञां स्मरन्तः मन्त्रिवृद्धाः तदात्मसम्भवं राज्ये समादधुः ।

तदिति । संग्रामयायिन. संग्राम यास्यतः । आवश्यकार्थे णिनिः । "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इति षष्ठीनिषेधः । भर्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवंरूपां स्मरन्तो मन्त्रिवृद्धास्तदात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ।

भावार्थ—युद्ध में जाते समय कुश ने जो अन्तिम आज्ञा दी थी उसके अनुसार वृद्ध मन्त्रियों ने उनके पुत्र अतिथि को राजा बनाया ॥ ८ ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—ते तस्य अभिषेकाय शिल्पिभिः उद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं नवं विमानं कल्पयामासुः ।

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिथेरभिषेकाय शिल्पिभिरुद्वेद्युन्नतवेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठित नव विमान मण्डप कल्पयामासुः कारयामासुः ।

भावार्थ—उन वृद्ध मंत्रियों ने उनके राज्याभिषेक के लिए कारीगरों से चार खम्भों पर स्थित ऊँची वेदी वाला नया मण्डप बनवाया ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥

अन्वयः—तत्र भद्रपीठोपवेशितं एनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः तीर्थवारिभिः प्रकृतयः उपतस्थुः ।

तत्रेति । तत्र विमाने भद्रपीठे पीठविशेषे उपवेशितमेनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः संगृहीतैस्तीर्थवारिभि. करणैः प्रकृतयो मन्त्रिणः उपतस्थुः ।

भावार्थ—प्रजा ने उस मण्डप में भद्रपीठ पर बैठे हुए राजा अतिथि का सुवर्ण के कलशों में भरे हुए तीर्थों के जल से अभिषेक किया ॥ १० ॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥

अन्वयः—आहतपुष्करैः स्निग्धगम्भीरं नदद्भिः तूर्यैः तस्य अविच्छिन्नसन्तति कल्याणं अन्वमीयत ।

नवद्भिरिति । आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमरः । स्निग्धं मधुरं गम्भीरं च नदद्भिस्तूर्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तत्यविच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भाविशुभमन्वमीयतानुमितम् ।

भावार्थ—बजाये जाते हुए मृदंग आदि बाजों से जो मीठी और गम्भीर ध्वनि निकल रही थी उससे मालूम होता था कि राजा अतिथि का अविच्छिन्न रूप से सदा कल्याण होगा ।। ११ ।।

दूर्वा-यवांकुर-प्लक्ष-त्वगभिन्न-पुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥१२॥

अन्वयः—स दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् । ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान् नीराजनाविधीन् । भेजे ।

दूर्वेति । सोऽतिथिः दूर्वाश्च यवांकुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा बालपल्लवाश्चोत्तराणि प्रधानानि येषु तान् अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित् । कमलानीत्यन्ये । ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान्नीराजनाविधीन्भेजे ।

भावार्थ—दूब, जौ के अंकुर तथा बड़ की छाल एवं नये पल्लवों को दोने में रखकर कुल के वृद्ध पुरुषों ने जो आरती की, उसे राजा अतिथि ने बड़े आदर से स्वीकार किया ।। १२ ।।

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥१३॥

अन्वयः—पुरोहितपुरोगाः द्विजातयः जिष्णुं तं जैत्रैः अथर्वभिः पूर्वं अभिषेक्तुं उपचक्रमिरे ।

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगाः पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ।

भावार्थ—पुरोहित को आगे करके ब्राह्मण आये और उन्होंने उस विजयशील राजा अतिथि का अथर्ववेद के उन मन्त्रों से अभिषेक आरम्भ किया जिनसे विजय प्राप्त होती है ।। १३ ।।

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥१४॥

अन्वयः—तस्य मूर्ध्नि सशब्द निपतन्ती ओघमहती अभिषेकश्रीः त्रिपुरद्विषः (मूर्ध्नि) गङ्गा इव व्यरोचत ।

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्द निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेको जल स एव श्रीः । यद्वा तस्य श्रीः । समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ।

भावार्थ—उनके शिर के ऊपर गिरती हुई अभिषेक की जल की धारा ऐसी सुन्दर लगती थी मानो शिवजी के शिर के ऊपर गंगाजी की धारा गिर रही हो ॥ १४ ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः ।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥१५॥

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे वन्दिभि. स्तूयमानः सः प्रवृद्धः (अतएव) सारङ्गैः अभिनन्दितः पर्जन्यः इव अलक्ष्यत ।

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभि. स्तूयमानः सोऽतिथिः प्रवृद्धः प्रवृद्धवान् । कर्तरि क्त. । अतएव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दित· पर्जन्यो मेघ इव अलक्ष्यत ।

भावार्थ—उस समय भाट और चारण जब उनका बिरद बखानने लगे तो ऐसा मालूम पड़ता था मानो बहुत से चातक मिलकर बादल के गुण गा रहे हों ॥ १५ ॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥१६॥

अन्वयः—सन्मन्त्रपूताभिः अद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः तस्य वृष्टिसेकात् वैद्युतस्य अग्नेः इव द्युतिः ववृधे ।

तस्येति । सन्मन्त्रैः पूताभिः शुद्धाभिरद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः कुर्वतस्तस्य वृष्टिसेकात् विद्युतोऽयं वैद्युतः तस्याब्न्धिनस्याग्नेरिव द्युतिर्ववृधे ।

भावार्थ—उत्तम मन्त्रों से पवित्र हुए जल से स्नान करते समय अतिथि के शरीर का तेज वैसे ही बढ़ गया जैसे वर्षा के जल से बिजली की चमक बढ़ जाती है ॥ १६ ॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥१७॥

अन्वयः—स अभिषेकान्ते स्नातकेभ्यः तावत् वसु ददौ यावता एषां पर्याप्त-दक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् ।

स इति । सोऽतिथिरभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो गृहस्थेभ्यस्तावत्तावत्परिमाणं वसु धनं ददौ यावता वसुनैषां स्नातकानां पर्याप्तदक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् । तावद्ददावित्यन्वयः ।

भावार्थ—राज्याभिषेक के पश्चात् अतिथि ने यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों को इतना दान दिया कि उस धन से वे गहरी दक्षिणा देकर अपना यज्ञ सम्पूर्ण कर सकते थे ।। १७ ।।

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ १८ ॥

अन्वयः—प्रीतमनसः ते तस्मै यां आशिषं उदैरयन् सा तस्य कर्मनिवृत्तैः फलैः दूरं पश्चात् कृता ।

त इति । प्रीतमनसस्ते स्नातकास्तस्मै अतिथये यामाशिषमुदैरयन्व्याहरन्साशीस्तस्यातिथेः कर्मनिवृत्तैः पूर्वपुण्यनिष्पन्नैः फलैः साम्राज्यादिभिर्दूरं दूरतः पश्चात्कृता । स्वफलदानस्य तदानीमनवकाशात्कालान्तरोद्वीक्षणं चकारेत्यर्थः ।

भावार्थ—प्रसन्न होकर ब्राह्मणों ने उन्हें जो आशीर्वाद दिया उसे सफल होने के लिए बहुत दिन देखने पड़े, क्योंकि आशीर्वाद के समय तो राजा अतिथि अपने पूर्व जन्मों के सत्कर्मो का ही फल भोग रहे थे, आशीर्वाद का फल तो उस फलके समाप्त होने पर ही प्रारम्भ होता है ॥ १८ ॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद् गवाम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—सः बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणां अवध्यतां धुर्याणां धुरः मोक्षं गवां अदोहं च अदिशत् ।

बन्धेति । सोऽतिथिर्बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणामवध्यताम् । धुरं वहन्तीति धुर्या बलीवर्दादयः तेषां धुरो भारस्य मोक्षं गवामदोहं वत्सानां पानार्थं दोहनिवृत्ति चादिशदादिदेश ।

भावार्थ—राज्याभिषेक की प्रसन्नता में अतिथि ने आज्ञा दी कि कैदियों को छोड़ दिया जाय, मृत्युदण्ड पाये हुए मारे न जाँय, बोझा ढोनेवाले पशुओं के कन्धों पर से जुए हटा लिए जाँय और गौवों का दूध बछड़ों को पीने के लिए छोड़ दिया जाय ॥ १९ ॥

क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥

अन्वयः—पञ्जरस्थाः शुकादयः अस्य, क्रीडापतत्रिणः अपि तदादेशात् लब्धमोक्षा (सन्तः) यथेष्टगतयः अभवन् ।

क्रीडेति । पञ्जरस्थाः शुकादयोऽस्यातिथेः क्रीडापतत्रिणोऽपि किमुतान्य इत्यपिशब्दार्थः, तदादेशात्तस्यातिथेः शासनाल्लब्धमोक्षाः सन्तो यथेष्टं गतिर्येषां ते स्वेच्छाचारिणोऽभवन् ।

भावार्थ—अतिथि की आज्ञा से क्रीड़ा के लिए पिंजरेमें पाले गये सुग्गा, तोता, मैंना आदि छोड दिये गये, जो अपने मनसे इधर-उधर उड़ने लगे ॥ २० ॥

ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ २१ ॥

अन्वयः—ततः स नेपथ्यग्रहणाय कक्ष्यान्तरन्यस्तं शुचि सोत्तरच्छदं गजदन्तासनं अध्यास्त ।

तत इति । ततः सोऽतिथिर्नेपथ्यग्रहणाय प्रधानस्वीकाराय कक्ष्यान्तरं हर्म्याङ्गणविशेषः 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः' इत्यमरः । तत्र न्यस्तं स्थापितं शुचि निर्मलं सोत्तरच्छदमास्तरणसहितं गजदन्तस्यासनं पीठमध्यास्त । तत्रोपविष्ट इत्यर्थः ।

भावार्थ—इसके बाद वे अपना राजसी शृङ्गार कराने के लिए हाथी के दाँत के बने हुए पवित्र सिंहासन पर बैठे, जो राजभवन के दूसरे कमरे में रखा हुआ था और जिसपर चादर बिछी हुई थी ॥ २१ ॥

तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ २२ ॥

अन्वयः—तोयनिर्णिक्तपाणयः प्रसाधकाः धूपाश्यानकेशान्तं तं तैः तैः आकल्पसाधनैः उपसेदुः ।

तमिति । तोयेन निर्णिक्तपाणयः क्षालितहस्ताः प्रसाधका अलङ्कर्तारो धूपेन गन्धद्रव्यधूपेनाश्यानकेशान्तं शोषितकेशपाशान्तं तमतिथिं तैस्तैराकल्पस्य नेपथ्यस्य साधनैर्गन्धमाल्यादिभिरुपसेदुरुपतस्थुः । अलञ्चक्रुरित्यर्थः ।

भावार्थ—शृङ्गार करने वालों ने स्वच्छ हाथों से धूप देने से सुगन्धित या सूखे हुए केशवाले राजा अतिथिको उन-उन शृङ्गार-सामग्रियों से अलंकृत कर दिया ॥ २२ ॥

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥२३॥

अन्वयः—ते मुक्तागुणोन्नद्धं अन्तर्गतस्रजं अस्य मौलिं प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण प्रत्यूपुः ।

त इति । ते प्रसाधका मुक्तागुणेन मौक्तिकसरेणोन्नद्धमुद्वद्धमन्तर्गतस्रजमस्यातिथेर्मौलिधम्मिल्लं प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण माणिक्येन प्रत्युप्तं चक्रुः ।

भावार्थ—फूल और मोतियों की लड़ी से गूँथे हुए राजा अतिथि के शिर पर उन्होंने वह पद्मराग मणि बाँधी जिसकी सुन्दर चमक चारों ओर फैल गई ॥२३॥

चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥२४॥

अन्वयः—मृगनाभिसुगन्धिना चन्दनेन अङ्गरागं समापय्य ततः विन्यस्तरोचनं पत्रं चक्रुः ।

चन्दनेनेति । किं च मृगनाभ्या कस्तूरिकया सुगन्धिना चन्दनेनाङ्गरागमङ्गविलेपनं समापय्य समाप्य ततोऽनन्तरं विन्यस्ता रोचना गोरोचना यस्मिंस्तत्पत्रं चक्रुः ।

भावार्थ—बाद में सिङ्गारियों ने कस्तूरी में वासे हुए चन्दन का सुगन्धित अङ्गराग लगा कर गोरोचन से मुख पर रचना की ॥ २४ ॥

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥

अन्वयः—आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् राज्यश्रीवधूवरः सः अतिशयप्रेक्ष्यः आसीत् ।

आमुक्तेति । आमुक्ताभरण आसञ्जिताभरणः स्रजोऽस्यास्तीति स्रग्वी । "अस्मयामेधास्रजो विनिः" इति विनिप्रत्ययः । हंसाश्चिह्नमस्येति हंसचिह्नं यद् दुकूलं तद्वान् । अत्र बहुव्रीहिणैवार्थसिद्धेर्मतुवानर्थक्येऽपि सर्वधनीत्यादिवत्कर्मधारयादपि मत्वर्थीयं प्रत्ययमिच्छन्ति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । राज्यश्रीरेव वधूर्नवोढा तस्या वरो वोढा । 'वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री वरो जामातृपिङ्गयो' इति विश्वः । सोऽतिथिरतिशयेन प्रेक्ष्या दर्शनीय आसीत् । वरोऽप्येवंविशेषणः ।

भावार्थ—आभूषण और माला पहने हुए, हंस छपा हुआ दुपट्टा ओढ़े हुए राजा अतिथि उस समय ऐसे सुन्दर दिखाई देते थे मानो राज्यलक्ष्मीरूपिणी वधू के दूलहा हों ॥ २५ ॥

नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६ ॥

अन्वय —हिरण्मये आदर्शे नेपथ्यदर्शिनः तस्य छाया उदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोः इव विरराज ।

नेपथ्येति । हिरण्मये सौवर्णे आदर्शे दर्पणे नेपथ्यदर्शिनो वेषं पश्यतस्तस्यातिथेश्छाया प्रतिबिम्बम् उदिते दर्पणकल्पे मेरौ यः कल्पतरुस्तस्य छायेव विरराज । तस्य सूर्यसङ्क्रान्तबिम्बस्य सम्भवान्मेरावित्युक्तम् ।

भावार्थ—सुवर्ण के बने दर्पण में जब वे अपनी सजावट देखने लगे उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा लग रहा था मानो सूर्योदय के समय सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥ २६ ॥

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥ २७ ॥

अन्वय —सः राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः उदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभां ययौ ।

स इति । सोऽतिथी राजककुदानि राजचिह्नानि छत्रचामरादीनि । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तेषु व्यग्राः पाणयो येषां तैः पार्श्ववर्तिभिर्जनैरुदीरितालोक उच्चारितजयशब्दः । 'आलोको जयशब्दः स्यात्' इति हलायुधः । सुधर्मायाः देवसभायाः अनवमामन्यूनां सभामास्थानीं ययौ । 'स्यात्सुधर्मा देवसभा' इत्यमरः ।

भावार्थ—तब वे राजा अतिथि अपनी उस सभा की ओर चले जो किसी प्रकार भी देवताओं की सभा सुधर्मा से कम नहीं थी, उनके पीछे-पीछे बहुत से सेवक हाथों में राजचिह्न छत्र लिए चमर डुलाते हुए और जय-जयकार करते हुए चल रहे थे ॥ २७ ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—तत्र वितानसहितं महीक्षितां चूडामणिभिः उद्घृष्टपादपीठम् पैतृकं आसनं भेजे ।

वितानेति । तत्र सभायां वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । महीक्षितां राज्ञां चूडामणिभिः शिरोरत्नैरुद्घृष्टमुल्लिखितं पादपीठं यस्य तत् । पितुरिदं पैतृकम् । "ऋतष्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः । आसनं सिंहासनं भेजे ।

भावार्थ—वहाँ चँदोवा लगे हुए अपने पिता के सिंहासन पर वे जा बैठे। उनके पैर के नीचे जो पीढ़ा रखा हुआ था वह प्रणाम करने वाले राजाओंके मस्तक की मणियों की रगड़ से घिस गया था ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—तेन च आक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणं महत् मङ्गलायतनम् कौस्तुभेन कैशवं इव शुशुभे ।

शुशुभ इति । तेन चाक्रान्तं श्रीवत्सो नाम गृहविशेषः तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । 'श्रीवत्सनन्द्यावर्तादिविच्छेदो वहवो द्वयोः' इति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं मङ्गलगृहसभारूपं कौस्तुभेन मणिनाक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणम् केशवस्येदं कैशवम् वक्ष इव शुशुभे ।

भावार्थ—जिस प्रकार भृगु ऋषि के चरणके आघात से बने हुए श्रीवत्स के चिह्नवाला भगवान् विष्णुका वक्षःस्थल कौस्तुभ मणिसे चमक उठता है उसी प्रकार राजा अतिथि के बैठने से विशाल वह सभाभवन भी जगमगा उठा ॥२९॥

बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सः कुमारत्वात् भूयः आधिराज्यं अवाप्य रेखाभावात् सामग्र्यं उपारूढः चन्द्रमा इव बभौ ।

बभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वाद् बाल्याद् भूयो यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम् अधिराजस्य भाव आधिराज्यं महाराज्यमवाप्य रेखाभावादर्धेन्दुत्वमवाप्यैव सामग्र्यमुपारूढः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव बभौ इति व्याख्यानम् । तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ।

भावार्थ—राजा अतिथिको युवराज बनने का अवसर ही नहीं आया, क्योंकि वे कुमार अवस्था के बाद तत्काल ही महाराज हो गये मानो एक कला वाले चन्द्रमा में तुरन्त सोलहवीं कला आ गई ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—प्रसन्नमुखरागं स्मितपूर्वाभिभाषिणं त अनुजीविनः मूर्तिमन्तं विश्वासं अमन्यत ।

प्रसन्नेति । प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तं स्मितपूर्वं यथा तथाभि-भाषिणमाभाषणशील तमतिथिमनुजीविन सेवकाः मूर्तिमन्त विग्रहवन्तं विश्वासं विस्रम्भममन्यन्त । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमर ।

भावार्थ—उस राजा अतिथि का मुख सदा प्रसन्न रहता था और वे सबसे मुस्करा कर बोलते थे इसलिए उनके सेवक उन्हें साक्षात् विश्वास का मूर्तिमान् रूप मानते थे ॥ ३१ ॥

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥

अन्वयः—पुरुहूतश्रीः सः कल्पद्रुमनिभध्वजां पुरं ऐरावतौजसा नागेन क्रममाणः द्यां चकार ।

स इति । पुरुहूतश्रीः सोऽतिथिः कल्पद्रुमाणां निभाः समाना ध्वजा यस्यास्तां पुरमयोध्यामैरावतस्य ओज इवौजो बलं यस्य तेन नागेन कुञ्जरेण क्रममाणश्च-रन् । "अनुपसर्गाद्वा" इति वैकल्पिकमात्मनेपदम् । द्यां चकार । स्वर्गलोकसदृशीं चकारेत्यर्थः । "द्यौ स्वर्गसुरवर्त्मनो.' इति विश्वः ।

भावार्थ—इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली राजा अतिथि जब ऐरावत के समान बलवान् हाथी पर सवार होकर अयोध्या मे घूमने निकले तब कल्पवृक्ष के समान ध्वजाओं वाली वह अयोध्या नगरी स्वर्ग के समान लगने लगी ॥ ३२ ॥

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—तस्य एकस्य मूर्ध्नि छत्रं उच्छ्रितं अमलत्विषा तेन कृत्स्नस्य जगतः पूर्वराजवियोगौष्म्यं हृतम् ।

तस्येति । तस्यैकस्य मूर्ध्नि छत्रमुच्छ्रितमुन्नमितम् अमलत्विषा तेन छत्रेण कृत्स्नस्य जगतः पूर्वराजस्य कुशस्य वियोगेन यदौष्म्यं सन्तापस्तद्धृतं नाशितम् । अत्र छत्रोन्नमनसन्तापहरणलक्षणयो. कारणकार्ययोर्भिन्नदेशत्वादसङ्गतिरलङ्कारः । तदुक्तम्—'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसङ्गतिः' इति ।

भावार्थ—यद्यपि उस एक राजा अतिथि के सिर पर ताज-छत्र लगा हुआ था पर उस श्वेत रंग के छत्र ने समस्त संसार के उस सन्ताप को दूर कर दिया जो कुश के वियोग से उत्पन्न हुआ था ॥ ३३ ॥

धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अग्नेः धूमात् शिखा रवेः उदयात् पश्चात् अंशवः (उत्तिष्ठन्ते) स तेजसा वृत्ति अतीत्य गुणैः समं एव उत्थितः।

धूमादिति। अग्नेर्धूमात्पश्चात् अनन्तरमित्यर्थः। शिखा ज्वाला रवेरुदयात् पश्चादनन्तरमंशवः। उत्तिष्ठन्त इति शेषः। सोऽतिथिस्तेजसामग्न्यादीनां वृत्ति स्वभावमतीत्य गुणैः समं सहैवोत्थित उदितः। अपूर्वमिदमित्यर्थः।

भावार्थ—आग की लपट धूआँ निकलने के पीछे उठती है और किरणें सूर्य के उदय होने के वाद दिखाई देती हैं किन्तु राजा अतिथि ने इन तेजस्वियों के नियमों को भी उलट दिया क्योंकि उनके गुण उनके राजा वनने के साथ ही प्रगट हो गये ॥ ३४ ॥

तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—पौरयोषितः प्रीतिविशदैः नेत्रैः तं अन्वयुः शरत्प्रसन्नैः ज्योतिभिः विभावर्यः ध्रुवं इव।

तमिति। पौरयोषितः प्रीत्या विशदैः प्रसन्नैर्नेत्रैः करणैस्तमतिथिमन्वयुरनुजग्मुः। सदृष्टिप्रसारमद्राक्षुरित्यर्थः। कथमिव। शरदि प्रसन्नैर्ज्योतिभिर्नक्षत्रैर्विभावर्यो रात्रयो ध्रुवमिदं ध्रुवपाशवद्धत्वात्ताराचक्रस्येत्यर्थः।

भावार्थ—जिस प्रकार शरद् ऋतु की निर्मल रात के तारे ध्रुव के चारों ओर घूमते हैं, उसी प्रकार नगर की स्त्रियों की प्रेमभरी आँखें अतिथि पर लट्टू हो गईं और उन्हें प्रसन्न नेत्रों से देखा ॥ ३५ ॥

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—प्रशस्तायतनार्चिताः अयोध्यादेवताः अनुध्येयं एनं प्रतिमागतैः सान्निध्यैः अनुदध्युः।

अयोध्येति। प्रशस्तेष्वायतनेष्वालयेष्वर्चिता अयोध्यादेवताश्चानुध्ययेमनुग्राह्य-मेनमतिथिं प्रतिमागतैरर्चासंक्रान्तैः सान्निध्यैः सन्निधानैरनुदध्युरनुजगृहुः। 'अनुध्या-नमनुग्रहः' इत्युत्पलमालायाम्। तदनुग्रहवुद्ध्या सन्निदधुरित्यर्थः।

भावार्थ—अयोध्या के वड़े-वड़े मन्दिरों में जिन देवताओं की पूजा की गई उन्होंने अपनी मूर्तियों में पैठ-पैठ कर कृपा के योग्य राजा अतिथि पर वड़ी कृपा की ॥ ३६ ॥

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥ ३७ ॥

अन्वय.—अभिषेकजलाप्लुता वेदिः यावत् न आश्यायते तावत् एव अस्य दुःसहः प्रताप. वेलान्त प्राप ।

यावदिति । अभिषेकजलैराप्लुता सिक्ता वेदिरभिषेकवेदिर्यावन्नाश्यायते न शुष्यति । कर्तरि लट् । तावदेवास्य राज्ञो दु सहः प्रतापो वेलान्तं वेलापर्यंन्त प्राप ।

भावार्थ—अभी अभिषेक के जल से भीगी हुई वेदी सूखने भी नहीं पाई थी कि उनका दुस्सह प्रताप समुद्र के तट तक पहुँच गया ॥ ३७ ॥

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—गुरोः वसिष्ठस्य मन्त्राः धन्विनः तस्य सहायकाः उभये सगताः (सन्तः) यत् साध्यं न साधयेयु. तत् किम् ।

वसिष्ठस्येति । गुरोर्वसिष्ठस्य मन्त्रा. धन्विनस्तस्यातिथेः सायकाः इत्युभये सङ्गता सन्तो यत्साध्य न साधयेयुस्तत्तादृक्साध्य किम् । न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामसाध्यं नास्तीति भावः ।

भावार्थ—गुरु वसिष्ठ जी के मन्त्र और धनुर्धारी राजा अतिथि के बाण इन दोनों मिलकर वह कौनसा कार्य था जिसे पूरा न कर डाला हो ॥ ३८ ॥

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान् व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—धर्मस्थसख. अतन्द्रितः सः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां संशयच्छेद्यान् व्यवहारान् ददर्श ।

स इति । धर्मे तिष्ठन्तीति धर्मस्थाः सभ्याः । 'राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः' इत्युक्तलक्षणाः । तेषां सखा धर्मस्थसखः । तत्सहित इत्यर्थः । अतन्द्रितोऽनलसः स नृपः शश्वत् अन्वहमित्यर्थः । अर्थिना साध्यार्थवता प्रत्यर्थिनां तद्विरोधिनां च संशयच्छेद्यान्संशयाद्धेतोश्छेद्यान्परिच्छेद्यान् । सन्दिग्धत्वादवश्यनिर्णयानित्यर्थः । व्यवहारानृणादानादिविवादान्स्वयं ददर्शानुसन्दधौ । न तु प्राड्विवाकमेव नियुक्तवानित्यर्थः । अत्र याज्ञवल्क्य.—'व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह' इति ।

भावार्थ—धर्मात्माओं से मिलकर राजा अतिथि आलस को छोड़कर वादी-प्रतिवादियों के सन्दिग्ध मुकदमों को स्वयं देखते थे ॥ ३९ ॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान् विज्ञापनाफलैः ॥४०॥

अन्वयः—ततः परं भृत्यान् अभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः पाकाभिमुखैः विज्ञापनाफलैः युयोज ।

तत इति । ततः परं व्यवहारदर्शनानन्तरं भृत्याननुजीविनः अभिव्यक्तं मुखप्रसादादिलिङ्गैः स्फुटीभूतं यत्सौमनस्यं स्वामिनः प्रसन्नत्वं तेन निवेदितैः सूचितैः पाकाभिमुखैः सिद्ध्युन्मुखैर्विज्ञापनानां विज्ञप्तीनां फलैः प्रेप्सितार्थैर्युयोज योजयामास । अत्र बृहस्पतिः—'नियुक्तः कर्मनिष्पत्तौ विज्ञप्तौ च यदृच्छया । भृत्यान्धनैर्मानयंस्तु नवोऽप्यक्षोभ्यतां व्रजेत् ।' इति । कविश्च वक्ष्यति—'अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीत्' इत्यादिना । अत्र सौमनस्यफलयोजनादिभिर्नृपस्य वृक्षसमाधिर्ध्वन्यत इत्यनुसन्धेयम् ।

भावार्थ—इसके बाद जिस प्रकार वृक्ष को फला हुआ देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इससे इतने फल मिलेंगे, उसी प्रकार राजा अतिथि के प्रसन्न मुखको देखकर ही उनके सेवक जान लेते थे कि हमें इतना फल मिलेगा ॥४०॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥४१॥

अन्वयः—प्रजाः तद्गुरुणा नभसा नद्य इव विवर्धिताः तस्मिन् तु नभस्ये ता इव भूयसीं वृद्धिं ययुः ।

प्रजा इति । प्रजास्तस्यातिथेर्गुरुणा पित्रा कुशेन नभसा श्रावणमासेन नद्य इव विवर्धिता तस्मिन्नतिथौ तु नभस्ये भाद्रपदे मासे नद्य इव भूयसीं वृद्धिमभ्युदयमाययुः । प्रजापोषणेन पितरमतिशयितवानित्यर्थः ।

भावार्थ—कुश के समय जो प्रजा सावन की नदी के समान भरी-पूरी थी वह पुनः राजा अतिथि के राज्यकाल में भादो की नदी के समान और भी अधिक बढ़ने लगी ॥ ४१ ॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद् भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥४२॥

अन्वयः—स यत् उवाच तत् मिथ्या न, यत् ददौ तत् न जहार । (किन्तु) शत्रून् उद्धृत्य प्रतिरोपयन् भग्नव्रतः अभूत् ।

यदिति । सोऽतिथिर्यद्वाक्यं दानत्राणादिविषयमुवाच तन्न मिथ्याऽनृतं नाभूत् । यद्वस्तु ददौ तन्न जहार न पुनराददे । किन्तु शत्रूनुद्धृत्योत्खाय प्रतिरोपयन्पुनः स्थापयन् भग्नव्रतो भग्ननियमोऽभूत् ।

भावार्थ—राजा अतिथिने मुंह से जो कहा उसे पूरा कर दिखाया, जिसे जो दे दिया उससे फिर लिया नही, पर शत्रुओं को उखाड उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम तोड़ दिया ॥ ४२ ॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥४३॥

अन्वयः—वयोरूपविभूतीना एकैकं मदकारण, तानि तस्मिन् समस्तानि, तस्य मनः न उत्सिषिचे ।

वय इति । वयोरूपविभूतीना यौवनसौन्दर्यैश्वर्याणा मध्य एकैकं मदहेतुः तानि मदकारणानि तस्मिन्राज्ञि समस्तानि मिलितानीति शेषः । तथापि तस्यातिथेर्मनो नोत्सिषिचे न जगर्व। सिचतेः स्वरितत्वादात्मनेपदम् । अत्र वयोरूपादीनां गर्वहेतुत्वान्मदस्य च मदिराकार्यत्वेनात्कारकत्वान्मदशब्देन गर्वो लक्ष्यत। इत्याहुः उक्तं च— 'ऐश्वर्यरूपतारुण्यकुलविद्याबलैरपि। इष्टलाभादिना ह्येषामवज्ञा गर्व ईरितः । मदस्त्वानन्दसम्मोहः सम्भेदो मदिराकृतः ।।' इति । अतएव कविनाऽपि 'उत्सिषिचे' इत्युक्तम् । न तु 'उन्माद' इति ।

भावार्थ—यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इनमें से एक भी वस्तु जिसके पास होती है वह उन्मत्त हो जाता है, अतिथि के पास ये सभी वर्तमान थी फिर भी उन्हें अभिमान छूतक नही गया था ।। ४३ ।।

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् ।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद् दृढमूल इव द्रुमः ।।४४।।

अन्वयः—इत्थं अनुवासरं प्रकृतिषु जनितरागासु स नवः अपि दृढमूलो द्रुम इव अक्षोभ्य आसीत् ।

इत्थमिति । इत्थमनुवासरमन्वहं प्रकृतिषु प्रजासु जनितरागासु जनित उत्पन्नो राग. प्रीतिर्यासु तासु सतीपु स राजा नवोऽपि दृढमूलो द्रुमः इव अक्षोभ्योऽप्रधृष्य आसीत् ।

भावार्थ—इस प्रकार प्रजा उनसे दिनों दिन अधिक प्रेम करने लगी और राजा होने पर भी वे गहरी डाल वाले वृक्ष के समान अचल हो गये ।। ४४ ।।

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून् ।।४५।।

अन्वयः—यतः बाह्याः शत्रवः अनित्याः विप्रकृष्टाः च ते, अतः सः अभ्यन्तरान् षड् रिपून् पूर्व अजयत् ।

अनित्या इति । यतो वाह्याः शत्रवः प्रतिनृपा अनित्याः । द्विषन्ति स्निह्यन्ति चेत्यर्थः । किञ्च ते वाह्या विप्रकृष्टा दूरस्थाश्च । अतः सोऽभ्यन्तरानन्तर्वर्तिनो नित्यान् षड्रिपून्कामक्रोधादीन्पूर्वमजयत् । अन्तःशत्रुजये वाह्या अपि न दुर्जया इति भावः ।

भावार्थ—यह सोचकर कि वाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं इसलिए राजा अतिथि ने शरीर के अन्दर सदा वर्तमान काम आदि छवों शत्रुओं को पहले जीत लिया ॥ ४५ ॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः ।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥ ४६ ॥

अन्वयः—स्वभावतः चपला अपि श्रीः प्रसादाभिमुखे तस्मिन् निकषे हेम-रेखा इव अनपायिनी आसीत् ।

प्रसादेति । स्वभावतश्चपला चञ्चलापि श्रीः प्रसादाभिमुखे तस्मिन्नृपे निकषे निकषोपले हेमरेखेव अनपायिनी स्थिराऽऽसीत् ।

भावार्थ—स्वभाव से चञ्चल लक्ष्मी भी प्रसन्नमुखवाले राजा अतिथि के पास आकर उसी प्रकार स्थिर होकर वैठ गई जिस प्रकार कसौटी पर बनी हुई सोने की लकीर पक्की हो जाती है ॥ ४६ ॥

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—केवला नीतिः कातर्यं (केवलं) शौर्यं श्वापदचेष्टितम् । अतः स समेताभ्यां उभाभ्यां सिद्धिं अन्वियेष ।

कातर्यमिति । केवला शौर्यवर्जिता नीतिः कातर्यं भीरुत्वम् । शौर्यं केवलमित्य-नुषञ्जनीयम् । केवलं नीतिरहितं शौर्यं श्वापदचेष्टितम् । व्याघ्रादिचेष्टाप्रायमि-त्यर्थः । 'व्याघ्रादयो वनचराः पशवः श्वापदा मताः' इति हलायुधः । अतो हेतोः सोऽतिथिः समेताभ्यां सङ्गताभ्यामुभाभ्यां नीतिशौर्याभ्यां सिद्धिं जयप्राप्तिमन्वि-येष गवेषितवान् ।

भावार्थ—केवल कूट नीति से काम लेना कायरता है और केवल मारकाट करके जीतना हिंसक पशुओं का स्वभाव है इसलिए राजा अतिथि ने समयानुसार राजनीति और वीरता दोनों का आश्रय लेकर कार्य सिद्ध करने की चेष्टा की ॥४७॥

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत्किञ्चिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—न्यस्तप्रणिधिदीधितेः तस्य राज्ञः मण्डले व्यभ्रस्य विवस्वतः इव किञ्चित् अदृष्टं न अभवत् ।

न तस्येति । न्यस्ताः सर्वतः प्रहिताः प्रणिधयश्चरा रश्मयो यस्य तस्य । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इति शाश्वतः । तस्य राज्ञः व्यभ्रस्य निर्मेघस्य विवस्वतः सूर्यस्येव मण्डले स्वविषये किंचिदल्पमप्यदृष्टमज्ञातं नाभवन्नासीत् । स चारचक्षुषा सर्वमपश्यदित्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार खुले आकाश में सूर्य की किरणों के फैल जाने से कुछ भी छिपा नहीं रहता, उसी प्रकार राजा अतिथि ने गुप्तचरों का ऐसा जाल बिछा दिया था कि प्रजा की कोई बात उससे छिपी नहीं रह पाती थी अर्थात् वे सर्वत्र नियुक्त गुप्तचरों द्वारा सब जान जाते थे ॥ ४८ ॥

> रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् ।
> तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—रात्रिन्दिवविभागेषु महीक्षितां यत् आदिष्टं तद् स विकल्पपराङ्मुखः (सन्) नियोगेन सिषेवे ।

रात्रिंदिवेति । रात्रौ च दिवा रात्रिंदिवम् । "अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुह०' इत्यादिनाधिकरणार्थे द्वन्द्वेऽच्प्रत्ययान्तो निपातः । अव्ययान्तत्वादव्ययत्वम् । अत्र षष्ठ्यर्थलक्षणया रात्रिदिवमिति अहोरात्रयोरित्यर्थः । तयोर्विभागा अंशाः प्रहरादयः तेषु महीक्षितां राज्ञां यदादिष्टमिदमस्मिन्काले कर्तव्यमिति मन्वादिभिरुपदिष्टं तत्स राजा विकल्पपराङ्मुखः संशयरहितः सन् नियोगेन निश्चयेन सिषेवे अनुष्ठितवानित्यर्थः । अत्र कौटिल्यः—'कार्याणां नियोगविकल्पसमुच्चया भवन्ति । अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः । अनेन वान्येन वेति विकल्पः । अनेन चेति समुच्चय.' ।

भावार्थ—राजनीतिकारों ने राजाओं के लिए दिन और रात के जो कर्तव्य निर्धारित किये हैं उन सब को राजा अतिथि विश्वास के साथ नियमपूर्वक पालन करते थे ॥ ४९ ॥

> मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
> स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥

अन्वयः—तस्य प्रतिदिनम् मन्त्रिभिः सह मन्त्रः बभूव । स सेव्यमानः अपि जातु सूच्यते (यतः सः) गुप्तद्वारः (आसीत्) ।

मन्त्र इति । तस्य राज्ञः प्रतिदिनं मन्त्रिभिः सह मन्त्रो विचारो बभूव । स मन्त्रः सेव्यमानोऽप्यन्वहमावर्त्यमानोऽपि जातु कदाचिदपि न सूच्यते न प्रकाश्यते । तत्र हेतुर्गुप्तद्वार इति संवृतेङ्गितकारादिज्ञानमार्ग इत्यर्थः ।

भावार्थ—वे राजा अतिथि प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ राज्य की गुप्त बातें

करते थे पर उन्हें इतना गुप्त रखते थे कि व्यवहार में आने पर भी किसी को पता नहीं चलता था ॥ ५० ॥

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः ।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यथाकालं स्वपन् अपि सः परेषु च क्षिप्तैः अज्ञातपरस्परैः अपसर्पैः जजागार ।

परेष्विति । यथाकालमुक्तकालानतिक्रमेण स्वपन्नपि सोऽतिथिः परेषु शत्रुषु स्वेषु स्वकीयेषु च मन्त्र्यादितीर्थेष्विति शेषः । क्षिप्तैः प्रहितैरविज्ञाताः परस्परे येषां तैः । अन्योन्याविज्ञातैरित्यर्थः । अपसर्पैश्चरैः । 'अपसर्पश्चरा स्पर्शः' इत्यमरः । जजागार बुद्धवान् । चारमुखेन सर्वमज्ञासीदित्यर्थः । अत्र कामन्दकः—'चारान्विचारयेत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च । पाषण्डयादीनविज्ञातानन्योन्यमितरैरपि' । इति ।

भावार्थ—उन्होंने अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओं का भेद जानने के लिए ऐसी चतुराई से उनके पीछे गुप्तचर लगा रखे थे कि वे गुप्तचर भी आपस में एक दूसरे को नहीं पहचान पाते थे । उनसे सब समाचार मिलते रहने के कारण वे सोते हुए भी मानो जागते रहते थे ॥ ५१ ॥

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—द्विषां रोद्धुः तस्य दुर्ग्रहाणि दुर्गाणि आसन् । हि गजास्कन्दी सिंहः भयात् गिरिगुहाशयः न (किन्तु स्वभावात्) ।

दुर्गाणीति । द्विषां रोद्धू रोधकस्यापि न तु स्वयं रोध्यस्येत्यर्थः । तस्य राज्ञो दुर्ग्रहाणि परैर्दुर्धर्षाणि दुर्गाणि महीदुर्गादीन्यासन् । न च निर्भीकस्य किं दुर्गैरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासमुखेनाह—न हीति । गजानास्कन्दति हिनस्तीति गजास्कन्दी सिंहो भयाद्धेतोः गिरिगुहासु शेत इति । गिरिगुहाशयो न हि किंतु स्वभावत एवेति शेषः । "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः । अत्र मनुः—'धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्ष्यमेव वा । नृदुर्गं गिरदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्' ॥ इति ।

भावार्थ—यद्यपि वे युद्ध में शत्रुओं को घेरते थे फिर भी उन्होंने राजधानी के चारों ओर वहुत-वड़े वड़े दुर्ग वनवा दिये थे, क्योंकि हाथियों पर आक्रमण करने वाला सिंह भय से पहाड़ की कन्दरा में नहीं सोता । अर्थात् जैसे निर्भीक होने पर भी सिंह सुरक्षित कन्दरा में सोता है वैसे ही निर्भीक अतिथिके भी दुर्जय किले थे ॥ ५२ ॥

मध्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ ५३ ॥

अन्वयः—भव्यमुख्याः प्रत्यवेक्ष्याः (अतएव) निरत्ययाः गर्भशालि सधर्माणः तस्य समारम्भाः गूढं विपेचिरे ।

भव्येति । भव्यमुख्याः कल्याणप्रधानाः न तु विपरीताः प्रत्यवेक्ष्या एतावत्कृतमेतावत्कर्तव्यमित्यनुसंधानेन विचारणीयाः । अतएव निरत्यया निर्बाधा गर्भेऽभ्यन्तरे पच्यन्ते ये शालयस्तेषां सधर्माणः । अतिनिगूढा इत्यर्थः । "धर्मादनिच्केवलात्" इत्यनिच्प्रत्ययः, समासान्तः तस्य राज्ञः समारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि गूढमप्रकाशं विपेचिरे । फलिता इत्यर्थः । 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः' इति भावः ।

भावार्थ—वे जो काम करते थे सब कल्याणकारी होते थे । वे काम करने के पहले उस पर भली भाँति विचार कर लेते थे, इसलिए उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी, जिस प्रकार साठी धान का दाना भीतर ही भीतर पक जाता है उसी प्रकार उनका काम गुप्तरूप से आरम्भ होकर पूरा हो जाता है ॥ ५३ ॥

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—सः उपचितः जातु अपथेन न प्रववृते हि लवणाम्भसः वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानम् ।

अपथेनेति । सोऽतिशयेनोपचितोऽपि वृद्धिं गतोऽपि सन् जातु कदाचिदप्यपथेन कुमार्गेण न प्रववृते न प्रवृत्तः । मर्यादां न जहावित्यर्थः । तथाहि लवणाम्भसो लवणसागरस्य वृद्धौ पूरोत्पीडे सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रस्थानं निःसारणम् । न त्वन्यथेत्यर्थः ।

भावार्थ—ऐश्वर्यशाली होकर भी उन्होंने बुरे मार्ग में पैर नहीं रखा क्योंकि ज्वार के समय जब समुद्र बढ़ता है तब नदियों के मार्ग से ही बढ़ता है दूसरे मार्गों से नहीं ॥ ५४ ॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—प्रकृतिवैराग्यं (दैवादुत्पन्नम्) सद्यः कामं शमयितुं क्षमः शक्तः सः यस्य प्रतीकारः कार्यः तत् न उदपादयत् ।

काममिति । प्रकृतिवैराग्यं प्रजाविरागम् । दैवादुत्पन्नमिति शेषः । सद्यः कामं सम्यक्शमयितुं प्रतिकर्तुं क्षमः शक्तः स राजा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्यः

कर्तव्यः। अनर्थहेतुत्वादित्यर्थः। तद्वैराग्यं नोदपादयत्। उत्पन्नप्रतीकारादनुत्पादनं वरमिति भावः। अत्र कौटिल्यः—'क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम्। विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्'॥ तस्मात्प्रकृतीनां विरागकारणानि नोत्पादयेदित्यर्थः।

भाषार्थ—राजा अतिथि में इतनी शक्ति थी कि प्रजा में यदि किसी प्रकार का असन्तोष हो तो उसे क्षणभर में दूर कर दें किन्तु उन्होंने प्रजा में कोई ऐसा असन्तोष उत्पन्न ही नहीं होने दिया जिसे दूर करने की आवश्यकता पड़े ॥५५॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः॥ ५६ ॥

अन्वयः—शक्तिमतः सतः तस्य शक्येषु एव यात्रा अभवत्, समीरणसहायः अपि दावानलः अम्भःप्रार्थी न (अभवत्)।

शक्येष्विति। शक्तिमतः शक्तिसंपन्नस्यापि सतस्तस्य राज्ञः शक्येषु शक्तिविषयेषु स्वस्माद्धीनवलेष्वेव विषये यात्रा दण्डयात्राऽभवत्। न तु समधिकेष्वित्यर्थः। तथाहि समीरणसहायोऽपि दवानलोऽम्भःप्रार्थी जलान्वेषी न दग्धुमिति शेषः। किंतु तृणकाष्ठादिकमेवान्विष्यतीत्यर्थः। अत्र कौटिल्यः–'समज्यायोभ्यां सन्दधीत हीनेन विगृह्णीयात्' इति।

भाषार्थ—राजा अतिथि शक्तिमान् थे इसलिए शक्तिशाली राजाओं पर ही चढ़ाई करते थे, दुर्बलों पर नहीं क्योंकि वायु की सहायता मिलने पर भी वन में लगी हुई आग पानी को नहीं चाहती। अर्थात् आग वायु का सहयोग रहने पर जल को जलाने की इच्छा नहीं करती किन्तु तृण, काष्ठ आदि को ही जलाती है॥ ५६ ॥

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ ५७ ॥

अन्वयः—सः अर्थकामाभ्यां धर्मं न बबाधे, तेन च तौ न बबाधे, अर्थं कामेन कामं वा अर्थेन (न बबाधे), (किन्तु) त्रिषु सदृशः (अभूत्)।

न धर्ममिति। स राजार्थकामाभ्यां धर्मं न बबाधे न नाशितवान्। तेन धर्मेण च तावर्थकामौ न अर्थं कामेन कामं वार्थेन न बबाधे। एकत्रैवासक्ता नाभूदित्यर्थः। किन्तु त्रिषु धर्मार्थकामेषु सदृशस्तुल्यवृत्तिः। अभूदित्यर्थः।

भाषार्थ—राजा अतिथि ने अर्थ और काम के लिए कभी धर्म को नहीं छोड़ा और धर्म में आसक्त होकर अर्थ और काम को नहीं छोड़ा और न अर्थ के

कारण कामको अथवा कामके कारण अर्थ को छोड़ा किन्तु धर्म, अर्थ और काम इन तीनों के साथ वे एकसा व्यवहार करते थे ॥ ५७ ॥

हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥

अन्वय—मित्राणि हीनानि अनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि (चेत्) विकुर्वते; अतः तेन मित्राणि मध्यमशक्तीनि स्थापितानि ।

हीनानिति । मित्राणि हीनान्यतिक्षीणानि चेदनुपकर्तॄण्यनुपकारीणि प्रवृद्धान्यतिसमृद्धानि चेद्विकुर्वते विरुद्धं चेष्टन्ते । अपकुर्वत इत्यर्थः । "अकर्मकाच्च" इत्यात्मनेपदम् । अतः कारणात्तेन राज्ञा मित्राणि सुहृदः । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः ।

भावार्थ—यदि नीच मनुष्य मित्र बन जाते हैं तो कुछ न कुछ खोटा कर्म अवश्य कर देते हैं, यदि धनी मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा डालते हैं, इसलिए राजा अतिथि मध्यमार्ग का अवलम्बन करके ऐसे लोगों को मित्र बनाते थे जो न नीच थे न धनी ही थे ॥ ५८ ॥

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सः परात्मनोः शक्त्यादीनां बलाबलं परिच्छिद्य एभिः परस्मात् बलिष्ठः चेत् ययौ अन्यथा आस्त ।

परेति । सोऽतिथिः परात्मनोः शत्रोरात्मनश्च शक्त्यादीनां शक्तिदेशकालादीनां बलाबलं न्यूनाधिकभावं परिच्छिद्य निश्चित्य एभिः शक्त्यादिभिः परस्माच्छत्रोर्बलिष्ठः स्वयमतिशयेन बलवांश्चेत् । बलशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन्प्रत्ययः । "विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुक् । ययौ यात्रां चक्रे । अन्यथा बलिष्ठश्चेदास्तातिष्ठत् । ययावित्यर्थः । अत्र मनुः—'यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । परस्य विपरीतं चेत्तदा यायादरीन्प्रति ॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च । तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥' इति ।

भावार्थ—शत्रुओं पर आक्रमण करने के पहले वे राजा अतिथि अपनी और शत्रुओं की त्रुटि को भलीभाँति तौल लेते थे, जब शत्रुसे अपना बल अधिक देखा तभी उसपर आक्रमण किया, नहीं तो चुप बैठे रहे ॥ ५९ ॥

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥

अन्वयः—कोशेन आश्रयणीयत्वं (भवति) इति तस्य अर्थसंग्रहः, हि अम्बुगर्भः जीमूतः चातकैः अभिनन्द्यते ।

कोशेनेति । कोशेनार्थचयेनाश्रयीणयत्वं भजनीयत्वम् । भवतीति शेषः । इति हेतोस्तस्य राज्ञः कर्तुः अर्थसंग्रहः । न तु लोभादित्यर्थः । तथाहि अम्बुगर्भं यस्य सोऽम्बुगर्भजीवनस्य जलस्य मूतः पुटवन्धो जीमूतो मेघः । 'मूङ्, बन्धने' पृषोदरादित्वात्साधुः । चातकैरभिनन्द्यते । सेव्यते । अत्र कामन्दकः—'धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां रक्षणाय च । आपदर्थं च संरक्ष्यः कोशो धर्मवता सदा' ॥ इति ।

भावार्थ—राजा अतिथि ने इसलिए धन इकट्ठा किया कि एक तो इससे आदर होता है और दूसरे दीन लोग आकर आश्रय लेते हैं क्योंकि चातक उन्हीं बादलों का स्वागत करते हैं जिनमें पानी भरा रहता है ॥ ६० ॥

परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्रिपून् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—स परकर्मापहः (सन्) स्वेषु कर्मसु उद्यतः अभूत्, रिपून् रन्ध्रेषु प्रहरन् आत्मनः रन्ध्रं आवृणोत् ।

परकर्मेति । स राजा परेषां कर्माणि सेतुवार्तादीन्यपहन्तीति परकर्मापहः सन् । "अन्येष्वपि दृश्यते" इत्यपिशब्दसामर्थ्याद्धन्तेर्डप्रत्ययः । किं च रिपून्रन्ध्रेषु प्रहरन्नात्मनो रन्ध्रं व्यसनादिकमावृणोत्संवृतवान् । अत्र मनुः—'नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥' इति ।

भावार्थ—शत्रुओं का उद्योग नष्ट करके वे राजा अतिथि अपने उद्योग में लग गये । उन्होंने शत्रुओं के दोषों से लाभ उठाकर उन्हें नष्ट कर दिया और अपने दोषों को दूर कर दिया ॥ ६१ ॥

पित्रा सम्वर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

अन्वयः—दण्डवतः तस्य पित्रा नित्यं सम्वर्द्धितः कृतास्त्रः साम्परायिकः दण्डः स्वदेहात् न व्यशिष्यत ।

पित्रेति । दण्डो दमः सैन्यं वा तद्वतो दण्डतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः पित्रा कुशेन नित्यं सम्वर्धितः कृतास्त्रः शिक्षितास्त्रः सम्परायो युद्धम् । 'युद्धायत्योः सम्प-

राया' इत्यमरः। तमर्हतीति साम्परायिकः। "तदर्हति" इति ठक्प्रत्ययः। दण्डः सैन्यम्। 'दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः' इति विश्वः। स्वदेहान्न व्यशिष्यत नाभिद्यत। स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि। मूलबलं स्वदेहमिवारक्षदित्यर्थः।

भावार्थ—कुशके प्रयत्न से बढ़ी हुई शस्त्रास्त्र चलाने में कुशल और युद्ध करने में समर्थ जो सेना थी, उसे अतिथि अपने शरीर के समान ही प्यार करते थे॥६२॥

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम्॥ ६३॥

अन्वयः—सर्पस्य शिरोरत्नम् इव अस्य शक्तित्रयं परः न चकर्ष। स तु परस्मात् तत् अयस्कान्त आयसम् इव (चकर्ष)।

सर्पस्येति। सर्पस्य शिरोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्ष। स तु परस्माच्छत्रोस्तच्छक्तित्रयम्। अयस्कान्तो मणिविशेष आयसं लोहविकारमिव चकर्ष।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प के सिरसे मणि नहीं निकाली जा सकती, उसी प्रकार शत्रु इनके प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियों को अपनी ओर नहीं खींच सके, किन्तु जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है वैसे ही उन्होंने शत्रुओं की उन शक्तियों को अपनी ओर खींच लिया॥ ६३॥

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु॥ ६४॥

अन्वयः—स्रवन्तीषु वापीषु इव अद्रिषु उपवनेषु इव अद्रिषु स्वकीयेषु वेश्मसु इव सार्थाः स्वैरं चेरुः।

वापीष्विति। स्रवन्तीषु नदीषु वापीषु दीर्घिकास्विव। 'वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः। वनेष्वरण्येषूपवनेष्वारामेष्विव। 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः। अद्रिषु वेश्मस्विव सार्था वणिक्प्रभृतयः स्वैरं स्वेच्छया चेरुश्चरन्ति स्म।

भावार्थ—राजा अतिथिका का इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग ऐसे बेरोक-टोक व्यापार करते थे कि नदियाँ बावलियों जैसी, वन उद्यान जैसे सुखकर और पर्वत अपने घर से सुखकर हो गये थे॥ ६४॥

तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक्॥ ६५॥

अन्वयः—विघ्नेभ्यः तपः रक्षन् तस्करेभ्यः सम्पदः च (रक्षन्) स आश्रमैः वर्णैः च यथास्वं षडंशभाक् चक्रे।

तप इति । विघ्नेभ्यस्तपो रक्षन् तस्करेभ्यः संपदश्च रक्षन् स राजाश्रमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्वर्णैरपि ब्राह्मणादिभिश्च यथास्वं स्वमनतिक्रम्य षडंशभाक्चक्रे । यथाक्रममाश्रमैस्तपसो वर्णैः सम्पदां च षष्ठांशभाक्कृत इत्यर्थः । षष्ठोऽंशः षडंशः । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमुक्तं प्राक् ।

भावार्थ—राजा अतिथि ने विघ्नों से तपस्वियों के तप की रक्षा की, चोरों से प्रजा की सम्पत्तियों को बचाया और चारों वर्ण एवं चारों आश्रमों से उनके अनुसार छठा भाग पाया ॥ ६५ ॥

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—भूः तस्मै राज्ञे रक्षासदृशं एवं वेतनं दिदेश, खनिभिः रत्नं सुषुवे, क्षेत्रैः सस्यं, वनैः गजान् (सुषुवे) ।

खनिभिरिति । भूर्भूमिस्तस्मै राज्ञे रक्षासदृशं रक्षणानुरूपमेव वेतनं भृतिं दिदेश ददौ । कथम् ? खनिभिराकरैः 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । रत्नं माणिक्यादिकं सुषुवे अजीजनत्, क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्हस्तिनः सुषुवे ।

भावार्थ—जिस प्रकार वे रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पृथ्वी भी उन्हें ऐश्वर्य देती जा रही थी, खानों ने रत्न दिये, खेतों ने अन्न दिया और वनों ने उन्हें हाथी दिये ॥ ६६ ॥

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ६७ ॥

अन्वयः—षण्मुखविक्रमः षण्णां गुणानां बलानां च साधनीयेषु वस्तुषु विनियोगज्ञः बभूव ।

स इति । षण्मुखविक्रमः स राजा षण्णां गुणानां सन्धिविग्रहादीनां बलानां मूलभृत्यादीनां च साधनीयेषु वस्तुषु साध्येष्वर्थेषु विनियोगं जानातीति विनियोगस्य ज्ञ इति वा विनियोगज्ञः । कर्मविवक्षायामुपपदसमासः । "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः । शेषविवक्षायां षष्ठीसमासः । "इगुपधज्ञा०" इत्यादिना कप्रत्ययः । बभूव । 'इदमत्र प्रयोक्तव्यम्' इत्याद्यज्ञासीदित्यर्थः ।

भावार्थ—कार्तिकेय के समान पराक्रमी राजा अतिथि यह अच्छी तरह जानते थे कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव इन छ राजगुणों को कैसे व्यवहार में लाना चाहिए तथा मूल, भृत्य, सुहृद्वर्ग, शत्रु, आटविक और बल इन छ प्रकार की सेनाओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ॥ ६७ ॥

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ ६८ ॥

अन्वयः—इति चतुर्विधां राजनीतिं क्रमात् प्रयुञ्जानः सः आतीर्थात् तस्याः फलं अप्रतिघातं आनशे ।

इतीति । इति चतुर्विधाम् । सामाद्युपायैरिति शेषः । राजनीतिं दण्डनीतिं क्रमात्सामादिकक्रमादेव प्रयुञ्जानः स राजा तीर्थान्मन्त्र्याद्यष्टादशात्मकतीर्थपर्यन्तम् । 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । तस्या नीतेः फलमप्रतीघातमप्रतिबन्धं यथा तथानशे प्राप्तवान् । मन्त्र्यादिषु यमुद्दिश्य य उपायः प्रयुज्यते स तस्य फलतीत्यर्थः ।

भावार्थ—इस प्रकार साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायों के साथ राजनीति चलाते हुए राजा अतिथि ने उन उपायों का निर्विघ्न फल पा लिया ॥६८॥

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ ६९ ॥

अन्वयः—कूटयुद्धविधिज्ञे अपि सन्मार्गयोधिनि तस्मिन् वीरगामिनी श्रीः अभिसारिकां वृत्तिं भेजे ।

कूटेति । कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि कपटयुद्धप्रकाराभिज्ञे सन्मार्गेण योधिनि धर्मयोद्धरि तस्मिन्नतिथौ वीरगामिनी जयश्रीरभिसारिकावृत्तिं भेजे । 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका' इत्यमरः । जयश्रीस्तमन्विष्यागच्छदित्यर्थः ।

भावार्थ—वे कपट-युद्ध भी जानते थे पर युद्ध क्षेत्र में वे धर्म की लड़ाई ही लड़ते थे इसलिए वीरों की सखी जयश्री उनके पास अभिसारिका के समान चुपके से पहुँचती थी ॥ ६९ ॥

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥

अन्वयः—अरीणां प्रतापभग्नत्वात् तस्य गन्धभिन्नान्यदन्तिनः गन्धद्विपस्य इव प्रायः रणः दुर्लभः (भवति) ।

प्राय इति । अरीणां सर्वेषामपि प्रतापेनातिनैजसैव भग्नत्वात्तस्य राज्ञः गन्धेन मदगन्धेनैव भिन्ना भग्ना अन्ये दन्तिनो येन तस्य गन्धद्विपस्येव प्रायः प्रायेण रणो दुर्लभः । खल्वर्थयोगेऽपि शेषविवक्षायां षष्ठीमिच्छन्तीत्युक्तम् ।

भावार्थ—युद्ध क्षेत्र में अतिथि को देखते ही शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग खड़े होते थे, इसलिए जैसे बिना मद वाले हाथी मतवाले

हाथी से नहीं लड़ते हैं वैसे ही प्रतापी राजा अतिथि से लड़ने का कोई साहस नहीं करता था ॥ ७० ॥

प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥

अन्वयः—प्रवृद्धौ चन्द्रः हीयते समुद्रः अपि तथाविधः, सः तु तत्समवृद्धिः अभूत् तौ इव क्षयी न (अभूत्) ।

प्रवृद्धाविति । प्रवृद्धौ सत्यां चन्द्रे हीयते समुद्रोऽपि तथाविधश्चन्द्रवदेव प्रवृद्धौ हीयते । 'प्रवृद्धः' इति वा पाठः । स राजा तु ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समा वृद्धिर्यस्य स तत्समवृद्धिश्चाभूत् । तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयी । "जिदृक्षि०" इत्यादिनेनि-प्रत्ययः । नाभूत् ।

भावार्थ—पूरा बढ़ चुकने पर चन्द्रमा घटने लगता है और समुद्र की भी यही दशा होती है किन्तु राजा अतिथि के साथ यह बात उलटी थी, वे चन्द्रमा और समुद्र के समान बढ़े तो सही पर उनके समान घटते नहीं थे ॥ ७१ ॥

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अत्यर्थं कृशाः अर्थिनः सन्तः महतः तस्य अभिगमनात् उदधेः जीमूताः इव दातृत्वं प्रापुः ।

सन्त इति । अत्यर्थं कृशा दरिद्रा अत एवार्थिनो याचनशीलाः सन्तो विद्वांसो महतस्तस्य राज्ञोऽभिगमनात् उदधेरभिगमनाज्जीमूता इव दातृत्वं वदान्यत्वं प्रापुः । अर्थिपु दानभोगपर्याप्तं धनं प्रयच्छतीत्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार निर्जल मेघ समुद्र के पास जाते हैं और वह उन्हें इतना जल दे देता है कि वे संसारभर को बाँटने लगते हैं, उसी प्रकार जो निर्धन विद्वान् राजा अतिथि के पास जाते थे उन्हें वे इतना धन दे देते थे कि स्वयं दूसरों को भी दान देने लगते थे ॥ ७२ ॥

स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—स स्तुत्यं एव समाचरन् (अत एव) स्तूयमानः (सन्) जिह्राय तत्कारिद्वेषिणः तस्य यशः ववृधे ।

स्तूयमान इति । स राजा स्तुत्यं स्तोत्रार्हमेव यत्तदेव समाचरन्नत एव

स्तूयमानः जिह्राय ललज्ज। तथापि ह्रीणत्वेऽपि तत्कारिणः स्तोत्रकारिणो द्वेषीति तत्कारिद्वेषिणस्तस्य राज्ञ यशो ववृधे। 'गुणाढ्यस्य सतः पुंसः स्तुतौ लज्जैव भूषणम्' इति भावः।

भावार्थ—उनके सभी कार्य प्रशंसनीय थे, पर जब कोई उसकी प्रशंसा करता तब वे सकुचाते थे। प्रशंसा की इच्छा न करने पर भी उनका यश बढता ही गया॥ ७३॥

दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः।
प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः॥ ७४॥

अन्वयः—(स) उदितः सूर्यः इव दर्शनेन दुरितं घ्नन् तत्त्वार्थेन तमः नुदन् शश्वत्प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे।

दुरितमिति। स राजा उदितः सूर्यः इव दर्शनेन दुरितं घ्नन्निवर्तयन्। तथा च स्मर्यते—'अग्निर्चित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः। दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः'॥ इति। तत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्यार्थेन समर्थनेन च तमोऽज्ञानं ध्वान्तं च नुदञ्शश्वत्प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे स्वाधीनाश्चकार।

भावार्थ—जिस प्रकार निकलते हुए सूर्य के दर्शन से पाप दूर हो जाते हैं उसी प्रकार राजा अतिथि के दर्शन से पाप भाग जाते थे। वे ज्ञानी थे इसलिए वे दूसरों को भी तत्त्वज्ञान सिखाकर अज्ञान का अन्धकार भी मिटाते थे इसलिए उन्होंने प्रजा को सब प्रकार से स्वतन्त्र कर दिया॥ ७४॥

इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम्॥ ७५॥

अन्वयः—इन्दोः अंशवः पद्मे अगतयः सूर्यस्य (च) अंशवः कुमुदे (अगतयः) गुणिनः तस्य गुणाः विपक्षे अन्तरं लेभिरे।

इन्दोरिति। इन्दोरंशवः पद्मेऽगतयः। प्रवेशरहिता इत्यर्थः। सूर्यस्यांशवः कुमुदेऽगतयः। गुणिनस्तस्य गुणास्तु विपक्षे शत्रावप्यन्तरमवकाशं लेभिरे प्रापुः।

भावार्थ—चन्द्रमा की किरणें कमलों में तथा सूर्य की किरणें कुमुदों में नहीं पैठ पाती हैं पर राजा अतिथि के गुणों ने शत्रुओं के हृदय में भी घर कर लिया था और शत्रु भी उनके गुणों का लोहा मानते थे॥ ७५॥

पराभिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत्॥ ७६॥

अन्वयः—अश्वमेधाय जिगीषोः अस्य विचेष्टितं यद्यपि पराभिसंधानपरं (तथापि) तत् धर्म्यं एव बभूव ।

परेति । अश्वमेधाय जिगीषोरस्य विचेष्टितं दिग्विजयरूपं यद्यपि पराभिसंधानपरं शत्रुवञ्चनप्रधानं तथापि तद्धर्म्यं धर्मादनपेतमेव । "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इति यत्प्रत्ययः । बभूव । 'मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभिः परान्सन्दध्यात्' इति कौटिल्यः ।

भावार्थ—अश्वमेध यज्ञ करने के लिए वे दिग्विजय करने निकले तब इनका काम यद्यपि शत्रुओं को जिस-तिस प्रकार हराना ही था पर उस समय भी उन्होंने धर्म से ही काम लिया कूटनीति, या छल से नहीं ।। ७६ ।।

एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ।। ७७ ।।

अन्वयः—शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना प्रभावेण उद्यन् सः वृषा देवानां देव इव राज्ञां राजा बभूव ।

एवमिति । एवं शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना शास्त्रोपदिष्टमार्गेण प्रभावेण कोशदण्डजेन तेजसा । 'स प्रभावः प्रतापश्च तत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । उद्यन्नुद्युञ्जानः सः वृषा वासवो देवानां देवो देवदेव इव राज्ञां राजा राजराजो बभूव ।

भावार्थ—इस प्रकार शास्त्रों के अनुसार चलने से अतिथि का प्रभाव बढ़ गया और जैसे इन्द्र देवों के देव हैं वैसे ही अतिथि भी राजाओं के राजा हो गये ।।७७।।

पञ्चमं लोकपालानां तमूचुः साम्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ।। ७८ ।।

अन्वयः—तं साधर्म्ययोगतः लोकपालानां पञ्चमं ऊचुः महतां भूतानां षष्ठं (ऊचुः) कुलभूभृतां अष्टमं (ऊचुः) ।

पञ्चममिति । तम् राजानमिति शेषः । साधर्म्ययोगतो यथाक्रमं लोकसंरक्षणपरोपकारभूधारणरूपसमानधर्मत्वबलाल्लोकपालानामिन्द्रादीनां चतुर्णां पञ्चममूचुः । महतां भूतानां पृथिव्यादीनां पञ्चानां षष्ठमूचुः । कुलभूभृतां कुलाचलानां महेन्द्रमलयादीनामष्टममूचुः ।

भावार्थ—इन्द्र आदि चारों लोकपालों के समान पराक्रम होने के कारण लोग उन्हें पाँचवाँ लोकपाल कहने लगे । पृथिव्यादि पाँचों तत्त्वों के समान महान् होने के कारण लोग उन्हें छठा तत्त्व कहते थे और हिमालय आदि सात कुल पर्वतों के समान विशाल होने के कारण वे आठवें कुलपर्वत कहलाते थे ।।७८।।

दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरन्दरीमिव ॥ ७९ ॥

अन्वयः—भूपालाः शासनार्पितां तस्य आज्ञां देवाः पौरन्दरीम् इव शिरोभिः दधुः ।

दूरेति । भूपालाः शासनेषु पत्रेष्वर्पितामुपन्यस्तां तस्य राज्ञ आज्ञां देवाः पौरन्दरीमैन्द्रीमाज्ञामिव दूरापवर्जितच्छत्रैर्दूरात्परिहृतातपत्रैः शिरोभिर्दधुः ।

भावार्थ—जैसे देवता लोग इन्द्र की आज्ञा मानते हैं वैसे ही राजा लोग भी अपने छत्र उतारकर उनकी आज्ञा अपने माथे चढाते थे ॥ ७९ ॥

ऋत्विजः स तथानर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥ ८० ॥

अन्वयः—सः महाक्रतौ ऋत्विजः दक्षिणाभिः तथा आनर्च यथा अस्य धनदस्य च नाम साधारणीभूतम् ।

ऋत्विज इति । स राजा महाक्रतावश्वमेधे ऋत्विजो याजकान् दक्षिणाभिस्तथानर्चार्चयामास । अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् । यथास्य राज्ञो धनदस्य च नाम साधारणीभूतमेकीभूतम् । उभयोरपि धनदसंज्ञा यथा स्यात्तथेत्यर्थः ।

भावार्थ—अश्वमेध के समय जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ कराया था उनका राजा अतिथि ने इतना सत्कार किया कि लोग उन्हें दूसरा कुबेर कहने लगे ॥ ८० ॥

इन्द्राद् वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू-
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—इन्द्रात् वृष्टिः अभूत् यमः नियमितगदोद्रेकवृत्तिः (अभूत्) यदोनाथः नौचराणां कर्मणे शिवजलपथः (अभूत्) तदनु पूर्वापेक्षी कुबेरः कोषवृद्धिं विदधे लोकपालाः तस्मिन् दण्डोपनतचरितं भेजिरे ।

इन्द्रादिति । इन्द्राद् वृष्टिरभूत् । यमो निवारिता गदस्य रोगस्योद्रेक एव वृत्तिर्येन सोऽभूत् । यादोनाथो वरुणो नौचराणां नाविकानां कर्मणे सञ्चाराय शिवजलपथः सुचरजलमार्गोऽभूत् । तदनु पूर्वापेक्षी रघुरामादिमहिमाभिज्ञः कुबेरः कोषवृद्धिं विदधे । इत्थं लोकपालास्तस्मिन्राज्ञि विषये दण्डोपनतस्य शरणागतस्य चरितं वृत्तिं भेजिरे । 'दुर्बलो बलवत्सेवी विरुद्धाच्छङ्कितादिभिः । वर्तेत दण्डोपनतो भर्तर्येवमवस्थितः' ॥ इति कौटिल्यः ।

भावार्थ—इन्द्र ने उस राजा अतिथि के साम्राज्य पर वर्षा की; यमराज ने रोगों का बढ़ना रोका, वरुणने नाव चलाने वालों के लिए जल-मार्ग खोल दिये और कुबेर ने इनका राजकोष भर दिया। इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल मानो इनके प्रताप से ही डरकर इनकी सेवा कर रहे थे ॥ ८१ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीवनीसमाख्यया
व्याख्यया समेतो महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

यत्पादपांसुसम्पर्कादहल्यासीदपांसुला ।
कारुण्यसिन्धवे तस्मै नमो वैदेहिबन्धवे ॥

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

अन्वयः—निषिद्धशत्रुः स नैषधस्य अर्थपतेः सुतायां निषधात् नगेन्द्रात् अनूनसारं पुत्रं उत्पादयामास यं निषधाख्यं एव आहुः ।

स इति । निषिद्धशत्रुर्निवारितरिपुः सोऽतिथिर्नैषधस्य निषधदेशाधीश्वरस्यार्थपते राज्ञः सुतायां निषधान्निषधाख्यान्नगेन्द्रात्पर्वतादनूनसारमन्यूनबलं पुत्रमुत्पादयामास । यं पुत्रं निषधाख्यं निषधनामकमेवाहुः ।

भावार्थ—शत्रुसंहारक राजा अतिथि ने निषध देश के राजा की कन्या से निषध पर्वत के समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया और उसका भी नाम निषध रखा ॥ १ ॥

तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

अन्वयः—उरुवीर्येण प्रजायै कल्पिष्यमाणेन तेन पिता सुवृष्टियोगात् सम्पत्तिफलोन्मुखेन सस्येन जीवलोक इव ननन्द ।

तेनेति । उरुवीर्येणातिपराक्रमेणात एव प्रजायै लोकरक्षणार्थं कल्पिष्यमाणेन

तेन यूना निषधेन पितातिथिः सुवृष्टियोगात्सम्पत्तिफलोन्मुखेन पाकोन्मुखेन सस्येन जीवलोकः इव ननन्द जहर्ष ।

भावार्थ—जिस प्रकार समय की वर्षा से फले हुए धानों को देखकर संसार के सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार महापराक्रमी और भविष्य में प्रजा की रक्षा के लिए समर्थ युवराज निषध को देखकर राजा अतिथि परम प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥

अन्वय—कौमुद्वतेयः शब्दादि सुखं निर्विश्य चिराय तस्मिन् प्रतिष्ठापित-राजशब्दः कुमुदावदातैः कर्मभिः अर्जितां द्याम् आरुरोह ।

शब्दादीति । कुमुद्वत्या अपत्यं पुमान्कौमुद्वतेयोऽतिथिः शब्दादि शब्दस्पर्शादि सुखं सुखसाधनं विषयवर्गं निर्विश्योपभुज्य चिराय तस्मिन्निषधाख्ये पुत्रे प्रतिष्ठापितराजशब्दो दत्तराज्यः सन् कुमुदावदातैर्निर्मलैः कर्मभिरश्वमेधादिभिरर्जितां सम्पादितां द्यां स्वर्गमारुरोह ।

भावार्थ—कुमुद्वती के पुत्र राजा अतिथि ने बहुत दिनों तक सुख, शब्दादि विषयों को भोग कर और अपने पुत्र निषध को राजपाट सौंपकर कुमुद के समान उज्ज्वल पुण्य कर्मों के बल से प्राप्त स्वर्ग में सुख भोगने के लिए चले गये ॥३॥

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥

अन्वयः—कुशेशयाक्षः सागरधीरचेताः एकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजः कुशस्य पौत्रः अपि ससागरां एकातपत्रां भुवं बुभोज ।

पौत्र इति । कुशेशयाक्षः शतपत्रलोचनः । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । सागरधीरचेताः समुद्रगम्भीरचित्त एकवीरोऽसहायशूरः पुरस्यार्गला कपाटविष्कम्भः । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । तद्वद्दीर्घभुजः कुशस्य पौत्रो निषधोऽपि ससागरामेकातपत्रां भुवं बुभोज पालयामास । "भुजोऽनवने" इत्युक्तेः परस्मैपदम् ।

भावार्थ—कमल के समान नेत्रवाले, समुद्र के समान गम्भीर चित्तवाले और नगर के प्रधान फाटक की अर्गला के समान बड़ी-बड़ी बाहुवाले, अद्वितीय वीर कुश के पौत्र निषध ने भी सागर तक फैली हुई एकछत्र पृथ्वी का भोग किया ॥४॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अनलौजाः नलाभिधानः तस्य तनयः तदन्ते वंशश्रियं प्राप यः नलिनाभवक्त्रः गजः नड्वलानीव परेषां बलानि अमृद्नत् ।

तस्येति । अनलौजाः वह्नितेजाः नलाभिधानो नलाख्यस्तस्य निषधस्य तनयस्तस्य निषधस्यान्तेऽवसाने वंशश्रियं राज्यलक्ष्मीं प्राप । नलिनाभवक्त्रो यो नलः गजो नड्वलानि नडप्रायस्थलानीव । "नडशादाड्ड्वलच्" इति ड्वलच्प्रत्ययः । परेषां बलान्यमृद्नान्ममर्द ।

भावार्थ—निषध के पीछे अग्नि के समान तेजस्वी उनके पुत्र राजा नल हुए । वह्नि के समान सुन्दर तेज वाले राजा नल ने शत्रुओं के बल को वैसे ही तोड डाला जैसे हाथी नरकट के गट्ठे को तोड़ डालता है ॥ ५ ॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—नभश्चरैः गीतयशाः स नभस्तलश्यामतनुं नभः शब्दमयेन नाम्ना ख्यातं नभोमासमिव प्रजानां कान्तं तनूजं लेभे ।

नभ इति । नभश्चरैर्गन्धर्वादिभिर्गीतयशाः स नलो नभस्तलश्यामतनुं नभःशब्दमयेन नाम्ना ख्यातम् । नभःशब्दसंज्ञकमित्यर्थः । नभोमासमिव श्रावणमासमिव प्रजानां कान्तं प्रियं तनूजं पुत्रं लेभे ।

भावार्थ—वे इतने यशस्वी थे कि आकाश में गन्धर्व लोग उनका यश गाते थे । उन्हें आकाश के समान साँवला नभ नामक पुत्र हुआ, जो लोगों को वैसे ही प्यारा था जैसा सावन का महीना ॥ ६ ॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥

अन्वयः—धर्मोत्तरः प्रभवे तस्मै तदुत्तरकोशलानाम् प्रभुत्वं विसृज्य जरसा उपदिष्टं मृगैः अजर्यं अदेहबन्धाय बबन्ध ।

तस्मा इति । धर्मोत्तरो धर्मप्रधानः स नलः प्रभवे समर्थाय तस्मै नभसे तदुत्तरकोसलानां प्रभुत्वमाधिपत्यं विसृज्य दत्त्वा जरसा जरयोपदिष्टम् । वार्द्धके चिकीर्षितमित्यर्थः । मृगैरजर्यं तैः सह सङ्गतम् । "अजर्यं सङ्गतम्" इति निपातः । पुनरदेहबन्धाय पुनर्देहसम्बन्धनिवृत्तये बबन्ध मोक्षार्थं वनं गत इत्यर्थः । अदेहबन्धायेत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते ।

भावार्थ—धर्मात्मा नल ने उस नभ नामके पुत्र को उत्तर कोशल का राज्य

सौंप दिया और स्वय बुढापे के कारण जगलो मे जाकर मृगो के साथ इसलिए रहने लगे कि फिर ससार मे जन्म न लेना पड़े ॥ ७ ॥

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तेन द्विपाना पुण्डरीक इव राज्ञां अजय्यः पुण्डरीक अजनि पितरि शान्ते आहृतपुण्डरीका श्रीः य पुण्डरीकाक्षं इव श्रिता ।

तेनेति । तेन नभसा द्विपाना पुण्डरीको दिग्गजविशेष इव राज्ञामजय्यो जेतुमशक्यः । "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" इति निपातनात्साधु । पुण्डरीकाख्यः पुत्रोऽजनि जनितः । पितरि शान्ते स्वर्गते सति आहृतपुण्डरीका गृहीतश्वेतपद्मा श्रीयं पुण्डरीक पुण्डरीकाख्य विष्णुमिव श्रिता ।

भावार्थ—नभको पुण्डरीक नाम का पुत्र हुआ, जैसे हाथियों में पुण्डरीक नाम का हाथी सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही उस समय के राजाओं में वे ही सर्वश्रेष्ठ राजा थे । पिता के स्वर्ग चले जाने पर पुण्डरीक (कमल) धारिणी लक्ष्मी ने उस पुण्डरीक को ही विष्णु मान कर बर लिया ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

अन्वय—अमोघधन्वा स प्रजाक्षेमविधानदक्षं क्षमया उपपन्नं क्षेमधन्वानं पुत्रं क्ष्मा लम्भयित्वा क्षान्ततरः वने तपः चचार ।

स इति । अमोघं धनुर्यस्य सोऽमोघधन्वा । "धनुषश्च" इत्यनङादेशः समासान्त. । स पुण्डरीकः प्रजाना क्षेमविधाने दक्षं क्षमयोपपन्नं क्षान्तियुक्तं क्षेमं धनुर्यस्य त क्षेमधन्वानं नाम पुत्रम् । "वा संज्ञायाम्" इत्यनङादेशः । क्ष्मा लम्भयित्वा प्रापय्य । 'लभेर्गत्यर्थत्वाद् द्विकर्मकत्वम्' क्षान्ततरोऽत्यन्तसहिष्णु. सन्वने तपश्चचार ।

भावार्थ—उस सफल धनुर्धारी पुण्डरीक ने प्रजाओं के कल्याण करने में समर्थ और शान्तस्वभाव वाले अपने पुत्र क्षेमधन्वा को राज सौंप दिया, स्वयं शान्त होकर जंगल में तपस्या करने के लिए चले गये ॥ ९ ॥

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥

अन्वयः—तस्य अपि समरे अनीकिनीना अग्रयायी देवप्रतिमः सुनः अभूत् । अनीकपदावसानं देवादि यस्य नाम त्रिदिवेऽपि व्यश्रूयत ।

अनीकिनीनामिति । तस्य क्षेमधन्वनोऽपि समरेऽनीकिनीनां चमूनामग्रयायी देवप्रतिम इन्द्रादिकल्पसुतोऽभूत् । अनीकपदावसानमनीकशब्दान्त देवादिदेवशब्दपूर्वं यस्य नाम देवानीकः इति नामधेयं त्रिदिवे स्वर्गेऽपि व्यश्रूयत विश्रुतम् ।

भावार्थ—उस क्षेमधन्वा को भी इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र हुआ जो युद्ध में सेना के आगे-आगे चलते और जिसका देवशब्द से आरम्भ होने वाला और अनीक शब्द से अन्त होने वाला देवानीक नाम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध हो गया ॥१०॥

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान् बभूव ॥ ११ ॥

अन्वयः—सः पिता समाराधनतत्परेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव तथैव स पुत्रः आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान् बभूव ।

पितेति । स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूषापरेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव । तथैव स पुत्रो देवानीक आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान् बभूव । लोके पितृत्वपुत्रत्वयोः फलमनयोरेवासीदित्यर्थः ।

भावार्थ—जिस प्रकार सेवा में तत्पर पितृभक्त पुत्र को पाकर क्षेमधन्वा पुत्रवान् हुए, उसी प्रकार पुत्र को प्यार रखने वाले पिता को पाकर देवानीक भी पिता वाले हुए ॥ ११ ॥

पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—गुणानां एकनिधिः यज्वा तयोः पूर्वः आत्मसमे आत्मोद्भवे चिरोढां वर्णचतुष्टयस्य धुरं निधाय यजमानलोकं जगाम ।

पूर्व इति । गुणानामेकनिधिर्यज्वा विधिवदिष्टवांस्तयोः पितृपुत्रयोर्मध्ये पूर्वं पिता क्षेमधन्वात्मसमे स्वतुल्य आत्मोद्भवे पुत्रे देवानीके चिरोढां वर्णचतुष्टयस्य धुरं रक्षाभारं निधाय यजमानलोकं यष्टृलोकं नाकं जगाम ।

भावार्थ—गुणों का मुख्य आकार और विधिवत् यज्ञ करने वाले उन दोनों पिता-पुत्रों में क्षेमधन्वा अपने ही समान तेजस्वी पुत्र को चिरकाल से धारण किये गये चारों वर्णो की रक्षा का भार सौंप कर स्वर्ग चले गये ॥ १२ ॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद् द्विषतामपीष्टः ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान्ग्रहीतुम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—तस्य वशी सुतः वशंवदत्वात् स्वेषां इव द्विषतां अपि इष्टः आसीत् । हि प्रयुक्तं माधुर्यं सकृद् विविग्नान् हरिणान् ग्रहीतुमिष्टे ।

वशीति । तस्य देवानीकस्य वशी समर्थः सुतोऽहीनगुर्नामेति वक्ष्यमाणनामकः वश वशकर मधुर वदतीति वशंवदः । "प्रियवशे वदः खच्" इति खच्प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्मादिष्टवादित्वात्स्वेषामिव द्विषतामपीष्टः प्रिय आसीत् । अर्थदेवानीकनिर्धारणं लभ्यते । तथाहि प्रयुक्तमुच्चारित माधुर्यं सकृदेकवारं विविग्नान्भीतानपि हरिणान्ग्रहीतु वशीकर्तुमीष्टे शक्नोति ।

भावार्थ—क्षेमधन्वा के जितेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका वैसा ही आदर करते थे जैसे मित्र, क्योंकि मधुर वचन में ऐसा प्रभाव होता है कि एक बार डराये गए हरिण भी वश में हो जाते हैं ॥ १३ ॥

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ १४ ॥

अन्वयः—अहीनबाहुद्रविणः हीनसंसर्गं पराङ्मुखत्वात् युवा अपि अनर्थैः व्यसनैः विहीनः यः अहीनगु नाम सः समग्रा शशास ।

अहीनगुरिति । अहीनबाहुद्रविणः । 'द्रविणं काञ्चनं वित्त द्रविणं च पराक्रमः' इति विश्व. । हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वान्नीचसंसर्गविमुखत्वाद्धेतोर्युवाप्यनर्थैरनर्थकरैर्व्यसनैः पानद्यूतादिभिर्विहीनो रहितो योऽहीनगुर्नाम स पूर्वोक्तो देवानीकसुतः समग्रा सर्वां गा भुव शशास ।

भावार्थ—देवानीक के पुत्र का नाम अहीनगु था । उनकी भुजायें बड़ी शक्तिशाली थी, उन्होंने कभी नीच लोगों का साथ नहीं किया, इसलिए अनर्थकारी व्यसनों से दूर रहकर वे युवावस्था में ही सारी पृथ्वी पर शासन करने लगे ॥ १४ ॥

गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥

अन्वयः—पुंसां अन्तरज्ञः चतुरः सः गुरोः अनन्तरं अवतीर्णः आद्यः पुमान् इव अस्खलितैः चतुर्भिः उपक्रमैः चतुर्दिगीशः बभूव ।

गुरोरिति । पुंसामन्तरज्ञो विशेषज्ञश्चतुरो निपुणः सोऽहीनगुश्च गुरोः पितुरनन्तरम् । अवतीर्णो भुव प्राप्त आद्य. पुमान्विष्णुरिव अस्खलितैरप्रतिहतैश्चतुर्भिरुपक्रमैः सामाद्युपायैः । 'सामादिभिरुपक्रमैः' इति मनुः । चतुर्दिगीशश्चतसृणा दिशामीशो बभूव ।

भावार्थ–अहीनगु बड़े चतुर थे और सबके मनकी बातें जान लेते थे । पिता के बाद राजा होकर वे सफलता के साथ साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयोग करके शीघ्र ही अवतारधारी विष्णु के समान चारों दिशाओं के स्वामी हो गये ॥१५॥

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम् ।
उच्चैः शिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥१६॥

अन्वयः—अरीणां जेतरि तस्मिन् परलोकयात्रां प्रयाते उच्चैः शिरस्त्वात् जितपारियात्रं तदीयं तनयं लक्ष्मीः सिषेवे किल ।

तस्मिन्निति । अरीणां जेतरि तस्मिन्नहीनगौ परलोकयात्रां प्रयाते प्राप्ते सति उच्चैःशिरस्त्वादुन्नतशिरस्कत्वाज्जितः पारियात्रः कुलशैलविशेषो येन तं पारियात्राख्यं तदीयं तनयं लक्ष्मी राज्यलक्ष्मीः सिषेवे किल ।

भावार्थ—उस शत्रुविजयी राजा के स्वर्ग चले जाने पर अयोध्या की राजलक्ष्मी उनके प्रतापी पुत्र पारियात्र की सेवा करने लगी, जिन्होंने अपने शिर की ऊँचाई से पारियात्र पर्वत को नीचा दिखा दिया था ॥ १६ ॥

तस्यामवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥ १७ ॥

अन्वयः—तस्य उदारशीलः शिलापट्टविशालवक्षाः शीलः सूनुः अभवत् यः शिलीमुखैः जितारिपक्षः अपि ईड्यमानः शालीनतां अव्रजत् ।

तस्येति । तस्य पारियात्रस्योदारशीलो महावृत्तः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । शिलापट्टविशालवक्षाः शिलः शिलाख्यसूनुरभवत् । यः सूनुः शिलीमुखैर्बाणैः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । जितारिपक्षोऽपीड्यमानः स्तूयमानः सन् शालीनतामधृष्टतां लज्जामव्रजदगच्छत् । स्यादधृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः । "शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः" इति निपातः ।

भावार्थ—उन्हें शील नाम का बड़ा शीलवान् पुत्र हुआ जिसकी छाती पत्थर की पाटी जैसी चौड़ी थी, यद्यपि उन्होंने बाणों से शत्रु को जीत लिया फिर भी स्तुति करने पर लज्जित रहे ॥ १७ ॥

तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सः आत्मसम्पन्नं युवानं युवराजं कृत्वा एव सुखानि अभुङ्क्त, हि राज्ञां वृत्तं सुखोपरोधि उपरुद्धवृत्तम् ।

तमिति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः स पारियात्र आत्मसंपन्नम् । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः । युवानं तं शिलं युवराजं कृत्वैव सुखान्यभुङ्क्त । न त्वकृत्वेत्येवकारार्थः । किमर्थं युवराजशब्दकरणमित्याशङ्क्या-

न्यथासुखोपभोगो दुर्लभ इत्याह—सुखोपरोधीति। हि यस्माद्राज्ञा वृत्तं प्रजापालनादिरूपं सुखोपरोधि बहुलत्वात्सुखप्रतिबन्धकम् अतएवोपरुद्धवृत्तम्। कारादिबद्धसदृशमित्यर्थः। उपरुद्धस्य स्वयमूढभारस्य च सुखं नास्तीति भावः।

भावार्थ—शुद्ध चरित्र वाले पारियात्र ने बुद्धिमान् शील को युवराज बनाने पर ही सुख भोगना आरम्भ किया, क्योंकि राजा रहते हुए उन्हें इतने अधिक काम थे कि उन्हें सुख भोगने के लिए अवसर ही कहाँ मिलता॥ १८॥

तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम्।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार॥ १९॥

अन्वयः—रागबन्धिषु भोगेषु अवितृप्तम् एव विलासिना सौभाग्यविशेषभोग्य तं अरतिक्षमा अपि वृथा मत्सरिणी जरा जहार।

तमिति। रागं बध्नन्तीति रागबन्धिनः। रागप्रवर्तका इत्यर्थः। तेषु भोगेषु विषयेष्ववितृप्तमेव सन्तं किंच विलासिनीनां भोक्त्रीणां सौभाग्यविशेषेण सौन्दर्यातिशयेन हेतुना भोग्यं भोगार्हम्। "चजोः कु घिण्यतोः" इति कुत्वम्। तं पारियात्रं रतिक्षमदा न भवतीत्यरतिक्षमापि अतएव वृथा मत्सरिणी। रतिक्षमासु विलासिनीष्वित्यर्थः। जरा जहार वशीचकार।

भावार्थ—वे अभी भोगों से अघाये नहीं थे और सुन्दरी स्त्रियों से भोग कर ही रहे थे, उन्हें उस वृद्धावस्था ने आ घेरा, जो स्वयं भोगने योग्य न होने पर भी सुन्दरियों से व्यर्थ ही ईर्ष्या करती है॥ १९॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्याययार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य॥ २०॥

अन्वयः—तस्य उन्नाभ इति उद्गतनामधेयः यथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः सुतः अभवत्।

उन्नाभ इति। तस्य शिलाढ्यस्योन्नाभ इत्युद्गतनामधेयः प्रसिद्धनामा यथार्थं यथा तथोन्नतनाभिरन्ध्रं यस्य सः गम्भीरनाभिरित्यर्थः। तदुक्तं—'स्वरः सत्वं च नाभिश्च गम्भीरं त्रिषु शस्यते'। पङ्कजनाभकल्पो विष्णुसदृशः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः प्रधानम्। 'नाभिः प्रधानं कस्तूरीमदेऽपि क्वचिदीरितः' इति विश्वः। सुतोऽभवत। 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः' इत्यत्राजिति योगविभागादुन्नामपद्मनाभादयः सिद्धाः।

भावार्थ—राजा शील को उन्नाभ नाम का प्रसिद्ध पुत्र हुआ, जिनकी नाभि गहरी थी और जो विष्णु के समान होने के कारण संसार के सभी राजाओं के मुखिया बन गये॥ २०॥

ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥ २१ ॥

अन्वयः—ततः परं वज्रधरप्रभावः संयति वज्रघोषः वज्रणाभः तदात्मजः वज्राकरभूषणायाः पृथिव्याः पतिः बभूव किल ।

तत इति । ततः परं वज्रधरप्रभाव इन्द्रतेजाः संयति सङ्ग्रामे वज्रघोषोऽशनितुल्यध्वनिर्वज्रणाभो नाम तस्योन्नाभस्यात्मजो वज्राणां हीरकाणामाकराः खनय एव भूषणानि यस्यास्तस्याः पृथिव्याः पतिर्बभूव किल खलु । 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदेऽप्यशनावासनान्तरे' ॥ इति केशवः ।

भावार्थ—उनके बाद उनके पुत्र वज्रनाभ हीरे की खानों का भूषण पहननेवाली पृथ्वी के स्वामी हुए । वे इन्द्र के समान प्रभावशाली थे और युद्ध में वज्र समान गरजते थे ॥ २१ ॥

तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ २२ ॥

अन्वयः—तस्मिन् सुकृतोपलब्धां द्यां गते उत्खातशत्रुं शङ्खणं तत्संभवं अर्णवान्ता वसुधा खनिभ्य उदितैः रत्नोपहारैः उपतस्थे ।

तस्मिन्निति । तस्मिन्वज्रणाभे सुकृतोपलब्धां सुधर्मार्जितां द्यां स्वर्गं गते सति उत्खातशत्रुमुद्धृतशत्रुं शङ्खणं नाम तत्सम्भवं तदात्मजमर्णवान्ता वसुधा खनिभ्य आकरेभ्यः उदितैरुत्पन्नै रत्नोपहारैरुत्कृष्टवस्तुसमर्पणैरुपतस्थे सिषेवे । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति भरतविश्वौ ।

भावार्थ—उन्होंने अपने पुण्य के बल से स्वर्ग प्राप्त किया और उनके पीछे शंखण नामक उनका शत्रुविनाशक पुत्र सारी पृथ्वी का शासक हुआ ॥ २२ ॥

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

अन्वयः—तस्य अवसाने हरिदश्वधामा अश्विरूपः दिव्यं पदं प्रपेदे वेलातटेषु ऊषितसैनिकाश्वं यं पुराविदः व्युषिताश्व आहुः ।

तस्येति । तस्य शङ्खणस्यावसानेऽन्ते हरिदश्वधामा सूर्यतेजाः अश्विनोरिव रूपमस्येत्यश्विरूपोऽतिसुन्दरः । तत्पुत्र इति शेषः । पित्र्यमिति सम्बन्धिपदसामर्थ्यात्, पित्र्यं पदं प्रपेदे । वेलातटेषूषिता निविष्टाः सैनिका अश्वाश्च यस्य तम् । अन्वर्थनामानमित्यर्थः । यं पुत्रं पुराविदो वृद्धा व्युषिताश्वमाहुः ।

भावार्थ—उनके पीछे उनके अश्विनीकुमार के समान सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र राजा हुए, जिन्होंने सब देशों को जीतकर अपनी सेना और घोड़ों को समुद्र तट पर ठहराया, इसलिए वृद्धों ने उनका नाम व्युषिताश्व-बहुत दूर तक घोड़ों को ले जाने वाला—रखा ॥ २३ ॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातु सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ २४ ॥

अन्वयः—तेन क्षिते ईश्वरेण विश्वेश्वर आराध्य विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरां पातुं सहः आत्मजमूर्तिः आत्मा विजज्ञे ।

आराध्येति । तेन क्षितेरीश्वरेण व्युषिताश्वेन विश्वेश्वरं काशीपतिमाराध्यो-पास्य विश्वसहो नाम विश्वसखः समग्रां सर्वां विश्वम्भरां भुवं पातुं रक्षितुं सहत इति सहः क्षम.। पचाद्यच् आत्मजमूर्तिः पुत्ररूप्यात्मा स्वयमेव [आत्मा वै पुत्रनामासि] इति श्रुतेः। विजज्ञे सुषुवे। विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्तते। तथाह भगवान्पाणिनिः—" समां समां विजायते" इति ।

भावार्थ—पृथ्वीपति उस व्युषिताश्व ने काशी विश्वनाथ की आराधना करके विश्वसह नामक पुत्र पाया, जो संसार में बड़े प्रिय हुए और जिन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन किया ॥ २४ ॥

अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषाममह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ २५ ॥

अन्वयः—नयज्ञः सः हिरण्याक्षरिपोः अंशे हिरण्यनाभे तनये जाते तरूणां सानिलः हिरण्यरेता द्विषां सुतरां असह्यः अभूत् ।

अंश इति । नयज्ञो नीतिज्ञः स विश्वसहः हिरण्याक्षरिपोर्विष्णोरंशे हिरण्यनाभे नाम्नि तनये जाते सति तरूणां सानिलो हिरण्यरेतो हुतभुगिव द्विषां सुतराम-सह्योऽभूत् ।

भावार्थ—उस नीतिज्ञ विश्वसह को हिरण्यनाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो साक्षात् विष्णु का अंश था, ऐसे पुत्र को पाकर विश्वसह शत्रुओं के लिए वैसे ही भयंकर हो गये जैसे वायु की सहायता पाकर वृक्षों के लिए अग्नि भयंकर हो उठती है ॥ २५ ॥

पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥ २६ ॥

अन्वयः—पितॄणां अनृणः (अतएव) कृती पिता अन्ते वयसि अनन्तानि सुखानि लिप्सुः आजानुविलम्बिबाहुं तं राजानं कृत्वा वल्कलवान् बभूव ।

पितेति । पितॄणामनृणः निवृत्तपितृऋण इत्यर्थः । (प्रजया पितृभ्यः) इति श्रुतेः । अतएव कृतो कृतकृत्य इत्यर्थः । 'पिता विश्वसहोऽन्ते वयसि वार्द्धकेऽनन्तान्य-विनाशानि सुखानि लिप्सुः मुमुक्षुरित्यर्थः । आजानुविलम्बिबाहुं दीर्घबाहुम् । भाग्य-संपन्नमिति भावः । तं हिरण्यनाभ राजानं कृत्वा वल्कलवान्बभूव । वनं गत इत्यर्थः।

भावार्थ—अब वे पिता के ऋण से उऋण हो गये और बहुत सा सुख भोगकर वृद्धावस्था में पुत्र को राज्य देकर स्वयं वल्कल वस्त्र पहनकर विश्वसह नामक वन में चले गये ॥ २६ ॥

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

अन्वयः—उत्तरकोशलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सोमसुतः तस्य द्वितीयः सोम इव नेत्रोत्सवः कौशल्य इति औरसः सुतः अभूत् ।

कौसल्य इति । उत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सूर्यवंशाभरणस्य द्वितीयः सोमश्चन्द्रः इव नेत्रोत्सवो नयनानन्दकरः कौशल्य इति प्रसिद्ध औरसो धर्मपत्नीजः सुतोऽभूत् ।

भावार्थ—उत्तर कोशल के स्वामी और सूर्य कुल के भूषण उन हिरण्य नाम को कोशला नामक पुत्र हुआ, जो सबकी आँखों को उसी प्रकार आनन्द देने वाला हुआ मानो दूसरा चन्द्रमा ही हो ॥ २७ ॥

यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—आब्रह्मसभं यशोभिः प्रकाशः स ब्रह्मिष्ठं ब्रह्मिष्ठं स्वतनुप्रसूतं एव निजे अधिकारे निधाय ब्रह्मभूयं गतिं आजगाम ।

यशोभिरिति । आ ब्रह्मसभाया आब्रह्मसभं ब्रह्मसदनपर्यन्तम् । अभिविधावव्ययीभावः । यशोभिः प्रकाशः प्रसिद्धः सकौसल्योऽतिशयेन ब्रह्मवन्तं ब्रह्मिष्ठम् । ब्रह्मविदमित्यर्थः । ब्रह्मशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन्प्रत्यये । "विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुक् । "नस्तद्धिते" इति टिलोपः । ब्रह्मिष्ठं ब्रह्मिष्ठाख्यं स्वतनुप्रसूतं स्वात्मजमेव निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्ये आधाय ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं तदेव गतिस्तामाजगाम । मुक्तोऽभूदित्यर्थः । 'स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वम्' इत्यमरः । भुवो भावे क्यप् ।

भावार्थ—कौशल्य का यश ब्रह्मा की सभातक पहुँच गया, वृद्धावस्था में

उन्होंने ब्रह्मिष्ठ नाम के अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र को राज्य दे दिया और स्वय ब्रह्म प्राप्ति के लिए वन मे तप करने चले गये ॥ २८ ॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।

प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ २९ ॥

अन्वयः—कुलापीडनिभे सुप्रजसि तस्मिन् प्रजेशे शासनाङ्का मही विपीडं विधाय सम्यक् शासति आनन्दजलाविलाक्ष्यः प्रजाः चिर ननन्दुः ।

तस्मिन्निति । कुलपीडनिभे कुलशेखरतुल्ये । 'वैकक्षक तु तत् । यत्तिर्यक्क्षिप्तमुरसि शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । सुप्रजसि सत्सतानवति । "नित्यमसिच्प्रजामेधयो:" इत्यसिच्प्रत्ययः । तस्मिन्प्रजेशे प्रजेश्वरे ब्रह्मिष्ठे शासनाङ्का शासनचिह्ना मही विपीड निर्बाधं यथा तथा सम्यक्शासति सति आनन्दजलाविलाक्ष्य आनन्दबाष्पाकुलनेत्राः प्रजाश्चिर ननन्दुः ।

भावार्थ—श्रेष्ठ प्रजावाले ब्रह्मिष्ठ अपने कुलके शिरोमणि थे, उन्होंने बड़ी योग्यता से प्रजा का शासन किया, उनके सुन्दर शासन को देखकर प्रजाओं को आनन्द के आंसू आ जाते थे, उनके शासन में प्रजा बहुत दिनों तक सुख भोगती रही ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः ।

तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—गुरुसेवनेन पात्रीकृतात्मा पत्ररथेन्द्रकेतोः स्पष्टाकृतिः पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः तं पुत्रिणा अग्रसख्यां समारोपयेत् ।

पात्रीकृतेति । गुरुसेवनेन पित्रादिशुश्रूषया पात्रीकृतात्मा योग्यीकृतात्मा । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । पत्ररथेन्द्रकेतोर्गरुडध्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः तत्सरूप इत्यर्थः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । पुष्करपत्रनेत्रः पद्मदलाक्षः पुत्राख्यो राजा यद्वा पुत्रशब्द आवर्तनीयः पुत्र. पुनः त ब्रह्मिष्ठं पुत्रिणामग्रसख्या समारोपयत् । अग्रगण्यं चकारेत्यर्थः ।

भावार्थ—उनके पुत्र ने उन्हें पुत्रवानों का शिरोमणि बना दिया, वे पिता की सेवा-सुश्रूषा करने से बड़े योग्य थे, वे गरुडध्वज विष्णु के समान सुन्दर थे और उन कमललोचन का नाम भी पुत्र ही था ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः ।

उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

अन्वयः—स्पर्शनिवृत्तलौल्यः (अत एव) सखा भावी स वंशकरेण तेन वंशस्थितिं सम्भाव्य त्रिपुष्करेषु उपस्पृशन् त्रिदशत्वं आप ।

वंशेति। स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषयाः तेभ्यो निवृत्तलौल्यो निवृत्ततृष्णः अतएव मघोन इन्द्रस्य सखा मित्रं भावी भविष्यन् । स्वर्गं जिगमिषुरित्यर्थः । ब्रह्मिष्ठो वंशकरणे वंशप्रवर्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां संभाव्य संपाद्य त्रिषु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु । "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः । उपस्पृशन्स्नानं कुर्वंस्त्रिदशत्वं देवभूयमाप ।

भावार्थ विषय-वासनाओं से दूर रहकर इन्द्र के भाविमित्र ब्रह्मिष्ठ ने अपनी कुल-प्रतिष्ठा अपने पुत्र नामक पुत्र को सौंपी और त्रिपुष्कर क्षेत्र में स्नान करके स्वर्ग चले गये ॥ ३१ ॥

तस्य प्रभा निर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तस्य पत्नी पौष्यां तिथौ प्रभाविनिर्जितपुष्परागं पुष्यं द्वितीये पुष्ये इव तस्मिन् उदिते (सति) जनाः समग्रां पुष्टिं अपुष्यन् ।

तस्येति । तस्य पुत्राख्यस्य पत्नी पौष्यां पुष्यनक्षत्रयुक्तायां पौर्णमास्यां तिथौ। 'पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी' इत्यमरः । "नक्षत्रेण युक्तः कालः" इत्यणप्रत्ययः । "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । प्रभया निर्जितः पुष्परागो मणिविशेषो येन तं पुष्यं पुष्याख्यमसूत । द्वितीये पुष्ये पुष्यनक्षत्र इव तस्मिन्नुदिते सति नः समग्रां पुष्टिं वृद्धिमपुष्यन् ।

भावार्थ—राजा पुत्र की पत्नी से पौषमास की पूर्णिमा के दिन पद्मराग मणि से भी अधिक कान्तिमान् पुष्य नामक पुत्र हुआ, उसके जन्म होने से प्रजा उसी प्रकार धनधान्य से भरपूर हो गई मानो दूसरा पुष्य नक्षत्र ही निकल आया हो ॥ ३२ ॥

महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—महेच्छः जन्मभीरुः सूनौ महीं परिकीर्य मनीषिणे जैमिनये अर्पितात्मा सयोगात् तस्मात् योगं अधिगम्य अजन्मने अकल्पत ।

महीमिति । महेच्छो महाशयः 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः । जन्मभीरुः स पुत्रः सूनौ महीं परिकीर्य विसृज्य मनीषिणे ब्रह्मविद्याविदुषे जैमिनये मुनयेऽर्पितात्मा शिष्यभूतः सन्नित्यर्थः । सयोगद्योगिनस्तस्माज्जैमिनेर्योगं योग-

विद्यायामधिगम्याजन्मने जन्मनिवृत्तये मोक्षायाकल्पत समपद्यत । 'क्लृपेः संपद्य-माने चतुर्थी वक्तव्या' । मुक्त इत्यर्थः ।

भावार्थ—राजा पुत्र बड़े उदार हृदय वाले थे, वे संसार में फिर जन्म लेना नहीं चाहते थे इसलिए उन्होंने पृथ्वी का भार अपने पुत्र पुष्य को सौंप दिया और स्वयं महर्षि जैमिनि के शिष्य होकर उनसे योग सीखकर आवागमन से मुक्त हो गये ॥ ३३ ॥

तत: परं तत्प्रभव: प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसंधे संधिर्ध्रुव: संनमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥

अन्वय:—तत: (स:) तत्प्रभव: ध्रुवोपमेय: ध्रुवसन्धि: उर्वीं प्रपेदे ज्यायसि सत्यसन्धे यस्मिन् सन्नमता अरीणां सन्धि: ध्रुव अभूत् ।

तत इति । तत: परं स पुष्य: प्रभव: कारणं तस्य स तत्प्रभव । तदात्मज इत्यर्थ: । ध्रुवेणौत्तानपादिनोपमेय: । 'ध्रुव औत्तानपादि: स्यात्' इत्यमर: । ध्रुवसंधिरुर्वीं प्रपेदे । ज्यायसि श्रेष्ठे सत्यसंधे सत्यप्रतिज्ञे यस्मिन्ध्रुवसंधौ संनमताम् अनुद्धतानामित्यर्थ: । अरीणां संधिर्ध्रुव: स्थिरोऽभूत् । तत: सार्थकनामेत्यर्थ: ।

भावार्थ—पुष्य के बाद उनके ध्रुव के समान निश्चल पुत्र ध्रुवसन्धि राजा हुए, जिनसे डरकर शत्रुओं ने सन्धि कर ली । उनका लिखा हुआ सन्धि पत्र पक्का होता था क्योंकि वे अपनी बात के बड़े धनी थे ॥ ३४ ॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने स: ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंह: ॥ ३५ ॥

अन्वय:—मृगायताक्ष: नृसिंह: स: दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ (सति) एव मृगयाविहारी सिंहात् विपदं अवापत् ।

सुत इति । मृगायताक्षो नृसिंह: पुरुषश्रेष्ठ: ध्रुवसन्धिर्दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने प्रतिपच्चन्द्रनिभे सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सत्येव मृगयाविहारी सन् सिंहाद्विपदं मरणमवापत् । व्यसनासक्तिरनर्थावहेति भाव: ।

भावार्थ—ध्रुवसन्धि के नेत्र मृगों के समान बड़े-बड़े थे और वे पुरुषों में सिंह के समान थे, एक दिन वे वन में शिकार करते हुए सिंह से मारे गये, उस समय तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुन्दर लगने वाला सुदर्शन नामक उनका पुत्र बालक ही था ॥ ३५ ॥

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्ग: कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीना: प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥

अन्वयः—स्वर्गामिनः तस्य अमात्यवर्गः अनाथदीनाः प्रकृतीः अवेक्ष्य कुलतन्तुं एकं तं ऐकमत्यात् विधिवत् साकेतनाथं चकार।

स्वरिति। स्वर्गामिनः स्वर्यातस्य ध्रुवसंधेरमात्यवर्गः। अनाथां नाथहीनां अतएव दीनां शोच्याः प्रकृतीः प्रजा अवेक्ष्य कुलतन्तुं कुलावलम्बनमेकमद्वितीयं तं सुदर्शनमैकमत्याद्विधिवत्साकेतनाथमयोध्याधीश्वरं चकार।

भाषार्थ—उन स्वर्गगामी राजा के मन्त्रियों ने राजा के न होने से प्रजा की दीन दशा देख कर सर्वसम्मति से उसके एकलौते पुत्र सुदर्शन को विधिपूर्वक साकेत का स्वामी बना दिया॥ ३६॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत्॥ ३७॥

अन्वयः—अप्रौढनरेन्द्रं तत् रघोः कुलं नवेन्दुना नभसा शावैकसिंहेन काननेन च कुड्मलपुष्करेण तोयेन च उपमेयं आसीत्।

नवेति। अप्रौढनरेन्द्रं तद्रघोः कुलं नवेन्दुना बालचन्द्रेण नभसा व्योम्ना शावः शिशुरेकः सिंहो यस्मिन्। 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। तेन काननेन च कुड्मलं कुड्मलावस्थं पुष्करं पङ्कजं यस्मिस्तेन तोयेन चोपमेयमुपमातुमर्हमासीत्। नवेन्द्वाद्युपमानेन तस्य वर्धिष्णुताशौर्यश्रीमत्त्वानि सूचितानि।

भाषार्थ—इस सुदर्शन से राजा रघु का कुल उसी प्रकार शोभा देने लगा जिस प्रकार द्वितीया के चन्द्रमा से आकाश, सिंह के बच्चे से वन और कमल की ताल की शोभा होती है॥ ३७॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः॥ ३८॥

अन्वयः—सः मौलिपरिग्रहात् पितु एव भावी लोकेन प्रभावितः हि कलभप्रमाणः अपि मेघः पुरोवातं अवाप्य आशाः वृण्वन् दृष्टः (अस्ति)।

लोकेनेति। स बालो मौलिपरिग्रहात्किरीटस्वीकाराद्धेतोः। पितुस्तुल्यः पितृसरूप एव भावी भविष्यति लोकेन जनेन संभावितस्तर्कितः। तथाहि कलभप्रमाणः कलभमात्रोऽपि मेघः पुरोवातमवाप्याशा दिशो वृण्वन्गच्छन्दृष्टो हि।

भाषार्थ—उस सुदर्शन ने जब सिर पर मुकुट धारण किया तभी प्रजा ने अनुमान कर लिया कि यह पिता के समान ही तेजस्वी होगा क्योंकि हाथी के बच्चे के समान छोटा बादल भी पूर्वी पवन का सहारा पाकर चारों ओर फैल जाता है॥३८॥

३९ र० सम्पू०

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

अन्वयः—राजवीथ्या अधिहस्ति यान्त आधोरणालम्बितं अग्र्यवेशं षड्वर्षदेशीयं अपि तं पौराः प्रभुत्वात् पितृगौरवेण प्रैक्षन्त ।

तमिति । राजवीथ्या राजमार्गेऽधिहस्ति हस्तिनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यान्तं गच्छन्तम् । हस्तिनमारुह्य गच्छन्तमित्यर्थः । आधोरणालम्बित शिशुत्वात्सा॰दिना गृहीतमग्र्यवेशमुदारनेपथ्य षड्वर्षाणि भूतः षड्वर्षः । "तद्धितार्थ॰" इत्यादिना समासः । तमधीष्टो भृतो भूतो भावीत्यधिकारे चित्तवति नित्यमिति तद्धितस्य लुक् । ईषदसमाप्तः षड्वर्षः षड्वर्षदेशीयः "ईषदसमाप्तौ॰" इत्यादिना देशीयरप्रत्ययः । त षड्वर्षदेशीयमपि बालमपि त सुदर्शनं पौराः प्रभुत्वात्पितृगौरवेण प्रैक्षन्त । पितरि यादृग्गौरव ददृशुरित्यर्थः ।

भावार्थ—जब वे छः वर्ष के छोटे-से राजा हाथी पर चढ़कर राजमार्ग से निकलते थे तब हाथीवान् उनके राजसी वस्त्रों के कोने को पकड़े था कि कहीं वे गिर न पड़ें । उस समय भी उन्हें देखकर जनता उनके पिता के समान ही उनका आदर करती थी ॥ ३९ ॥

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥

अन्वयः—सः पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय न अकल्पत चामीकरपिञ्जरेण तेजोमहिम्ना आवृतात्मा (सन्) तत् व्याप ।

काममिति । स सुदर्शनः पैतृकस्य सिंहासनस्य कामं सम्यक् प्रतिपूरणाय नाकल्पत । बालत्वाद्व्याप्तुं न पर्याप्त इत्यर्थः । चामीकरपिञ्जरेण कनकगौरेण तेजोमहिम्ना पुनस्तेजःसम्पदा त्वावृतात्मा विस्तारितदेहः संस्तत्सिंहासनं व्याप्तवान् ।

भावार्थ—वे छोटे थे इसलिए जब वे अपने पिता के सिंहासन पर बैठते थे तो वह पूरा भरता नहीं था पर उनके शरीर से जो सुवर्ण के समान तेज निकलता था उससे वह भरा सा ही जान पड़ता था ॥ ४० ॥

तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तस्मात् अधः किञ्चिदिवावतीर्णौ तपनीयपीठं असंस्पृशन्तौ सालक्तकौ अस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैः मौलिभिः ववन्दिरे ।

तस्मादिति । तस्मात्सिंहासनादपानादधोऽधोदेशं प्रति किञ्चिदिवावतीर्णावीषल्लम्बौ

तपनीयपीठं काञ्चनपीठमसंस्पृशन्तावल्पकत्वादव्याप्तौ सालक्तकौ लाक्षारसावसिक्तावस्य सुदर्शनस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैरुन्नतैर्मौलिभिर्मुकुटैर्ववन्दिरे प्रणेमुः।

भावार्थ—उस सिंहासन से उनके पैर लटकते रहते थे क्योंकि छोटे होने के कारण पाद-पीठ तक नहीं पहुँच पाते थे। राजाओं ने अपने प्रसिद्ध मुकुटों से उन महावर लगे पैरों का वन्दन किया ॥ ४१ ॥

मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अल्पप्रमाणे अपि मणौ प्रभावात् महानील इति शब्दः यथा मिथ्या न, तथा एव अर्भके अपि तस्मिन् प्रतीतः महाराज इतिशब्दः न मिथ्या युयुजे।

मणाविति। अल्पप्रमाणेऽपि मणाविन्द्रनीले प्रभावात्तेजिष्ठत्वाद्धेतोर्महानील इति शब्दो यथा मिथ्या निरर्थको न, तथैवार्भके शिशावपि तस्मिन्सुदर्शने प्रतीतः प्रसिद्धो महाराज इति शब्दो न मिथ्या युयुजे।

भावार्थ—जिस प्रकार छोटे होने पर भी मणि का महानील नाम निरर्थक नहीं होता उसी प्रकार बालक सुदर्शन का महाराज नाम भी उचित ही लगता था ॥ ४२ ॥

पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य तस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् उच्चरितः विवादः अर्णवानां वेलासु अपि न चस्खाल।

पर्यन्तेति। पर्यन्तयोः पार्श्वयोः सञ्चारिते चामरे यस्य तस्य बालस्य सम्बन्धिनः कपोलयोर्लोलावुभौ काकपक्षौ यस्य तस्मादाननादुच्चरितो विवादो वचनमर्णवानां वेलास्वपि न चस्खाल। शिशोरपि तस्याज्ञाभङ्गो नासीदित्यर्थः। चपलसंसर्गेऽपि महान्तो न चलन्तीति ध्वनिः। उभयकाकपक्षादित्यत्र 'वृत्तिविषये उभयपुत्र इतिवदुभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोगः' इत्युक्तं प्राक्।

भावार्थ—उसके आसपास चँवर डुलाये जाते थे और उनके गालों पर लटें लटकती रहती थी। इस बाल्यावस्था में भी उन्होंने जो आज्ञायें दीं उन्हें समुद्र के तटवर्ती लोगों ने भी नहीं टाला तो पास रहनेवालों की क्या बात है ॥ ४३ ॥

निवृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥ ४४ ॥

अन्वयः—निवृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे ललाटे न्यस्तं तिलकं दधानः स्मेरमुखः सः अरिसुन्दरीणां मुखानि तेन एव शून्यानि चकार।

निर्वृत्तेति। निर्वृत्ता जाम्बूनदपट्टशोभा यस्य तस्मिन्कृतकनकपट्टशोभे ललाटे न्यस्तं तिलकं दधानः स्मेरमुखः स्मितमुखः स राजारिसुन्दरीणां मुखानि तेनैव तिलकेनैव शून्यानि चकार। अखिलमपि शत्रुवर्गमवधीदिति भावः।

भावार्थ—सुवर्ण का पट्टा बँधे हुए अपने ललाट पर वे स्वयं तिलक लगाते थे और सदा हँसमुख रहते थे पर संग्राम में शत्रुओं को नष्ट करके उन्होंने शत्रुओं की स्त्रियों के मुख का तिलक और उनकी मुस्कराहट छीन ली ॥ ४४ ॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यःखेदं स यायादपि भूषणेन।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभराम्बभूव ॥ ४५ ॥

अन्वयः—शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः (अतएव) स भूषणेन अपि खेदं यायात् स नितान्तगुर्वीं अपि धरित्र्या धुरं अनुभावात् बिभरांबभूव।

शिरीषेति। शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः। कोमलाङ्ग इत्यर्थः, अत एव स राजा भूषणेनापि खेदं श्रमं यायाद् गच्छेत्। एवंभूतः स नितान्तगुर्वीमपि धरित्र्या धुरं भुवो भारमनुभावात्सामर्थ्याद् बिभराम्बभूव बभार। 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति विकल्पादाम्प्रत्ययः।

भावार्थ—वे सिरस के फूल से भी अधिक सुकुमार थे इसलिए उन्हें गहने-पहनने में भी कष्ट होता था फिर भी उनमें आत्मशक्ति इतनी थी कि उन्होंने पृथ्वी के अत्यन्त भारी भार को सँभाल लिया ॥ ४५ ॥

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अक्षरभूमिकायां न्यस्ताक्षरा लिपिं कार्त्स्न्येन यावत् न गृह्णाति स तावत् श्रुतवृद्धयोगात् सर्वाणि दण्डनीतेः फलानि उपायुङ्क्त।

न्यस्तेति। अक्षरभूमिकायामक्षरलेखनस्थले न्यस्ताक्षरा रचिताक्षरपंक्ति-रेखान्यासा लिपिं पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृका कार्त्स्न्येन यावन्न गृह्णाति स सुदर्शन-स्तावच्छ्रुतवृद्धयोगाद्विद्यावृद्धसंसर्गात्सर्वाणि दण्डनीतेर्दण्डशास्त्रस्य फलान्युपायुंक्ता-न्वभूत्। प्रागेव बद्धफलस्य तस्य पश्चादभ्यस्यमानं शास्त्रं सम्वादार्थमिवाभवदित्यर्थः।

भावार्थ—अभी वे पटिया पर अच्छी तरह अक्षर भी लिखना नहीं सीख पाये थे कि विद्वानों के संसर्ग से वे दण्डनीति और राजनीति की सारी बातें जान गये ॥ ४६ ॥

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा।
सञ्जातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—उरसि अपर्याप्तनिवेशभागा (अतएव) प्रौढीभवन्तं उदीक्षमाणा लक्ष्मी संजातलज्जया इव तं आतपत्रछायाच्छलेन उपजुगूह।

उरसीति। उरस्यपर्याप्तो निवेशभागो निवासावकाशो यस्याः सा अतएव प्रौढीभविष्यन्तं वर्धिष्यमाणमुदीक्षमाणा प्रौढवपुष्मान्भविष्यतीति प्रतीक्षमाणा लक्ष्मीः संजातलज्जेव साक्षादालिङ्गितुं लज्जितेव तं सुदर्शनमातपत्रच्छाया-छलेनोपजुगूहालिलिङ्ग। छत्रच्छाया लक्ष्मीरूपेति प्रसिद्धिः। प्रौढाङ्गनायाः प्रौढपुरुषालाभे लज्जा भवतीति ध्वनिः।

भावार्थ—बालक राजा के हृदय को अभी छोटा समझकर राजलक्ष्मी उनके युवा होने की आशा लगाये बैठी थी। पर बीच-बीच में छत्र की छाया बनकर उनका आलिंगन कर लेती थी मानो छोटा पति होने के कारण उनसे खुलकर गले लगने में लजा रही हो॥ ४७॥

अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः॥ ४८॥

अन्वयः—युगोपमानं अनश्नुवानेन अबद्धं मौर्वीकिणलाञ्छनेन अस्पृष्टखड्ग-त्सरुणा अपि तस्य भुजेन भूमिः रक्षावती आसीत्।

अनश्नुवानेनेति। युगोपमानं युगसादृश्यमनश्नुवानेनाप्राप्नुवता अबद्धं मौर्वी-किणां ज्याघातग्रन्थिरेव लाञ्छनं यस्य तेन अस्पृष्टः खड्गत्सरुः खड्गमुष्टिर्येन तेन। 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः। एवंविधेनापि च तस्य सुदर्शनस्य भुजेन भूमी रक्षावत्यासीत्। शिशोरपि तस्य तेजस्तादृगित्यर्थः।

भावार्थ—यद्यपि उसकी भुजायें जुए के समान मोटी और लम्बी नहीं हुई थीं, धनुष की डोरी खींचने से भी कड़ी नहीं हो पायी थीं और तलवार की मूठ भी नहीं छू सकी थी फिर भी उसने पृथ्वी की रक्षा भलीभाँति कर ली॥ ४८॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम्।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः॥ ४९॥

अन्वयः—काले गच्छति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं न ययुः, (किन्तु) वंश्या लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानं आपुः खलु।

नेति। काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं प्रसारं न ययुः। किन्तु वंशे भवा वंश्या लोककान्ता जनप्रियाः प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य गुणाः शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु।

भावार्थ—कुछ ही दिनों में केवल उनके शरीर के अङ्ग ही नहीं बढ़े किन्तु

उनके वे वंशपरम्परावाले गुण भी बढ़े जो पहले छोटे ही थे और जो प्रजा को बहुत प्यारे लगते थे ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥ ५० ॥

अन्वयः—स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन् इव गुरूणामक्लेशकरः (सन्) त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं तिस्रः विद्याः पित्र्याः प्रकृतीः च जग्राह ।

स इति । स सुदर्शनः पूर्वस्मिञ्जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपाराः स्मरन्निव गुरूणामक्लेशकरः सन् त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्तादण्डनीतीः पित्र्याः पितृसम्बन्धिनीः प्रकृतीः प्रजाश्च जग्राह स्वायत्तीचकार । अत्र कौटिल्यः—'धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायां नयानयौ दण्डनीत्याम्' इति । अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम् । आन्वीक्षिक्या अनुपादानं त्रय्यन्तर्भावपक्षमाश्रित्य । यथाह कामन्दकः—'त्रयीवार्तादण्डनीतिस्तिस्रो विद्या मनोर्मताः । त्रय्या एव विभागोऽयं येन साऽन्वीक्षिकी मता' ॥ इति ॥

भावार्थ—उन्होंने धर्म, अर्थ और काम देने वाली त्रयी वार्ता और दण्डनीति तीन विद्याओं को इतनी शीघ्रता से सीख लिया मानो पूर्व जन्म में ही वे उन्हें पढ़ चुके हों, साथ ही अपने पिता की प्रजा को भी उन्होंने अपने वश में कर लिया ॥ ५० ॥

व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अस्त्रेषु विनीयमानः (अतएव) उत्तरार्धं किञ्चिदिव व्यूह्य स्थितः उन्नद्धचूडः अञ्चितसव्यजानुः आकर्णं आकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचत ।

व्यूह्येति । अस्त्रेषु धनुर्विद्यायां विनीयमानः शिक्ष्यमाणोऽतएवोत्तरार्धं पूर्वकायं किञ्चिदिव व्यूह्य विस्तीर्य स्थितः । उन्नद्धचूडमूर्ध्वमुत्कृष्य बद्धकेशः अञ्चितं आकुञ्चितं सव्यं जानु यस्य स आकर्णमाकृष्टं सबाणं धनुर्धन्व वा येन स तथोक्तः, सन्व्यरोचताशोभत ।

भावार्थ—जब वे धनुर्विद्या सीखते समय अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे बढ़ा देते थे, बाल ऊपर बाँध लेते थे, बाईं जाँघ कुछ झुका लेते थे और बाण चढ़ा कर धनुष की डोरी कान तक खींचते थे, उस समय वे बड़े सुन्दर लगते थे ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीय-
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतककविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं
विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अथ स वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मधु रागबन्धप्रवालं मनसिजतरुपुष्पं सर्वाङ्गीणम् आकल्पजातं आद्य विलसितपदं यौवनं प्रपेदे ।

अथेति । अथ स सुदर्शनो वनितानां नेत्रैर्वेशनीयं भोग्यम् । नेत्रपेयमित्यर्थः । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । मधु क्षौद्रम् । रागबन्धोऽनुरागसन्तान एव प्रवालः पल्लवो यस्य तत् । मनसिज एव तरुस्तस्य पुष्पं पुष्पभूतम् अकृतकविध्यकृत्रिमसंपादनम् सर्वाङ्गं व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीणम् । "तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपात्रं व्याप्नोति" इत्यनेन खप्रत्ययः । आकल्पजातमाभरणसमूहभूतम् आद्यं विलसितपदं विलासस्थानं यौवनं प्रपेदे । विशिष्टमधुपुष्पाकल्पजातविलासपदत्वेन यौवनस्य चतुर्धाकरणात्सविशेषणमालारूपकमेतत् ।

भावार्थ—इसके बाद राजा सुदर्शन के शरीर में वह जवानी आ गई जो स्त्रियों की आँखों में मदिरा के समान होती है । काम वृक्ष के पुष्प एवं अनुराग समूह के नवपल्लव के समान समस्त शरीर की स्वाभाविक शोभा होती है और विलास का पहला अड्डा है ॥ ५२ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—दूतिसंदर्शिताभ्यः प्रतिकृतिरचनाभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः अमात्यैः आहृता राजकन्याः यूनः तस्य प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ अधिविविदुः ।

प्रतिकृतीति । दूतीभिः कन्यापरीक्षणार्थं प्रेपिताभिः सन्दर्शिताभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः प्रतिकृतीनां तूलिकादिलिखितकन्याप्रतिमानां रचनाभ्यः विन्यासेभ्यः । "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी । समधिकतररूपा चित्रनिर्माणादपि रमणीयनिर्माणा इत्यर्थः । शुद्धसंतानकामैरमात्यैराहृता आनीता राजकन्या यूनस्तस्य सुदर्शनस्य सम्बन्धिन्यौ प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ श्रीश्च भूश्च

ते अधिविविदुरधिविन्ने चक्रुः। आत्मना सपत्नीभावं चक्रुरित्यर्थः। 'कृत-सापत्निकाध्यूढाधिविन्ना' इत्यमरः।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

भावार्थ—दूतियाँ भिन्न-भिन्न राजधानियों में जाकर सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों का चित्र ले आईं और राजा को शुद्ध सन्तान होने की इच्छा से मन्त्रियों ने चित्र से भी बढ़कर सुन्दरी उन राजकुमारियों का राजा सुदर्शन से विवाह कर दिया। विवाह हो जाने पर वे सब राजकुमारियाँ राजा की पहली रानियों की पृथ्वी और राजलक्ष्मी की सौत के समान हो गईं ॥ ५३ ॥

एकोनविंशः सर्गः

मनसो मम संसारबन्धनमुच्छेत्तुमिच्छतः।
रामचन्द्रपदाम्भोजयुगलं निविडायताम् ॥

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

अन्वय—श्रुतवताम् अपश्चिमः वशी राघवः पश्चिमे वयसि स्वे पदे अग्नितेजसं तनयं अभिषिच्य नैमिषं शिश्रिये।

अग्निवर्णमिति। श्रुतवतां श्रुतसम्पन्नानामपश्चिमः प्रथमो वशी जितेन्द्रियो राघवः सुदर्शनः पश्चिमे वयसि वार्द्धके स्वे पदे स्थानेऽग्नितेजसं तनयमग्निवर्णमभिषिच्य नैमिषं नैमिषारण्यं शिश्रिये श्रितवान्।

भावार्थ—विद्वानों में प्रधान रघुकुलोत्पन्न एवं जितेन्द्रिय राजा सुदर्शन वृद्धावस्था में अग्नि के समान तेजस्वी अपने पुत्र अग्निवर्ण को अपने स्थान पर राजा बनाकर स्वयं नैमिषारण्य में चले गये ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

अन्वयः—तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिका अन्तरितभूमिभिः कुशैः तल्पं उटजेन सौधवासं विस्मृतः फलनिस्पृहः तपः सञ्चिकाय।

अत्रेति। तत्र नैमिषे तीर्थसलिलेन दीर्घिका विहारवापीरन्तरितभूमिभिः कुशैस्तल्प शय्यामुटजेन पर्णशालया सौधवासं जलमन्दिरं विस्मृतो विस्मृतवान्सः। कर्तरि क्तः। फले स्वर्गादिफले निःस्पृहस्तपः संचितवान्।

भाषार्थ—वहाँ वे तीर्थ जल के आगे घर में विहार की बावलियों की भूमि पर बिछाये गये कुश के आगे राजसी पलंगों के और पर्णशाला के आगे बड़े-बड़े राजमहलों को भूल गये और फल प्राप्ति की इच्छा छोड़कर तप करने लगे ॥२॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदनी।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥

अन्वयः—तत्सुतः लब्धपालनविधौ खेदं न आप हि भुजनिर्जितद्विषां गुरूणां मेदिनी अस्य भोक्तुमेवं कल्पिता प्रसाधयितुं न।

लब्धेति। तत्सुतः सुदर्शनपुत्रोऽग्निवर्णो लब्धस्य राजस्य पालनकर्मणि खेदं नाप। अक्लेशेनापालयदित्यर्थः। कुतः ? हि यस्माद्भुजनिर्जितद्विषा गुरुणा पित्रा मेदिन्ययाग्निवर्णस्य भोक्तुमेव कल्पिता प्रसाधयितुं न। प्रसाधनं कण्टकशोधनम्। अलंकृतिर्ध्वन्यते तथा च यथालंकृता युवतिः केवलमुपभुज्यते तद्वदिति भावः।

भाषार्थ—पिता से पाई हुई पृथ्वी का पालन करने में अग्निवर्ण को कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि उनके राजा सुदर्शन ने पहले ही सब शत्रुओं को बाहुबल से जीतकर पृथ्वी को निष्कण्टक बनाकर अग्निवर्ण को राजा बनाया था। इसलिए उन्हें तो केवल भोग करने के लिए ही राज्य मिला था, राज्य शत्रुओं को मिटाने के लिए नहीं ॥ ३ ॥

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अभिकः सः "कुलोचितं अधिकारं काश्चन समाः स्वयं अवर्तयत् अतः परं सचिवेपु सन्निवेश्य स्त्रीविधेय नवयौवनः अभवत्।

स इति। अभिकः कामुकः। अनुकाभिकाभीकः कमिता" इति निपातः। कम्रः कामयिताभीकः कामनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः। सोऽग्निवर्णः कुलोचितमधिकारं प्रजापालनं काश्चन समाः कतिचिद्वत्सरान्स्वयमवर्तयदकरोत्। अतः परं सचिवेपु संनिवेश्य निजाय स्त्रीविधेयं स्त्र्यधीनं नवं यौवनं यस्य सोऽभवत्। स्त्र्यासक्तोऽभूदित्यर्थः।

भाषार्थ—इसका परिणाम यह हुआ कि अग्निवर्ण कामुक हो गये। कुछ

वर्षों तक तो उन्होंने स्वयं कुलोचित अधिकार (प्रजा पालन कर्म) को किया फिर मन्त्रियों पर राज्य का भार डालकर स्त्रियों मे आसक्त होकर जवानी का रस लेने लगे ॥ ४ ॥

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥

अन्वयः—कामिनीसहचरस्य कामिनः तस्य मृदङ्गनादिषु वेश्मसु अधिकर्धिः उत्तरः उत्सवः ऋद्धिमन्तं पूर्वं उत्सवं अपोहत् ।

कामिनीति । कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य मृदङ्गनादिषु मृदङ्गनादवत्सु वेश्मस्वधिकर्धि पूर्वस्मादधिकसम्भार उत्तर उत्सवः ऋद्धिमन्तं साधनसम्पन्नं पूर्वमुत्सवमपोहदपानुदत् । उत्तरमुत्तरमधिका तस्योत्सवपरम्परा वृत्तेत्यर्थः ।

भावार्थ—वह कामी राजा अग्निवर्ण कामिनियों के साथ उन भवनों में दिनरात पड़ा रहने लगा जिनमें बराबर मृदङ्ग बजते रहते थे, प्रतिदिन एक से एक बढ़कर ऐसे उत्सव होते रहते थे कि अगले दिन के धूम-धड़ाके के आगे पहले दिन का उत्सव फीका पड़ जाता था ॥ ५ ॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥

अन्वयः—इन्द्रियार्थपरिशून्यं एकं अपि क्षणान्तरं सोढुमक्षमः स दिवानिशं अन्तः एव विहरन् समुत्सुकाः प्रजाः न व्यपैक्षत ।

इन्द्रियेति । इन्द्रियार्थपरिशून्यं शब्दादिविषयरहितमेकमपि क्षणान्तरं क्षणं सोढुमक्षमोऽशक्तः सोऽग्निवर्णो दिवा च निशा च दिवानिशमन्तरेव विहरन्समुत्सुका दर्शनाकाङ्क्षिणीः प्रजा न व्यपैक्षत नापेक्षितवान् ।

भावार्थ—अग्निवर्ण को ऐसा चसका लग गया कि वह एक क्षण भी भोग-विलास के बिना नहीं रह सकते थे । इसलिए वे रात-दिन रनिवास मे ही रह कर विहार करने लगे । उनके दर्शन के लिए जनता अधीर रहती थी । किन्तु वे कभी उनकी सुधि नहीं लेते थे, सदा प्रजाओं की उपेक्षा रखते थे ॥ ६ ॥

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—जातु मन्त्रिणां गौरवात् प्रकृतिकांक्षितं यदपि दर्शनं ददौ तद् गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ।

गौरवादिति। जातु कदाचिन्मन्त्रिणां गौरवाद् गुरुत्वाद्धेतोः मन्त्रिवचनानुरोधादित्यर्थः। प्रकृतिभिः प्रजाभिः कांक्षितं यदपि दर्शनं ददौ तदपि गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन कोमलेन मृदुलेनात्मनखानां रागेणारुण्येन रूपितं छुरितम् अत एव नवदिवाचरणेन चरणमात्रेण कल्पितं संपादितम्। न तु मुखविलोकनप्रदानेनेत्यर्थः।

भावार्थ—वे यदि कभी मन्त्रियों के कहने-सुनने से उनके गौरववश प्रजाओं को अभिलषित दर्शन देते थे तो केवल झरोखे से एक पैर बाहर लटका देते थे, उनके मुख का दर्शन तो प्रजाओं को कभी नहीं मिलता था ॥ ७ ॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूपितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—कोमलात्मनखरागरूपितम् नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् तं अनुजीविनः कृतप्रणतयः (सन्तः) भेजिरे।

तमिति। कोमलेन मृदुलेनात्मनखानां रागेणारुणेन रूपितं छुरितम् अत एव नवदिवाकरातपेन स्पृष्टं व्याप्तं यत्पङ्कजं तस्य तुलां साम्यतामधिरोहति प्राप्नोतीति तुलाधिरोहणम्। तं चरणमनुजीविनः कृप्रणतयाः कृतनमस्काराः सन्तो भेजिरे सिषेविरे।

भावार्थ—राजकर्मचारी उनके नखों की कान्ति वाले उस चरण का नमस्कार करके आराधना करते थे। जो सुबह के नवोदित सूर्य के प्रकाशमय लाल किरणों से भरे कमल के समान था ॥ ८ ॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

अन्वयः—विगाढमन्मथः सः यौवनोन्नतविलासिनी स्तनक्षोभलोलकमलाः तदम्बुभिः गूढमोहनगृहाः दीर्घिका व्यगाहत।

यौवनेति। विगाढमन्मथः प्रौढमदनः सोऽग्निवर्णो यौवनेन हेतुनोन्नतानां विलासिनीस्तनानां क्षोभेणाघातेन लोलानि चञ्चलानि कमलानि यासां ताः तदम्बुभिस्तासां दीर्घिकाणामम्बुभिर्गूढान्यन्तरितानि मोहनगृणानि सुरतभवनानि यासु ताश्च दीर्घिका व्यगाहत व्यलोडयत्। स्त्रीभिः सह दीर्घिकासु विजहारेत्यर्थः।

भावार्थ—अत्यन्त कामासक्त वह राजा उन बावलियों में सुन्दर स्त्रियों के साथ विहार करता था जिनमें विलास गृह भी बने हुए थे। युवती विलासिनी स्त्रियों से ऊँचे-ऊँचे स्तन जब बावली के कमलों से टकराते थे तब वे कमल हिलने लगते थे ॥ ९ ॥

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥

अन्वयः—तत्र अंगनाः सेकहृतलोचनाञ्जनैः धौतरागपरिपाटलाधरैः । अर्पितप्रकृतिकान्तिभिः मुखैः तं अधिक व्यलोभयन् ।

तत्रेति । तत्र दीर्घिकास्वङ्गनाः सेकेन हृत लोचनाञ्जनं नेत्रकज्जलं येषा तैः । रज्यतेऽनेनेति रागी रागद्रव्य लाक्षादिरागस्य परिपाटलोऽङ्गगुणः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः । धौतो रागपरिपाटलो अधरो येषा तं तयोक्ता अधरा येषा तैः । निवृत्तसाक्रमिकरागैरित्यर्थः । अत एवार्पितप्रकृतकान्तिभिः अभिव्यञ्जितस्वाभाविकरागैरित्यर्थः । एवंभूतैर्मुखैस्तमग्निवर्णमधिकं व्यलोभयन् प्रलोभितवत्यः ।

भावार्थ—जल मे स्नान करने से जब उन स्त्रियो की आँखों का अञ्जन छूट जाता था और ओठों पर लगी हुई लाली धुल जाती थी तब उसकी स्वाभाविक सुन्दरतापर वह और भी मोहित हो जाता था ॥ १० ॥

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥

अन्वय.—प्रियासखः सः घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः वासिता द्विपः पुष्पिताः कमलिनीः इव अभ्यपद्यत ।

घ्राणेति । प्रियासखः सोऽग्निवर्णो घ्राणकान्तेन घ्राणतर्पणेन मधुगन्धेन कर्षिणीर्मनोहारिणीः रच्यन्त इति रचनाः पानभूमय एव रचनाः । रचिताः पानभूमय इत्यर्थः । वासितासखः करिणीसहचरः । 'वासिता स्त्रीकरिण्योश्च' इत्यमरः । द्विपः पुष्पिताः कमलिनीरिव अभ्यपद्यताभिगतः ।

भावार्थ—जिस प्रकार हाथी खिली हुई कमलिनियों की गन्ध से परिपूर्ण तालाबों में हथिनियो के साथ प्रवेश कराया है, उसी प्रकार अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ मद्य के गन्ध से बसी हुई मद्यपानशाला में प्रवेश करते ॥ ११ ॥

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥

अन्वयः—अंगनाः रहः सातिरेकस्य मदकारण तेन दत्तं मुखासवं अभिलेषुः बकुलतुल्यदोहदः स. अपि ताभिः उपहृतं ('मुखासवं) अपिबत् ।

सातिरेकेति । अङ्गना रहो रहसि सातिरेकस्य सातिशयस्य मदस्य कारणं तेनाग्निवर्णेन दत्तं मुखासवं मद्यमभिलेषुः । बकुले तुल्यदोहदस्तुल्याभिलाषः 'अथ दोह-

दम् । 'इच्छा कांक्षा स्पृहेहा तृट्' इत्यमरः । वकुलद्रुमस्याङ्गनामद्यार्थित्वात्तुल्याभिलाषत्वम् । सोऽपि ताभिरङ्गनाभिरुपहृतं दत्तं मुखासवमपिवत् ।

भावार्थ—उस एकान्त स्थान में वे स्त्रियाँ अग्निवर्ण का जूठा मदकारी आसव बड़े प्रेम से पीती थीं, जिस प्रकार मौलेसरी का वृक्ष स्त्रियों के मुख को पाने को तरसता है उसी प्रकार उन स्त्रियों के मुख से आसव पीने की इच्छा करनेवाला अग्निवर्ण भी उनके मुख का आसव पिया करता था ॥ १२ ॥

अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥

अन्वयः—अङ्कपरिवर्तनोचिते उभे तस्य अङ्कं अशून्यतां निन्यतुः हृदयङ्गमस्वना च वल्लकी वल्गुवाग् अपि वामलोचना च ।

अङ्कमिति । अङ्कपरिवर्तनोचिते तत्सङ्गविहारार्हे उभे तस्याग्निवर्णस्याङ्कमपूर्णतां निन्यतुः । के उभे ? हृदयङ्गमस्वना मनोहरध्वनिर्वल्लकी वीणा च वल्गुवाङ्मधुरभाषिणी वामलोचना कामिन्यपि च हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमः । खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानात्खच्प्रत्ययः । अङ्काधिरोपितयोर्वीणावामाक्ष्योर्वाद्यगीताभ्यामरंस्तेत्यर्थः ।

भावार्थ—गोद में बैठाने योग्य दो ही वस्तुयें हैं—एक तो हृदयङ्गम मधुरध्वनि वाली वीणा दूसरी मधुर भाषिणी सुलोचना स्त्री, इन दोनों ने अग्निवर्ण के गोद को सदा भरपूर रखा । अर्थात् उनके दोनों बगल में कामिनी स्त्री और वीणा रहती थी ॥ १३ ॥

स स्वयं प्रहृतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥

अन्वयः—कृती स्वयं प्रहृतपुष्करः लोलमाल्यवलयः मनः हरन् सः अभिनयातिलङ्घिनीः नर्तकीः गुरुषु पार्श्ववर्तिषु अलज्जयत् ।

स इति । कृती कुशलः स्वयं प्रहृतपुष्करो वादितवाद्यमुखो लोलानि माल्यानि वलयानि अभिनयेषु स्खलन्तीत्यर्थः । नर्तकीर्विलासिनीः । "शिल्पिनि ष्वुन्" इति ष्वुन्प्रत्ययः । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप् । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । गुरुषु नाट्याचार्येषु समीपस्थेषु सत्स्वेवालज्जयल्लज्जामगमयत् ।

भावार्थ—जब नर्तकियों के नाचते समय वह अग्निवर्ण स्वयं मृदंग, तबला को बजाने लगता था तब उसके गले की माला हिल उठती थी । उस समय ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ सुध-बुध खोकर नाचना भी भूल जाती थीं ।

इसका फल यह होता था कि उन्हें नाचना सिखाने वाले उनके जो गुरु वहाँ बैठे रहते थे उनके आगे वे अपनी इस बात पर लजा जाती थीं ॥ १४ ॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥

अन्वयः—च चारुनृत्यविगमे परिश्रमात् स्वेदभिन्नतिलकं तन्मुखं प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन् अमरालकेश्वरौ अत्यजीवयत् ।

चार्विति । किंच चारु सुन्दरं नृत्यविगमे लास्यावसाने परिश्रमान्नर्तनप्रयासात् स्वेदेन भिन्नतिलकं विशीर्णतिलकं तन्मुखं नर्तकीमुखं प्रेम्णा दत्तवदनानिलः प्रवर्तितमुखमारुतः पिबन् अमराणामलकायाश्चेश्वराविन्द्रकुबेरावत्यजीवदतिक्रम्याजीवत् । ततोऽप्युत्कृष्टजीवित आसीदित्यर्थः। इन्द्रादेरपि दुर्लभमीदृशं सौभाग्यमिति भावः ।

भावार्थ—जब नृत्य समाप्त हो जाता था और नाचने के परिश्रम से नर्तकियों के मुख पर पसीने की बूंदें छा जाती थीं तब राजा अग्निवर्ण प्रेमपूर्वक मुख से फूंक लगाकर उनके मुख को चूमने लगता था, उस समय वह अपने को इन्द्र एवं कुबेर से भी बढ़कर सुखी तथा भाग्यवान् समझता था ॥ १५ ॥

तस्य सावरणदृष्टसन्धयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥

अन्वयः—उपसृत्य नवेषु सङ्गिनः तस्य सावरणदृष्टसन्धयः संगमाः वल्लभाभिः सामिभुक्तविषयाः चक्रिरे ।

तस्येति । उपसृत्यान्यत्र गत्वा नवेषु नूतनेषु काम्यवस्तुषु शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु संगिनः आसक्तिमतः सततस्तस्य सावरणाः प्रच्छन्ना दृष्टाः प्रकाशाश्च संधयः साधनानि येषु ते समागमाः संगमा वल्लभाभिः प्रेयसीभिः सामिभुक्तविषया अर्धोपभुक्तेन्द्रियार्थाश्चक्रिरे । यथेष्टं भुक्तश्चेत्तर्ह्ययं निस्पृहः सन्नस्मत्समीपं नायास्यतीति भावः । अत्र गोनर्दीय,—'सन्धिर्द्विविधः सावरणः प्रकाशश्च । सावरणो भिक्षुक्यादिना प्रकाशः स्वयमुपेत्य केनापि इति' । 'इतः स्वयमुपसृत्य विशेषार्थं तत्र स्थितोऽनुपजापं स्वयं सन्धेय.' इति वात्स्यायनः । अन्यत्र गतं कथंचित्सन्धाय पुनरागमायार्धोपभोगेनानिवृत्ततृष्णं चक्रुरित्यर्थः ।

भावार्थ—वह सदा नई-नई भोग की सामग्रियाँ चाहता था जिसके विषय से उसका मन भर जाता था, उसे वह छोड़ देता था । इसलिए स्त्रियाँ सम्भोग के समय राजा से आधी ही रति करके उठ जाती थीं क्योंकि उन्हें डर था कि यदि राजा पूर्णरूप से तृप्त हो जायेगा तो हमें छोड़ देगा ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

अन्वयः—सः प्रणयिनीः वञ्चयन् अंगुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं वीक्षितं च असकृत् मेखलाबन्धनं च अवाप ।

अङ्गुलीति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीर्वञ्चयन्नन्यत्र गच्छन्नङ्गुल्यः किसलयानि तेषामग्राणि तैस्तर्जनं भर्त्सनं भ्रूविभङ्गेन भ्रूभेदेन कुटिलं वक्र वीक्षणं चासकृन्मेखलाभिर्बन्धनं चावाप । अपराधिनो दण्ड्या इति भावः ।

भावार्थ—कभी-कभी जब वह राजा अग्निवर्ण इन प्रियाओं को चकमा दे जाता तब वे बिगड़ कर अपनी लाल अंगुलियों को चमका कर उसे धमकाकर भौहें तरेरती थीं और अपनी करधनी से उसे अनेक बार बाँध देती थीं ॥ १७ ॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥

अन्वयः—सुरतवाररात्रिषु दूतिविदितं प्रियजनस्य पृष्ठतः तेन विप्रलम्भशङ्किनः प्रियजनस्य कातरं वचः शुश्रुवे ।

तेनेति । सुरतस्य वारो वासरः तस्य रात्रिषु दूतीनां विदितं तथा पृष्ठतः प्रियजनस्य पश्चाद्भागे निषेदुषा तेनाग्निवर्णेन विप्रलम्भपरिशङ्किनो विरहशङ्किनः प्रियश्चासौ जनश्च प्रियजनः तस्य कातरं वचः प्रियाजनेन मां पाहीत्येवमादि दीनवचनं शुश्रुवे ।

भावार्थ—जिस रात को उसे किसी स्त्री से संभोग करने जाना होता था तो दूती से सब बातें बता कर वह पास ही छिप कर बैठ जाता था । वह स्त्री जब आती थी और विप्रलब्धा नायिका के समान दूती से सब बातें करने लगती थी तब वह उन बातों को छिपे-छिपे बड़े प्रेम से सुनता था ॥ १८ ॥

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥

अन्वयः—गृहिणीपरिग्रहात् नर्तकीषु असुलभासु लौल्यं एत्य अङ्गुलिक्षरण-सन्नवर्तिकः सः तद्वपुः अलिखन् कथंचित् वर्तते स्म ।

लौल्यमिति । गृहिणीपरिग्रहाद्राज्ञीभिः समागमाद्धेतोर्नर्तकीषु वेश्यास्वसुलभासु दुर्लभासु सतीषु लौल्यमौत्सुक्यमेत्य प्राप्य अङ्गुल्याः क्षरणेन स्वेदनेन सन्नवर्तिको विगलितशलाकः सोऽग्निवर्णस्तासां नर्तकीनां वपुस्तद्वपुरालिखन्कथंचिद्वर्तते स्मावर्तत ।

भावार्थ—जब कभी रानियाँ उसे रोक लेती थीं तब नर्तकियों के न मिलने

से विरह कातर हो जाता था और हाथ में तूलिका लेकर किसी नर्तकी का चित्र बनाने लगता था, उस समय वह नर्तकी स्मरण हो जाती थी और सात्त्विक भाव के कारण उसकी अँगुलियों में पसीना आ जाता था और कूँची फिसल पड़ती थी इस प्रकार वह बड़ी कठिनाई से चित्र बना पाता था ॥ १९ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥ २० ॥

अन्वयः—प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरात् आयतात् मदनात् देव्यः उज्झितरुषाः तं उत्सवविधिच्छलेन कृतार्थतां निन्युः ।

प्रेमेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्नजने मत्सराद्वैरादायतात्प्रवृद्धान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्झितरुषस्त्यक्तरोषाः सत्यस्तं महीक्षितमुत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मव्याजेन कृतोऽर्थः प्रयोजनं येन स कृतार्थः । तस्य भावस्तत्तां निन्युः । मदनमहोत्सवव्याजाच्च तेन स्वमनोरथं कारयामासुरित्यर्थः ।

भावार्थ—यदि राजा किसी रानी से प्रेम करता तो वह गर्व से फूली नहीं समाती थी, यह देखकर उसकी सौतें जल उठती थी और कामातुर हो जाती थी । किसी उत्सव का बहाना करके राजा को अपने यहाँ बुलाकर उसके साथ अपनी कामना बुझाती थीं ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

अन्वयः—सः प्रातः एत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः प्रणयिनीः कृताञ्जलिः प्रसादयन् (तथापि) प्रणयमन्थरः पुन अदुनोत् ।

प्रातरिति । सोऽग्निवर्णः प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना । "दृशेर्ण्यन्ताल्ल्युट्" कृता खण्डनव्यथा यासां तास्तथोक्ताः खण्डिता इत्यर्थः । तदुक्तम्—'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति । प्रणयिनीः प्राञ्जलिः प्रसादयंस्तथापि प्रणयमन्थरः प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलसः, अत्र शिथिलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः । पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ।

भावार्थ—रात में बाहर किसी स्त्री से संभोग करके जब राजा सुबह अपने घर लौटता था तब रात के संभोग वाले सुंदर वेश में उसे देखकर उनकी प्रेमिकायें खण्डिता नायिका के समान आँसू बहाने लगती थी, तब वह हाथ जोड़कर

उन्हें मना लेता था। पर जब रात को थकावट के कारण वह उनसे भरपूर प्रेम नहीं करता था तो वे फिर व्याकुल हो उठती थीं ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

अन्वयः—स्वप्नकीर्तितविपक्षं तं अवदन्त्यः एव अङ्गनाः प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभि. क्रोधभिन्नवलयैः विवर्तनैः प्रत्यभैत्सुः ।

स्वप्नेति । स्वप्ने कीर्तितो विपक्षः सपत्नजनो येन तमग्निवर्णम् अवदन्त्य एव त्वया गोत्रस्खलनं कृतमित्यनुपालम्भमाना एव अङ्गनाः स्त्रियः प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिता अश्रुबिन्दवो येषु तैः, क्रोधेन भिन्नानि वलयानि येषु तैर्विवर्तनैः पराग्विलग्नैः प्रत्यभैत्सुः प्रतिचक्रुः । तिरश्चक्रुरित्यर्थः ।

भावार्थ—जब स्त्रियाँ देखती थीं कि राजा अग्निवर्ण स्वप्न में बड़बड़ाते हुए दूसरी स्त्री की बड़ाई कर रहा है तब वे स्त्रियाँ बिना बोले ही बिस्तर के कोने पर आँसू गिराती हुई क्रोध से कंगन तोड़ कर उनसे पीठ फेर कर सो जाती थीं, इस प्रकार उससे रूठ उनका तिरस्कार करती थीं ॥ २२ ॥

क्लृप्तपुष्पशयनाल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—सः दूतिकृतमार्गदर्शनः क्लृप्तपुष्पशयनात् लतागृहान् एत्य अवरोधभयवेपथूत्तरम् परिजनाङ्गनारतं अन्वभूत् ।

क्लृप्तेति । सोऽग्निवर्णो दूतिभिः कृतमार्गदर्शनः सन् क्लृप्तपुष्पशयनाल्लतागृहानेत्यावरोधादन्तःपुरजनाद्भयेन यो वेपथुः कम्पस्तदुत्तरं तत्प्रधानं यथा तथा परिजनाङ्गनारतं दासीरतमन्वभूत् । परिजनश्चासावङ्गना चेति विग्रहः । अत्र ङीबन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयाद् ह्रस्वत्वं कृतम् । 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद् गिराम्' इत्युपदेशात् ।

भावार्थ—कभी-कभी दासियाँ राजा को मार्ग दिखलाती हुई उस स्थान पर ले जाती थीं जहाँ लताओं के बीच में सम्भोग के लिए फूलों की सेज बिछी रहती थी। तब उसे यह डर होता था कि कहीं ये दासियाँ जाकर रानियों से न कह दें। अतः उन्हें फुसलाने के लिए वे उनसे सम्भोग करके प्रसन्न करते थे ॥ २३ ॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥ २४ ॥

अन्वय—मया ते वल्लभजनस्य नाम प्राप्य तस्य भाग्य काङ्क्ष्यते। ननु लोलुप मम मन इति अङ्गना. गोत्रविस्खलितं त ऊचु ।

नामेति। मया ते वल्लभजनस्य प्रियजनस्य नाम प्राप्य तन्नाम्नाह्वानं लब्ध्वा तस्य त्वद्वल्लभजनस्य यद्भाग्यम्। तत्परिहासकारणमिति शेषः। तदपि काङ्क्ष्यते ननु तव मम मनो लोलुप गृध्नु इत्यनेन प्रकारेण अङ्गनाः गोत्रे नाम्नि विस्खलितं स्खलितवन्त तमग्निवर्णमूचुः। 'गोत्रे नाम्नि कुलेऽचले' इति यादवः। तन्नामलाभे सति तद्भाग्यमपि काङ्क्षिणो मनः अहो तृष्णेति सोल्लुण्ठमुपालम्भन्तेत्यर्थः।

भावार्थ—कभी राजा भूल से किसी बाहरी प्रेमिका का नाम ले लेता था तो वे स्त्रियाँ कहने लगती थी कि अच्छा हुआ आपने अपनी प्रेमिका का नाम बता दिया। धन्य है उसका भाग्य ! तो भी हमारा लोभी मन नही मानता, आपको कैसे छोड़ें ॥ २४ ॥

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥ २५ ॥

अन्वयः—चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखल अलक्तकाङ्कितम् शयनं उत्थितस्य विलासिन. तस्य विभ्रमरतानि अपावृणोत्।

चूर्णेति। चूर्णबभ्रु चूर्णैर्व्यानतकरणेरधोमुखावस्थितायाः स्त्रियाश्चिकुरगलितैः कुंकुमादिभिर्बभ्रु पिङ्गलम्। 'बभ्रु स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः। लुलितस्रगाकुलम् करिपदाख्यबन्धे स्त्रिया भूमिगतमस्तकतया पतिताभिर्लुलितस्रग्भिराकुलम् छिन्नमेखलं हरिविक्रमकरणैः स्त्रिया उच्छ्रितैकचरणत्वाद्गलितमेखलम् अलक्तकाङ्कितं धेनुकबन्धे भूतलनिहितकान्ताचरणत्वाल्लाक्षारागरूपित शयनं कर्तृ। उत्थितस्य शयनादिति भावः। विलासिनस्तस्याग्निवर्णस्य विभ्रमरतानि लीलारतानि सुरतबन्धविशेषानित्यर्थः। अपावृणोत्स्फुटीचकार। व्यानतादीनां लक्षणं रतिरहस्ये—'व्यानतं रतमिदं प्रिया यदि स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः। तत्कटिं समधिरुह्य वल्लभः स्याद्वृषादिपशुसंस्थितस्थितिः॥ भूगतस्तनभुजास्यमस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम्। क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिपदं तदुच्यते। योषिदेकचरणे समुत्थिते जायते हि हरिविक्रमाह्वयः। न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढवल्लभा॥ अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धेनुक वृषवदुन्नते प्रिये॥" इति।

भावार्थ—जब वह सोकर उठता था तब उसका पलंग फैले हुए केशर, कुङ्कुमादि के चूर्ण से सुनहरा दिखाई देता था। उस पर फूलों की मसली हुई मालायें

और टूटी हुई करधनियाँ पड़ी रहती थीं, उसे देखकर मालूम होता था कि वह विलासी है ॥ २५ ॥

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥

अन्वयः—स स्वयं योषितां चरणरागं आदधे श्लथांशुकैः नितम्बिभिः मेखलागुणपदैः लोभ्यमाननयनः तथा समाहितः च न ।

स इति । सोऽग्निवर्णः स्वयमेव योषितां चरणयो रागं लाक्षारसमादधेऽर्पयामास । किंच श्लथांशुकैः प्रियाङ्गस्पर्शादिति भावः । नितम्बिभिर्नितम्बवद्भिर्मेखलागुणपदैर्जघनैः । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकण्ठयाः क्लीवे तु जघनं पुरः' इत्यमरः । लोभ्यमाननयन आकृष्यमाणदृष्टिः सन् तथा समाहितोऽवहितो नादधे । यथा सम्यग्रागरचना स्यादिति भावः ।

भावार्थ—कभी-कभी वह अग्निवर्ण स्त्रियों के पैर में स्वयं महावर लगाने बैठ जाता था, उसी समय उसकी दृष्टि स्त्रियों के उन नितम्बों पर पड़ जाती थी जिन पर से वस्त्र सरका हुआ रहता था । उन्हें देखकर वह ऐसा मुग्ध हो जाता था कि भलीभाँति महावर भी नहीं लगा पाता था ॥ २६ ॥

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—चुम्बने विपरिवर्तिताधरं रशनाविघट्टने हस्तरोधि सर्वतः विघ्नितेच्छं अपि वधूरतं तस्य मन्मथेन्धनम् अभूत् ।

चुम्बन इति । चुम्बने प्रवृत्ते सति विपरिवर्तिताधरं परिहृतोष्ठम् । रशनाविघट्टने ग्रन्थिविस्रंसने प्रसक्ते सति हस्तं रुणद्धि वारयनीति हस्तरोधि । इत्थं सर्वत्र विघ्नितेच्छं प्रतिहतमनोरथमपि वधूनां रतं सुरतं तस्याग्निवर्णस्य मन्मथेन्धनं कामोद्दीपनमभूत् ।

भावार्थ—सम्भोग के समय जब वह स्त्रियों के ओठों को चूमने लगता था, तब वे मुँह फेर लेती थीं । जब कमर की करधनी खोलने लगता था तब हाथ थाम लेती थीं । इस प्रकार वह और कुछ करना चाहता था तो स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करने देती थीं फिर भी उसका मन बढ़ता ही गया ॥ २७ ॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ २८ ॥

अन्वयः—स. दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः वधूः नर्मपूर्वं अनुदृष्टसंस्थितः स्मितमनोज्ञया ह्रीनिमीलितमुखीः चकार।

दर्पणेष्विति। सोऽग्निवर्णो दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः सम्भोगचिह्नानि पश्यन्तीर्वधूर्नर्मपूर्वं परिहासपूर्वमनुपृष्ठ तासां पृष्ठभागे संस्थितः सन् स्मितमनोज्ञया दर्पणगतेन स्वप्रतिबिम्बेन ह्रीनिमीलितमुखीर्लज्जावनतमुखीश्चकार। तमागत दृष्ट्वा लज्जिता इत्यर्थ।

भावार्थ—जब कभी स्त्रियाँ दर्पण के सामने खडी होकर दाँत काटने और संभोग के चिह्नों को देखने लगती थी तब राजा उनके पीछे चुपके से जाकर खड़ा हो जाता था और मुस्करा देता था। जब दर्पण मे उसकी छाया स्त्रियाँ देख लेती थी तब वे झेंपकर मुँह नीचे कर लेती थी॥ २८॥

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम्॥ २९॥

अन्वयः—प्रिया. शयनोत्थित त कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं अग्रपादयोः न्यस्तपादतलं निशात्ययविसर्गं चुम्बनं प्रार्थयन्ते।

कण्ठेति। प्रिया शयनादुत्थितं तमग्निवर्णं कण्ठसक्तं कण्ठार्पित मृदुबाहुबन्धनं यस्मिंस्तत्। अग्रपादयोः स्वकीययोर्न्यस्ते पादतले यस्मिंस्तम्। निशात्यये विसर्गो विसृज्य गमनं तत्र यच्चुम्बनं तत्प्रार्थयन्त। 'दुह्याच्' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम्। अत्र गोनर्दीयः—'रतावसाने यदि चुम्बनादि प्रयुज्य यायान्मदनोऽस्य वासः' इति।

भावार्थ—जब वह सुबह पलंग से उठकर जाने लगता था तब स्त्रियों की इच्छा होती थी कि बिछुड़ने के पहले राजा एक बार गले में बाहुओं को लगाकर हमे चूम तो लेता॥ २९॥

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेषमतिशक्रशोभिनम्।
पिप्रिये न स तथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम्॥ ३०॥

अन्वयः—युवा स. अतिशक्रशोभिनं दर्पणतलस्थं आत्मनः राजवेषं प्रेक्ष्य तथा न पिप्रिये यथा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनं (प्रेक्ष्य पिप्रिये)।

प्रेक्ष्येति। युवा सोऽग्निवर्णोऽतिशक्र यथा तथा शोभमानमतिशक्रशोभिनं दर्पणतलस्थं दर्पणसंक्रान्तमात्मनो राजवेषं प्रेक्ष्य तथा व्यक्तलक्ष्म प्रकटचिह्नं परिभोगमण्डनं प्रेक्ष्य पिप्रियं।

भावार्थ—वह इन्द्र के वस्त्रों से भी सुन्दर अपने राजसी वस्त्र को देखकर उतना प्रसन्न नही होता था जितना कि सम्भोग के चिह्नों को देखकर होता था॥३०॥

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः।
विद्म हे शठ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः॥ ३१॥

अन्वयः—मित्रकृत्यं अपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं अनवस्थितं तं प्रियाः हे शठ! पलायनच्छलानि अञ्जसा विद्म इति (उक्त्वा) कचग्रहैः रुरुधुः।

मित्रेति। मित्रकृत्यं सुहृत्कार्यमपदिश्य व्याजीकृत्य पार्श्वतः प्रस्थितमन्यतो गन्तुमुद्युक्तमनवस्थितमवस्थातुमक्षमं तमग्निवर्णं प्रिया हे शठ हे गूढविप्रियकारिन्। "गूढविप्रियकृच्छठः" इति दशरूपके। तव पलायनस्य छलान्यञ्जसा तत्त्वतः। 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः। विद्म जानीम। "विदो लटो वा" इति वैकल्पिको मादेशः। इति उक्त्वेति शेषः। कचग्रहैः केशाकर्षणै रुरुधुः। अत्र गोनर्दीयः—'ऋतुस्नाताभिगमने मित्रकार्ये तथापदि। त्रिष्वेतेषु प्रियतमः क्षन्तव्यो वारगम्यया'॥ इति। विरक्तलक्षणप्रस्तावे वात्स्यायनः—'मित्रकृत्यं चापदिश्यान्यत्र शेते' इति।

भावार्थ—कभी-कभी अपनी रानियों के पास बैठे-बैठे उसके मन में किसी प्रियतमा के पास जाने की इच्छा होती थी तो वह यह कहकर उठने लगता था कि अरे! मुझे एक मित्र से मिलने जाना है। यह सुनकर रानियाँ ताड़ जाती थीं और कहती थीं कि हम भलीभाँति जानती हैं कि तुम किस मित्र के यहाँ जा रहे हो फिर बाल पकड़कर रोक देती थीं॥ ३१॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत वृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥ ३२॥

अन्वयः—निर्दयरतिश्रमालसा योषितः कण्ठसूत्रं अपदिश्य पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् तस्य वृहद्भुजान्तरं अध्यशेरत।

तस्येति। निर्दयरतिश्रमणालसा निश्चेष्टा योषितः कण्ठसूत्रमालिङ्गनविशेषमपदिश्य व्याजीकृत्य पीवरस्तनाभ्यां विलुप्तचन्दनं प्रमृष्टाङ्गरागं तस्याग्निवर्णस्य वृहद्भुजान्तरमध्यशेरत वक्षःस्थले शेरते स्म। कण्ठसूत्रलक्षणं तु—'यत्कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य स्तनाभिघातं निविडोपगूहात्। परिश्रमार्थं शनकैर्विदग्धास्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति सन्तः॥' इदमेव रतिरहस्ये स्तनालिङ्गनमित्युक्तम्। तथा च—'उरसि कमितुरुच्चैरादिशन्ती वराङ्गीस्तनयुगमुपधत्ते यत्स्तनालिङ्गनं तत्' इति।

भावार्थ—जब कभी उसके साथ बहुत देर तक निर्दयपूर्वक सम्भोग करने के कारण स्त्रियाँ अलसा जाती थीं तब वे अपने बड़े-बड़े स्तनों से राजा की छाती के चन्दन को पोंछती हुई उसके वक्षःस्थल पर इस प्रकार सो जाती थीं मानो वे सम्भोग का वह कण्ठसूत्र नामक आसन साध रही हों॥ ३२॥

संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सगमाय निशि गूढचारिण चारदूतिकथितं त अंगनाः पुरोगताः हे कामुक ! तमोवृतः कुत वञ्चयिष्यसि इति चकृषुः ।

संगमायेति । सगमाय सुरताय निशि गूढमज्ञातं चरतीष्टगृह प्रति गच्छतीति गूढचारी त चारदूतिकथित चरन्तीति गूढचारिण्य । "ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः" इति णप्रत्यय. । चाराश्च ता दूतयश्च चारदूतयः ताभिः कथित निवेदितं तमग्निवर्णमङ्गना पुरोऽग्रे गताः । अवरुद्धमार्गाः सत्य इत्यर्थः । हे कामुक ! तमसा वृतो गूढः सन्कुतो वञ्चयिष्यसीति उपालभ्येति शेषः । चकृषुः स्ववास निन्युरित्यर्थः ।

भावार्थ—रात को वह संभोग की इच्छा से छिपकर जब बाहर जाने को होता था तो दूतियो से समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे पहुँच जाती थी और यह कहते हुए खीच लाती थी कि चकमा देकर रात को किधर चल पड़े ॥ ३३ ॥

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
आररोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—उडुपतेः अर्चिषा इव योषिता स्पर्शनिर्वृत्तिम् अवाप्नुवन् रात्रिजागरपरः दिवाशयः असौ कुमुदाकरोपमा आरुरोह ।

योषितामिति । उडुपतेरिन्दोरर्चिषा भासामिव । 'ज्वाला भासो नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः । योषिता स्पर्शनिर्वृत्ति स्पर्शसुखमवाप्नुवन् किञ्च रात्रिसुजागरपरः । दिवा दिवसेषु शेते स्वपितीति दिवाशयः । "अधिकरणे शेते" इत्यच्प्रत्ययः । असावग्निवर्णः कुमुदाकरस्योपमां साम्यमारुरोह प्राप ।

भावार्थ—स्त्रियो के स्पर्श से उसे वैसा ही आनन्द मिलता था जैसा चन्द्रमा की किरणों से । अतः वह चन्द्रमा के समान रात भर जागता रहता और दिनभर सोता रहता था ॥ ३४ ॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—दशनपीडिताधराः नखपदाङ्कितोरवः वेणुना वीणया च उभौ वेजिताः शिल्पकार्यः त विजिह्मनयनाः (सत्य.) व्यलोभयन् ।

वेणुनेति । दशनैः पीडिताधरा दष्टोष्ठाः नखपदैर्नखक्षतैरङ्कितोरवश्चिह्नि-

तोत्सङ्गाः । व्रणिताधरोरुत्वादक्षमा इत्यर्थः । तथापि वेणुना वीणया चेत्युभयेन अधरोरुपीडाकारिणेत्यर्थः । वीजिताः पीडिताः शिल्पं वेणुवीणावाद्यादिकं कुर्वन्तीति शिल्पकार्यो गायिकाः । "कर्मण्यण्" इत्यण् । "टिड्ढाणञ्-द्वयसज्दघ्नञ्०" इत्यनेन ङीप् । तं विजिह्मनयनाः कुटिलदृष्टयः सत्यः स्वं चेष्टितं जानन्नपि वृथा नः पीडयतीति साभिप्रायं पश्यन्त्य इत्यर्थः । व्यलोभयन् । तथाविधालोकनमपि तस्याकर्षकमेवाभूदिति भावः ।

भावार्थ—उसने स्त्रियों के ओठों पर अपने दाँतों से और उनकी जाँघों पर चूँट-चूँटकर ऐसे घाव कर दिये थे कि अधरों पर बाँसुरी और जाँघ पर वीणा रखने पर उन्हें बड़ा कष्ट होता था और वे टेढ़ी भौंहों से राजा की ओर देखने लगती थीं । उनकी यह भावभङ्गी देखकर राजा और भी मोहित हो जाता था ॥ ३५॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं नृत्यं मिथः स्त्रीषु उपधाय दर्शयन् स मित्रसन्निधौ प्रयोक्तृभिः सह संजघर्ष ।

अङ्गेति । अङ्गं हस्तादि सत्त्वमन्तःकरणम् वचनं गेयं चाश्रयः कारणं यस्य तदङ्गसत्त्ववचनाश्रयम् । आङ्गिकसात्त्विकवाचिकरूपेण विविधमित्यर्थः । यथाह भरतः—'सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः' इति । नृत्यमभिनयं मिथो रहसि स्त्रीषु नर्तकीषूपधाय निधाय दर्शयन् स मित्रसंनिधौ सहचरसमक्षं प्रयोगेऽभिनये निपुणैः कृतिभिः प्रयोक्तृभिरभिनयार्थप्रकाशकैर्नाट्याचार्यैः सह संजघर्ष संघर्षं कृतवान् । संघर्षः पराभिभवेच्छा ।

भावार्थ—जब वह एकान्त में स्त्रियों के आंगिक, सात्त्विक और वाचिक अभिनय का अपने मित्रों के आगे प्रदर्शन करता था तब वह बड़े-बड़े नाट्य-शास्त्रियों के भी कान काटता था ॥ ३६ ॥

इतः प्रभृति तस्य कृत्रिमादिषु विरचितविहारप्रकारमाह—

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—प्रावृषि अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजः नीपरजसा अङ्गरागिणः प्रमदबर्हिणेषु कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः अभूत् ।

अंसेति । प्रावृष्यंसलम्बिन्यः कुटजानामर्जुनानां ककुभानां च स्रजो यस्य

तस्य नीपानां कदम्बकुसुमानां रजसाङ्गरागिणोऽङ्गरागवतस्तस्याग्निवर्णस्य प्रमद-बर्हिणेषून्मत्तमयूरेषु कृत्रिमाद्रिषु विहार एव विभ्रमो विलासोऽभूदभवत् ।

भावार्थ—वर्षा में वह कुटज और अर्जुन की माला पहनकर, शरीर में कदम्ब का अङ्गराग लगाकर मतवाले हाथी के समान पर्वतों पर विहार करता था। ३७ ॥

विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे ।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—स. विग्रहात् शयने पराङ्मुखी. अबला. अनुनेतु न तत्वरे (किन्तु) 'घनशब्दविक्लवा' विवृत्य भुजान्तर विशती: ता आचकाङ्क्ष ।

विग्रहादिति । प्रावृषीत्यनुषज्जते । सोऽग्निवर्णो विग्रहात्प्रणयकलहाच्छयने शय्यायां पराङ्मुखीरबला अनुनेतु न तत्वरे त्वरितवान् । किंतु घनशब्देन घन-गर्जितेन विक्लवाश्चकिता अत एव विवृत्य स्वयमेवाभिमुखीभूय भुजान्तरं विशतीः विशन्तीः । "आच्छीनद्योर्नुम्" इति नुम्विकल्पः । ता अबला आचकाङ्क्ष स्वयं-ग्रहादेव सामुख्यमैच्छदित्यर्थ. ।

भावार्थ—जब पलग पर सोई स्त्रियाँ रूठकर पीठ फेरकर सो जाती थीं तब राजा अग्निवर्ण उन्हें मनाना नहीं चाहता था किन्तु वह यह चाहता था कि किसी प्रकार बादल गरज उठे जिससे डरकर वे मेरी छाती से आ लिपटें ॥ ३८ ॥

कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—कार्तिकीषु यामिनीषु सवितानहर्म्यभाग ललिताङ्गनासखः स सुरतश्रमापहा मेघमुक्तविशदाम् चन्द्रिका अन्वभुङ्क्त ।

कार्तिकीष्विति । कार्तिकस्येमाः कार्तिक्यः । "तस्येदम्" इत्यण् । तासु यामिनीषु निशासु शरद्रात्रिष्वित्यर्थ. । सवितानान्युपरिवस्त्रावृतानि हर्म्याणि भज-तीति सवितानहर्म्यभाक् । भजेर्ण्विप्रत्ययः । हिमवारणार्थं सवितानमुक्तम् । ललिताङ्गनासखः सोऽग्निवर्णः सुरतश्रमापहां मेघमुक्ता चासौ विशदा च ताम् । बहुलग्रहणात्सविशेषणसमासः चन्द्रिकामन्वभुङ्क्त ।

भावार्थ—कार्तिक की रातों में वह राजभवन के ऊपर चँदोवा तनवा देता था और सुन्दरियों के साथ उस चाँदनी का आनन्द लेता था, जो सम्भोग का श्रम दूर करती है और बादलों के न रहने पर बराबर फैली रहती है ॥ ३९ ॥

सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हंसमेखलं सैकतं श्रोणिबिम्बं इव विवृण्वतीं स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सरयूं सौधजालविवरैः व्यलोकयत् ।

सैकतमिति । किञ्च हंसा एव मेखला यस्य तत्सैकतं पुलिनं श्रोणिबिम्बमिव विवृण्वतीम् । अतएव स्वप्रियाविलसितान्यनुकरोतीति तद्विधां सरयूम् । सौधस्यं जालानि गवाक्षाः त एव विवराणि तैर्व्यलोकयत् ।

भावार्थ—वह राजभवन के झरोखे से सरयू नदी को देखता था और उसके तटपर हंसों की पाँतें बैठी रहती थीं, वह दृश्य ऐसा दिखाई पड़ता है मानो सरयू उन सुन्दरियों का अनुकरण कर रही हों जिनके नितम्बों पर करधनी पड़ी हो ॥ ४० ॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मर्मरैः अगुरुधूपगन्धिभिः व्यक्तहेमरशनैः हैमनैः निवसनैः सुमध्यमाः एकतः आग्रथनमोक्षलोलुपं तं जह्रुः ।

मर्मरैरिति । मर्मरैः संस्कारविशेषाच्छब्दायमानैः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरः । अगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैर्लौल्याल्लक्ष्यमाणकनकमेखलागुणैः हैमनैर्हेमन्ते भवैः । "सर्वत्राण्च तलोपश्च" इति हेमन्तशब्दादण, प्रत्ययस्तलोपश्च । निवसनैरंशुकैः सुमध्यमाः स्त्रियः एकतो नितम्बैकदेश आग्रथनमोक्षयोर्नीवीबन्धविस्रंसनयोर्लोलुपमासक्तं तं जह्रुराचकृषुः ।

भावार्थ—पतली कमरवाली स्त्रियाँ जिनके सुगन्धित वस्त्रों को देखकर जो माँड़ी के कारण करकराते और जिनके नीचे झलकती हुई करधनी बाँधने और खोलने के लिए उत्सुक वह राजा अग्निवर्ण मोहित हो जाता था ॥ ४१ ॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—निवातकुक्षिषु गर्भवेश्मसु अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयः सर्वसुरतान्तरक्षमाः शिशिररात्रयः तस्य साक्षितां ययुः ।

अर्पितेति । निवाता वातरहिताः कुक्षयोऽभ्यन्तराणि येषां तेषु गर्भवेश्मसु गृहान्तर्गृहेष्वर्पिता दत्ताः स्तिमिता निवातत्वान्निश्चला दीपा एव दृष्टयो याभि-

स्ताः। अत्रानिमिषदृष्टित्वं च गम्यते। सर्वसुरतान्तरक्षमास्तापस्वेदापनोदनत्वा-द्दीर्घकालत्वाच्च सर्वेषां सुरतान्तराणां सुरतभेदानां क्षमाः क्रियार्हाः शिशिररात्र-यस्तस्याग्निवर्णस्य साक्षितां ययुः। विविक्तकालदेशत्वाद्यथेच्छं विजहारेत्यर्थः।

भावार्थ—सब प्रकार की सम्भोगक्रीडायोग्य हेमन्त ऋतु की बड़ी-बड़ी रातों में वह राजभवनों की उन कोठरियों में विहार करता था, जहाँ उसके साक्षी केवल वे दीप थे जो वायु के न आने से एक टक होकर सबको देख रहे थे ॥ ४२ ॥

दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम्।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अङ्गना दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्य अवधूतविग्रहाः (सत्यः) दुरुत्सहवियोगं तं अन्वनैषुः।

दक्षिणेनेति। अङ्गना दक्षिणेन पवनेन मलयानिलेन संभृतं जनितं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्यावधूतविग्रहास्त्यक्तविरोधाः सत्यो दुरुत्सहवियोगं दुःसहविरहं तमन्वनैषुः। तद्विरहमसहमानाः स्वयमेवानुनीतवत्य इत्यर्थः।

भावार्थ—वसन्त में मलयपर्वत से आये हुए दक्षिणी पवन से आम्र वृक्षों में पल्लव और बौर देखकर प्रेमिकाओं ने कामोन्मत्त होकर राजा से रूठना छोड़ दिया और उनके विरह में व्याकुल होकर स्वयं उन्हें ढूँढने लगी ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ताः स्वं अङ्कं अधिरोप्य परिजनापविद्धया दोलया मुक्तरज्जु भयच्छलात् बाहुभिः निबिडं कण्ठबन्धनं अवाप।

ता इति। ता अङ्गनाः स्वमङ्कं स्वकीयमुत्सङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया संप्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्रं यथा तथा प्रेङ्खयंश्चालयन्भयच्छलात्पतन-भयमिषाद्बाहुभिरङ्गनाभुजैर्निबिडं कण्ठबन्धनमवाप प्राप। स्वयंग्रहाश्लेषसुख-मन्वभूदित्यर्थः।

भावार्थ—उन स्त्रियों को गोद में बैठाकर वह राजा अग्निवर्ण उन झूलों में झूलने लगा। राजा ने एक बार झूले को झटका दिया तो उन स्त्रियों ने भय का बहाना करके रस्सी को छोड़ दिया और राजा से लिपट गईं ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—प्रियाः पयोधरनिषिक्तचन्दनः मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः श्रोणिलम्बिमणिमेखलः ग्रीष्मवेशविधिभिः तं सिषेविरे ।

तमिति । प्रियाः पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुक्षितं चन्दनं येषु तैर्मौक्तिकैर्ग्रथितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तैः मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थः । श्रोणिलम्बिन्यो मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्मवेषविधिभिरुष्णकालोचितनेपथ्यविधानैः शीतलोपायैरित्यर्थः । तमग्निवर्णं सिषेविरे ।

भावार्थ—ग्रीष्म ऋतु में स्तनों पर चन्दन लगाकर मोतियों का आभूषण पहनकर और नितम्बों पर मणि की करधनी लटकाकर वे स्त्रियाँ उस राजा अग्निवर्ण के साथ सम्भोग करके उसे प्रसन्न करती थीं ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधु निर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सः लग्नसहकारं रक्तपाटलसमागमं आसवं पपौ यत् तेन मधुनिर्गमात् कृशः तस्य चित्तयोनिः पुनर्भवः अभवत् ।

यदिति । सोऽग्निवर्णो लग्नः सहकारश्चूतपल्लवो यस्मिस्तं रक्तपाटलस्य पाटलकुसुमस्य समागमो यस्य तमासवं मद्यं पपौ इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्गमाद्वसन्तागमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनिः कामः पुनर्भवः प्रबलोऽभवत् ।

भावार्थ—उस समय वह आम्रपल्लव लगे हुए गुलाब के लाल-लाल फूल के पात्र में रखकर मद्य का पान करता था जिससे वसन्त बीतने से मन्द पड़ा हुआ उसका काम फिर जग उठता था ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—एवं अनङ्गवाहितः अन्यकार्यविमुखः सः पार्थिवः इन्द्रियसुखानि निर्विशन् आत्मलक्षणनिवेदितान् ऋतून् अत्यवाहयत् ।

एवमिति । एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुखः स पार्थिव इन्द्रियाणां सुखानि सुखकराणि शब्दादीनि निर्विशन्ननुभवन्नात्मनो लक्षणैः कुटजस्रग्धारणादिचिह्नैर्निवेदितान् अयमृतुरिदानीं वर्तत इति ज्ञापितान् ऋतून्वर्षादीनत्यवाहयदगमयत् ।

भावार्थ—इस प्रकार वह कामी राजा अग्निवर्ण राजकार्यों को छोड़कर इन्द्रिय सुखों का आनन्द लेता हुआ ऋतुयें विताने लगा । वह काम-क्रीड़ा के

लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे भिन्न-भिन्न प्रकार का वेश बनाया करता था। इसलिए उसके वेश को देखकर मालूम पड़ता था कि इस समय कौन सी ऋतु है ॥ ४७ ॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ ४८ ॥

अन्वय.—प्रमत्तम् अपि तं प्रभावतः अन्यपार्थिवाः आक्रमितुं न शेकुः, रतिरागसम्भव आमयः तु दक्षशापः चन्द्रम् इव अक्षिणोत् ।

तमिति । प्रमत्तं व्यसनासक्तमपि तं नृपं प्रभावतोऽन्यपार्थिवा आक्रमितुमभिभवितुं न शेकुर्न शक्ताः । रतिरागसम्भव आमयो व्याधिस्तु । क्षयरोग इत्यर्थः । दक्षस्य दक्षप्रजापतेः शापश्चन्द्रमिव अक्षिणोदकर्शयत् । शापोऽपि रतिरागसम्भव इति । अत्र दक्षः किलान्याः स्वकन्या उपेक्ष्य रोहिण्यामेव रममाणं राजानं सोमं शशाप । स शापश्चाद्यापि क्षयरूपेण तं क्षिणोतीत्युपाख्यायते ।

भावार्थ—इस प्रकार व्यसन मे होने पर भी, उसके शत्रु उसपर आक्रमण नही करते थे फिर भी जैसे दक्ष के शाप से चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया था वैसे ही अधिक भोग-विलास करने से उसे भी क्षय रोग हो गया था ॥ ४८ ॥

दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४९ ॥

अन्वय.—भिषजाम् अनाश्रवः सः दृष्टदोषम् अपि तत् सङ्गवस्तु न अत्यजत्, इन्द्रियगणः स्वादुभिः विषयैः हृतः तु ततः दुःखं निवार्यते ।

दृष्टेति । भिषजां वैद्यानामनाश्रवो वचसि न स्थितः । 'वचनं स्थित आश्रवः' इत्यमरः । अविधेय इत्यर्थः । स दृष्टदोषमपि रोगजननादिति शेषः । तत्सङ्गस्य वस्तु सङ्गवस्तु स्त्रीमद्यादिकं सङ्गजनकं वस्तु नात्यजत् । तथा हि इन्द्रियगणः स्वादुभिर्विषयैर्हृतस्तु हृतश्चेत्ततस्तेभ्यो विषयेभ्यो दुःखं कृच्छ्रेण निवार्यते । यदि वार्येतेति शेषः । दुस्त्यजाः खलु विषया इत्यर्थः ।

भावार्थ—चिकित्सकों के बार-बार मना करने पर भी उसने काम को जगाने वाली वे वस्तुयें नहीं छोड़ी क्योंकि जब इन्द्रियाँ एक बार विषयों में फँस जाती हैं तब उन्हें रोकना कठिन हो जाता है ॥ ४९ ॥

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—तस्य पाण्डुवदना अल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना राज-यक्ष्मपरिहानिः कामयानसमवस्थया तुलां आययौ ।

तस्येति । तस्य राज्ञः पाण्डुवदना अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहितं गमनं यस्यां सा सावलम्बगमना मृदुस्वना हीनस्वरा राज्ञः सोमस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः तेन या परिहानिः क्षीणावस्था सा कामयते विषयानिच्छति कामयानः । कमेर्णिङन्ताच्चानच् । "अनित्यमागमशासनम्" इति मुमागमाभावः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वामनेनापि—"कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्च" इति । तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुलां साम्यमाययौ प्राप । कालकृतो विशेषोऽवस्था । 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः ।

भावार्थ—धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पड़ गया, दुर्बलता के कारण उसने आभूषण पहनना भी छोड़ दिया । वह नौकरों का सहारा लेकर चलने लगा, उसकी बोली धीमी पड़ गई और सूखकर विरहियों के समान दीखने लगा ॥५०॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—राज्ञि क्षयातुरे तत्कुलं पश्चिमकलास्थितेन्दु व्योम वा पङ्कशेषम् इव घर्मपल्लवं वामनार्चिः दीपभाजनं इव अभूत् ।

व्योमेति । राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिस्तत्कलावशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव वाशब्द इवार्थे । यथाह दण्डी—'इववद्वायथाशब्दौ' इति । पङ्कशेषं घर्मपल्वलमिव वामनार्चिरल्पशिखं दीपभाजनं दीपपात्रमिवाभूत् ।

भावार्थ—राजा के क्षय रोग होने पर सूर्य कुल ऐसा रह गया जैसे कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा हो या गर्मी के दिनों का ताल हो या थोड़ी सी बची हुई दीपक की लौ हो ॥ ५१ ॥

बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—बाढं एष पार्थिवः दिवसेषु पुत्रजन्मने कर्म साधयति इति प्रदर्शित रुजः अस्य मन्त्रिणः अघशङ्किनीः प्रजाः शश्वत् ऊचुः ।

बाढमिति । बाढं सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपादिकं साधयति इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगाः सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽघशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वदूचुः ।

भावार्थ—राजा को कोई भयानक रोग तो नहीं हुआ है ? ऐसी आशंका करने वाली प्रजा को यह कहकर समझाते थे कि राजा इस समय पुत्र के लिए जप, व्रत आदि का अनुष्ठान कर रहे हैं इसलिए दुबले होते जा रहे हैं ॥५२॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स तु अनेकवनितासखोऽपि सन् पावनीं सन्ततिं अनवलोक्य वैद्यरत्नपरिभाविनं गदं प्रदीपः वायुः इव न अत्यगात् ।

स इति । स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि पावनीं पित्रर्णमोचनीं सन्ततिमनवलोक्य पुत्रमनवाप्येत्यर्थः । वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं रोगं प्रदीपो वायुमिव नात्यगान्नातिचक्राम । ममारेत्यर्थः ।

भावार्थ—अनेक रानियों के रहते हुए भी वे राजा अग्निवर्ण पुत्र का मुख नहीं देख सके और वैद्य लोग राजा को नीरोग नहीं कर सके, जिस प्रकार हवा के सामने दीपक का कुछ भी वश नहीं चलता है, उसी प्रकार राजा भी रोग से नहीं बचाया जा सका अर्थात् राजा अग्निवर्ण मर गये ॥ ५३ ॥

तं गृहोपवन एव सङ्गताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा सङ्गताः मन्त्रिणः गृहोपवने एव रोगशान्तिम् अपदिश्य तं सम्भृते शिखिनि गूढम् आदधुः ।

तमिति । पश्चिमक्रतुविदान्त्येष्टिविधिज्ञेन पुरोधसा सङ्गता मन्त्रिणो गृहोपवन एव गृहाराम एव । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । रोगशान्तिमपदिश्य शान्तिकर्म व्यपदिश्य तमग्निवर्णं सम्भृते समिद्धे शिखिन्यग्नौ गूढमप्रकाशमादधुर्निदधुः । अग्निसंस्कारं चक्रुरित्यर्थः ।

भावार्थ—अन्त्येष्टि क्रिया को जानने वाले पुरोहितों से मिलकर मन्त्रियों ने रोग शांति के बहाने राजा के शव को भवन के उपवन में गुप्त रूप से जला दिया ॥ ५४ ॥

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—आशु कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैः तैः साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा तस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत ।

तैरेति । आशु शीघ्रं कृतः प्रकृतिमुख्यानां पौरजनप्रधानानां संग्रहः सन्निपातनं यैस्तादृशैस्तैर्मन्त्रिभिः साधु निपुणं दृष्टशुभगर्भलक्षणा परीक्षितशुभगर्भचिह्ना तस्याग्निवर्णस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत राजलक्ष्मीं प्राप ।

भावार्थ—मन्त्रियों ने प्रधान नागरिकों को इकट्ठा किया और उनकी राय से राजा की पटरानी को सिंहासन पर बैठा दिया जिसमें गर्भ लक्षण दिखाई देते थे ॥ ५५ ॥

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकात् उष्णैः विलोचनजलैः प्रथमाभितप्ततः तस्याः गर्भः कनककुम्भमुखोज्झितेन शिशिरेण वंशाभिषेकविधिना निर्वापितः ।

तस्या इति । तथाविधया नरेन्द्रविपत्त्या यः शोकस्तस्मादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तस्तस्या गर्भः कनककुम्भानां मुखैर्धारैरुज्झितेन शिशिरेण शीतलेन वंशाभिषेकविधिना लक्षणयाभिषेकजलेन निर्वापित आप्यायितः ।

भावार्थ—राजा की गर्भवती रानी पर जब होनेवाले अभिषेक के समय सुवर्ण के कलशों से शीतल जल पड़ा तब गर्भ शीतल हो गया ॥ ५६ ॥

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥



अन्वयः—प्रसवसमयाकांक्षिणीनां प्रजानां भावार्थं क्षितिः अन्तर्गूढं नभोबीजमुष्टिं इव (अन्तर्गूढमिव) तं (गर्भं) दधाना अव्याहताज्ञा मौलैः स्थविरसचिवैः सार्द्धं भर्तुः राज्यं विधिवत् अशिषत् ।

तमिति । प्रसवो गर्भमोचनम् फलं च विवक्षितम् । 'स्यादुत्पाते फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः । तस्य यः समयस्तदाकांक्षिणीनां प्रजानां भावार्थं भावाय भूतये इत्यर्थः । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति यादवः । क्षितिरन्तर्गूढं नभोबीजमुष्टिमिव श्रावणमास्युप्तं बीजमुष्टिं यथा धत्ते तद्वदित्यर्थः । मुष्टिशब्दो

द्विलिङ्गः । 'अक्लीबौ मुष्टिमुस्तकौ' इति यादवः । अन्तर्गूढमन्तर्गतं गर्भं दधाना हेमसिंहासनस्थाऽव्याहताज्ञा राज्ञी मौलेमूर्ले मवैर्मूलादागतैर्वा आप्तैरित्यर्थः। साधं भर्तू राज्यं विधिवद्विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । अशिषच्छास्तिस्म । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' इति च्लेरङ् । 'शास इदङ्हलोः' इतीकारः ।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया
व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥



भावार्थ—जिस प्रकार श्रावण मास में बोये हुए मुट्ठी भर अन्न को पृथ्वी छिपाये रहती है, उसी प्रकार महारानी गर्भ धारण किये हुए थी । अस्खलित शासन वाली उस गर्भवती रानी ने विश्वासपात्र एवं मन्त्रियों की सम्मति के अनुसार विधिपूर्वक अपने पति के राज्य का काम किया ॥ ५७ ॥

श्रीकृष्णमणित्रिपाठीकृत 'चन्द्रकला' नामक हिन्दी टीका में
रघुवंश का १९ वाँ सर्ग समाप्त ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।



श्लोकानुक्रमणिका

४२ र० सम्पू०

रघुवंशपद्यानां छन्दसां विवरणम्

सर्गाः छन्दांसि

१ अनुष्टुप् १–९४, प्रहर्षणी ९५ ।

२ उपजातिः १–४, ६, ८–२५, २७–४५, ४७–५७, ५९–६९, ७१–७४, इन्द्रवज्रा ५, ७, २६, ४६, ५८, ७०, मालिनी ७५ ।

३ वंशस्थम् १–६९, हरिणी ७० ।

४ अनुष्टुप् १–८६ प्रहर्षणी ८७, ८८ ।

५ उपजातिः १, २, ४, ६–८, १०–१२, १४–२१, २३–२६, २८–३४, ३६, ३७, ३९, ४१–५२, ५४–५९, ६१, ६२, इन्द्रवज्रा ५, ९, १३, २२, ३५, ३८, ४०, ६०, उपेन्द्रवज्रा ३, २७, ५३, वसन्ततिलका ६३–७३, मालिनी ७४, ७५, पुष्पिताग्रा ७६ ।

६ उपजातिः १–१४, १६–२१, २३–४२, ४४, ४६, ४८–६०, ६३, ६४, ६६–७४, ७६–८२, इन्द्रवज्रा १५, २२, ४३, ४५, ४७, ६१, ६२, ६५, ७५, ८३, उपेन्द्रवज्रा ८४, मालिनी ८५, पुष्पिताग्रा ८६ ।

७ उपजातिः १, ३–१५, १७–३५, ३७–३८, ४०–४२, ४४–४८, ५०, ५३, ५५–५८, ६०–६९, इन्द्रवज्रा २, १६, ३६, ३९, ४३, ५१, ५२, ५४, ५९, उपेन्द्रवज्रा ४९, मालिनी ७०, ७१ ।

८ वैतालीयम् १–९०, तोटकम् ९१, प्रहर्षणी ९२, वसन्ततिलका ९३, ९४, मन्दाक्रान्ता ९५ ।

९ द्रुतविलंबितम् १–५४, वसन्ततिलका ५५–६३, ७६–८२, शालिनी ६४, प्रहर्षणी ६५, औपच्छन्दसिकम् ६६, मालिनी ६७, रथोद्धता ६८, मञ्जुभाषिणी ६९, पुष्पिताग्रा ७०, ७१, (विषमवृत्तम् ७२) स्वागता ७३, वैतालीयम् ७४, मत्तमयूरम् ७५ ।

१० अनुष्टुप् १–८५, मालिनी ८६ ।

११ रथोद्धता १–९१, वसन्ततिलका ९२, मालिनी ९३ ।

सर्गाः छन्दांसि

१२ अनुष्टुप् १-१०१, मालिनी १०२, वसन्ततिलका १०३, नाराचम् (सिंहविक्रीडितम्) १०४।

१३ उपजातिः १, ३-८, १०-१५, १८, २०-२६ २८-३५, ३७, ३९-४६, ४८, ५०-६१, ६३, ६४, ६६, ६७, इन्द्रवज्रा २, १६, १७, २७, ३६, ३८, ४७, ६२, ६५, उपेन्द्रवज्रा ९, १९, ४९, वसन्ततिलका ६८-७८, प्रहर्षणी ७९।

१४ उपजातिः १-५, ७-१२, १४, १६-२२, २४-४९, ५१-५५, ५७, ५९-६८, ७०-७२, ७४, ७६-८२, ८४-८६, इन्द्रवज्रा ६, १३, १५, २३, ५०, ५६, ५८, ६९, ७३, उपेन्द्रवज्रा ७५, ८३, मन्दाक्रान्ता ८७।

१५ अनुष्टुप् १-१०२, मन्दाक्रान्ता १०३।

१६ उपजातिः १, ३, ४, ६-१४, १६-१८, २०-३५, ३७-४०, ४२-४९, ५२-५९, ६१-६३, ६५, ६७-६९, ७१-७८, ८०-८५, इन्द्रवज्रा २, ५, १५, १९, ३६, ४१, ५०, ५१, ६०, ६४, ६६, ७९, उपेन्द्रवज्रा ७०, वसन्ततिलका ८६, मन्दाक्रान्ता ८७, ८८।

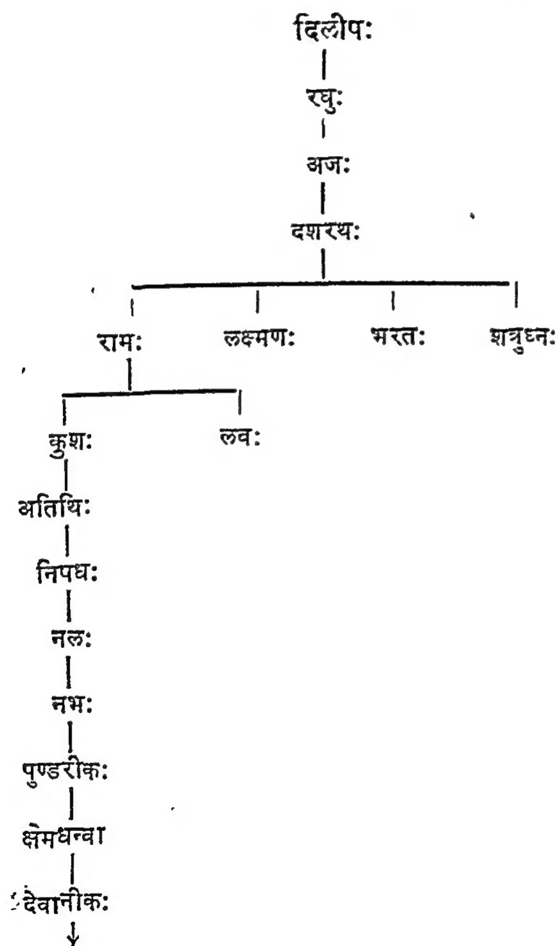
१७ अनुष्टुप् १-८०, मन्दाक्रान्ता ८१।

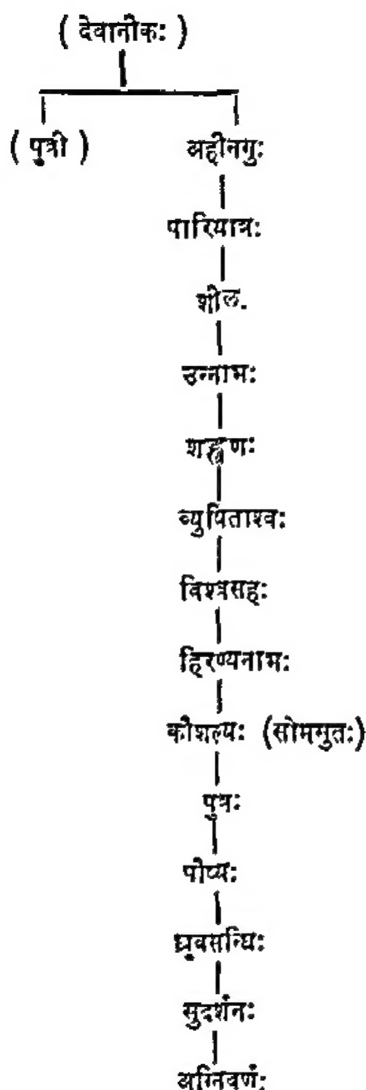
१८ उपजातिः १, २, ४-१५, १७-२०, २३, २५, २६, २८, २९, ३१, ३३-३७, ४१-४४, ४६-५१, इन्द्रवज्रा ३, १६, २२, २४, २७, ३०, ३२, ३८-४०, उपेन्द्रवज्रा २१, ४५।

१९ रथोद्धता १-५५, वसन्ततिलका ५६, मन्दाक्रान्ता ५७।

रघुवंशमहाकाव्ये कालिदास-वर्णितानां राज्ञां वंश-विवरणम्

(दिलीपादारभ्याऽग्निवर्णपर्यन्तम्)




(देवानीकः)
(पुत्री)
अहीनगुः
पारियात्रः
शील.
उन्नाभः
शङ्खणः
व्युषिताश्वः
विश्वसहः
हिरण्यनाभः
कौशल्यः (सोमगुतः)
पुत्रः
पौष्यः
ध्रुवसन्धिः
सुदर्शनः
अग्निवर्णः